उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी प्रकाशन

संस्कृत आयोग का प्रतिवेदन

[१९५६-१९५७]

प्रकाशक

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी प्रकाशन

संस्कृत आयोग का प्रतिवेदन

[१९५६-१९५७]

अनुवादक

श्री अलखनिरंजन पाण्डेय

भू० पू० प्रधान निरीक्षक,
संस्कृत पाठशालाएँ, उत्तर प्रदेश

सम्पादक

डॉ० पारसनाथ द्विवेदी

आचार्य एवं अध्यक्ष, पुराणेतिहास-विभाग
संकायाध्यक्ष, साहित्य-संस्कृति संकाय
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशक

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

२०३६ वैक्रमाब्द] २००१ शकाब्द [१९७९ खैस्ताब्द

स्वत्त्वाधिकारी :—

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी,
लखनऊ।

प्रकाशक :—

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

प्राप्तिस्थान :—
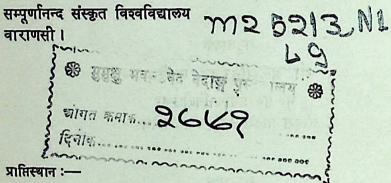
विक्रयविभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१००२.

प्रथम संस्करण : २००० प्रतियाँ

मूल्य : ३२–००

मुद्रक :—

तारा प्रिंटिंग वर्क्स,
वाराणसी.

सम्पादकीय

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी ने संस्कृत, पाली एवं प्राकृत भाषाओं में लिखित उच्चकोटि की नवीन मौलिक कृतियों के प्रकाशन तथा संस्कृत वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थों के समालोचनात्मक आनुसन्धानिक सम्पादन एवं आकर ग्रन्थों की मौलिक टीकाओं तथा व्याख्याओं के साथ ही साथ प्राच्य भारतीय विद्या से सम्बन्धित ग्रन्थों के हिन्दी भाषा में अनुवाद एवं उनके प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अन्तर्गत अनेक मौलिक ग्रन्थों का अनुवाद एवं प्रकाशन किया जा रहा है। इसी सन्दर्भ में उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी ने सन् १९५६-५७ ई० में भारत सरकार द्वारा संघटित संस्कृत आयोग की रिपोर्ट के हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन का भी निर्णय लिया है।

विदित है कि भारत सरकार ने संस्कृत भाषा के पठन-पाठन, अनुसन्धान एवं संस्कृत-शिक्षा की समस्याओं के अध्ययनार्थ तथा स्वतन्त्र भारत में संस्कृत भाषा के चतुरस्र विकास एवं उसके पुनः संघटन की जानकारी के लिए विश्वविख्यात भाषा-वैज्ञानिक डॉ० **सुनीति कुमार चाटुर्ज्या** की अध्यक्षता में सन् १९५६ ई० में संस्कृत आयोग (Sanskrit Commission) की स्थापना की थी। इस आयोग के अन्य सदस्य भी प्राच्य भारतीय ज्ञान-विज्ञान के मूर्धन्य विद्वान् थे। इस आयोग ने सम्पूर्ण भारतवर्ष के संस्कृत-संगठनों की शिक्षा-पद्धतियों का बड़ी सूक्ष्मता के साथ अध्ययन करके सन् १९५७ ई० में अँग्रेजी भाषा में जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था, उसका प्रकाशन तो सन् १९५८ में ही हो गया; किन्तु, चूँकि उक्त प्रतिवेदन अँग्रेजी भाषा में प्रकाशित हुआ था, इसलिए संस्कृत जगत् में उसका व्यापक प्रचार-प्रसार नहीं हो सका। यद्यपि आयोग ने खेद सहित यह इच्छा प्रकट की थी कि इस प्रतिवेदन का प्रकाशन संस्कृत भाषा में भी होना चाहिए। अतः उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी ने इसकी लोकोपयोगिता को ध्यान में रखकर इसे राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनूदित कराकर प्रकाशित करना आवश्यक समझा।

किसी भी भाषा में लिखित साहित्य को अन्य भाषाओं में अनूदित करना अपने आप में एक कठिन कार्य होता है, क्योंकि मूल लेखक के सूक्ष्म मनोभावों को उसके स्थूल शब्दों के माध्यम से पकड़ पाना नितान्त दुष्कर होता है। पण्डित **श्री अलखनिरंजन पाण्डेय** ने इस प्रतिवेदन को अँग्रेजी से हिन्दी में अनूदित किया है। श्री पाण्डेय को भी उक्त कठिनाइयों का पदे-पदे सामना करना पड़ा है। जहाँ कहीं इस प्रकार की कठिनाइयाँ आयी हैं, वहाँ भाव को ग्रहण किया गया है। सम्पादक को भी इस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। कहीं-कहीं अक्षरशः अनुवाद करने में अनावश्यक विलम्ब की सम्भावना से अकादमी के निदेशक की सम्मति से उस अंश को उसी रूप में शुद्ध एवं परिमार्जित किया गया है।

यथा सम्भव भाषा आदि की त्रुटियों को दूर करने का प्रयास किया गया है; तथापि यदि कहीं कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों तो सम्पादक उसके लिए क्षमा प्रार्थी है।

संस्कृत आयोग के इस प्रतिवेदन का प्रकाशन उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी के आर्थिक व्यय से हो रहा है। अतः सम्पादक अकादमी के अधिकारियों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना परम कर्तव्य समझता है। उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी के अध्यक्ष एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति माननीय **श्रीबदरीनाथ शुक्ल जी** ने विस्तृत एवं सारगर्भित भूमिका लिखकर इस प्रतिवेदन का गौरववर्द्धन किया है। अतः विनीतभाव से उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। पण्डित श्री अलखनिरंजन पाण्डेय के प्रति भी सादर आभार प्रदर्शित करता हूँ; जिन्होंने बड़े परिश्रम के साथ इसका अनुवादकार्य सम्पन्न किया है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालक के कुलसचिव **श्री विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी** एवं पुस्तकाध्यक्ष **श्रीलक्ष्मीनारायण तिवारी** को भी हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिन बन्धुओं ने प्रारम्भ से ही इस प्रतिवेदन को मौलिक बनाने में अपने बहुमूल्य सुझाव दिये हैं। अनुसन्धान संस्थान के निदेशक **डॉ० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी** ने भी प्रतिवेदन के प्रकाशन में अपने सुझावों से सम्पादक को उपकृत किया है, अतः सम्पादक उनका भी आभारी है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन अधिकारी **डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** का अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने प्रूफ आदि के संशोधन एवं प्रकाशन की व्यवस्था में पूर्ण तत्परता दिखायी है। इसी प्रकार प्रकाशन विभाग के कार्यकर्ता **श्रीपरमेश्वर पाण्डेय** का भी सम्पादक आभारी है; जिन्होंने इस प्रतिवेदन का ईदृय संशोधनादि कार्य बड़े मनोयोग से किया है। सम्पादक तारा यन्त्रालय के व्यवस्थापक **श्री रमाशङ्कर पण्ड्या** के प्रति भी हार्दिक आभार प्रदर्शित करता है, जिन्होंने अत्यधिक उत्साह एवं कलात्मक ढ़ंग से इस ग्रन्थ का मुद्रण शीघ्र सम्पन्न किया।

वाराणसी
विजयदशमी
वि० सं० २०३६
(दि० १.१०.१९७९ ई०)

विनीत
पारसनाथ द्विवेदी
आचार्य एवं अध्यक्ष, पुराणेतिहास विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

भूमिका

जनता तथा लोकसभा के आग्रह पर केन्द्रीय शासन ने १ अक्टूबर, सन् १९५६ को भारत के सुविख्यात शिक्षाविद् स्व० डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी की अध्यक्षता में संस्कृत के पठन-पाठन तथा संस्कृतसम्बन्धी प्रशासन एवं जनसम्पर्क के निष्णात यशस्वी विद्वानों से विभूषित एक संस्कृत आयोग का संगठन किया था। इन विद्वानों ने अपने देशव्यापी पर्यटन द्वारा पारम्परिक तथा आधुनिक दोनों प्रकार की संस्कृतशिक्षा का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया तथा साक्ष्यों एवं अपनी प्रश्नावली के उत्तरों को अपने परिपक्व ज्ञान, अनुभव और विचारों से समन्वित करते हुए अक्टूबर १९५७ में अपना सर्वांगपूर्ण प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। बारह अध्यायों के अपने इस प्रतिवेदन में सम्मानित सदस्यों ने संस्कृतशिक्षा के ऐतिहासिक विवेचन के साथ उसकी वर्तमान स्थिति का रोचक सुचित्रण किया है तथा वर्तमान स्थिति के परिप्रेक्ष्य में संस्कृतशिक्षा एवं भारतीय संस्कृति के प्रचार तथा उसकी लोकप्रियता स्थापित करने की अनिवार्यता पर भी अपने विचारों की अभिव्यक्ति की है। प्रतिवेदन में पारम्परिक तथा आधुनिक दोनों ही संस्कृत के पठन-पाठन की सरणियों को सुदृढ़ बनाने के अनेकानेक मार्गों का केवल निर्देश ही नहीं किया गया है, बल्कि संस्कृतशिक्षा के राष्ट्रिय संघटन इत्यादि पर भी विचारोद्बोधक सुझाव समुपस्थापित किये गये हैं। यही नहीं, संस्कृतवाङ्मय के माध्यम से राष्ट्रिय एवं अन्ताराष्ट्रिय जगत् में भारत का व्यक्तित्व कैसे समुज्ज्वल किया जा सकता है तथा स्वतन्त्र भारत की आकांक्षाओं की पूर्ति किन-किन उपायों से की जा सकती है, इस सम्बन्ध में भी आयोग का प्रतिवेदन कतिपय मौलिक, ठोस तथा व्यावहारिक दिशाओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है।

इस तथ्य को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि संस्कृत भाषा में एकता स्थापित करने की तथा चरित्रनिर्माण की अद्भुत शक्ति विद्यमान है। अतः आधुनिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में उन छात्रों को छोड़कर जिनकी मातृभाषा अंग्रेजी है, भाषा के अध्ययन के प्रसंग में ऐसा प्राविधान किया जाना चाहिए जिससे भाषा के रूप में संस्कृत का स्थान सुरक्षित हो जाय तथा सभी छात्र संस्कृत ले सकें। जो छात्र संस्कृत लेना चाहते हैं उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई अथवा रुकावट का सामना न करना पड़े। त्रिभाषा सूत्र के विधान में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि मातृभाषा तथा क्षेत्रीय भाषा और अंग्रेजी के साथ छात्र संस्कृत या विशेष स्थिति में किसी अन्य समकक्ष प्राचीन भाषा का अध्ययन कर सकें। इस प्राविधान से हम राष्ट्रिय हित की दृष्टि से माध्यमिक शिक्षा को अधिक से अधिक लोकोपकारी बना सकते हैं।

संस्कृत विद्यालयों में निरन्तर छात्रसंख्या में गिरावट तथा प्रतिभासम्पन्न छात्रों के उत्तरोत्तर अभाव की स्थिति चिन्ताजनक होती जा रही है। इस स्थिति को

सम्हालने के लिए यह आवश्यक है कि इन विद्यालयों से निकले हुए छात्रों को वही सम्मान, प्रतिष्ठा तथा जीविकोपार्जन के अवसर उपलब्ध हों, जो किसी कला, विज्ञान या अन्य प्रकार के आधुनिक विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के छात्रों को प्राप्त हैं। संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना से इस प्रश्न का हल भी सम्भव हो गया है, किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पर्याप्त जन जागृति, संस्कृत के पठन-पाठन के प्रति निष्ठा, विभिन्न प्रतियोगिता-परीक्षाओं में संस्कृत की विशेषता एवं सर्वोपरि संस्कृतशिक्षा को सर्वसाधनसम्पन्न बनाने के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता है, जिससे चुने हुए संस्कृत विद्यालयों को हम आकर्षक वेतन पर अध्यापक दे सकें तथा उनके भवनों, छात्रावासों और पुस्तकालयों को समुचित रूप से सुसज्जित कर सकें। इस दिशा में हमारा प्रयत्न चल रहा है तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग हमारे एतद्विषयक चेष्टाओं के अनुकूल है। प्रतियोगिता-परीक्षाओं में शास्त्रीय विषयों के समावेश की भी चेष्टा हम कर रहे हैं तथा इस सन्दर्भ में भी केन्द्रीय और प्रादेशिक शासनों ने हमारे प्रस्तावों के प्रति अनुकूलता प्रकट की है।

पारम्परिक संस्कृत-शिक्षा के सन्दर्भ में संस्कृत आयोग ने इस प्रणाली को प्रचलित तथा संरक्षित रखने का सर्वथा उचित समर्थन किया है। आयोग का सुझाव है कि इसे सर्वमान्य शिक्षा की मान्यता दी जाय। इस संस्तुति का आंशिक कार्यान्वयन संस्कृत-परीक्षाओं की समानान्तर अंग्रेजी परीक्षाओं से समकक्षता तथा संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना से हो चुका है। आयोग ने यह सुझाव दिया है कि वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की सफलता देखकर देश में और भी संस्कृत विश्वविद्यालयों की स्थापना की जाय। हमारा अनुरोध है कि अब वह समय आ गया है कि देश के अन्य संस्कृत केन्द्रों में भी संस्कृत विश्वविद्यालय खोले जायँ। आयोग ने सर्वप्रथम दक्षिण भारत में संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की संस्तुति की है। हमारी सूचना है कि दक्षिण भारत में इस प्रकार की चेष्टा चल भी रही है। संस्कृत विश्वविद्यालयों की स्थापना से निश्चय ही संस्कृत की मान्यता बढ़ेगी तथा संस्कृत के पठन-पाठन की पारम्परिक तथा अर्वाचीन पद्धतियों के समन्वयन से संस्कृत का पठन-पाठन लोकोपयोगी बन सकेगा। यही नहीं, हमारे इस अनुष्ठान से संस्कृत के विद्वानों तथा छात्रों को भी अपने कार्यव्यापार में विश्वास और लोकसम्मान प्राप्त हो सकेगा। वर्तमान स्थिति में हम आयोग के इस प्रस्ताव का समर्थन करना चाहेंगे कि पारम्परिक तथा अर्वाचीन संस्कृत के पठन-पाठन का समन्वयन एवं सामञ्जस्य राष्ट्रिय हित की दृष्टि से सहायक सिद्ध होगा। इस समन्वयन के द्वारा संस्कृतवाङ्मय के विशाल भाण्डार का भारतीय ढंग से प्रकाशन किया जा सकेगा एवं संस्कृत का रचनात्मक और सर्जनात्मक क्षेत्र, जो इस समय अवरुद्ध तथा उपेक्षित ही कहा जायगा, उसे भी गति प्राप्त होगी। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि संस्कृत विद्यालयों में अर्वाचीन पद्धति के प्रशिक्षण को प्रोत्साहित करने के लिए सम्बद्ध पाठ्यक्रम में इस सारणी का समावेश किया जाय तथा आधुनिक पद्धति से प्रशिक्षित विद्वान् इसके निर्वाह के लिए संस्कृत विद्यालयों में नियुक्त किये जायँ।

इसी प्रकार आधुनिक अंग्रेजी महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों एवं शोधसंस्थानों में पारम्परिक पाठ्यक्रम प्रणाली के शास्त्रीय प्रशिक्षण का प्राविधान किया जाना चाहिए तथा एतदर्थ पारम्परिक संस्कृत के विद्वानों की नियुक्ति इन विद्यालयों तथा संस्थाओं में की जानी चाहिए। कतिपय विश्वविद्यालय इस दिशा में कार्य भी कर रहे हैं। उदाहरणार्थ हमारा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आदि।

भारतीय शिक्षाव्यवस्था को राष्ट्रिय दृष्टि से अधिकाधिक सुदृढ़, आकर्षक, प्रभावशाली तथा ज्ञानार्जन के लक्ष्य से अधिक लोकोपयोगी बनाने के लिए आयोग का यह सुझाव सर्वथा समर्थनीय है कि विज्ञान सम्बन्धी विषयों के अध्ययन में उनसे सम्बद्ध संस्कृतवाङ्मय की भूमिका का भी तुलनात्मक ढंग से अध्ययन किया जाना चाहिए तथा उन विषयों से सन्दर्भित हमारे शास्त्रों के इतिहास का भी छात्रों को तुलनात्मक ज्ञान कराया जाना चाहिए। इसी प्रकार समस्त विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के छात्रों को अपने देश के पैत्रिक सम्पत्ति का ज्ञान कराने के लिए विभिन्न स्तरों के अनुकूल संस्कृत साहित्य, भारतीय चिन्तन, दर्शन, धर्म, नीतिशास्त्र, कला-कौशल एवं वास्तुविद्या की भूमिका देते हुए भारतीय संस्कृति के एक क्रमिक पाठ्यक्रम का अनिवार्य प्राविधान भी आवश्यक होना चाहिए। संस्कृत-शोध के क्षेत्र को सुव्यवस्थित तथा राष्ट्रिय दृष्टि से लाभप्रद एवं उपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि देश में प्रचलित विभिन्न शोध-संस्थानों को पर्याप्त स्थान, उपकरण तथा योग्य प्रशिक्षित कर्मचारी उपलब्ध कराये जायँ। हमारे अधिकांश बड़े-बड़े शोध-संस्थान भी धनाभाव से अपनी योजनाओं के यथासमय कार्यान्वियन में अपने को असमर्थ पा रहे हैं। विश्वविद्यालयों के अनेक उपयोगी शोधप्रबन्ध अप्रकाशित पड़े हुए हैं। बड़ी-बड़ी शोध-योजनाएँ बाधित हैं। इस सन्दर्भ में आयोग के इस विचार को हम उपयोगी समझते हैं कि शोधकार्य के प्रारम्भ की स्वीकृति में कठोरता बरती जानी चाहिए। विषयों की पुनरावृत्ति न हो। कम परिश्रमसाध्य अनुपयोगी तथा सरल विषय स्वीकृत न किये जायँ। वेद, वैदिक संस्कार, कर्मकाण्ड, कल्पसूत्र, भाषाविज्ञान, पुराण, शब्दार्थविकास विज्ञान, नाट्यशास्त्र, प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र, भारतीय मनोविज्ञान तथा आचारशास्त्र, भारतीय समाजशास्त्र, लोक-संस्कृति, सौन्दर्यशास्त्र, संगीत, वास्तुकला, चित्रकला, मूर्तिकला तथा भारतीय विज्ञान और ज्योतिष की संहिता-शाखा आदि रोचक विषय अत्यन्त उपेक्षित हैं। इन पर शोधकार्य किया जाना चाहिए। इसी प्रकार भारत के अन्य देशीय सम्पर्क के क्षेत्र में भारतीय शोधकार्य नहीं के समान है। जो कुछ है वह भी विदेशी विद्वानों की खोज पर आधारित है। स्वतन्त्र भारत में अब अन्य राष्ट्रों से राजनीतिक सम्बन्ध भी स्थापित किये जा चुके हैं। हमारे शोधकर्त्ताओं का अब परम कर्तव्य हो गया है कि वे मिस्र, मध्यपूर्व, मध्य एसिया, तिब्बत, चीन तथा जापान सम्बन्धी प्राचीन भारतीय सम्पर्क के मौलिक शोधकार्य को अपने हाथों में लें। हमारे शोधछात्र केवल दर्शन या साहित्य पर ही दत्तचित न रहें। इन तथ्यों पर विस्तृत प्रकाश

डालते हुए देश में प्रचलित शोध-संस्थानों की सहायता तथा व्ययसाध्य योजनाओं को सम्पन्न करने के लिए आयोग ने एक केन्द्रीय भारतीय ज्ञान-संस्थान की स्थापना का प्रस्ताव किया है। उनकी यह संस्तुति शोधकार्य को सुदृढ़ बनाने में अवश्य ही उपकारक सिद्ध होगी।

भारतीय इतिहास, विचारपरम्परा तथा संस्कृति के क्षेत्र को भारतीय दृष्टिकोण से चिन्तन के विषय में आज का विद्वत्समाज अधिक चिन्तित प्रतीत होता है। पुरातत्त्व सामग्री के समान हमारा एतत्सम्बन्धी कार्य बहुत कुछ उन उपयोगी तथा बहुमूल्य ग्रन्थों पर भी निर्भर है, जो देश के विभिन्न भागों में पाण्डु-लिपियों के रूप में बिखरे पड़े हैं। इस सामग्री का एक विशाल अंश विदेश में भी जा चुका है। हमारी पाण्डुलिपियों का विदेशों में ले जाये जाने का क्रम विगत तीन शताब्दियों से प्रचलित है। हमें इस हस्तलिखित सामग्री का संग्रह, संरक्षण, सूचीकरण एवं सम्पादन मात्र ही नहीं करना है, किन्तु राष्ट्र के हित में विदेश जाने से भी उन्हें रोकना है तथा जो सामग्री विदेश जा चुकी है उसे पुनः प्राप्त करना है। पाण्डुलिपियों की देख-भाल तथा उनकी व्यवस्था को सुसंघटित करने के लिए आयोग ने केन्द्रीय पाण्डुलिपि-सर्वेक्षण विभाग की योजना का सुझाव दिया है। इस संस्तुति के अनुसार इस विभाग की शाखाएँ प्रत्येक प्रदेश में होंगी तथा अपने सुसंघटित रूप में यह विभाग पाण्डुलिपियों की खोज, उनका सर्वेक्षण, एकत्रीकरण, विवरणात्मक सूचीकरण एवं सम्पादन का कार्य स्थानीय शासकीय तथा अशासकीय संघटनों के सहयोग से करेगा। हमारा यह सुझाव है कि यह विभाग विभिन्न सरकारी तथा गैर-सरकारी शोधसंस्थाओं एवं संस्थानों को पाण्डुलिपि-संग्रह तथा उनके वैज्ञानिक सम्पादन कार्य के लिए अपेक्षित आर्थिक सहायता देने का भी कार्य करे एवं उनकी एतत्सम्बन्धी अन्यान्य कठिनाइयों को दूर करने में उन्हें हस्तावलम्ब दे। इससे हमारे देश के इस महत्त्वपूर्ण राष्ट्रिय कार्य को अत्यधिक बल प्राप्त होगा। शासन का कर्तव्य है कि वह हमारी पाण्डुलिपियों को विदेशों में विक्रय या अन्य किसी भी प्रकार से बाहर ले जाने पर रोक लगाने के लिए उपयुक्त कानून बनावे तथा विदेशों के विभिन्न पुस्तकालयों एवं संग्रहालयों में हमारे ज्ञान-विज्ञान के जो बहुमूल्य दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थ संगृहीत हैं, उनका सर्वेक्षण करके उनकी माइक्रोफ़िल्म प्रतिलिपि तैयार करावे तथा उसे पाण्डुलिपि-सर्वेक्षण विभाग में संचित करे। भूतपूर्व रजवाड़ों के राजमहलों की पाण्डुलिपियों के संग्रह अब भी विद्वानों की पहुँच के बाहर हैं; उन्हें जनता के लिए खोल देना चाहिए। आयोग ने इन सभी बातों पर अपने विचार तथा सुझाव प्रस्तुत किये हैं।

मूलतः संस्कृत के सांस्कृतिक मूल्य पर ही हमारे देश की एकता निर्भर है। क्षेत्रीय भाषावाद जैसी अनेक विघटनात्मक प्रवृत्तियों से हमारे देश की एकता खतरे में है। इन तत्त्वों को निष्क्रिय तथा निष्फल बनाने के लिए शासकीय तथा शैक्षिक स्तर पर संस्कृत का प्रश्रय आवश्यक जान पड़ता है। जैसे-जैसे हम संस्कृत को अपनाएँगे, उसकी एकीकरण की शक्ति बलवती होगी तथा ये विघटनात्मक प्रवृत्तियाँ क्षीण एवं

शिथिल होती जायेंगी। इस सन्दर्भ में आयोग का यह सुझाव है कि सार्वजनिक अवसरों पर हिन्दी, क्षेत्रीय भाषाओं अथवा अंग्रेजी के साथ संस्कृत का भी व्यवहार किया जाना चाहिए। हमारे विचार से केवल अपने देश ही में नहीं, अपितु विदेशों में भी भारतीय दूतावासों तथा भारतीय छात्रसंघटनों के विशेष आयोजन, उत्सवों एवं इस प्रकार के अन्य समारोहों के अवसर पर विभिन्न राष्ट्रभाषाओं एवं हिन्दी के साथ संस्कृत का भी प्रयोग केवल इन अवसरों की शोभा एवं गौरव का ही संवर्धन नहीं करेगा, अपितु अन्य देशों में भारतीय व्यक्तित्व को समुज्ज्वलित करने में भी यह प्रक्रिया सहायक सिद्ध होगी।

विद्यालयों में अनुशासन एवं नैतिक शिक्षा का प्रश्न आज हमारे सामने है। हमारा संस्कृतवाङ्मय लोकोक्तियों, सुभाषितों एवं कहावतों का एक विशाल भाण्डार है। ये सुभाषित तथा नीति के श्लोक प्राचीन भारतीय छात्रों को सच्चरित्र तथा व्यवहारकुशल बनाने के महत्त्वपूर्ण साधन थे, क्योंकि मतिष्क पर इनका गम्भीर तथा स्थायी प्रभाव पड़ता है। बाल्यकाल के कण्ठस्थ नीतिश्लोक बालक के जीवन में सदा उत्तम विचारों, कार्यों तथा व्यवहारों से सम्बद्ध एक मित्र के समान प्रेरणा के स्रोत बने रहते हैं। अपनी शिक्षाव्यवस्था में यदि शिशुकक्षाओं से ही हम बालकों को इन सुभाषितों की योजनाबद्ध शिक्षा दें तो हम अपने भावी नागरिकों के चरित्रनिर्माण द्वारा राष्ट्र की अनुपम सेवा कर सकेंगे। इस सन्दर्भ में हम आयोग के विचारों का स्वागत करते हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त विश्व के समस्त राष्ट्र भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के जिज्ञासु बन गये हैं तथा उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक हैं। यही नहीं, हमारी भारतीय जनता भी राष्ट्रप्रेम से प्रभावित होकर अपनी प्राचीन संस्कृति को श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगी है। दासतायुग के वातावरण एवं शासन-व्यवस्था की विदेशी स्वार्थमयी प्रवृत्तियों के प्रति भी उसकी अरुचि स्पष्ट है। अतः राष्ट्र के हित में यह आवश्यक हो गया है कि हमारा अधिकारीवर्ग, विदेश जाने वाले हमारे छात्र, विदेश स्थित हमारे छात्रसंघटन एवं दूतावास भारतीय संस्कृति की वास्तविकता, भारतीय चिन्तन के यथार्थस्वरूप तथा भारतीय सभ्यता के रहस्यों से भली भाँति परिचित हों तथा उन्हें एतत्सम्बन्धी अच्छा ज्ञान प्राप्त हो। ऐसा होने पर ही वे देश तथा विदेश में यथार्थ भारतीय व्यक्तित्व का प्रकाशन एवं प्रतिनिधित्व कर सकेंगे, भारतीय जनता का विश्वास, सम्मान तथा सहयोग प्राप्त कर सकेंगे तथा बाहर जाकर उन राष्ट्रों के उत्सुक जनवर्ग को भारत का वास्तविक सांस्कृतिक सन्देश दे सकेंगे। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए आयोग ने यह संस्तुति की है कि भारतीय प्रशासक तथा विदेशी सेवाओं के प्रशिक्षणार्थी को भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं संस्कृतचिन्तन का भी यथोचित ज्ञान कराया जाना चाहिए। केन्द्रीय शासन के विदेश विभाग को हमने भी एक इसी प्रकार का प्रस्ताव भेजा है, जिसे शासन का अनुमोदन प्राप्त हो चुका है। इस क्रिया की सफलता के लिए आयोग की यह संस्तुति उपयोगी सिद्ध होगी कि प्रत्येक दूतावास में एक सांस्कृतिक अनुभाग खोला जाय

२

तथा उसमें विद्वान् सांस्कृतिक अधिकारियों की नियुक्ति की जाय, जो भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत-चिन्तन के सम्बन्ध में विदेशी जनता की जिज्ञासाओं का समाधान कर सकें, वहाँ के विश्वविद्यालयों के छात्रों की सहायता कर सकें तथा भारतीय सांस्कृतिक क्रियाकलापों का प्रदर्शन भी कर सकें।

इस समय प्रौढ़शिक्षा सम्बन्धी अभियान एक राष्ट्रिय आन्दोलन का रूप धारण कर चुका है तथा केन्द्रीय एवं प्रादेशिक शासन एतत्सम्बन्धी विविध योजनाओं के सक्रिय कार्यान्वयन में तत्पर हैं। भारतीय परम्पराओं तथा भारतीय संस्कृति के प्रति हमारा जनवर्ग अब भी हृदय से सम्मान तथा श्रद्धा की भावना से ओत-प्रोत है। प्रौढ़शिक्षा को सांस्कृतिक रूप देने के लिए क्या ही अच्छा होता कि इस कार्यक्रम में पुराण, रामायण, महाभारत, गीता, उपनिषद् इत्यादि पर मनोरंजक व्याख्यानों एवं प्रदर्शनों की व्यवस्था की जाती, जिससे हमारी जनता अपने प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों एवं आचार-व्यवहारों का उपदेश प्राप्त कर सकती। इस योजना में देश के प्रतिभाशाली व्यास-परिवारों की सेवा से लाभ उठाया जा सकता है। कतिपय प्रदेशों के सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रिय प्रसार कार्य में इन व्यासों की सामयिक नियुक्ति भी की जा सकती है।

हमारे देश में इस समय संस्कृतशिक्षा-सम्बन्धी अनेक न्यास तथा समर्पित निधियाँ विद्यमान हैं। इनमें से कुछ ऐसे भी ट्रस्ट हैं जो या तो निष्क्रिय हैं या दाता की इच्छा के विरुद्ध उनका धन अंग्रेजी शिक्षा में लगाया जा रहा है। यह एक गम्भीर प्रसंग है जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। शासन का कर्तव्य है कि संस्कृत-शिक्षा के हित में वह अपने स्रोतों एवं साधनों से ऐसे अपराधी प्राभृतों का सर्वेक्षण कराये तथा ऐसा कानून बनाये जिससे संस्कृत के लिए समर्पित इन निधियों की आय समुचितरूप से संस्कृतशिक्षा में ही लगायी जा सके। आयोग की इस संस्तुति का कार्यान्वयन संस्कृतशिक्षा के समुन्नयन तथा उसके सम्मान के संवर्धन की दिशा में निश्चय ही उपकारक सिद्ध होगा।

केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासन अपने विभिन्न विभागों की व्यवस्था में अत्यन्त व्यस्त हैं। ऐसी स्थिति में एक ऐसे राष्ट्रिय संघटन का होना आवश्यक है जो प्रशासन का ध्यान संस्कृत की ओर आकर्षित करता रहे, संस्कृत सम्बन्धी संस्थाओं, संस्थानों तथा संघटनों को समन्वित करता रहे तथा समस्त देश की पारम्परिक शिक्षा को एक सूत्र में सम्बद्ध कर सके। इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रथम कुलपति स्व० डॉ० आदित्यनाथ झा ने एक केन्द्रीय संस्कृत-शिक्षा-परिषद् का सुझाव रखा था। संस्कृत आयोग ने भी इस प्रकार की संस्कृत-शिक्षा-परिषद् की संस्तुति की है। इस संघटन के माध्यम से देश में व्याप्त पारम्परिक संस्कृत-शिक्षा के क्षेत्र में प्रचलित विभिन्न परीक्षाओं के नाम, उनके स्तर तथा पाठ्यक्रम एवं मान्यता में आज जो विभिन्नता विद्यमान है वह दूर की जा सकती है तथा उनमें एकरूपता लायी जा सकती है। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के

समान यह परिषद् देश के संस्कृत महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों एवं शोधसंस्थानों को विकास अनुदान भी दे सकेगी। यह आवश्यक होगा कि इस परिषद् के सदस्य ऐसे ही व्यक्ति होंगे जो संस्कृतशिक्षा के समस्त पहलुओं के पारम्परिक तथा आधुनिक शैक्षिक एवं प्राशासनिक अनुभव रखते हों।

आयुर्वेद की शिक्षा के सन्दर्भ में आज यह प्रश्न विवादास्पद वना हुआ है कि विशुद्ध आयुर्वेद की पारम्परिक शिक्षा दी जाय या अर्वाचीन चिकित्सा के कुछ उपयोगी अंश भी उसमें सम्मिलित किये जायँ ? इस सन्दर्भ में हम संस्कृत आयोग के इस विचार का समर्थन करते हैं कि यद्यपि आधुनिक ज्ञान तथा प्रशिक्षण का कुछ थोड़ा-सा अंश आयुर्वेद के पाठ्यक्रम में मिला देना आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु इसकी मात्रा अधिक हो जाने पर आयुर्वेद की विशिष्टता नष्ट हो जायेगी। आयुर्वेद की शिक्षा को सजीव तथा विशेष जनोपयोगी बनाने के लिए विश्वविद्यालयों में आयुर्वेद-शोधविभागों की स्थापना की जानी चाहिए तथा आयुर्वेद के पाठ्यक्रम में सम्मिलित होनेवाले अभ्यर्थियों के लिए संस्कृत का यथेष्ट पूर्वज्ञान अनिवार्य किया जाना चाहिए। आयुर्वेद के प्रशिक्षण को अत्यधिक प्रभावशाली तथा स्वाभाविक बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि आयुर्वेद की पाठ्यपुस्तकें भी संस्कृत में लिखी जायँ।

भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता से सम्बद्ध विभिन्न सन्दर्भ अनेक मन्त्रालयों में बिखरे पड़े हैं। ये मन्त्रालय अपने-अपने ढंग से इन सन्दर्भों पर सोचते-विचारते हैं। इस व्यवस्था से एक ही सन्दर्भ का दो या अधिक मंत्रालयों में दोहराये जाने या भिन्न-भिन्न रूप से कार्यान्वित किये जाने की भी सम्भावना रहती है। इन विभिन्न क्रियाओं का एकीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। यह भी आवश्यक है कि देश के सांस्कृतिक विकास की नीति सुदृढ़ बनायी जाय तथा एतत्सम्बन्धी विभिन्न क्रियाकलापों का केन्द्रीकरण किया जाय। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए आयोग ने एक पृथक् संस्कृति-मन्त्रालय स्थापित किये जाने की संस्तुति की है, जिसके अन्तर्गत देश के समस्त सांस्कृतिक सन्दर्भ कार्य करेंगे। हमारा विश्वास है कि इस मन्त्रालय की स्थापना से देश में संस्कृत तथा संस्कृति के क्षेत्र में सम्पन्न होने वाले क्रियाकलापों को विशेष शक्ति प्राप्त हो सकेगी।

संस्कृत को समुन्नत करने की दिशा में आयोग ने अनेकानेक सुझाव प्रस्तुत किये हैं। उनमें से कुछ थोड़े से अत्यन्त महत्त्वशील सुझावों के कतिपय अंशों पर ही हमने दृष्टि डाली है। अंग्रेजी भाषा में जब से यह प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ है, तब से अब-तक संस्कृत विद्यालयों के अध्यापकों को इसके सम्बन्ध में यथोचित जानकारी नहीं हो पायी थी। अतः संस्कृत आयोग के इस प्रतिवेदन की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए इसे जनसुलभ कराने की दृष्टि से उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी की कार्यकारिणी समिति ने प्रतिवेदन को 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' में अनूदित कराकर प्रकाशित करने का निर्णय लिया। श्री अलखनिरञ्जन पाण्डेय, अवकाशप्राप्त निरीक्षक,

संस्कृत पाठशालाएँ, उत्तरप्रदेश ने इसका श्रमपूर्वक हिन्दी में अनुवाद किया है तथा डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, आचार्य एवं अध्यक्ष, पुराणेतिहासविभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ने पाण्डुलिपि के सम्पादन में अपना अमूल्य योगदान दिया है। उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी इन दोनों ही विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करती है। प्रतिवेदन के प्रकाशन में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन-विभाग का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है, जिसके लिए हम विश्वविद्यालय के सभी सम्वद्ध अधिकारियों के कृतज्ञ हैं। साथ ही अकादमी के निदेशक श्री विश्वनाथ शर्मा, कोषाध्यक्ष श्री अजितप्रसाद जैन और अन्य सभो सहयोगियों के भी हम विशेष आभारी हैं, जिनके सौजन्यपूर्ण योगदान से ही इस लोकोपयोगी प्रतिवेदन का हिन्दी प्रकाशन सम्भव हो सका है।

बदरीनाथ शुक्ल

अध्यक्ष, उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी तथा
कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी
गङ्गादशहरा, संवत् २०३६
(५ जून; १९७९ ई०, भौमवार)

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद,
शिक्षा एवं वैज्ञानिक अनुसन्धान मन्त्री,
भारत सरकार, नई दिल्ली।

भारत सरकार
संस्कृत आयोग
पूना ४ : नवम्बर ३०, १९५७.

प्रिय मौलाना साहब,

संस्कृत आयोग की ओर से सरकार के विचार एवं कार्रवाई हेतु अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करने का हमें सुअवसर प्राप्त हुआ है। सरकार द्वारा हमें एक उच्च शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा राष्ट्रिय महत्त्व का कार्य सौंपा गया था। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने में सदस्यों का दृष्टिकोण व्यापक एवं चतुरस्र रहा है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस प्रतिवेदन को तैयार करने में आयोग के सदस्यों के मध्य पूर्ण सौहार्द एवं विचारसाम्य रहा है। उनके दृष्टिकोण का प्रथम उद्देश्य वस्तुगत सत्यज्ञापन था, जिसमें मानवता की भलाई का आदर्श निहित था। प्रारम्भ में जनसाधरण की राष्ट्रिय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों को संरक्षित करते हुए और उनकी सेवा के उच्च आदर्शों से पृथक् न होते हुए आयोग की कार्यसरणि तथ्यों के व्यावहारिक उपलब्धि में निहित थी।

इस विषय पर मैं सरकार से प्रार्थना करूँगा कि वह इस ओर तत्काल ध्यान दे। हमारी प्रश्नावली अंग्रेजी के साथ संस्कृत में भी तैयार की गई थी; क्योंकि हम चाहते थे कि वह अँग्रेजी न जानने वाले संस्कृत के विद्वानों के पास पहुँच सके, जिनके लिए किसी अन्य भाषा की अपेक्षा संस्कृत अधिक सुलभ है। अतः सरकार तथा आयोग दोनों का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह इस प्रतिवेदन का एक संक्षिप्त संस्कृत रूपान्तर प्रकाशित कराये। इस प्रकार यह प्रतिवेदन जिस उद्देश्य से तैयार किया गया है, वह भारतीय जनमानस के विस्तृत क्षेत्र तक पहुँच सकता है, जिनकी संस्कृत शिक्षा एवं संस्कृत के अध्ययन में रुचि है और उससे लाभान्वित भी होते हैं। यह एक असङ्गत सी बात होगी कि संस्कृत आयोग का यह प्रतिवेदन संस्कृत में प्रकाशित न किया जाय। अतः संस्कृत आयोग के अध्यक्ष के नाते मेरा यह सुझाव है कि इस प्रतिवेदन का संस्कृत रूपान्तर तैयार कर उसके प्रकाशन की शीघ्र व्यवस्था की जाय।

आयोग के अध्यक्ष के नाते इस सन्दर्भ में मुझे कोई विशेष बात सरकार के समक्ष नहीं रखनी है। केवल यही कि सरकार हमारी इन संस्तुतियों पर शीघ्र विचार करे। एक शिक्षाविद् के रूप में मेरा सम्बन्ध चालिस वर्षों तक भाषाविज्ञान तथा मानवीय शास्त्रों के अध्ययन एवं अनुसन्धान के क्षेत्र से रहा है। मैं भारत सरकार के समक्ष संस्कृत के पक्ष में यही तर्क प्रस्तुत कर सकता हूँ कि, यतः यह भाषा भारत

की सांस्कृतिक एवं राजनीतिक एकता की आधारशिला है, अतः वह (भारत सरकार) इसका संरक्षण और समर्थन कर उसे सुदृढ़ बनाये। भाषाविज्ञान के अध्यापक के नाते, जिनका सम्पर्क जन-जीवन एवं उनकी समस्याओं से पृथक् नहीं रहा है, मेरा यह विचार है कि भारतीय शिक्षा एवं भारतीय जन-जीवन में संस्कृत को प्रतिष्ठापित करने से एक सुदृढ़ आधार बनेगा, जिसका उपयोग सरकार भाषा-विवाद से बढ़ती हुई विघटनात्मक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने में कर सकेगी और समस्त भारतीय लोगों में एकता का सूत्र दृढ़ कर सकेगी। संस्कृत शिक्षा एवं भारतीय जीवन में जिन तथ्यों एवं उद्देश्यों को लेकर सरकार ने इस आयोग को नियुक्त किया है, उसकी निश्चितरूप से भारतीय जनता आभार वहन करेगी। हमें अपने यात्राक्रम में और कार्यसम्पादन की अवधि में ऐसे साक्ष्य प्राप्त हुए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि संस्कृत के प्रति लोगों का अपार स्नेह है।

भवदीय

सुनीतिकुमार चटर्जी

अध्यक्ष, संस्कृत आयोग

विषयानुक्रमणी

(ख) मानव शास्त्र तथा संस्कृत के अध्ययन का बौद्धिक मूल

संस्कृत में भावप्रकाशन का अद्‌भुत सामर्थ्य, संस्कृत का अध्ययन उच्चकोटि का मानसिक प्रशिक्षण, सर्वाङ्गपूर्ण भाषा, वैरेण्ड फडेगो के विचार, आधुनिक भौतिक विज्ञान और संस्कृत, साहित्यिक दृष्टिकोण, वैदिक साहित्य, दर्शन साहित्य, लौकिक साहित्य; अन्य उपलब्धियाँ ।

(ग) संस्कृत साहित्य तथा मानसिक शक्तियों का विकास

संकीर्णता का अभाव, मुसलमान शासकों का संस्कृत प्रेम; संस्कृत साहित्य की विभिन्न शाखाओं का अरबी में अनुवाद; मुसलमानों द्वारा आयुर्वेद का अध्ययन; संस्कृत का प्रगतिवाद।

(घ) संस्कृत तथा राष्ट्रिय एकता

संस्कृत एक संयोजक शक्ति; काटजू, सी० वी० रमन तथा एफ० डब्ल्यू० टामस की दृष्टि में संस्कृत; वृहत्तर भारत के मूल में संस्कृत की भूमिका; संस्कृत में त्याग की भूमिका; संस्कृत को राष्ट्रिय भाषा वनाने की आवश्यकता ।

(ङ) संस्कृत तथा चरित्र निर्माण

बौद्धिक प्रशिक्षण के दो रूप; भारतीय जीव्नदर्शन; आदर्श विद्वान्; आदर्श जीवन-पद्धति की अभिव्यक्ति ।

(च) संस्कृत तथा स्वतन्त्र भारत का बौद्धिक जागरण

वर्तमान राष्ट्रिय और सामाजिक जीवन में संस्कृत की उपयोगिता; तमिल के प्राचीन विद्वान् शिवज्ञान मुनिवर की दृष्टि में संस्कृत; मातृभाषा का विकासवाद—संस्कृत की आवश्यकता; पारिभाषिक शब्दावली के लिये संस्कृत ही एकमात्र शरण; विज्ञान, दर्शन तथा अन्यान्य क्षेत्रों में भारतीय अंशदान और आज के आधुनिक विद्वान्; भारतीय मान्यताओं के ह्रास को रोकने में संस्कृत की क्षमता ।

अन्य प्राचीन साहित्यिक भाषा की अपेक्षा भारत में संस्कृत का आधुनिक मूल्य

ग्रीक, लैटिन तथा यूरोप मूल की अन्य प्राचीन भाषाएँ और संस्कृत; देश की समस्त भाषाओं में संस्कृत की छाया ।

भारतवर्ष के वर्तमान राष्ट्रिय जीवन में संस्कृत का स्थान

सामाजिक जीवन में संस्कृत, भारतीय संविधान में संस्कृत की मान्यता; संस्कृत का अन्ताराष्ट्रिय महत्त्व, संस्कृत एक जीवन्त भाषा; संस्कृत की उपेक्षा के दुष्परिणाम ।

भारतीय शिक्षा की सामान्य योजना में संस्कृत का स्थान

सं'कृत के विना सच्ची राष्ट्रियता का अभाव, आत्म संरक्षण की दृष्टि से संस्कृत आवश्यक ।

संस्कृत के लिए विशेष प्रोत्साहन की अपेक्षा

पाठ्यक्रम में निर्माणात्मक तथा सूचनात्मक धाराओं की आवश्यकता, निर्माणात्मक धारा के लिए संस्कृत की अपेक्षा, सांस्कृतिक एकता की प्रतीक संस्कृत, पाठ्यक्रम में संस्कृत के लिए विशेष व्यवस्था का होना आवश्यक।

१. माध्यमिक विद्यालयों में संस्कृत

कलकत्ता और बम्बई विश्वविद्यालयों में संस्कृत अनिवार्य विषय के रूप में; मद्रास विश्वविद्यालय में संस्कृत एक वैकल्पिक विषय; हिन्दी संस्कृत की प्रतिद्वन्द्वी; संस्कृत के प्रति कुतर्क; भूत-वर्तमान का सामञ्जस्य शिक्षाशास्त्र का मान्य सिद्धान्त; संस्कृत की उपेक्षा अतीत की उपलब्धियों की उपेक्षा; भाषाबोध के विना साहित्य का ज्ञान असम्भव; अनुवाद के द्वारा वास्तविक भाव की अभिव्यक्ति असंभव, माध्यमिक स्कूलों के छात्रों के लिए प्राचीन भारत का ज्ञान आवश्यक; आर्थिक दृष्टि से अलाभकर स्थिति में भी मानवीय गुणों के विकास के लिए संस्कृत का अध्ययन आवश्यक, आधुनिक भारतीय भाषा के सहभाषा के रूप में संस्कृत का अध्ययन; संस्कृत से मानसिक विकास; माध्यमिक विद्यालयों में संस्कृत को अनिवार्य विषय बनाने का विरोध और उसका निराकरण; माध्यमिक कक्षाओं में संस्कृत की अनिवार्यता की आवश्यकता; बालक की इच्छा पर विषय का चुनाव ठीक नहीं; राधाकृष्णन् के विचार; पं० जवाहरलाल नेहरू और संस्कृत; त्रिभाषा योजना और संस्कृत; भाषाएँ सीखने में बालकों की क्षमता तथा इस सन्दर्भ में डा० पेनीफील्ड के विचार; पाठ्यक्रम बनाने वालों की सूझ-बूझ, मातृ-भाषा का अनावश्यक बहुकालिक अध्ययन; हिन्दी और अंग्रेजी का विषय के रूप में निर्धारण; हिन्दी, संस्कृत तथा क्षेत्रीय भाषाओं का अध्ययन परस्पर पूरकरूप में; माध्यमिक कक्षाओं के पाठ्यक्रम का स्वरूप बदलना आवश्यक; वैज्ञानिक तथा मानवीय शास्त्रों के बीच संतुलन स्थापित करने में संस्कृत की सहायता; काका साहब कालेलकर के विचार में संस्कृत; माध्यमिक विद्यालयों में संस्कृत की अनिवार्यता के चार प्रकार; अन्य विकल्प; शिक्षा की एकीकृत प्रारम्भिक (बेसिक) स्तर से विश्वविद्यालयीय शिक्षा के पूर्व त्रिवर्षीय प्रमाणपत्रीय स्तर तक की पाठ्यक्रम प्रक्रिया; चतुर्थ विषय के रूप में संस्कृत की अनिवार्यता की रूप-रेखा; माध्यमिक पाठ्यक्रम में पाली, प्राकृत तथा अर्धमागधी का समावेश, इन भाषाओं के अध्ययन में संस्कृत का ज्ञान सहायक; संस्कृत के साथ अन्य प्राचीन भाषाओं का अध्ययन आवश्यक; माध्यमिक स्कूलों और विश्वविद्यालयों में संस्कृत विषय लेने वालों के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ।

२. संस्कृत-शिक्षा की दो व्यवस्थाएँ

परम्परागत पद्धति, आधुनिक पाश्चात्य पद्धति से संस्कृत का अध्ययन; परम्परागत पद्धति के तीन उद्देश्य, पारम्परिक प्रणाली में दोष, आधुनिक विश्वविद्यालयों तथा महा-विद्यालयों में संस्कृत की शिक्षा, उसके गुण-दोष; पारम्परिक पद्धति के संरक्षण का प्रश्न, उसकी उपलब्धियाँ; आधुनिक और प्राचीन इन दोनों पद्धतियों का तुलनात्मक विवेचन; प्राचीन

पद्धति पर कुछ आक्षेप और उसका निराकरण; पारम्परिक प्रणाली के संरक्षण की आवश्यकता, वर्तमान स्थिति के सुधार के उपाय; पारम्परिक प्रणाली की गिरती दशा के लिये आधुनिक शिक्षानीति और सरकार उत्तरदायी; संस्कृत शिक्षा के उन्नयन में केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारों का दायित्व; पाठशालाओं का पुनः संगठन, शैक्षिक प्रसङ्ग और प्रशासनिक तथा आर्थिक पहलुओं पर विचार; पाठशालीय पद्धति की पाठ्य प्रणाली; प्राचीन पद्धति में आधुनिक विषयों के समावेश का औचित्य; कतिपय प्रादेशिक सरकारों द्वारा पुनः संघटित पाठशालीय प्रणाली का प्रयोग; व्यवस्था संवन्धी शिथिलता; पुनः संघटित प्रक्रिया की कुछ समस्याएँ; नियमित पठन-पाठन की व्यवस्था; पाठशालाओं का संघातमक स्वरूप; माध्यमिक विद्यालयों के अङ्ग के रूप में पुनः संघटित पाठशालीय प्रणाली की व्यवस्था; निःशुल्क शिक्षा के दोष; पाठशालाओं के पुनः संगठन के तीन स्तर; प्राचीन और आधुनिक प्रणाली के कतिपय विषयों की उपयोगिता की दृष्टि से एकीकरण की प्रक्रिया; तीन विकल्प; अन्तिम दो विकल्प अव्यावहारिक; आधुनिक पद्धति के साथ पाठशालीय प्रणाली की उपयोगिता; इस सन्दर्भ में डॉ० ए० लक्ष्मण शास्त्री मुदलियार के विचार; एकीकरण की प्रक्रिया में सम्भाव्य दोष।

३. अन्य विषयों के उच्च अध्ययन के लिये संस्कृत परिपूरक के रूप में

भारतीय भाषाओं के अध्ययन में संस्कृत का परिपूरकत्व, संस्कृत तथा अन्य विजय, विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में संस्कृत और संस्कृति का अध्ययन।

प्रस्तावना—संस्कृत एक कठिन भाषा; उपयुक्त शिक्षण विधि का अभाव; संस्कृत-शिक्षण की दो धाराएँ, संस्कृत शिक्षण का वर्गीकरण; अध्यापकों का प्रशिक्षण; संस्कृत शिक्षणविधि की कुछ गिनी-चुनी पुस्तकें; प्राचीन शिक्षणविधि, प्राचीन शिक्षणविधि के सम्बन्ध में ह्वेन्त्सांग के विचार, प्राचीन शिक्षणविधि का प्रकार तथा उसकी विशेषताएँ, संस्कृत शिक्षण सम्बन्धी कुछ प्राचीन अभिलेख, संस्कृत शिक्षण के सम्बन्ध में सरलतम प्रक्रिया की खोज, कण्ठस्थीकरण की प्राचीन प्रक्रिया, उसके गुण-दोष का विवेचन, आधुनिक शिक्षा विशेषज्ञों की सम्मति में कण्ठस्थीकरण की प्रक्रिया उचित और आवश्यक, संस्कृत शिक्षण के सम्बन्ध में एक नवीन पुस्तक 'संस्कृत के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण' भाषा के अध्यापन के सम्बन्ध में कुछ उपयोगी सुझाव, पाठशालाओं के पण्डितों तथा विद्यालयों के संस्कृत के अध्यापकों को प्रशिक्षित करना आवश्यक, संस्कृत शिक्षा का माध्यम मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा।

कालेजों में संस्कृत

आधुनिक कालेजों में संस्कृत शिक्षण की प्रक्रिया; उसके गुण-दोष, छात्रों की अल्पज्ञता के तीन कारण; उच्चस्तरीय पाठ्यक्रम में शास्त्रीय विषयों का भी अध्ययन आवश्यक; आधुनिक पाठ्यक्रम और अध्यापन विधि में दोष, ग्रन्थगत ज्ञान की उपेक्षा, ऐतिहासिक तथा आलोचनात्मक अध्ययन पर विशेष वल, शास्त्रीय विषयों के व्यापक अध्ययन के लिए पण्डितों की नियुक्ति आवश्यक, गम्भीर अध्ययन के लिये उपाधि प्राप्ति के अनन्तर भी सुविधा की आवश्यकता; कतिपय स्थानों में दोनों प्रणालियों का परस्पर सहयोग।

पाठशाला तथा पारम्परिक प्रणाली

प्राचीन पारम्परिक प्रणाली का विवेचन; आज की पाठशालाओं की स्थिति कालेजों जैसी, परीक्षा प्रणाली से पाण्डित्य का ह्रास, प्राचीन प्रणाली की विशेषता, वर्तमान पाठशालीय शिक्षाप्रणाली में अपेक्षित सुधार आवश्यक, सर्वतोमुखी ज्ञान के लिये संस्कृत के पाठ्यक्रम में समस्त प्राचीन साहित्य का सन्निवेश आवश्यक, साम्प्रदायिक भावना का त्याग कर हर एक सम्प्रदाय के विचारों का अध्ययन प्रौढ़ पाण्डित्य के लिये उपयोगी, नव्य-न्याय-शास्त्र का अध्ययन, वर्तमान पाठ्यक्रम के अनुसार पाठशालाओं में अध्ययनरत छात्रों के लिये शास्त्रों के विकासक्रम का अनुशीलन सर्वथा अपेक्षित, स्नातक और स्नातकोत्तर छात्रों के लिये विदेशों में हो रहे भारतीय शास्त्रों से सम्बन्धित कार्यों की जानकरी जरूरी, पाठशालाओं में ऐतिहासिक और समालोचनात्मक प्रणाली का प्रवेश पाना हितावह, पाठशालाओं की वर्तमान शिक्षणपद्धति में कुछ सुधार अपेक्षित, अध्यापन का माध्यम मातृभाषा की जगह संस्कृत, छात्रों के सर्वतोमुखी विकास और ज्ञान के लिये आधुनिक प्रक्रिया के अनुसार वाद-विवाद, अभिनय, महापुरुषों की जयन्तियाँ तथा और भी अन्य प्रकार के उत्सवों का आयोजन, अध्ययनक्रम में शास्त्रों से सम्बद्ध क्रियाओं का प्रायोगिक आचरण, पाठशालीय छात्रों में लेखनकला का अभाव, अध्यापनक्रम में सन्दर्भ ग्रन्थों की ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक समीक्षा का प्रस्तुतीकरण, शास्त्रार्थ तथा वाक्यार्थ प्रणाली को पुनरुज्जीवित करना, परीक्षाप्रणाली के साथ-साथ शास्त्रार्थ और सभाओं के माध्यम से पाण्डित्य प्रकाश की प्राचीन परिपाटी का संवर्धन, परीक्षा प्रणाली में अनेक कमियाँ, मौखिक परीक्षा का प्राविधान, क्षेत्रीय समितियों के माध्यम से शास्त्रार्थों और सभाओं का आयोजन।

प्रस्तावना—शोधकार्य का अर्थ, यूरोपीय विद्वानों के सम्पर्क से संस्कृत क्षेत्र में नवजागृति, शोधकार्य की गरिमा, वैचारिक दृष्टिकोण, शोधकार्य में पारम्परिक तथा आधुनिक दोनों प्रकार के विद्वानों का योगदान अपेक्षित, कतिपय विश्वविद्यालयों तथा संस्थानों में पारम्परिक विद्वानों के लिये शोध का प्राविधान, शोधकार्य की दिशा में पारम्परिक विद्वानों की आवश्यकता, वास्तविक शोधकार्य।

विश्वविद्यालय

प्रौढ़ अध्ययन के लिये विश्वविद्यालयों में अपेक्षित सुविधाओं का प्राविधान; शोध-व्यवस्था के दो स्वरूप; विभाग संचालक की अपेक्षित योग्यता; वर्तमान ज्ञान की शुद्धि—शोध; अज्ञात का ज्ञापक शोध; शोधक्रिया में अपेक्षित सावधानी; शोधकार्य में दुष्प्रवृत्तियाँ। शोध-छात्रवृत्तियाँ तथा शोध-सदस्यता; स्नातकोत्तर शोधकार्य; उपाधियों का निर्णय तथा उनकी स्वीकृति; विदेशी परीक्षक तथा विदेशी उपाधियाँ; शोध के विषय; विश्वविद्यालय में अतिरिक्त व्याख्यान व्यवस्था; विचार गोष्ठियाँ तथा अन्तर्विश्वविद्यालयीय प्रशिक्षण अध्ययन; प्रकाशन; समालोचनात्मक संस्करण; पत्रिकाएँ तथा शोध सारांश (डाइजेस्ट); शोध योजनाएँ; देश के शोध संस्थान; केन्द्रीय भारतीय विद्या तथा शोध संस्थान; समन्वयीकरण; सम्मेलन; पारितोषिक; स्थायी पूँजी तथा न्यास (Foundation and Trust)।

संस्कृति का ज्ञान एक अनिवार्य आवश्यकता; संस्कृत वैदुष्य को शासकीय प्रश्रय तथा संस्कृत के विद्वानों को प्रोत्साहन; संस्कृत विद्वानों के प्रोत्साहन एवं संरक्षण के प्राचीन स्वरूप; अंग्रेज शासकों द्वारा विद्वानों का सम्मान; भारतीय शासन के लिये इस सम्बन्ध में आयोग का सुझाव; विधान मण्डलों तथा शिष्ट मण्डलों में पण्डितों का नामाङ्कन; विद्वानों की सभाएँ एवं उनका सम्मान; मठ तथा मन्दिर एवं संस्कृत को प्रोत्साहन; वेदपाठ, पुराण तथा पौरोहित्य परम्परा।

(अ) वेदपाठ

वेदों का मौखिक पाठ; वैदिक परम्पराओं का तेजी से ह्रास; वेदपाठ की वर्तमान स्थिति चिन्ताजनक; वेदाध्ययन की स्थिति निराशाजनक; ध्वनिशास्त्र के अध्ययन में वेदों के स्वरपाठ का महत्त्व; सम्पूर्ण वेदपाठ के टेप या वैक्स का सुझाव; वेदों की लुप्तप्राय परम्परा के संरक्षण के कतिपय उपयोगी सुझाव।

(ब) पुराणपाठ

(स) पौरोहित्य

प्रायोगिक प्रशिक्षण

(अ) आयुर्वेद—आयुर्वेद और भारत वर्ष, आयुर्वेद और आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान, आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति के विकास के सम्बन्ध में कुछ सुझाव, आयुर्वेद के प्रति सरकारी दायित्व; भारतीय ओषधियों पर अनुसन्धान।

(ब) ज्योतिष—ज्योतिष एक प्राचीन भारतीय विज्ञान, आधुनिक परिवेश में अनुसन्धान की आवश्यकता।

(स) कला एवं शिल्प।

संस्कृत तथा जनता

(अ) प्रारम्भिक संस्कृत, अल्पज्ञता का दोष; बेसिक संस्कृत; सरलीकरण की प्रक्रिया—सरलीकरण के सम्बन्ध में कुछ सुझाव।

(ब) प्राचीन साहित्यिक भाषा या लोकप्रिय भाषा—संस्कृत के प्रति दो विचार-धाराएँ, संस्कृत को अध्ययन का मुख्य अङ्ग बनाना आवश्यक।

संस्कृत की पत्र-पत्रिकाएँ

संस्कृत एक जीवित भाषा के रूप में, पश्चिम के सम्पर्क से संस्कृत जगत् में एक नयी प्रक्रिया का प्रारम्भ, संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं की आर्थिक स्थिति शोचनीय, इस सम्बन्ध में सरकारों और संस्कृतसेवी संस्थाओं का दायित्व।

संस्कृत का लोकप्रचार

संस्कृत-प्रचार के साधन, जनभावना, संस्कृत सिखाने के नये और सरल प्रयोग, व्यक्तिगत संस्कृत की परीक्षाएँ, सरल पुस्तकमालाओं का प्रकाशन, स्वैच्छिक संस्था व

—:0:—

संस्कृत-आयोग का प्रतिवेदन
(१९५६-५७)

संस्कृत-आयोग का प्रतिवेदन

[प्रथम अध्याय]

प्रस्तावना

(१) प्रस्ताव संख्या एफ० ३४।५६-ए-१, दिनांक अक्टूबर १, १९५६ के अनुसार भारत सरकार द्वारा नियुक्त यह संस्कृत-आयोग अपने विचार-विमर्श का कार्य पूरा करके अब अपना निम्निलिखित प्रतिवेदन सादर प्रस्तुत करता है। जनता तथा लोकसभा के अनुरोध पर संस्कृत-शिक्षा की वर्तमान स्थिति का अध्ययन करने के लिए भारत सरकार द्वारा इस आयोग की नियुक्ति की गयी थी। सरकार का यह कार्य सर्वथा समयोचित था। इसका प्रमाण है जनमानस में संस्कृत के प्रति विलक्षण उत्साह, जो सरकार के कार्य से सहसा जागृत हो उठा है। अपनी यात्रा के क्रम में हमने इस स्थिति का प्रत्यक्ष अनुभव किया। हमने विशेष रूप से यह भी देखा कि जिस भाषा तथा जिस साहित्य में हमारे देश की संस्कृति प्रतिष्ठापित है उसके उन्नयन में शासन की इस प्रकार की अभिरुचि को देखकर जनता के हृदय में सरकार के प्रति सम्मान की एक व्यापक भावना उत्पन्न हो चुकी है।

(२) संस्कृत-आयोग के निम्नांकित सदस्य थे :—

१. डा० सुनीति कुमार चटर्जी, अध्यक्ष विधानपरिषद्, पश्चिम बंगाल, कलकत्ता।

२. डा० जे० एच० दवे, सञ्चालक—भारतीय विद्याभवन, बम्बई।

३. डा० एस० के० डे, प्रोफेसर, भारतीय भाषा तथा साहित्य, स्नातकोत्तर अनुसन्धान विभाग, संस्कृत कालेज, कलकत्ता।

४. डा० टी० आर० वी० मूर्ति, सयाजीराव गायकवाड़ प्रोफेसर, भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

५. डा० वी० राघवन्, प्रोफेसर, संस्कृत, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास।

६. आस्थान विद्वान् पण्डितराज व्ही० एस० रामचन्द्र शास्त्री, शङ्कर मठ, बंगलोर।

७. प्रोफेसर विश्वबन्धु शास्त्री, सञ्चालक—विश्वेश्वरानन्दवैदिक अनुसन्धान-संस्थान, होशियारपुर।

८. प्रोफेसर आर० एन०, दाण्डेकर, प्राध्यापक संस्कृत, पूना विश्वविद्यालय, पूना। (सदस्य सचिव)

श्री के० सुन्दरराम शर्मा, सहायक शिक्षाधिकारी, शिक्षामन्त्रालय, नयी दिल्ली ने सहायक सचिव का कार्य किया।

(३) आयोग द्वारा विचारणीय विषय तथा उसकी कार्य-प्रक्रिया सरकार द्वारा निम्नांकित रूप में निर्धारित की गयी थी :—

आयोग निम्नाङ्कित विषयों पर विचार करेगा—

(१) विश्वविद्यालयों तथा इतर संस्थाओं में संस्कृत-शिक्षा सम्बन्धी उपलब्ध सुविधाओं का सर्वेक्षण करना तथा संस्कृत के अध्ययन एवं शोध को समुन्नत करने का सुझाव देना।

(२) परम्परागत संस्कृत पठन-पाठन की छानबीन करना तथा इस बात पर अपने विचार प्रकट करना कि वर्तमान शिक्षाव्यवस्था में उसके किन-किन अङ्गों को सम्मिलित करना उपयोगी सिद्ध हो सकेगा।

आयोग द्वारा किये जाने वाले कार्य के विषय में सरकार का निर्देश है कि—

लिखित प्रश्नावली द्वारा, अपने विवेक से किसी भी अन्य प्रक्रिया द्वारा, साक्ष्यों से बातचीत द्वारा, केन्द्रीय एवं प्रदेशीय शासनों से विचारविमर्श द्वारा तथा इस श्रेणी के अन्य अधिकारियों, संस्थाओं या व्यक्तियों से सम्पर्क द्वारा जो आयोग के विचार से उनके कार्य में सहायक हो सकें उनसे भी वार्ता द्वारा सम्बद्ध उपयोगी सामग्री तथा सूचनाओं को प्राप्त करना;

तथा भारत के उन प्रदेशों की यात्रा करना या यात्रा के लिये अपने प्रतिनिधि रूप में उपसमितियों का निर्माण करना, जिन प्रदेशों की यात्रा उनके विचार से उनके कार्य के लिए उपयोगी जान पड़े।

(४) प्रारम्भ से ही यह आयोग समझ रहा था कि उसके विचारार्थ सरकार द्वारा उपर्युक्त जो दो बातें (विश्वविद्यालयों तथा इतर विद्यालयों में संस्कृत तथा परम्परागत संस्कृत-शिक्षा) निर्धारित की गयी हैं, वे कुछ सीमित सी हैं। विश्वविद्यालयों तथा इतर विद्यालयों से सम्बद्ध सरकार द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त दोनों ही विषयों पर अधिक से अधिक विस्तृत विचार किये बिना संस्कृत पठन-पाठन तथा शोध सम्बन्धी छानबीन करने का हमारा कार्य अधूरा ही बना रहता। जैसे, विश्वविद्यालयों में संस्कृत की स्थिति का यदि हम ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें माध्यमिक शिक्षा में सस्कृत-शिक्षा की स्थिति के विषय में जानकारी प्राप्त करनी ही पड़ेगी, क्योंकि इन संस्थाओं के ही छात्र उत्तीर्ण होकर विश्वविद्यालयों में आते हैं। विश्वविद्यालयों में संस्कृत की शिक्षा कहाँ से प्रारम्भ की जाय, उसकी सीमा कहाँ तक रखी जाय तथा उसका स्तर क्या होना चाहिये—ये सभी बातें माध्यमिक विद्यालयों के संस्कृत-शिक्षण की सीमा तथा उसके स्तर पर निर्भर रहा करती हैं। विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में जो कोई भी विषय पढ़ाया जाता है उसके विषय में यह तो अवश्य ही ध्यान में रखा जाता है कि उसे पढ़कर छात्र

क्या करेगा या क्या कर सकेगा ? पाठ्यक्रम के किसी भी विषय की शक्ति तथा पठन-पाठन क्रम में उसे निरन्तर चलाते रहने का सीधा सम्बन्ध इस तथ्य से हुआ करता है कि उस विशेष अध्ययन या प्रशिक्षण से छात्र को क्या लाभ होगा ? वह समाज में क्या-क्या उपयोगी कार्य कर सकेगा तथा उसका भविष्य कैसा बनेगा ? वास्तव में शिक्षा के अन्य सभी अंगों के विषय में जो भी नीति अपनायी जाय वह राष्ट्र की आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं से पारस्परिक सम्बद्ध होनी चाहिए और सभी पाठ्यक्रमों का भी पारस्परिक सम्बन्ध होना चाहिये। इस दृष्टि से आयोग ने यह उचित समझा कि वह संस्कृत के साथ ही साथ भारत के राष्ट्रीय जीवन में संस्कृत के विद्वानों के स्थान के प्रश्न पर भी अवश्य विचार करे। यही कारण था कि अपनी छानबीन के समय आयोग एक विस्तृत क्षेत्र के पर्यवेक्षण पर दत्तचित्त तथा भारतवर्ष में संस्कृत सम्बन्धी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सभी समस्याओं के चिन्तन की ओर अग्रसर रहा। सरकार ने भी आयोग के कार्यक्षेत्र का निर्धारण करते हुए स्पष्टतः इस तथ्य पर बल दिया है कि यह आयोग संस्कृत-शिक्षा के सभी पहलुओं की पूरी पूरी छानबीन करेगा।

(५) स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त सरकार ने शिक्षा के पुनःसंघटन का कार्य अपने हाथों में लिया तथा इस प्रसङ्ग में उन्होंने दो आयोग नियुक्त किये। एक श्रीसर्वपल्ली-राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में विश्वविद्यालययीय शिक्षासम्बन्धी तथा दूसरा डा० ए० लक्ष्मणशास्त्री मुदलियार की अध्यक्षता में माध्यमिक शिक्षा-सम्बन्धी। स्व० बालगंगाधर खेर की अध्यक्षता में संविधान में निर्धारित हिन्दी के साथ अंग्रेजी को भी राज्यभाषा बनाने के औचित्य के विषय में एक तीसरे आयोग की नियुक्ति भी की गयी। इन तीनों आयोगों ने अपने प्रतिवेदनों में संस्कृत-शिक्षा तथा शिक्षा-व्यवस्था में संस्कृत के स्थान की समस्या पर अपने विचार प्रकट किये हैं।

(६) विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग (दिसम्बर १९४८—अगस्त १९४९) ने अपने प्रतिवेदन के १३१ वें पृष्ठ पर माध्यमिक विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में संस्कृत तथा अन्य प्राचीन भाषाओं के स्थान की भी चर्चा की है। कला तथा विज्ञान के प्रचलित पाठ्यक्रम के सन्दर्भ में इस आयोग ने इस तथ्य पर खेद प्रकट किया है कि भाषाओं की शिक्षा-व्यवस्था में इन भाषाओं के अध्ययनाध्यापन के महत्त्व का अनुभव नहीं किया गया है। संस्कृत भाषा एवं साहित्य का ठीक-ठीक मूल्याङ्कन करते हुए इस विषय में उक्त आयोग ने यह आशा व्यक्त की है कि "उपाधि-पाठ्यक्रम में हमारे छात्रों को अब संस्कृत के अध्ययन में प्रोत्साहित किया जायगा" (पृष्ठ १३१)। अपने प्रतिवेदन के एक स्थल पर इस आयोग ने यह भी कहा है कि संस्कृत भाषा तथा साहित्य हमारा सांस्कृतिक उत्तराधिकार है। इसमें अनुसन्धान का विस्तृत क्षेत्र विद्यमान है। ललितकला तथा उससे सम्बद्ध शोध के विषय में इस आयोग ने एक रुचिकर बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि गायन के क्षेत्र में हमें सामगान का अध्ययन तथा वेदगायन का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। धार्मिक शिक्षा की चर्चा करते हुए उक्त विश्वविद्यालय—आयोग ने संस्कृत ग्रन्थों के

महत्त्व पर बल दिया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि इन ग्रन्थों में चरित्र निर्माण के सार्वभौम तत्त्व निहित हैं। अतः ये आध्यात्मिक प्रशिक्षण के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। इस आयोग ने अपनी यह इच्छा व्यक्त की है कि हमारे विद्यालयों का जीवन ऐसे वातावरण से ओत-प्रोत हो जिससे बालकों को सादगी का प्रशिक्षण प्राप्त हो। ऐसे वातावरण का वास्तविक स्वरूप हम प्राचीन भारत के गुरुकुलों में प्रचलित संस्कृत-शिक्षा के आदर्शों से ही पा सकते हैं। शिक्षा के माध्यम के सन्दर्भ में संस्कृत के अधिकारों की चर्चा करते हुए इस आयोग ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि यह भाषा प्राचीन भारत में संस्कृत शिक्षा-जगत् की राष्ट्रभाषा रह चुकी है। आयोग ने विभिन्न विश्वविद्यालयों में संस्कृत तथा उससे सम्बद्ध भाषाओं के विशेष पठन-पाठन के लिए उपलब्ध सुविधाओं पर भी प्रकाश डाला है।

(७) भाषा के अध्ययन का सविस्तर विवेचन करते हुए माध्यमिक शिक्षा-आयोग (अक्टूबर १९५२—जून १९५३) ने इस विचार का समर्थन किया है कि संस्कृत के अध्ययन को गतिपूर्ण बनाना चाहिये तथा जो लोग संस्कृत पढ़ने के लिए इच्छुक हों उन्हें सभी सम्भव प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। इस आयोग ने सांस्कृतिक तथा धार्मिक दोनों ही पक्षों से संस्कृत की महत्ता तथा हृदयग्राहकता को स्वीकार किया है। संस्कृत के वर्तमान ह्रास पर खेद प्रकट करते हुए इस आयोग ने इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि यदि यही स्थिति बनी रही तो भय है कि कहीं अन्ततोगत्वा इस भाषा के पठन-पाठन का लोप न हो जाय। अपनी संस्तुतियों के एक अन्य स्थल पर आयोग ने प्राचीन भाषाओं की शिक्षण-विधियों में संशोधन तथा इन भाषाओं के पठन-पाठन की दिशा में आधुनिक प्रणालियों के प्रयोग पर भी बल दिया है।

(८) राजभाषा-आयोग (जून १९५५—जून १९५६) ने अपनी प्रश्नावली में संस्कृत सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का समावेश किया है। इस प्रतिवेदन के अवलोकन से प्रत्यक्ष होता है कि उक्त राजभाषा-आयोग ने भी संस्कृत के मौलिक महत्त्व को स्वीकार किया है। आयोग का कथन है—"यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रादेशिक भाषाओं के अतिरिक्त संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश के क्षेत्र में भी अभी बहुत अधिक काम करना आवश्यक है। प्रधानतः संस्कृत ने तथा अन्य प्राचीन भाषाओं ने भी विभिन्न अंशों तक प्रचलित प्रादेशिक भाषाओं को दृढ़ता पूर्वक प्रभावित किया है। प्रचलित प्रादेशिक भाषाओं के अध्ययन से इन प्राचीन भाषाओं के अध्ययन का साक्षात् सम्बन्ध है" (पृष्ठ ११८)। आयोग ने अपने उपसंहारात्मक विवेचन के अध्याय १५ में संस्कृत भाषा तथा उसके मूल्य का विवेचन करते हुए कहा है :—
"जो भाषाएँ द्राविड़ी भाषा कही जाती हैं उन्होंने तथा हमारी समस्त भाषाओं ने शताब्दियों से अपनी सभी प्रकार की स्थितियों तथा अपने नवीन भावों एवं अपने नवीन अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत भाषा तथा साहित्य के अक्षय शब्द-भाण्डारों, वाक्यांशों, कहावतों, मुहाविरों, विचारधाराओं तथा धारणाओं का कम या अधिक मात्रा में बराबर चयन किया है। शताब्दियों से साहित्यिक रचनाओं को

सुन्दर एवं आकर्षक बनाने के लिये ही रामायण, महाभारत, पुराण, काव्य, नाटक तथा संस्कृतसाहित्य की उत्कृष्ट कृतियों ने भावों, भावनाओं एवं दृष्टान्तों के सञ्चित भण्डार मात्र का ही कार्य नहीं किया है, अपि तु साहित्यिक श्रेष्ठता का मापदण्ड, सामाजिक आचार-विचार का आदर्श, नैतिकता के उदाहरण, संक्षेप में तर्क तथा ज्ञान के कोश के रूप में भी संस्कृतवाङ्मय भारतवासियों के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ है (पृष्ठ २४९)।

(९) इन वर्षों में विभिन्न प्रादेशिक सरकारों ने संस्कृत के अध्ययन तथा शोध-कार्य की छानबीन करने के लिये तथा इस सन्दर्भ में अपने सुझाव देने के लिये अपने अपने यहाँ समितियाँ नियुक्त की हैं। संस्कृत आयोग ने सभी प्रदेशों के शिक्षा सचिवों से इन समितियों के प्रतिवेदन माँगे थे। इससे आयोग को निम्नलिखित सामग्री प्राप्त हुई :—

१. उत्तरप्रदेश शासन की संस्कृत महाविद्यालय पाठ्यक्रम संशोधन समिति १९३८।
२. बिहार सरकार की संस्कृत पुनःसंघटन समिति का प्रतिवेदन।
३. उत्तरप्रदेश सरकार की संस्कृत पाठशाला पुनःसंघटन समिति का प्रतिवेदन नवम्बर १९४७ (प्रतिवेदन मार्च १९५० में प्रकाशित हुआ)।
४. पश्चिम बंगाल सरकार की संस्कृत शिक्षा समिति १९४८।
५. संस्कृत शिक्षा समिति, त्रावणकोर का प्रतिवेदन, अक्टूबर १९४८।
६. संस्कृत प्रवेशिका परीक्षा पुनःसंघटन समिति, मद्रास सरकार १९४९।
७. बम्बई सरकार की संस्कृत पाठशाला पुनःसंघटन समिति का प्रतिवेदन १९५०।
८. शिक्षासुधार समिति, मैसूर (प्रतिवेदन फरवरी १९५३ में प्रस्तुत किया गया)।
९. पञ्जाब सरकार का संस्कृतसमिति १९५४ (प्रतिवेदन अप्रेल १९५६ में प्रस्तुत किया गया)।
१०. संस्कृतपाठशाला पुनःसंघटन समिति, मध्यप्रदेश शासन, १९५५।
११. राजस्थान शासन की संस्कृत समिति का प्रतिवेदन (१९५५-५६)।

(१०) जुलाई, सन् १९४९ में उड़ीसा सरकार द्वारा नियुक्त प्राच्यविद्यालय समिति, पुरी के प्रतिवेदन की एक प्रति हमें वहाँ के मंत्री श्री राधानाथ रथ द्वारा प्राप्त हुई। वाराणसी में स्थापित होनेवाले संस्कृत विश्वविद्यालय, तथा कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, पञ्जाब तथा विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन सम्बन्धी साहित्य भी हमें प्राप्त हुआ।

(११) संस्कृत विश्वपरिषद् ने तिरुपति की अपनी चतुर्थ बैठक में एक समिति का संगठन किया था। इस समिति को निम्नलिखित कार्य सौंपा गया था :—

१. परम्परागत संस्कृत पाठ्यक्रम की छानबीन करना तथा वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में उसके समावेश करने के प्रश्न पर एवं उसे जीविका के लिए उपयोगी बनाये जाने के उपायों पर सुझाव देना, जिसके आधार पर उसे पुनः संघटित किया जा सके।

२. कुप्पू स्वामी शोध संस्थान तथा अनन्तशास्त्री फडके आदि अन्य विद्वानों ने संस्कृतशिक्षण सम्बन्धी जो प्रयोग किये हैं उन पर विशेष विचार करते हुए संस्कृत की प्रचलित अध्यापन विधियों का मूल्यांकन करना तथा इस विषय पर अपनी आख्या प्रस्तुत करना।

३. अन्य कोई विषय जो उपर्युक्त से सम्बद्ध हो।

इस समिति के सचिव ने एक प्रारम्भिक आख्या तैयार कर उसे आयोग को दिया।

(१२) सितम्बर ३० तथा अक्टूबर १, १९५५ को केन्द्रीयशासन ने भारतीय विश्वविद्यालयों के संस्कृत प्राध्यापकों की एक बैठक दिल्ली में बुलाई थी। इस बैठक में भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों के उनतीस प्रतिनिधि प्राध्यापकों ने भाग लिया था। इस समिति के विचारार्थ जो भी प्रश्न रखे गये थे, समिति ने उनकी सविस्तर छानबीन की तथा निम्नांकित बिन्दुओं पर प्रस्ताव पारित किया :—

१. सामान्य शिक्षा में संस्कृत का स्थान।

२. विश्वविद्यालयों तथा पाठशालाओं में संस्कृतपाठ्यक्रम की अवधि तथा इस पाठ्यक्रम में नियत किये जाने वाले विषयों की सूची।

३. परीक्षाप्रणाली।

४. विभिन्न स्तरों की कक्षाओं के अध्यापनार्थ अध्यापकों की योग्यता।

५. शोध तथा प्रकाशन कार्य का संवर्धन।

६. अखिल भारतीय संस्कृत-अध्ययन परिषद् के आयोजन का औचित्य।

(१३) संस्कृत-आयोग ने इन समस्त सरकारी तथा गैर सरकारी समितियों एवं उपर्युक्त-प्राध्यापक सम्मेलन द्वारा पारित किये गये प्रस्तावों के सुझावों को अपनी विचारकोटि में रखा है। इन सुझावों से आयोग को जो सामग्री सुलभ हुई वह केवल हमारे लिए उपयोगी ही नहीं सिद्ध हुई, अपि तु हमें यह जानकर हर्ष भी हुआ कि केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासनों ने अपने अपने क्षेत्रों में संस्कृत-शिक्षासम्बन्धी जाँच को आवश्यक समझा है एवं समय समय पर संस्कृत को पुनः संघटित तथा पुनः उज्जीवित के प्रश्न पर विचार भी किया है।

(१४) इस प्रकार के उपयुक्त समय में इस संस्कृत-आयोग का संघटन विशेष महत्त्व रखता है। यह सत्य है कि भारतीय संविधान के अनुसार शिक्षा प्रदेशीय शासन के उत्तरदायित्व का विषय है। किन्तु हम यदि इस तरह सोचें कि संस्कृत

भारतवर्ष की समस्त प्रान्तीय भाषाओं की जननी है अतः वह अधिकतर आधुनिक भाषाओं की आधारशिला है तथा हमारे देश की सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से भी महत्त्व रखती है, तो यह तथ्य पर्याप्त स्पष्ट हो जायगा कि केन्द्रीय शासन द्वारा संस्कृत के प्रत्येक पक्ष (पहलू) पर चिन्तित होना एवं उसके विकास में रुचि लेना सर्वथा उचित ही है।

प्रदेशीय शासन अपनी-अपनी स्थानीय समस्याओं के सुलझाने में व्यस्त हैं। कुछ प्रदेशों के समक्ष अपनी क्षेत्रीय भाषाओं को समुन्नत बनाने की माँग भी विद्यमान है। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय प्रशासन का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उन सभी सन्दर्भों की देख भाल को आवश्यक समझे जिनका सम्बन्ध देश के मौलिक-कल्याण की दृष्टि से एक व्यापक महत्त्व रखता है। इस दृष्टि से यह सर्वथा उचित ही था कि वह किसी एक आयोग के आयोजन द्वारा एतत्सम्बन्धी देशव्यापी नीति निर्धारण के हेतु उपायों की खोज करे। प्रदेशीय शासनों द्वारा संघटित जिन समितियों का उल्लेख हमने ऊपर किया है उन्हें साधारणतः अपने प्रदेश में व्याप्त संस्कृत सम्बन्धी कुछ विशेष समस्याओं पर विचार करने का ही निर्देश था। जैसे, कि केवल पाठशालाओं के विषय में ही हमारा इस अखिल भारतीय संस्कृत-आयोग को संस्कृत के सम्बन्ध में सर्वांगीण छानबीन करने का भार सौंपा गया है। अतः यह आयोग संस्कृत को ऊँचा उठाने की दिशा में किये गये विभिन्न प्रयासों की उच्चभूमि का प्रतिनिधित्व करता है।

(१५) एक विशेष स्थिति में इस आयोग के आयोजन का औचित्य ध्यान देने योग्य है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर पूरे देश के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को नवजीवन से उल्लसित किये जाने का प्रयास चल रहा है तथा शासन भी उन सभी मार्गों के अन्वेषण में कटिबद्ध है जिनके प्रयोग द्वारा हम अपने राष्ट्र को पूर्णतः विकसित तथा शक्तिशाली बना सकते हैं। राज्यपाल श्रीप्रकाश जी के उन शब्दों को हम कभी नहीं भूल सकते—'स्वतंत्रता संग्राम परम्पराप्राप्त अपनी बहुमूल्य सांस्कृतिक निधि को पुनः प्राप्त करने की भावना से, फिर से अपने स्वरूप में आने की उत्कट इच्छा से, तथा विदेशी शासन ने हमारे जिस गौरव को अंधकार में डाल रखा था उसे पुनः प्रतिष्ठापित करने के लक्ष्य से उत्प्रेरित तथा परिपुष्ट था।'

जैसे ही स्वतंत्रता के नवप्रभात ने भारतीय क्षितिज को अपनी आभा से अनुरञ्जित किया, हमने देखा कि उसके प्रकाश में हमारा पूर्व सांस्कृतिक जीवन देदीप्यमान हो रहा है। इस नवयुग के पदार्पण से यह स्वाभाविक ही था कि हमारा शासन, कला एवं साहित्य के क्षेत्र को समुन्नत बनाने की दिशा में ठोस कदम उठाता। ऐसी स्थिति में भारतीय भाषा, साहित्य एवं कला तथा राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत की आधारशिला होने के नाते संस्कृत भी आज स्वभावतः उन उपायों की खोज के लिए शासन की ओर देख रही है जिनसे वह अपना प्राचीन गौरव पुनः प्राप्त कर सके। अपने यात्राक्रम में इस आयोग ने इस तथ्य का अनुभव किया कि संस्कृत के समुन्नयन की दिशा में शासन द्वारा किसी ठोस उपाय का प्रयोग न

किये जाने के कारण जनता में एक अवाञ्छनीय क्लेश तथा निराशा की भावना व्याप्त है। कहना न होगा कि अन्य भाषाओं की अभ्युन्नति के लिए जो जो प्रयत्न सरकार कर रही है उनका संस्कृत पर विपरीत एवं अहितकर प्रभाव पड़ रहा है। इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ है कि आज संस्कृत को वह सम्मान तथा वे सुविधाएँ भी नहीं उपलब्ध हैं जो कि उसे अंग्रेजी शासन के समय प्राप्त थीं। इस सन्दर्भ में संस्कृत-आयोग उस प्राचीन संस्कृत श्लोक को उद्धृत करना चाहता है जिसका उच्चारण कई विद्वानों ने उसके समक्ष किया था। यह श्लोक उनकी भावनाओं को भलीभाँति चित्रित करता है :—

रात्रिर्गमिष्यति, भविष्यति सुप्रभातम्,
भास्वानुदेष्यति, हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे,
हा हन्त! हन्त! नलिनीं गज उज्जहार॥

(१६) जनता को आशा थी कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् संस्कृत के प्रसङ्ग में कोई न कोई श्रेष्ठ एवं सहानुभूतियुक्त विचार अवश्य ही किया जायगा। संस्कृत-आयोग की नियुक्ति से सिद्ध होता है कि जनता की इस अनुभूति का केन्द्रीय शासन को ज्ञान है और वह इस बात के लिए उत्सुक भी है कि समुचित मार्गों द्वारा संस्कृत के अध्ययन एवं शोध के क्षेत्र को सफलता पूर्वक समुन्नत बनाया जाय।

(१७) आयोग की सर्वप्रथम बैठक में हमने यह निश्चय किया कि संस्कृत में अभिरुचि रखने वाले समस्त व्यक्तियों तथा संस्थाओं से हम सम्पर्क स्थापित करें तथा कुछ प्रमुख पारम्परिक एवं आधुनिक भारतीय संस्कृत-शिक्षा-केन्द्रों का निरीक्षण भी करें। आयोग का यात्राक्रम पाँच आवर्त्तनों में पूरा किया गया है। इन यात्राओं में हमने भारत के सभी चौदह प्रदेशों का भ्रमण किया तथा छप्पन केन्द्रों के निरीक्षण के साथ-साथ विभिन्न विचारधाराओं के एक हजार एक सौ से ऊपर व्यक्तियों से साक्षात्कार भी किया। इन साक्षात्कारों के अतिरिक्त हमारे कार्यक्रम में उक्त छप्पन केन्द्रों में विद्यमान पाठशालाओं, विश्वविद्यालयों, शोधसंस्थानों, पुस्तकालयों, पाण्डुलिपि-संग्रहालयों के निरीक्षण का कार्य भी सम्मिलित किया गया था। इन स्थानों पर आयोजित पण्डितसभा, वेदपाठ, शास्त्रार्थ, संस्कृत नाटकों का मञ्चन तथा इस प्रकार के अनेक प्रदर्शनों में उपस्थित होने का भी हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ। जिस प्रकार प्रश्नावली के उत्तर संस्कृत में थे, ठीक उसी प्रकार साक्षात्कार के अवसर पर अनेक विद्वानों ने अपने-अपने उत्तर भी संस्कृत भाषा में दिये। केवल पारम्परिक पण्डितों ने ही ने नहीं, किन्तु आधुनिक ढंग के संस्कृत विद्वानों ने भी अपने भावों को संस्कृत भाषा के माध्यम से ही प्रकाशित किया तथा धाराप्रवाह संस्कृत में उन्होंने हमसे वार्ता की। इससे यह पुनः सिद्ध हुआ कि भारतवर्ष का संस्कृत विद्वान् चाहे वह जिस प्रदेश का हो, अब तक संस्कृत उसकी राष्ट्रभाषा बनी हुई है।

(१८) हमने अपने यात्राक्रम में नवद्वीप, वाराणसी, अयोध्या, मथुरा, उज्जैन, काञ्ची, तंजोर, मैसूर, तामिलनाडु, त्रिपुनीत्तूर ऐसे स्थानों का भी निरीक्षण किया जो

कि शताब्दियों से संस्कृत-पाण्डित्य के विख्यात केन्द्र चले आ रहे हैं। संस्कृतसाहित्य के मध्यकालीन अंश के दो युगपुरुष शंकराचार्य तथा रामानुज की जन्मभूमियों को भी हमें देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। अपनी यात्रा में हमने शंकर, रामानुज तथा माध्व—इन तीनों महान् आचार्यों के वर्तमान प्रतिनिधि मठाधीशों के भी दर्शन किये।

(१९) अपनी यात्रा के दौरान हम दो प्रकार की प्रचलित परस्पर विरोधी विचार-धाराओं से अत्यधिक प्रभावित हुए। हमने यह अनुभव किया कि एक ओर तो संस्कृत के विद्वानों तथा संस्कृत न जानने वाले दोनों ही वर्ग के लोगों में संस्कृत के प्रति अदम्य उत्साह विद्यमान है, किन्तु दूसरी ओर संस्कृत की पारम्परिक एवं आधुनिक दोनों ही अध्ययन-धाराओं का विस्तार तथा स्तर एक निराशाजनक रूप धारण करता जा रहा है। एक ओर संस्कृत के विद्वान्, हमारा जनवर्ग तथा हमारा अधिकारी समुदाय संस्कृत के महत्त्व का अनुभव कर रहा है तो दूसरी ओर किसी न किसी प्रकार की प्रशासकीय कठिनाई या व्यावहारिक सहायता का विघ्न संस्कृत के स्नेहियों को निराश कर रहा है। एक ओर संस्कृत के पारम्परिक पण्डित तथा आधुनिक विद्वान् संस्कृति के पुजारी तथा शास्त्रज्ञान के कोश के रूप में समाज द्वारा पूजे जा रहे हैं तो दूसरी ओर हमारा संस्कृत विद्वत्-समाज दीनता तथा हीनता से कलंकित प्रतीत हो रहा है। इतना होने पर भी हमने यह अवश्य देखा कि भारत सरकार द्वारा इस आयोग की नियुक्ति हो जाने पर अब हमारा समाज आशा के एक सर्वथा नवीन वातावरण से हर्षित हो उठा है। इस वातावरण के द्वारा हमें एक ओर तो निश्चय ही प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है, पर दूसरी ओर हम इस तथ्य का भी अवश्य ही अनुभव कर रहे हैं कि जो यह कार्य हमें सौंपा गया है वह कितना महान् तथा कितना महत्त्वपूर्ण है।

—:०:—

[द्वितीय अध्याय]

ऐतिहासिक सिंहावलोकन

(१) सम्प्रति हमें वर्तमान संस्कृत शिक्षा के विषय में ही विचार करना है। अतः हम यह आवश्यक नहीं समझते कि इस समय उसके पूर्व इतिहास पर भी प्रकाश डाला जाय। तथापि संस्कृत शिक्षा की वर्तमान समस्याओं की जड़ उसके पूर्व इतिहास में इतनी गहराई तक जमी हुई है कि जब तक उन समस्याओं के कारणभूत ऐतिहासिक तत्त्वों का हमें ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक ये समस्यायें समझी ही नहीं जा सकतीं। उदाहरण के लिए संस्कृत-शिक्षा की मुख्य विशेषता यह है कि एक ओर यहाँ परम्परागत संस्कृत के पठन-पाठन का अस्तित्व बना हुआ है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में संस्कृत के पठन-पाठन की पद्धति आधुनिक है। पाश्चात्त्य देशों में यह स्थिति नहीं है। वहाँ प्राचीन भाषाओं की परम्परागत शिक्षा विश्वविद्यालयों की शिक्षा का ही एक अङ्ग है। विश्वविद्यालयों से बाहर वहाँ परम्परागत प्राचीन भाषाओं का पठन-पाठन कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रखता।

(२) जब कि आधुनिक भारतीय भाषाएँ बढ़ रही थीं तब भी संस्कृत की सृजनात्मक क्रिया, विशेषतः धर्म तथा साहित्य के क्षेत्र में, निरन्तर चल रही थी। उसके सम्मान में किसी प्रकार का भी ह्रास नहीं था। इस समय भी संस्कृत के भारतीय विद्वानों के परस्पर विचार-विनिमय का माध्यम लगातार संस्कृत भाषा ही बनी रही तथा भारतीय भाषाओं की साहित्यिक उपलब्धियों तथा उनकी रचनाओं का अखिल भारतीय स्तर संस्कृत के द्वारा ही बराबर आंका जाता रहा है। मुस्लिम शक्ति के ऊँचे उठने पर न्यायलयों के माल, न्याय तथा अन्य शासकीय विभागों में एक विदेशी भाषा ने सर्वप्रथम पदार्पण किया। जो भी हो फारसी के इस महत्त्व का संस्कृत पर यद्यपि अहितकर प्रभाव पड़ा, तथापि वह भाषा संस्कृत को अपने सुस्थिर स्थान से हटाने में समर्थ नहीं हो सकी।

वास्तव में संस्कृत के लिए दुर्भाग्य तथा उसके ह्रास का कारण था अङ्गरेजों के जटिल शासन तन्त्र का श्रीगणेश तथा उन लोगों के द्वारा अङ्गीकार की गयी एक सर्वथा नवीन शिक्षानीति। अतः हमें यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि हम वर्तमान शिक्षा के प्रमुख स्थलों का जबतक ऐतिहासिक सर्वेक्षण नहीं कर लेते तब तक विगत पचास वर्षों में संस्कृत की क्या स्थिति थी उसका भी हमें स्पष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। इस ज्ञान के बिना हम संस्कृत शिक्षा के वर्तमान स्वरूप का मूल्याङ्कन भी भली-भाँति यथोचित ढंग से नहीं कर सकते।

(३) संस्कृत शिक्षा के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में हमें थोड़ा ही कहने की आवश्यकता है। प्राचीन भारत में शासन यद्यपि शिक्षा-संस्थाओं को मुक्त हृदय से प्रश्रय एवं संरक्षण देता था, किन्तु शासन द्वारा बिना किसी रोक-टोक तथा नियंत्रण के इन संस्थाओं को अपने ढंग से अपना विकास करने की पूरी छूट थी। प्राचीन भारत में धार्मिक प्रशिक्षण ही शिक्षा का लक्ष्य था तथा गुरु-शिष्य का व्यक्तिगत घनिष्ठ एवं आत्मीय सम्पर्क ही उसका प्रमुख आधार माना जाता था। शिक्षा का यह धार्मिक तथा व्यक्तिगत स्वरूप बहुत समय तक भारतीय शिक्षा का एक विशेष तत्त्व बना रहा। यदि सच पूछा जाय तो प्राचीन काल से ठीक आज तक भारतीय शिक्षा की एक निरन्तर परम्परा चली आ रही है। वैदिक काल से आज तक इस लम्बे समय में इस परम्परा में कुछ विकास तथा परिवर्तन अवश्यम्भावी था। किन्तु गुरुकुल-आदर्श, मौखिक-शिक्षा, नैतिक-प्रशिक्षण पर बल, चरित्र-निर्माण, अध्ययन-स्वातंत्र्य, बाह्यनियन्त्रण का अभाव, शासन की जागरूकता तथा सर्वाधिक महत्त्व का विषय शिक्षा का मौलिक उत्तरदायित्व समाज का होना—भारतीय-शिक्षा के ये आदर्श तथा उसके ये महत्त्वशील तत्त्व सदैव ज्यों के त्यों बने रहे। बौद्ध तथा जैन धर्म द्वारा अपने प्रारम्भिक काल में भले ही कुछ नये मूल्यों का प्रस्थापन किया गया हो, किन्तु कालक्रम में उन्हें भी प्राचीन भारतीय परम्परा में ही घुलमिल जाना पड़ा। मुस्लिम विजेताओं के आगमन का भी भारतीय शिक्षा की परम्परा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस समय यद्यपि कुछ हिन्दू शिक्षाकेन्द्रों को कुछ कष्ट का सामना अवश्य करना पड़ा, पर शिक्षा की परम्परा अक्षुण्ण ही बनी रही। यद्यपि मुसलमानों ने अरबी तथा फारसी का नवीन पाठ्यक्रम चलाया, किन्तु हिन्दू शिक्षापद्धति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। इस नवीन शिक्षाक्रम के आ जाने से हिन्दू शिक्षापद्धति के पाठ्य-क्रम तथा उसकी अध्यापनप्रणाली में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं हुआ।

(४) यदि सच पूछा जाय तो यूरोप तथा विशेषतः ब्रिटेन के सम्पर्क से ही हमारी शिक्षा प्रभावित हुई। हमारी बुद्धि को सर्वप्रथम उत्तेजित करने का उत्तर-दायित्व ब्रिटेन के लोगों पर ही है। इन लोगों के सम्पर्क में आने के कारण हमारे शिक्षा-आदर्श बदले तथा हमारी शिक्षापद्धतियों ने भी एक नया मोड़ लिया। सन् १६९८ के चार्टर ऐक्ट के पारित हो जाने पर इस्ट इंडिया कम्पनी को हमारी शिक्षा पर ध्यान देना पड़ा। इस ऐक्ट के अनुसार यूरोपीय सैनिकों तथा कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा के लिए कम्पनी को विद्यालय खोलने पड़े तथा पादरियों की नियुक्ति करनी पड़ी। सन् १७६५ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हुई और उसे शासकीय अधिकार भी मिले, किन्तु इस स्थिति का प्रचलित शिक्षा-कार्यक्रम पर कोई यथार्थ प्रभाव नहीं पड़ा। शासक के रूप में भी कम्पनी शिक्षा के प्रति उदासीन ही बनी रही।

(५) ब्रिटिश शासकों के समय संस्कृत-शिक्षा का विस्तार कितना था तथा उसका क्या स्वरूप था? इस विषय में जो भी अभिलेख हमें मिलते हैं वे नितान्त अपूर्ण हैं। अंग्रेजों ने अंगरेजी शिक्षा को एक व्यापक रूप दिया। इसी समय क्रिश्चियन

धर्म की संस्थाओं ने भी अंगरेजी शिक्षा के प्रचार का कार्य अपने हाथों में लिया। यह शिक्षा हमारे देश में इतनी आकर्षक बन गयी कि हमारे नवयुवक इसके अन्धभक्त हो गये। ये पाश्चात्त्य धार्मिक संस्थायें तथा हमारे नवयुवक यद्यपि पाश्चात्त्य शिक्षा के स्नेही थे तथा संस्कृत के विरोधी थे, किन्तु यह बात नहीं थी कि इस प्रतिकूल वातावरण से संस्कृत का पतन हो गया था या इसके पूर्व भी संस्कृत गिर चुकी थी। ये दोनों ही हिन्दू तथा हिन्दुत्व के विरोधी थे। इस कारण संस्कृत के प्रति इनकी दुर्भावना स्वाभाविक ही मानी जायगी। संस्कृत-शिक्षा की वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त करने हेतु कोई भी प्रामाणिक अभिलेख सन् १८२२ तक नहीं प्राप्त होते। इस वर्ष मद्रास के गवर्नर सर टामस मुनरो ने भारत के प्राचीन साहित्य तथा उसकी पुरातन कला के ह्रास पर दुःख प्रकट किया तथा अपने प्रदेश में भारतीय पारम्परिक शिक्षा की स्थिति का पता लगाने के लिए उन्होंने एक राज्यादेश निर्गत किया। इस जाँच की रिपोर्ट सन् १८२६ में प्रस्तुत की गयी। बम्बई के राज्यपाल श्री माउन्ट स्टुअर्ट एल्फिन्स्टन ने भी सन् १८२३ में संस्कृत-सम्बन्धी जाँच करवायी। इस जाँच की रिपोर्ट सन् १८३२ में पूरी हुई। इसी प्रकार सन् १८३२ ही में लार्ड विलियम बेन्टिक के आदेश से बंगाल तथा बिहार में संस्कृत-शिक्षा की स्थिति जानने के लिए डब्ल्यू ऐडम द्वारा यथोचित छानबीन की गई। जुलाई सन् १८३५, सन् १८३६ तथा सन् १८३८ में सरकार के आदेश से डब्ल्यू ऐडम की अमूल्य रिपोर्ट क्रमशः तीन जिल्दों में प्रकाशित की गयी।

(६) सत्तरहवीं, अठारहवीं शताब्दी एवं उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय शिक्षा का जो स्वरूप था इसे निम्नांकित रूप में रखा जा सकता है। उस समय दो प्रकार के विद्यालय थे—

(अ) प्रारम्भिक विद्यालय जिनमें मातृभाषा के माध्यम से पढ़ना, लिखना तथा गणित सिखाया जाता था।

(ख) उच्चशिक्षा के विद्यालय। ये विद्यालय दो प्रकार के थे—

(१) संस्कृतपाठशालाएँ या टोल।

(२) फारसी तथा अरबी के मदरसे।

हमारा सम्बन्ध मुख्यतः संस्कृत पाठशालाओं तथा टोलों से ही है। इनका ही अध्ययन हमें करना है। जिन छात्रों को संस्कृत पढ़ने की इच्छा होती थी, वे प्रारम्भिक विद्यालयों में न जाकर सीधे संस्कृत पाठशालाओं ही में जाया करते थे। ये पाठशालाएँ राजाओं, जमींदारों, बड़े बड़े व्यापारियों तथा धार्मिक जनता से सहायता प्राप्त करती थीं। ब्राह्मणवर्ग इन पाठशालाओं में शिक्षा देता था तथा छात्र भी प्रायः ब्राह्मण ही हुआ करते थे। उच्चकोटि के संस्कृत पण्डित इन संस्थाओं में अध्यापन करते थे तथा इन विद्वानों में से कई एक प्रसिद्ध साहित्यकार भी हो चुके हैं। अपने आश्रयदाताओं से इन विद्वानों को कुछ थोड़ी बहुत भूसम्पत्ति भी प्राप्त हो जाया करती थी तथा कभी कभी छात्र भी इन्हें अपनी इच्छा से गुरुदक्षिणा

दे दिया करते थे। विशेष विशेष अवसरों पर इन पण्डितों को जनता द्वारा दक्षिणा के रूप में द्रव्य अथवा अन्न की भी प्राप्ति हो जाया करती थी। छात्रों से कोई अध्ययनशुल्क नहीं लिया जाता था। उल्टे इनके लिए इन संस्थाओं में निःशुल्क भोजन तथा आवास की व्यवस्था की जाती थी। ये पाठशालाएँ साधारणतः गुरुओं के घरों या मन्दिरों में लगा करती थीं।

(७) इन संस्थाओं की छात्रसंख्या गुरु की विद्वत्ता तथा उसकी ख्याति परही निर्भर रहा करती थी। उस समय छात्रों की न तो कोई परीक्षा ली जाती थी न तो उन्हें कोई उपाधि ही दी जाती थी। छात्रों की विद्वत्ता तथा उनके सफल अध्ययन का प्रमाण हुआ करता था वह विख्यात विद्वान्, जिसके चरणों के समीप छात्र शिक्षा प्राप्त किया करते थे। इन संस्थाओं में जो कुछ भी पढ़ाया जाता था वह भली भाँति पढ़ाया जाता था और उनका स्तर किसी भी अन्य प्राचीन राष्ट्र या पुनरुत्थान (Renaissanci) के पूर्व किसी भी यूरोपीय विद्वान् से कम नहीं था। गुरुकुलों का यह परिपक्व प्रशिक्षण शास्त्रों के प्रौढ पाण्डित्य तक ही सीमित नहीं था। विद्वानों के पवित्र जीवन में भारतीय संस्कृति का उद्दीप्त प्रकाश विद्यमान था। वे पण्डित सभ्यता, धर्म एवं मानव के अन्दर विद्यमान सर्वोच्च शक्तियों के साक्षात् प्रतिनिधि थे। वे केवल विद्वत्ता के लिए ही सरस्वती की सेवा नहीं करते थे बल्कि समाज को पवित्र बनाने की दिशा में भी उनके शास्त्रचिन्तन का विलक्षण प्रभाव पड़ा करता था। शास्त्रों का अध्ययन उनका व्यसन था। वे गम्भीर तथा प्रौढ ज्ञान के प्रेमी थे तथा छिछले ज्ञान से घृणा करते थे। इतना होने पर भी उनकी पठन-पाठन क्रिया का शास्त्रों के विकास पर एक अहितकर प्रभाव पड़ा। आगे चलकर उनकी शिक्षा अव्यावहारिक हो गयी तथा उसके विकास का मार्ग अवरुद्ध सा हो गया। इस शिक्षा-प्रणाली में ग्रन्थ के ग्रन्थ कण्ठस्थ कर लिये गये। टीका पर टीकाएँ मुखाग्र कर ली गयीं। विद्वत्ता से ओतप्रोत शक्तिशाली प्राञ्जल भाषा में शास्त्रार्थ के उत्तर तथा पूर्वपक्ष के द्वारा महीनों तक शास्त्रों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन्थन किया गया।

(८) जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ईस्ट इण्डिया कम्पनी शिक्षा के प्रति उदासीन बनी रही तथा उसने किसी व्यवस्थित शिक्षाक्रम की स्थापना नहीं की। किन्तु हमारे विचार से अठरहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में उन्होंने एक महत्त्व-शील कार्य अवश्य किया। वह था विशेषतः कलकत्ता के मुसलमानों को सन्तुष्ट करने के लिए वारेन हेस्टिंग्ज़ द्वारा १७८१ में कलकत्ता मदरसा की स्थापना। वारेन हेस्टिंग्ज़ के उत्तराधिकारी लार्ड कार्नवालिस ने उसका अनुकरण किया तथा जोनाथन् डंकन के निवेदन पर सन् १७९१ में उन्होंने बनारस में बनारस पाठशाला या हिन्दूकालेज की स्थापना की। यही संस्था आगे चलकर बनारस कालेज या संस्कृत कालेज, बनारस के नाम से प्रसिद्ध हुई। हिन्दुओं में लोकप्रिय बनने की दृष्टि से तथा न्यायालयों में हिन्दुधर्मशास्त्रसम्बन्धी शास्त्रानुकूल व्यवस्था देने के लिए संस्कृत के पण्डितों को तैयार करने के उद्देश्य से कम्पनी ने इस कालेज की स्थापना की।

(९) यहाँ एक विषय की चर्चा आवश्यक जान पड़ती है। इससे भले ही अप्रत्यक्ष रूप में ही क्यों न हो बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना को अवश्य बल मिला होगा। वह है अठरहवीं शताब्दी के प्रारम्भकाल के ही दो दशकों में भारत में रहने वाले यूरोप के लोगों के द्वारा तथा यूरोप में रहने वालों के द्वारा भी संस्कृत का उत्साहपूर्ण अध्ययन किया जाना। सर विलियम जोन्स की पुस्तकों ने तथा उनके अनुवाद कार्य ने यूरोप में संस्कृत भाषा एवं साहित्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। इससे पाश्चात्य देशों में भारतीय ज्ञानविज्ञान के वैज्ञानिक अध्ययन की लहर दौड़ पड़ी। जोन्स द्वारा कालिदास की शकुन्तला का अनुवाद पढ़कर गेटे उसकी कवितामयी प्रशंसा करता हुआ आनन्दविभोर हो उठा। सन् १८८४ में चार्ल्स विल्किन ने सर्वप्रथम भगवद्गीता का अंगरेजी अनुवाद किया। संस्कृत के प्रति अदम्य उत्साह के कारण ही उस समय के लोग इस विद्वान् को "संस्कृत विक्षिप्त" (संस्कृत का पागल) कहा करते थे। विल्किन्स ने कलकत्ते में संस्कृत-ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए एक मुद्रणालय की स्थापना की। सन् १७८४ में जोन्स तथा विल्किन्स के प्रयास से कलकत्ते में एशियाटिक सोसाइटी का शुभारम्भ किया गया। भारतीय विषयों के लेखों पर इस सोसाइटी द्वारा विचार-विमर्श किया जाता था तथा वे लेख 'एशिया के शोधपत्र' (Aciatiak Researches) नामक पत्रिका में प्रकाशित किये जाते थे। इन घटनाओं का संस्कृत की स्थिति पर गम्भीर प्रभाव पड़ा।

(१०) डंकन द्वारा बनारस संस्कृत कालेज के पाठ्यक्रम में पुराणों में चर्चित अठारह विद्याओं के विस्तृत अध्ययन का प्राविधान किया गया था, किन्तु वास्तव में इस पाठ्यक्रम में उन शास्त्रों का ही पठन-पाठन सम्मिलित किया गया जो कि स्थानीय विद्वानों द्वारा उस समय विशेषतः पढ़े पढ़ाये जाते थे। इस विद्यालय के प्रारम्भकाल में प्रधान पण्डित को लेकर कुल नौ अध्यापक नियुक्त किये गये थे। इन विद्वानों को वेद, वेदान्त, व्याकरण, न्याय, मीमांसा, पुराण, काव्य, ज्योतिष, आयुर्वेद तथा धर्मशास्त्र के अध्यापन का कार्य सौंपा गया। अप्रैल सन् १८४४ में जे० म्योर इस महाविद्यालय के सर्वप्रथम प्रधानाचार्य नियुक्त किये गये। जे० म्योर ने इस विद्यालय की पठन-पाठन व्यवस्था को क्रमबद्ध किया तथा निम्न कक्षाओं में गणित तथा काव्य ऐसे विषयों का अध्ययन अनिवार्य बनाया। सन् १८४७-४८ में प्रधानाचार्य जे० वेलन्टाइन ने इस विद्यालय में अंगरेजी का अध्ययन प्रारम्भ कराया। उनका यह रोचक प्रयोग आगे चलकर ऐंग्लो संस्कृत-विभाग के रूप में परिणत हो गया। इस विभाग के सर्वप्रथम विभागाध्यक्ष श्री ए० ई० गफ ने सन् १८७७ में कहा कि यह विभाग संस्कृत कालेज का एक विकासशील अंग है। इसके माध्यम से काशी के विद्वद्वर्ग में उदारता की प्रवृत्ति जागृत करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। जो कुछ भी हो उस वर्ष ही उस विभाग का अन्त भी हो गया। उसी समय जे० थीबो तथा प्रमदादास मित्र के बीच एक विवाद उठ खड़ा हुआ। थीबो संस्कृत के विद्वान् को एक पाश्चात्य संस्कृत के विद्वान् के रूप में परिवर्तित करना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि पारम्परिक भारतीय विद्वान् शोध एवं अनुसन्धान कार्य के

द्वारा अपने शास्त्रज्ञान को अधिकाधिक पल्लवित तथा पुष्पित करे। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उनका मत था कि पाश्चात्त्य विद्वानों की कार्यविधि को समझने के लिये पारम्परिक विद्वान् को अंगरेजी का ज्ञान अपेक्षित है जिससे कि पाश्चात्त्य तथा पौरस्त्य दोनों ही प्रकार की विद्वत्ता के मेल से दोनों ही प्रणालियों का यथेष्ट विकास हो सके। इसके विपरीत श्रीप्रमदादास संस्कृत के अध्ययनक्षेत्र में अङ्गरेजी तथा पाश्चात्त्य विचारों का अध्यारोप मात्र करना चाहते थे। उनका मत था कि संस्कृत का विद्वान् सर्वप्रथम पारम्परिक ढंग से शास्त्रों का निष्णात पारंगत पण्डित बने। तत्पश्चात् वह अंगरेजी पढ़े तथा पाश्चात्त्य रीति से अध्ययन मार्ग का प्रशिक्षण प्राप्त करे और उसका अनुसरण करे। जो कुछ भी हो उपर्युक्त मेल तथा अध्यारोप के विवाद का कोई भी परिणाम न निकला।

(११) बनारस संस्कृत कालेज के इतिहास में सन् १८८० का वर्ष विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि इस वर्ष ही संस्कृत कालेज में सर्वप्रथम परीक्षाप्रणाली ने पदार्पण किया। इस व्यवस्था से संस्कृत-शिक्षा प्रतिवर्ष अधिकाधिक लोकप्रिय होने लगी। डाक्टर वेनिस के प्रधानाचार्यत्व में संस्कृत कालेज विविध क्रियाओं का केन्द्र बना रहा। पाण्डुलिपियों के विशाल संग्रह को सुरक्षित रखने के लिए 'सरस्वती-भवन' का निर्माण इनके कार्य काल ही में हुआ। इसी समय विजयानगरम् ग्रन्थ-माला का उद्घाटन हुआ तथा अधिक संख्या में छात्रवृत्तियाँ निर्धारित की गयीं। अध्यापक भी अध्ययन तथा शोधकार्य में दत्तचित्त किये गये जिससे कि इस क्षेत्र ने अच्छी उन्नति की। सन् १९१८ से लेकर संस्कृत कालेज के पाठ्यक्रम में समय-समय पर अपेक्षित परिवर्तन किये गये। ये परिवर्तन तदानीन्तन शासन एवं समाज का संस्कृत-शिक्षा के प्रति बदलती हुई प्रवृत्तियों पर आधारित थे।

(१२) बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना के समय ही भारत वर्ष में शिक्षा की एक और नीति चल पड़ी थी। इसी समय वारेन हेस्टिंग्ज ने एक व्यापार परिषद् का आयोजन किया। इस परिषद् के सचिव सर चार्ल्स ग्रान्ट ने सन् १७९२ में "ग्रेट-ब्रिटेन की एशियायी प्रजा की सामाजिक स्थिति, विशेषतः उनके नैतिक स्तर में सुधार लाने के उपायों पर विचार" नामक लेख लिखा। अपने इस निबन्ध में ग्रान्ट ने भारत के सम्बन्ध में बड़े ही अवाञ्छनीय विचार प्रकट किये हैं। उनका कथन है कि गिरती हुई भारतीय नैतिकता को रास्ते पर लाने के लिए एक मात्र उपाय यही है कि अंगरेजी के माध्यम से पाश्चात्त्य ज्ञान का प्रचार भारतवासियों में किया जाय। इस समय तक "अंगरेजी के माध्यम से पाश्चात्त्य ज्ञान का प्रचार" यह नारा सुशिक्षित भारतीयों का एक प्रिय उद्गार बन चुका था। ग्रान्ट के इस विचारधारा से हमारे देश की शिक्षा तथा उसके पाठ्यक्रम के क्षेत्र में एक विलक्षण विवाद उठ खड़ा हुआ। ग्रान्ट के इस आन्दोलन को विलियम फोर्स के सहयोग की शक्ति प्राप्त हुई, जिसके प्रभाव से इंगलैण्ड में भी भारतवर्ष की शिक्षा के विषय में एक आन्दोलन चल पड़ा। परिणामस्वरूप विदेशी शासकों ने यह निश्चय किया कि भारतीय प्रजा को सुशिक्षित

करने का उत्तरदायित्व कम्पनी पर है। फलतः भारतवर्ष में शिक्षा का कार्य अनिच्छुक कम्पनी पर लाद दिया गया। अपने १८८१ के घोषणापत्र में लार्ड मिन्टो ने भारत में शिक्षा की शोचनीय स्थिति की चर्चा करते हुए स्पष्टतः लिखा है कि इस दयनीय स्थिति का कारण है उस प्रोत्साहन का प्रभाव, जो कि भारतवासियों के अपने शासनकाल में राजाओं, जमींदारों तथा धनी दानी जनता से शिक्षा को प्राप्त होता था। इन्हीं सब कारणों से सन् १८१३ में चार्टर ऐक्ट के द्वारा कम्पनी को भारतवर्ष में शिक्षा का भार सम्हालने के लिए बाध्य किया गया।

(१३) चार्टर ऐक्ट की ४३ वीं धारा में कम्पनी को यह आदेश दिया गया है कि ब्रिटिश राज्य में भारतवर्ष के विद्वानों को समुन्नत बनाने के लिए तथा भारत में विज्ञान की शिक्षा के विकास के लिए वह प्रतिवर्ष कम से कम एक लाख रुपये का व्यय निश्चित करे। कम्पनी के सञ्चालकों ने यह सोचा कि इस धारा का मन्तव्य नवीन ढंग के विद्यालय खोलने से पूरा न होगा। इसका कारण वे यह समझते थे कि जाति-पांति की मर्यादा तथा प्रतिष्ठा को मान्यता देने वाली भारत की जनता इस प्रकार के विद्यालयों के आधुनिक प्रशिक्षण को स्वीकार नही करेगी। इसलिए इनके लिए पाश्चात्त्य ढंग के नियमित स्कूल कालेज खोलना ठीक न होगा। अतः अपने १८१४ के घोषणापत्र में उन्होंने यह सुझाव रखा कि परम्परागत शिक्षा-पद्धति, जो कि भारत में युगों से बराबर चली आ रही है वही शिक्षा पूर्ववत् गुरुकुलों ही में चलती रहे। विद्वानों को ज्ञानविस्तार की दिशा में प्रोत्साहित करने के लिए उन्हें सम्मानित उपाधियाँ दी जायँ तथा कुछ विद्वानों को आर्थिक सहायता भी दी जाय। स्पष्टतः राजनीतिक कारणों से कम्पनी के सञ्चालकों ने यह इच्छा प्रकट की कि इस कार्य के लिए बनारस को केन्द्र बनाया जाय, क्योंकि यह हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। यहाँ भारतीय ज्ञान-विज्ञान के पारंगत विद्वान् उपलब्ध हैं तथा विभिन्न शास्त्रों के ग्रन्थ भी यहाँ एक बड़ी संख्या में पाये जा सकते हैं। इस सन्दर्भ में कम्पनी ने यह जानकारी प्राप्त की कि बनारस में उस समय कौन-कौन से संस्थान विद्यमान हैं, तथा साहित्य एवं विज्ञान के किन-किन अङ्गों की वहाँ शिक्षा दी जाती है। उन्होंने यह भी पता लगाया कि इन संस्थानों के अध्यापकों तथा प्राध्यापकों की जीविका किस सहायता से चलती है तथा उनके अधिकाधिक लाभ के लिए किन-किन उपायों से उन्हें ऊँचा उठाया जा सकता है। कम्पनी के इस घोषणापत्र में उन बहुमूल्य पुस्तकों का भी उल्लेख है जिनमें जड़ी-बूटियों द्वारा रोगनिवारण के उपाय बताये गये हैं तथा विभिन्न जड़ियों के चिकित्सासम्बन्धी गुणों का भी वर्णन किया गया है। घोषणापत्र में कम्पनी ने ज्योतिष, खगोल तथा गणित के ग्रन्थों की भी चर्चा की है तथा सुझाव दिया है कि इस ज्ञान-विज्ञान में संलग्न प्रजा को सभी सम्भव प्रोत्साहन देना चाहिए जिससे कि वे श्रमपूर्वक संस्कृत का पठन-पाठन चलाते रहें।

(१४) १८१३ के चार्टर ऐक्ट तथा उपर्युक्त घोषणापत्र के अनुसार सन् १८२३ तक बहुत ही कम कार्य हुआ। १८१३ तथा १८२३ के मध्य पूना में एक संस्कृत कालेज की स्थापना की गयी। मराठा अभिलेखों से ज्ञात होता है कि

समर्थ रामदास स्वामी के निर्देश पर विद्वानों को आश्रय देने के उद्देश्य से महाराजा शिवाजी ने दक्षिणा नाम की संस्था स्थापित की। इस संस्था के द्वारा विद्वानों को दान तथा पुरस्कार देने का प्राविधान किया गया। पूना स्थित पेशवा के महल में विविध शास्त्रों के विद्वान् एकत्रित होते थे। इस सभा में विभिन्न शास्त्रों के पारंगत विद्वान् उनकी परीक्षा लिया करते थे। इस परीक्षा द्वारा विद्वानों के शास्त्रज्ञान का मूल्याङ्कन किया जाता था तथा जिस योग्यता का जो पण्डित निश्चित किया जाता था उसके अनुसार उसकी दक्षिणा भी निर्धारित की जाती थी। इन सभाओं में उन विद्वानों का विशेष सम्मान किया जाता था जो कि अधिकाधिक संख्या में विद्वान् छात्र उत्पन्न करते थे। विख्यात सुप्रतिष्ठित पण्डितों के लिए वार्षिक धनराशि का भी निश्चय इस दक्षिणा संस्था के विद्वान् किया करते थे। ऐसे विद्वानों को प्रतिवर्ष पूना आने की आवश्यकता नहीं होती थी। उनकी दक्षिणा उनके निवासस्थान पर पहुँचा दी जाती थी। यदि इस कोटि के विद्वान् अपने पाण्डित्य तथा अपने शास्त्रज्ञान को और समुन्नत करते थे तो केवल उच्चतर पद तथा निर्धारित दक्षिणा में वृद्धि के लिए ही उन्हें पूना आना होता था। इस व्यवस्था में दक्षिणा संस्था प्रतिवर्ष पांच लाख रुपये व्यय करती थी।

पेशवावंश की छत्रछाया में यह संस्था अत्यधिक लोकप्रिय हुई। उस समय के एक लेखक ने यह लिखा है कि दक्षिणा की सूचना देश के कोने कोने में व्याप्त थी। काशी, रामेश्वर, तेलंगाना, द्रविड़ देश, कोंकण, कान्यकुब्ज, कुम्भकोणम्, श्रीरंगपट्टम्, मथुरा, गढ़वाल, मालवा तथा गुर्जर ऐसे सुदूर स्थलों के विद्वान् इस अवसर पर पूना में एकत्रित हुआ करते थे। इस परीक्षाकार्य को विधिपूर्वक सञ्चालित करने के लिए पेशवावंश पूना में अनेक शास्त्रों के लब्धप्रतिष्ठ विख्यात विद्वानों को अपने संरक्षण में रखता था। इन विद्वानों में से ही योग्य परीक्षक-मण्डल का निर्धारण किया जाता था। इस व्यवस्था के पोषण के लिए पूना तथा उसके आस-पास नासिक, सांगली, मिराज, भोर, फल्टन तथा बई में पाठशालाओं को स्थापित करना आवश्यक हो गया। कालक्रम में पेशवा के अधीनस्थ नरेशों ने भी इस योजना को अपने राज्यों में प्रचलित किया तथा वर्तमान समय तक बड़ौदा की श्रावणमास दक्षिणा संस्था पारम्परिक संस्कृतशिक्षा को समुन्नत करती रही है।

(१५) सन् १८१८ में पेशवावंश के पतन के उपरान्त अंगरेजों ने दक्षिणा संस्था को समाप्त कर दिया। इस कमी की पूर्ति के लिए सन् १८२१ में माउन्ट स्टूअर्ट एल्फिन्स्टन ने पूना में एक संस्कृत कालेज की स्थापना की तथा इस संस्था को चलाने के लिए उन्होंने एक अच्छी धनराशि निर्धारित की। उनका यह विचार था कि निश्चय ही इससे दक्षिणा संस्था के उद्देश्य पूरे हो जायेंगे। पचासी छात्रों से इस संस्था का शुभारम्भ किया गया। इन सभी छात्रों को पांच रुपये मासिक छात्रवृत्ति दी जाती थी। अध्यापन के लिए इस महाविद्यालय में अठारह शास्त्री तथा एक प्रधानाचार्य नियुक्त किये गये। प्रधानाचार्य भी अध्यापन करते थे। इस विद्यालय

में पारम्परिक पद्धति से केवल शास्त्रीय विषयों की शिक्षा दी जाती थी। १८३७ में इस विद्यालय के भवन में अंगरेजी तथा अन्य आधुनिक विषयों का अध्यापन भी चलाया गया। संस्कृतशाखा पर इस व्यवस्था का बुरा प्रभाव पड़ा। फलतः धीरे-धीरे उसका ह्रास होने लगा तथा अन्ततोगत्वा सन् १८५६ में उसे बिलकुल ही बन्द कर दिया गया। यह कहा जा सकता है कि बाद में प्राचीन पूना संस्कृत कालेज का पुनर्जन्म डेक्कन कालेज के रूप में हुआ, किन्तु १८३४ में डेक्कन कालेज को भी बन्द कर दिया गया। यह डेक्कन कालेज सन् १८३७ में बर्तमान डेक्कन कालेज स्नातकोत्तर एवं शोध-संस्थान के रूप में पुनः जीवित हो उठा।

(१६) सन् १८१३ के चार्टर ऐक्ट के प्रस्तावों के अनुसार सन् १८२३ में कलकत्ता में एक जनशिक्षासमिति की स्थापना की गयी। यद्यपि उस समय ग्रान्ट की लोकप्रिय अंगरेजी शिक्षा का बोलबाला था, तथापि इस समिति ने प्रारम्भ में पारम्परिक भारतीय शिक्षा के पक्ष ही में अपना निर्णय दिया। उनको इस प्रकृति से शिक्षा के क्षेत्र में दो विवादग्रस्त दल बन गये। एक संस्कृत-शिक्षा के पक्ष में तथा दूसरा अंगरेजी शिक्षा का प्रेमी था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में इंगलैण्ड के कुछ लोग अपने आप को सन्तुष्ट करने के लिए यह सोचा करते थे कि उनकी भाषा तथा उनका साहित्य एवं उनकी संस्कृति भारतवर्ष की अपेक्षा उच्चकोटि की है। उनकी यह धारणा थी कि यह भारतवासियों के हित में होगा कि उन लोगों को हमारा ज्ञान-विज्ञान हमारी भाषा के माध्यम से अवश्य सिखाया जाय। विदेशों में इस प्रकार के अंगरेजी समर्थक तो थे ही, किन्तु भारतवर्ष में भी सुशिक्षित समाज का एक ऐसा वर्ग था जो कि यह आवश्यक समझता था कि भारतवासियों को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा अंगरेजी के माध्यम से दी जानी चाहिए। उनकी इस प्रवृत्ति का कारण स्पष्ट था। उन्होंने देखा कि देश की पारम्परिक पाठशालायें वर्तमान युग की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकतीं। अंगरेजी शासकों की भाषा है। सभी लोगों का ध्यान उसकी ओर लगा हुआ है। उसके अध्ययन से बड़े-बड़े सम्मानित पदों का मार्ग खुला हुआ है तथा लाभप्रद आकर्षक सरकारी नौकरियाँ भी सरलता से प्राप्त की जा सकतीं हैं। पारम्परिक शिक्षा के प्रेमी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के विरोधी नहीं थे। वे केवल यही चाहते थे कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षापद्धति का आधार तथा उसका स्रोत पारम्परिक ज्ञान-विज्ञान को होना चाहिये। संक्षेप में वे पाश्चात्त्य शिक्षा को पारम्परिक शिक्षा से जोड़ देना चाहते थे। इन दो प्रकार के मतभेदों में विदेशी तथा भारतीय सुशिक्षितों का अंगरेजी प्रेमी दल विजयी हुआ। फलतः सन् १८१७ में कलकत्ता हिन्दू कालेज की स्थापना की गयी। इस संस्था का लक्ष्य था हिन्दू बालकों को अंगरेजी तथा कुछ आधुनिक विषयों की शिक्षा देना। यह विद्यालय तो १८१७ में स्थापित हुआ, किन्तु सन् १८२६ में ही यहाँ पठन-पाठन प्रारम्भ किया गया।

(१७) जन शिक्षा समिति ने अंगरेजी के पक्षपाती आन्दोलन पर कोई ध्यान नहीं दिया। वह अपने लक्ष्य पर दृढ़ बनी रही। उसके सदस्य कलकत्ता संस्कृत कालेज

खोलने की अपनी योजना आगे बढ़ाते रहे। समिति की इस चेष्टा का राजाराममोहन राय ने घोर विरोध किया। राजाराममोहन राय के इस विरोध के होते हुए भी लार्ड एमहर्स्ट के शासनकाल में सन् १८२४ में कलकत्ता संस्कृत कालेज स्थापित हो ही गया। यह विद्यालय पचपन छात्रवृत्ति पाने वाले छात्रों तथा आठ अध्यापकों से प्रारम्भ किया गया। ये विद्वान् न्याय, स्मृति, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष तथा आयुर्वेद की शिक्षा देते थे। सन् १८२८ में इस संस्था में अङ्गरेजी की कक्षाएँ भी खोली गयीं। सन् १८३५ में इन्हें बन्द कर दिया गया, किन्तु १८४४ में उन्हें पुनः चालू कर दिया गया। इस विद्यालय के उस समय के प्रधानाचार्य पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने यहाँ प्राचीन पद्धति से संस्कृत पढ़ाने के स्थान पर आधुनिक रीति से संस्कृत पढ़ाने का क्रम प्रचलित किया। इनके तथा इनके उत्तराधिकारी श्री ई० बी० कावेल के समय इस विद्यालय को आधुनिक रूप दिया गया जिससे संस्था दो भागों में बँट गयी—विद्यालय विभाग तथा महाविद्यालय विभाग। ये दोनों ही कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हुए तथा यह चेष्टा की गयी कि संस्कृत पाठशाला विभाग में पारम्परिक शास्त्रशिक्षण का व्यापक स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहे। इस ऐंग्लो-संस्कृत कालेजिएट-स्कूल, ऐंग्लो संस्कृत कालेज तथा प्राच्य टोल विभाग के साथ सन् १८५१ में एक स्नातकोत्तर अनुसन्धान विभाग भी जोड़ दिया गया।

(१८) कलकत्ता संस्कृत कालेज की स्थापना के पश्चात् सन् १८२५ में दिल्ली में तथा सन् १८२७ में आगरा में दो और संस्कृत कालेजों की स्थापना की गयी। इन विद्यालयों में मुख्यतः संस्कृत, अरबी तथा फारसी की शिक्षा दी जाती थी। कालक्रम से इन संस्थाओं में अङ्ग के रूप में नहीं, किन्तु ऊपर से संलग्नक के रूप में अङ्गरेजी की भी कक्षाएँ चलायी गयीं।

(१९) उस समय संस्कृत के सार्वभौम रूप की प्रशंसा केवल प्रतिष्ठित अंगरेजों ने ही नहीं की, किन्तु भारत में रहने वाले यूरोप के लोगों ने भी इस भाषा की विशिष्टता का अनुभव किया। सन् १८१४ के घोषणापत्र में इस तथ्य पर बल दिया गया था कि संस्कृत भाषा में आचारशास्त्र के अनेक उत्कृष्ट प्रयोग तथा पद्धतियाँ विद्यमान हैं। इन प्रयोगों तथा पद्धतियों में कानून के भी नियम निर्धारित किये गये हैं तथा मानव धर्म का सूत्र रूप में उल्लेख भी किया गया है। इस घोषणा पत्र के आधार पर ही कम्पनी के सञ्चालक वर्ग ने संस्कृत के पठन-पाठन का निश्चय किया था। ३१ जनवरी सन् १८३५ को ए० फ्रेजर ने संस्कृत कालेज कलकत्ता के सम्बन्ध में एक आख्या लिखी है। इस आख्या में उन्होंने इस तथ्य की चर्चा की है कि संस्कृत का अध्ययन इस दृष्टि से ही अनिवार्य नहीं है कि भारतवर्ष के समस्त शास्त्र इस भाषा में हैं, किन्तु इस दृष्टि से भी इस भाषा का अध्ययन परमावश्यक है कि यह अनेक भारतीय जन-भाषाओं की जननी भी है। उत्तम शासन का यह उद्देश्य होता है कि उसकी प्रजा शिक्षा तथा शिष्टाचार में समुन्नत हो। अतः यह सत्य तथा अत्यन्त पर्याप्त स्पष्ट भी है कि शासन के इस मन्तव्य की पूर्ति राष्ट्र की राष्ट्रीय भाषा की समुन्नति से ही की जा सकती है। इसलिए संस्कृत को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया जाना

चाहिए। सन् १८४० में पूना कालेज के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए अधीक्षक कैप्टेन कैन्डी ने लिखा है कि—संस्कृत एक ऐसा ज्ञानकोश है जिससे भारतीय जनभाषाओं के लिए पर्याप्त मात्रा में शक्ति तथा सौन्दर्य प्राप्त किया जा सकता है। जिस भारत निवासी को अपनी प्रादेशिक भाषा, संस्कृत तथा अङ्ग्रेजी का अच्छा ज्ञान है, उसे ही मैं भारत की अमूल्य सेवा करने में सशक्त समझता हूँ।

(२०) जन-शिक्षा समिति के प्रारम्भिक कुछ वर्ष दुर्भाग्यपूर्ण ही कहे जाँयगे। उस समय शिक्षा में रुचि रखने वाले जनवर्ग के दो दल थे। भारतवासियों का एक प्रमुख वर्ग यह चाहता था कि एकमात्र पाश्चात्त्य ज्ञान-विज्ञान की ही शिक्षा दी जाय। ऐसे लोग पारम्परिक शिक्षा को चलाने का विरोध करते थे। इनके विपरीत भारतवर्ष में रहने वाले कतिपय यूरोपीय जनों की यह इच्छा थी कि आधुनिक पाश्चात्त्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा न दी जाय। जो पारम्परिक शिक्षा अतीतकाल से भारत में चली आ रही है उसे ही चलने दिया जाय। सन् १८३० में जन-शिक्षा समिति के द्वारा कलकत्ता में एक मुद्रणालय की स्थापना की गयी तथा पन्द्रह संस्कृत ग्रन्थ इस प्रेस से प्रकाशित किये गये। इसी वर्ष महाभारत के प्रकाशन की योजना का भी शुभारम्भ किया गया, किन्तु सरकार की शिक्षानीति में परिवर्तित हो जाने के कारण यह कार्य अधूरा ही रह गया।

(२१) परम्परागत संस्कृत-शिक्षा के प्रेमियों का प्रभाव शनैः-शनैः कम होने लगा तथा अङ्ग्रेजी शिक्षा की बढ़ती हुई लोकप्रियता के सामने वे ठहर न सके। इसी समय ट्रेवेलियन ने संस्कृत साहित्य के विरुद्ध घोर आन्दोलन प्रारम्भ किया तथा सन् १८३५ में लार्ड मेकाले का ऐतिहासिक घोषणापत्र भी प्रकाशित हो गया। इस घोषणा का उद्देश्य था—एक ऐसे भारतीय समाज का निर्माण करना जो कि रक्त तथा रंग में तो भारतीय हो, किन्तु अपनी रुचियों, अपने आचार-विचारों, अपने व्यवहारों एवं अपनी बुद्धि में वह अङ्ग्रेज हो। मेकाले की संस्तुतियों में से प्रमुख संस्तुति यह है कि संस्कृत तथा अरबी के ग्रन्थों का प्रकाशन तथा कलकत्ते में खोले गये मदरसे तथा संस्कृत पाठशाला को तुरन्त बन्द कर दिया जाय। इसके स्थान पर हिन्दू कालेज कलकत्ता को अधिक से अधिक प्रोत्साहन दिया जाय।

(२२) अपने सन् १८३५ के घोषणापत्र द्वारा उस समय के गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बन्टिक ने यह आदेश दिया कि यूरोपीय संस्कृति तथा यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का समुन्नयन ही भारत में ब्रिटिश शासन का प्रमुख लक्ष्य है। अतः शिक्षा के मद में जो कुछ भी धन नियत किया जाय उस सम्पूर्ण धनराशि को केवल इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए लगाया जाय। जो भी हो उसने यह भी वचन दिया कि जब तक छात्र रुचि लेते रहेंगे पारम्परिक शिक्षा संस्थाएँ बन्द नहीं की जायँगी तथा छात्रों और अध्यापकों को जो आर्थिक सहायता दी जाती रही है उसे रोका नहीं जायगा, किन्तु इसके बाद कोई वृत्ति नहीं दी जायगी। उसने यह भी निश्चय किया कि प्राच्य ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए अब कोई व्यय नहीं किया जायगा।

(२३) नवीन पाश्चात्त्य शिक्षा की वास्तविक जीत उस समय स्थिर हो गयी जब कि १८४४ के घोषणा पत्र में ब्रिटिश शासन ने यह स्पष्ट घोषणा की कि जीविका का मार्ग प्रशस्त करने के लिए ही इस यूरोपीय शिक्षा को चलाया गया है। इसलिए सरकारी नौकरियों में इस शिक्षा से दीक्षित व्यक्ति ही वरीयता प्राप्त करेंगे।

(२४) किन्तु यदि सच पूछा जाय तो इन राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों के कारण ही पण्डितवर्ग का तथा संस्कृत के अध्ययन का पतन नहीं हुआ। इस सांस्कृतिक दुर्भाग्य के मूल में हमारी वह आग्रहभरी प्रवृत्ति भी थी जिससे प्रभावित होकर भारतीय संस्कृति के प्रति हमारी भावना तथा हमारा दृष्टिकोण एकदम बदल गया। स्पष्टतः हमारे इस मानसिक परिवर्तन की पोषक थी एक ऐसी विदेशी शिक्षा-नीति जिसे कि इस देश के शिक्षा-मार्ग की एक दुर्घटना की ही संज्ञा दी जा सकती है। पारम्परिक सांस्कृतिक शिक्षा के प्रति उदासीनता इस शिक्षानीति की एक बहुत बड़ी भूल कही जायगी। इससे भी अधिक दुर्भाग्य की बात यह है कि ब्रिटिश शासकों ने यह चेष्टा कभी भूल कर भी नहीं की कि इन दोनों प्रकार की शिक्षापद्धतियों का किसी दशा में समीकरण, सामञ्जस्य या समन्वय भी किया जाय। अङ्गरेजी के समर्थकों ने विजय प्राप्त की तथा मेकाले की योजना द्वारा हमारा शिक्षित समाज पाश्चात्त्य-ज्ञान तथा पाश्चात्त्य संस्कृति का भक्त बना दिया गया। नवीन शिक्षा के अन्धभक्त पूर्व देशों की अपनी प्राचीन संस्कृति तथा अपनी परम्पराओं की उपयोगिताओं एवं उनके मूल्यों की वास्तविकता को समझना एक सर्वथा अनावश्यक सी बात मानने लग गये।

पाश्चात्त्य शिक्षा के इस पागलपन में वे यह समझना बिल्कुल भूल से गये कि अपने इस देशविरोधी व्यवहार तथा देशविरुद्ध अपनी इस भावना एवं मनोवृत्ति से वे राष्ट्रीय शिक्षा तथा राष्ट्रीय जीवन की सभी तरह से जड़ काटने को कमर कसे हुए हैं। किन्तु इस दुर्भाग्य का एक अच्छा पक्ष भी था। स्वार्थसिद्धि में सहायक पाश्चात्त्य शिक्षा को अपनाने के लिए उस समय कोई न कोई प्रेरणा आवश्यक थी। इसके बिना उस शिक्षा के प्रति उत्सुकता कैसे जागृत होती। दूसरे यदि इस आधुनिक शिक्षा के दर्शन न हुए होते तो सम्भवतः इस प्रगतिशील आधुनिक जगत् में हम आधुनिकता से शून्य बने रहते। जो कुछ भी हो इस बात को तो मानना ही पड़ेगा कि आधुनिक शिक्षा के प्रसार के लिए जो शिक्षा-नीति विगत शताब्दी में अपनायी गयी उसे शासकों ने जल्दीबाजी में ही प्रचलित किया था। तनिक भी यह चेष्टा नहीं की गयी कि पारम्परिक शिक्षा को आधुनिक राजनीतिक, सामाजिक परिवर्तनों के अनुरूप तथा प्रगति के अनुकूल कैसे बनाया जाय तथा राष्ट्र के हित में नयी शिक्षा को राष्ट्रीय भावनाओं तथा राष्ट्रीय मूल्यों की पृष्ठभूमि में किस प्रकार अधिक से अधिक सार्थक एवं सफल बनाया जाय।

(२५) श्री वुड द्वारा १८५४ में शिक्षासम्बन्धी घोषणापत्र के अनुसार सन् १८५७ में कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में तीन विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। इन विश्वविद्यालयों की स्थापना से स्थिति में कुछ सुधार हुआ और उसमें प्राचीन भाषाओं

के अध्ययन की भावना अङ्कुरित हुई। बुड के घोषणापत्र में स्पष्टतः यह निर्देश दिया गया है कि ऐतिहासिक तथा पुरातत्त्वसम्बन्धी अध्ययन की दृष्टि से, हिन्दू तथा मुस्लिम कानून का ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से तथा भारतीय भाषाओं के पोषण एवं संवर्धन की दृष्टि से भी प्राचीन भारतीय भाषाओं का अध्ययन मूल्यवान् सिद्ध होगा। किन्तु संस्कृत के प्रति इस हित-बुद्धि के साथ ही साथ बुड महोदय का यह भी कहना था कि नवीन भारतीय शिक्षानीति का लक्ष्य पाश्चात्त्य शिक्षा का प्रचार तथा प्रसार ही रहेगा। इस घोषणापत्र के एक स्थल पर यह भी निर्देश दिया गया है कि इन नये विश्वविद्यालयों में अन्य विषयों के प्रोफेसरों के साथ संस्कृत के भी प्रोफेसर नियुक्त किये जायँ। उनका कथन है कि "भारत के बड़े भाग की जनभाषाओं के मूल में स्थित संस्कृत भाषा का ज्ञान इन भाषाओं के लेखकों के लिए विशेषतः आवश्यक है"।

(२६) इन नये विश्वविद्यालयों की प्रवृत्ति संस्कृत के प्रति अनुकूल रही। कलकत्ता तथा बम्बई विश्वविद्यालयों ने संस्कृत को द्वितीय भाषा का स्थान दिया, क्योंकि उस समय प्रवेश (Antrens) तथा इन्टरमीडिएट परीक्षाओं में अधिकांश छात्रों के लिए संस्कृत को अनिवार्य रखा गया था। इस स्थिति का लाभ उठाकर विश्वविद्यालयों ने संस्कृत लेने वाले छात्रों के लिए उदारतापूर्वक अपने द्वार खोल दिये। इस प्रकार यदि सच पूछा जाय तो संस्कृत को लोकप्रिय बनाने का श्रेय इन विश्वविद्यालयों को ही प्राप्त है।

(२७) यहाँ प्राचीन भाषाओं तथा प्रान्तीय भाषाओं के बीच उस समय जो विवाद चल रहा था उस पर भी एक विहंगम दृष्टि डालना उचित प्रतीत होता है। बम्बई विश्वविद्यालय के विधान के अनुसार मैट्रिक्यूलेशन से बी० ए० तक एक आधुनिक भारतीय भाषा का अध्ययन किया जा सकता था। सन् १८६२ में सर अलेग्जेन्डर ग्रान्ट ने, जो उस समय बाम्बे के पब्लिक इन्स्ट्रक्शन के निदेशक थे, सिनेट में यह प्रस्ताव रखा (जिसे कालान्तर में सिनेट ने पासकर दिया) कि मैट्रिक्यूलेशन को छोड़कर विश्वविद्यालयों की सभी परीक्षाओं से आधुनिक भारतीय भाषायें हटा दी जायँ। (वहाँ भी इनका अध्ययन वैकल्पिक था, अनिवार्य नहीं)। इस प्रस्ताव के पक्ष से यह कहा गया कि भारतीय भाषाओं में प्राप्त पाठ्य-पुस्तकों का स्तर इतना निम्न है कि उनके माध्यम से प्राचीन कवियों का अध्ययन लाभप्रद सिद्ध नहीं होगा। विश्वविद्यालयों का यह कर्त्तव्य कदापि नहीं है कि वे आधुनिक भारतीय भाषाओं को समुन्नत करें। यदि इन्हें विश्वविद्यालयों की शिक्षा से हटा दिया जाय तो निश्चय ही प्राचीन भाषाओं के अध्ययन के लिए अधिक से अधिक ध्यान आकृष्ट किया जा सकेगा। ग्राण्ट का यह प्रस्ताव बाद में बम्बई विश्वविद्यालय के सिनेट द्वारा पारित कर दिया गया। मद्रास विश्वविद्यालय ने प्रारम्भ से ही संस्कृत के विकल्प में एक आधुनिक भारतीय भाषा का अध्ययन निर्धारित कर रखा था। इस स्थल पर हम पञ्जाब विश्वविद्यालय की विशेष चर्चा करना चाहेंगे। सन् १८६९ में लाहौर में स्थापित प्राच्य-

महाविद्यालय (Oriental College) को सन् १८८२ में विश्वविद्यालय के रूप में परिणत कर दिया गया। इस विश्वविद्यालय की उपाधियों को प्राप्त करने के लिए शिक्षा तथा परीक्षा का माध्यम आधुनिक भारतीय भाषा ही थी। यहाँ प्राच्य अध्ययन के क्षेत्र में अंगरेजी माध्यम का कोई स्थान नहीं था।

(२८) पाश्चात्य शिक्षा के हाईस्कूलों तथा कालेजों में आधुनिक भाषाओं के साथ संस्कृत का अध्ययन भी निर्धारित किया गया। कुछ प्रदेशों ने तो अपनी शिक्षा व्यवस्था में संस्कृत को अनिवार्य रखा तथा कुछ ने मातृभाषा के विकल्प में इसे वैकल्पिक स्थान दिया। जो कुछ भी हो आधुनिक भारतीय शिक्षितों के मस्तिष्क में संस्कृतसम्बन्धी थोड़ी बहुत प्रवृत्ति जागृत करने में यह शिक्षा-व्यवस्था अवश्य सहायक सिद्ध हुई।

भारतीय शिक्षा के इतिहास का यह युग अनेक प्राच्यशिक्षाविदों का युग था। संस्कृत-भाषा तथा संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में इन विद्वानों के शोधकार्य से हमारे देश में संस्कृत के सम्बन्ध में एक नवजागरण प्रस्फुटित हुआ जिससे प्रभावित होकर हमारे शिक्षित नवयुवक अपनी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक विरासत के समालोचनात्मक अध्ययन के प्रति आकृष्ट हुए। शिक्षित भारतीयों के बुद्धिजीवन में इस नवचेतना ने प्रगति के नये नये मार्गों का दिग्दर्शन कराया। यह अनुभव किया गया कि प्रचलित पाश्चात्य शिक्षा के विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम सीमित हैं तथा इन पाठ्यक्रमों में विशेषतः कलात्मक, सृजनात्मक, निर्माणात्मक एवं आध्यात्मिक प्रशिक्षण के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः हमारे देश के जनसेवकों, कलाकारों, कवियों, धार्मिक नेताओं तथा विचारकों के द्वारा अपने अपने व्यक्तिगत प्रयास से इन अभावों की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय संस्थाएँ स्थापित की गयीं।

(२९) उपर्युक्त नवचेतना का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध संस्कृतभाषा तथा साहित्य में रुचि, उत्पादन तथा उसके अध्ययन से था। इससे संस्कृत के उत्थान की दिशा में एक नवीन शक्तिशाली प्रेरणा भी प्राप्त हुई। स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्रीमती एनीवेसेन्ट, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर, अरविन्द घोष इन सभी ने अपने सिद्धान्तों तथा अपनी अपनी विचारधाराओं के प्रसार से देश के पुनरुज्जीवन, उसकी जागृति तथा संस्कृतसाहित्य के प्रति हमारी रुचि को बढ़ाने में अपूर्व योगदान दिया। इन प्रयासों का उपर्युक्त नवचेतना से घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में राधाकान्तदेव, वंकिमचन्द्र चटर्जी, राजेन्द्रलाल मित्र, रमेशचन्द्र दत्त, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग, अनुन्दोराम बरुआ, भाऊ दादा जी, भगवानलाल इन्द्रजी, ह्वी वेंकय्या, हरप्रसाद शास्त्री, महात्मा हंसराज तथा स्वामी श्रद्धानन्द ऐसे साहित्यक शिक्षाविद् तथा भारतीय ज्ञान-विज्ञान के अन्य मनीषियों ने संस्कृत-साहित्य के समालोचनात्मक अध्ययन तथा भारतवर्ष की व्यवस्था में उसकी उपयोगिता के प्रति हमारे बुद्धिजीवियों का ध्यान आकर्षित किया। इस राष्ट्रीय नवचेतना से एक राजनीतिक प्रकाश प्रस्फुटित हुआ। इस राजनीतिक प्रगति का भी भारतीय संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

बालगंगाधर तिलक तथा मदनमोहन मालवीय ऐसे राजनीतिक नेता संस्कृत तथा उसके अध्ययन के प्रति उत्साह से ओत-प्रोत थे। आधुनिक युग में राष्ट्रपिता बापू (महात्मा गाँधी) ने भगवद्गीता को लोकप्रिय बनाने की दिशा में तथा उसकी प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने में जो योगदान दिया है वह भी भारतीय संस्कृति की ज्योति को अधिकाधिक प्रदीप्त करने का एक विलक्षण कार्य है। महात्मा गांधी का यह उद्घोष था कि कम से कम गीता के अध्ययन के लिए ही हमें संस्कृत सीखनी चाहिए।

(३०) ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय रजवाड़े पारम्परिक भारतीय जीवन के मनोहर तथा स्वाभाविक प्रतिरूप बने रहे। राजदरबारों में सदैव की भाँति प्राचीन रीति से संस्कृत के विद्वानों का समादर होता रहा। यदि राजा महाराजाओं का प्रचुर समाश्रयण न प्राप्त हुआ होता तो संस्कृत के विद्वानों की तथा भारतीय संगीत की परम्परा न जाने पतन के किस गर्त में गिर गयी होती। पारिवारिक तथा राष्ट्रीय उत्सव-पर्वों के अवसर पर विद्वानों तथा संगीताचार्यों को सम्मानित करने के अतिरिक्त इन नरेशों ने संस्कृतशिक्षा के क्षेत्र में दो और भी बहुमूल्य सेवाएँ कीं। वे थीं—अपने राजमहल के पुस्तकालयों में प्राचीन ग्रंथों की पाण्डुलिपियों का संग्रह करना तथा संस्कृत-विद्यालयों को स्थापित करना। इस सन्दर्भ में दरभंगा, विजयानगरम्, बड़ौदा, नागपुर, जयपुर, इन्दौर, ग्वालियर, मैसूर, ट्रावन्कोर, कपूर्थला, पटियाला, जम्मू तथा काश्मीर ऐसे गणमान्य रजवाड़ों की चर्चा की जा सकती है। इन रजवाड़ों ने अपने अपने राज्यों में संस्कृतविद्यालयों की स्थापना की। ये विद्यालय आगे चलकर या तो अपने प्रदेश के विश्वविद्यालयों में परिणत हो गये या विभिन्न सरकारी परीक्षा-संस्थाओं से विभिन्न संस्कृत-परीक्षाओं के लिए सम्बद्ध हो गये। नरेशों के इस कार्य से प्रेरित होकर जमींदारों, छोटे छोटे भूमिपतियों तथा व्यापारियों के द्वारा भी संस्कृतविद्यालय, मठ, मन्दिर तथा इस प्रकार की अन्य संस्थाएँ स्थापित की गयीं। इसके अतिरिक्त प्रभावशाली नागरिक तथा सामाजिक नेताओं ने भी संस्कृतविद्यालय स्थापित किये। अधिकारियों द्वारा प्रेरित किये जाने पर धनी-मानी व्यक्तियों ने धार्मिक तथा सांस्कृतिक न्यासों को संस्कृतविद्यालय चलाने के लिए सहायता भी दी। शासन द्वारा स्थापित वाराणसी तथा कलकत्ता संस्कृत कालेज के आदर्श पर चलने वाले विभिन्न संस्कृतविद्यालय तथा अन्यान्य व्यक्तियों एवं धार्मिक संस्थाओं द्वारा सञ्चालित संस्कृतविद्यालयों के अतिरिक्त एक प्रकार के अन्य विद्यालय भी इस समय चला करते थे। वे थे पण्डितों की अपनी पाठशालाएँ जिनसे संस्कृत की धारा सतत प्रवाहित हो रही थी। अपने अपने इतिहास के अनुसार विद्वानों के इन विद्यालयों की परम्परा किसी न किसी मात्रा में समस्त देश में व्याप्त थी। आधुनिकीकरण की बाढ़ इन पारम्परिक पण्डितों तथा उनको अपनी संस्थाओं को अपने साथ बहा ले जाने में समर्थ नहीं हो सकी।

(३१) आधुनिक शिक्षा का ढांचा ही कुछ इस प्रकार का था कि अंगरेजी विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में संस्कृत का जो कुछ भी पठन-पाठन होता था उसे सीमित ही कहा जा सकता है। इसके ठीक विपरीत संस्कृतपाठशालाओं तथा टोलों में

संस्कृत का विस्तृत तथा ठोस ज्ञान कराया जाता था। जो भी हो, अंगरेजी विद्यालयों में संस्कृत के सीमित अध्ययन का परिणाम भी शिक्षा के क्षेत्र में लाभप्रद सिद्ध हुआ। इन विद्यालयों के संस्कृत विद्वान् जो संस्कृत के पठन-पाठन में रत थे, उनमें संस्कृत के प्रति एक प्रेरणापूर्ण रुचि उत्पन्न हुई। इन विद्वानों ने पाश्चात्त्य देशों के संस्कृत विद्वानों का अनुसरण किया तथा उनकी पद्धति को अपनाकर शोधकार्य में प्रवृत्त हुए। अनेक यूरोपीय शासनाधिकारी, प्रोफेसर तथा पादरी संस्कृत के इस व्यापक वातावरण से प्रभावित हुए तथा वे भी संस्कृतसम्बन्धी शोधकार्य, प्राचीन पाण्डुलिपियों का संग्रह तथा उनकी खोज, संस्कृतग्रन्थों का अनुवाद, सम्पादन तथा संस्कृतवाङ्मय के ऐतिहासिक एवं समालोचनात्मक अध्ययन में रुचि लेने लगे। इस कार्य को विधिपूर्वक सम्पन्न करने के लिए तथा उसमें पूर्ण सफ़ल होने के लिए इन लोगों को भारतीय विद्वानों तथा पारम्परिक पण्डितों से सम्पर्क रखना अनिवार्य हो गया।

(३२) संस्कृत को हम एक पृथक् वस्तु के रूप में नहीं देख सकते। देश के प्राचीन इतिहास की समस्त पृष्ठभूमि में ही हम उसके वास्तविक स्वरूप का अवलोकन कर सकते हैं। जिस काल का हम इस समय वर्णन कर रहे हैं उस समय भारत सरकार को भारतीय पुरातत्त्व के समुन्नयन का कार्य अपने हाथों में लेना पड़ा। फर्गुसन और कनिंघम के विभिन्न लेखों और अपीलों के परिणामस्वरूप उस समय के सरकार और कम्पनी के निर्देशक ने १८४३-१८७० के मध्य भारतवर्ष के प्राचीन स्मारकों, गुहा, मन्दिरों एवं चित्रकला आदि के सर्वेक्षण के लिए क्रमशः भारतीय पुरातत्त्व विभाग का संगठन किया। शीघ्र ही फ्लीट तथा वर्गेस के व्यक्तिगत प्रयासों से मुद्रा तथा शिलालेखों का कार्य भी इस विभाग द्वारा प्रारम्भ किया गया। उस समय कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा भारतवर्ष के कतिपय शिलालेखों पर कुछ लेख प्रकाशित किये जा चुके थे। सन् १८७२ में **'इण्डियन ऐन्टीक्वेरी'** (Indian antiquary) नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। लार्ड कर्जन के वाइसराय पद के कार्यकाल (१८९९-१९०७) में भारतीय पुरातत्त्व का अध्ययन गतिशील रहा। इस समय देश के विभिन्न भागों में पुरातत्त्व सामग्री की खोज की गयी तथा उन्हें सुरक्षित रखने के लिए पुरातत्त्व संग्रहालय भी स्थापित किये गये।

(३३) उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में संस्कृत तथा उससे सम्बद्ध भाषाओं की पाण्डुलिपियों में स्थित साहित्य के विपुल कोश की ओर भी ध्यान दिया गया। मैकेन्जी पाण्डुलिपि-सूची के समान प्राप्त पाण्डुलिपियों की सूची बनाने का कार्य संस्कृत कालेज बनारस, परीक्षक परिषद् (Board of Examiners) मद्रास, फोर्ट विलियम कलकत्ता द्वारा प्रारम्भ किया जा चुका था। साथ ही सन् १८६८ से १८७५ तक पण्डित राधाकृष्ण, कीलहार्न, तथा राजेन्द्रलाल मित्र ने भी पश्चिमोत्तर, पश्चिम, तथा पूर्वी प्रदेशों के विभिन्न भागों में पाण्डुलिपियों के सर्वेक्षण का कार्य किया। इस प्रकार दो शतकों में हस्तलेख की एक विपुल सामग्री खोज निकाली

गयी। इस खोज से भारत तथा विदेश के विद्वानों को अपने-अपने शोध कार्य के लिए एक उत्तम निधि सुलभ हो सकी।

(३४) बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के नमूने पर सन् १८०४ में बम्बई साहित्य परिषद् (Bombay Literary Society) तथा १८३४ में मद्रास साहित्य परिषद् (madras Literary Society) दो और शोधसंस्थाओं की स्थापना की गयी। ये दोनों ही साहित्य-परिषदें बाद में लन्दन की एशियाटिक सोसाइटी से सम्बद्ध हो गयीं।

(३५) ऐसी स्थिति में जब कि प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृत साहित्य के प्रति विद्वानों की रुचि दिनों दिन बढ़ती ही जा रही थी, भारतीय विश्वविद्यालयों के लिए यह असम्भव सा हो गया कि वे इस जागरण के मूक दर्शक बने रहें। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में हमारे विश्वविद्यालय मूलतः शिक्षा को एक सूत्र में पिरोने के उद्देश्य से परीक्षा लेने वाली संस्थाओं के रूप में कार्य करते रहे। पूर्व-उपाधि शिक्षा के क्षेत्र में इन्होंने सफलता पूर्वक कार्य किया। उनके विकास का दूसरा चरण था स्नातकोत्तर शिक्षा का आयोजन करना तथा मौलिक शोधकार्य को प्रोत्साहित करना। इस सन्दर्भ में आशुतोष मुकर्जी के नेतृत्व में सन् १९१४ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में जो स्नातकोत्तर शिक्षा प्रारम्भ की गयी तथा इस शिक्षा के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति के सभी अंगों पर शोध-कार्य की समुन्नति के लिए जो उत्साहपूर्ण पदन्यास किया गया उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी ही होगी। अन्य विश्वविद्यालयों ने भी कलकत्ता विश्वविद्यालय का अनुसरण किया तथा उन्होंने भी शोध-विभाग खोले, शोध-छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की, पाण्डुलिपि-संग्रहालय स्थापित किये तथा प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के सम्पादन का कार्य भी प्रारम्भ किया।

उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम दशक तथा बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भकाल संस्कृत साहित्य तथा प्राचीन भारतीय ज्ञान एवं संस्कृति सम्बन्धी शोधकार्य के प्रस्फुटन का एक विलक्षण युग कहा जायगा। इसी समय सन् १९१७ में भण्डारकर प्राच्य-विद्या शोध-संस्थान, पूना (Bhandarkar Oriental Research Institute) तथा डी० ए० वी० कालेज शोध-विभाग लाहौर गैरसरकारी शोध-संस्थान स्थापित किये गये। सन् १९२४ में "इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली" कलकत्ता तथा १९१९ में "एनाल्स आफ भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट" पूना का शुभारम्भ किया गया। १९२१ में "जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री" तथा १९२७ में "जर्नल आफ द ओरिएन्टल रिसर्च" मद्रास और संस्कृत के पुस्तकों का श्रृङ्खला बद्ध प्रकाशन किया गया। सन् १९४९ में "बिब्लिथिका इण्डिका" कलकत्ता तथा सन् १८८६ में "काव्यमाला" बम्बई, १८९१ में "बाम्बे गवर्नमेंट संस्कृत ऐण्ड प्राकृत सिरीज" १८९३ में "बिब्लियोथिका संस्कृता" मैसूर, १९०५ में "त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज" त्रिवेन्द्रम्, सन् १९१६ में "बड़ौदा संस्कृत सिरीज" बड़ौदा जैसी संस्कृत ग्रंथमालाएँ प्रकाशित की गयीं। कुछ व्यक्तिगत संस्थाओं ने भी अप्रकाशित प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के प्रकाशन की दृष्टि से विभिन्न ग्रंथमालाओं का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस सन्दर्भ में "चौखम्बा संस्कृत

सिरीज", वाराणसी; निर्णय सागर प्रेस, बम्बई; आनन्दाश्रम प्रेस, पूना; जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता; श्रीवेंकटेश्वर प्रेस बम्बई; मेहरचन्द चमनदास, लाहौर तथा मोतीलाल बनारसीदास लाहौर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। भारतीय संस्कृति के परिपोषक के विशेष लक्ष्य से विश्वविद्यालयों के समकक्ष टैगोर का शान्तिनिकेतन, एवं आर्यसमाज के गुरुकुल ऐसी व्यक्तिगत संस्थाओं का उदय इस समय ही हुआ। हिन्दू-शास्त्रों तथा संस्कृत के पठन-पाठन के स्पष्ट उद्देश्य से काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना भी इस समय ही की गयी।

(३६) संस्कृत तथा उससे सम्बद्ध अध्ययन एवं शोध के इतिहास में सन् १९११ का शिमला सम्मेलन एक विशेष महत्त्व रखता है। एस्० एच्० बटलर के प्रयास से इस वर्ष भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व तथा पाण्डुलिपियों का अध्ययन करने के लिए कलकत्ता में एक केन्द्रीय संस्थान खोलने के प्रश्न पर विचार करने के लिए यह सम्मेलन किया गया था। उसके आयोजन से एक लाभ यह हुआ कि उससे अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन (All-India Oriental conference) की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो गया तथा यह संस्था सन् १९१९ में स्थापित भी हो गयी। अपने प्रारम्भ काल से ही इस प्राच्य सम्पेलन ने भारत के प्राच्य जगत् के विभिन्न विद्वानों को एक जुट में मिला देने का स्तुत्य प्रयास किया। आगे चलकर इसी प्राच्य सम्मेलन से सन् १९२५ में दर्शन कांग्रेस तथा सन् १९३६ में भारतीय इतिहास कांग्रेस तथा भारतीय मुद्राशास्त्र (Numismatics) कांग्रेस ऐसी संस्थायें उत्पन्न हुईं। सन् १९०३ में ग्रियर्सन द्वारा स्थापित भारत का भाषा-सर्वेक्षण (Linguistic survey of India) भी उक्त प्राच्य सम्मेलन से ही प्रेरित था। ग्रियर्सन का यह सर्वेक्षण कार्य सन् १९२७ में पूरा हुआ तथा इसी क्रम में भारतीय भाषाशास्त्र समिति (Linguistic Society of India) की स्थापना से इस-प्रयास का पूरा चित्र हमारे सामने आ जाता है।

(३७) संस्कृत के समुन्नयन सम्बन्धी जिन क्रिया-कलापों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है, उससे हमारे विद्वान् गम्भीर एवं ठोस अध्ययन तथा शोध कार्य में प्रवृत्त हुए। इस कार्यव्यापार में उन्होंने अच्छी सफलता भी प्राप्त की। इसका उत्तम परिणाम यह हुआ कि उनका थोड़ा भी शोध तथा अध्ययन कार्य सम्बद्ध विदेशी कार्य से कहीं आगे जा पहुँचा। किन्तु इतना होने पर भी हमारे देश में जो विपुल सामग्री पड़ी हुई थी उसका आवश्यक शोधकार्यप्रणाली द्वारा सफल शोध करने के लिये अब भी एक बहुत बड़ा क्षेत्र हमारे देश में विद्यमान था। इसके लिये यह आवश्यक था कि इस क्षेत्र में पर्याप्त सुधार लाया जाय तथा उसे अधिकाधिक प्रोत्साहन भी दिया जाय। इस समय भी हमारे देश के कुछ विश्वविद्यालय संस्कृत की उच्च शिक्षाव्यवस्था में पिछड़े हुए थे। संस्कृत के प्रति इस नवचेतना से लोग प्रान्तीय भाषाओं के अध्ययन में रुचि लेने लगे। शिक्षा की प्रगति तथा आधुनिक ज्ञान की तीव्रता से अभिवृद्धि के कारण हमारे विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में विषयों की बाढ़ सी आ गयी। विज्ञान तथा बाद में प्राविधिक शिक्षा की

ओर हमारे छात्र विशेषतः आकृष्ट होने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि मानवीय विषयों के प्रति छात्रवर्ग की रुचि क्रमशः कम होने लगी। प्राचीन भाषाओं के अध्ययन पर इस परिस्थिति का सर्वाधिक हानिप्रद प्रभाव पड़ा। अधिकारीवर्ग से भी अन्य अध्ययन क्षेत्र की तुलना में संस्कृत को कम ही सहायता प्राप्त हुई।

(३८) इस समय पाठशाला तथा टोल पद्धति का ह्रास भी स्पष्ट था। आधुनिक विद्यालय तथा महाविद्यालय उन्नति करने लगे तथा सामयिक परिस्थितियों के कारण इस गतिशील शिक्षा से नौकरियों के मार्ग भी उत्तरोत्तर प्रशस्त होने लगे। इस स्थिति का पाठशालाओं तथा टोलों पर बुरा प्रभाव पड़ा। बुद्धिमान्, प्रतिभाशाली तथा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बालक एक बड़ी संख्या में अंगरेजी विद्यालयों में जाने लगे। यह भी देखा जाता है कि विगत तीन पीढ़ियों से समस्त भारत के विख्यात संस्कृत विद्वानों के बालकों ने भी अंगरेजी शिक्षा को अपनाया। इससे भी पारम्परिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार में तथा उसे स्थिर रखने की दिशा में घोर संकट आ पड़ा। सच पूछा जाय तो इस विषम काल में संस्कृत के संवर्धन के लिए उपयुक्त व्यक्तियों की भारी कमी हो गयी तथा विद्वत्ता का भी ह्रास होने लगा। इस युग में संस्कृत के विक्षोभजनक पतन से हम अपनी आँखे बन्द नहीं कर सकते। यह पतन केवल पारम्परिक विद्यालयों में स्थित संस्कृत का ही नहीं हुआ, अंगरेजी विद्यालय भी इससे अछूते नहीं रह सके। आज भी हमारे सामने इन दोनों ही प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं में संस्कृत एक संकटपूर्ण विपत्ति में फँसी हुई दिखायी दे रही है।

(३९) यहाँ संस्कृत के पठन-पाठन के विषय में हमने जो संक्षिप्त चर्चा की है, उससे यह पर्याप्त स्पष्ट होगा कि पारम्परिक तथा आधुनिक दोनों ही प्रकार की शिक्षा संस्थाओं के सामने आज कौन सी समस्यायें खड़ी हैं। संस्कृत के सम्बन्ध में हमने यहाँ एक विस्तृत अध्ययन एवं सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। हमारे इस अध्ययन तथा सर्वेक्षण से यह ज्ञान हो गया होगा कि उक्त दोनों ही पद्धतियों द्वारा दी जाने वाली संस्कृत शिक्षा के क्या-क्या योगदान हैं तथा उनमें कौन-कौन सी त्रुटियाँ भी विद्यमान हैं। इससे यह भी बोध हो गया होगा कि दोनों ही क्षेत्रों की क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं तथा इनके पठन-पाठन तथा उनको अन्यान्य क्रियाओं को विकसित करने के मार्ग में रोड़े अटकाने वाली कौन कौन सी विषम परिस्थितियाँ आज वास्तव में बाधक सिद्ध हो रही हैं।

[अध्याय तृतीय]

वर्तमान स्थिति

(१) हमने भारतवर्ष की पर्याप्त व्यापक यात्रा की। इस यात्रा में हमें ऐसी संस्थाओं तथा ऐसे आयोजनों के निरीक्षण करने का अवसर प्राप्त हुआ जो कि विभिन्न स्तरों पर संस्कृतशिक्षा तथा संस्कृत के पठन-पाठन को प्रोन्नत करने में रत हैं। हमें टोलों, गुरुकुलों तथा महाविद्यालयों को उनकी स्थानीय परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में निरीक्षण करने के भी अवसर प्राप्त हुए। इस निरीक्षणक्रम में हमने आधुनिक तथा पारम्परिक दोनों ही कोटि की संस्कृत-शिक्षा के विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन किया। भारतीय दर्शन तथा भारतीय धर्म के मत-मतान्तरों से सम्बद्ध अनेक मठों, मन्दिरों तथा न्यासों जैसी धार्मिक संस्थाओं का भी हमने अवलोकन किया। विभिन्न केन्द्रों में चलने वाली व्यक्तिगत संस्कृत-कक्षाओं से लेकर संस्कृत महाविद्यालय, आधुनिक ढंग से सञ्चालित शोधसंस्थानों तक हम उपस्थित हुए। हमने यह देखा कि इन केन्द्रों में कुछ संस्कृत प्रेमी व्यक्तियों ने गैरसरकारी ढंग से भी ऐसे परिषदों तथा सम्मेलनों की व्यवस्था की है जिनके द्वारा संस्कृत का अध्ययन प्रगति प्राप्त कर रहा है। इस तथ्य का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कि संस्कृतशिक्षा की प्राचीनकालीन परम्परागत पद्धतियाँ अब भी किस रूपमें जीवित हैं तथा अपनी क्रियाओं में वे कहाँ तक सफल हो रही हैं, हमने ऐतिहासिक महत्त्व की विभिन्न संस्थाओं का निरीक्षण भी किया तथा अपने आवास पर ही छात्रों का चिरकाल से अध्यापन करने वाले कतिपय सुविख्यात पण्डितों से भी हमने सम्पर्क स्थापित किया। अपनी यात्रा के अवसर पर संस्कृत के उत्साही शोधसंस्थान-संचालकों तथा संस्कृतशिक्षा के विशेषज्ञ अनेक संघटनों एवं व्यक्तियों से भी हमने आवश्यक साक्ष्य प्राप्त किये। हमारे साक्ष्य-कार्यक्रम में सरकारी तथा गैरसरकारी, पारम्परिक तथा आधुनिक, बड़े तथा छोटे, प्रारम्भिक तथा परिपक्वावस्थाप्राप्त स्तर तक संस्कृत शिक्षा में लगे हुए अनेक संघटन सम्मिलित किये गये थे। इस प्रकार अपने इस प्रत्यक्ष सर्वेक्षण में हमने सभी प्रकार से उन समस्त परिस्थितियों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करने की पूरी-पूरी चेष्टा की है जो कि संस्कृतशिक्षा-क्षेत्र में आज हमारे सामने हैं। संस्कृतशिक्षा तथा संस्कृत पठन-पाठन के विभिन्न स्वरूपों तथा स्तरों के गम्भीर अध्ययन से हमने इन विभिन्न परिस्थितियों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया है।

(i) पारम्परिक संस्कृतशिक्षा

(२) हम अपना विवेचन पारम्परिक संस्कृतशिक्षा संस्थाओं से प्रारम्भ करते हैं। जहाँ तक हमारी जानकारी है, इन संस्थाओं के देशव्यापी सर्वेक्षण का

आज तक कोई प्रयत्न नहीं हुआ है। हमारे लिए यह सम्भव नहीं था कि हम इन सभी का निरीक्षण कर सकें। कहना न होगा कि हमारे देश में ये पारम्परिक संस्कृत-संस्थाएँ एक बड़ी संख्या में चल रही हैं। केवल उत्तर प्रदेश ही में संस्कृत पाठशालाओं तथा विद्यालयों की संख्या एक हजार तीन सौ इक्यासी (१३८१) है। पाठशालाओं तथा विद्यालयों की संख्या का जहाँ तक प्रश्न है, उत्तर प्रदेश इस सन्दर्भ में सबसे आगे है। सच पूछा जाय तो इस प्रदेश के तीर्थस्थान वाराणसी, प्रयाग तथा अयोध्या हमारी समझ में प्रत्यक्ष विश्वविद्यालय-नगर हैं। जिन संस्थाओं का हमने निरीक्षण किया उनके अतिरिक्त जहाँ का निरीक्षण सम्भव नहीं हो सका, उन विद्यालयों के कार्य के विषय में हमने उनके लिखित साक्ष्यों से जानकारी प्राप्त की। देश के विभिन्न भागों की जिन पारम्परिक संस्थाओं को हमने अपनी विचार-कोटि में रखा है, उनकी संख्या एक सौ इक्यासी है।

(३) उत्तर प्रदेश के बाद बंगाल, बिहार तथा मिथिला में ऐसी पारम्परिक संस्थाएँ अधिकाधिक संख्या में कार्य कर रही हैं। देशी राज्यों तथा रजवाड़ों का प्रदेश होने के कारण राजस्थान तथा सौराष्ट्र में भी इस प्रकार के अनेक संस्कृत विद्यालय तथा महाविद्यालय चल रहे हैं। अपने राज्य में प्रत्येक नरेश ने कम से कम एक संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना तो कर ही रखी है। तदुपरान्त बम्बई, मध्य-प्रदेश, उड़ीसा तथा असम का क्रम आता है। अन्य राज्यों की अपेक्षा दिल्ली, हिमाचलप्रदेश, पञ्जाब, जम्मू तथा काश्मीर में इन पारम्परिक संस्थाओं की संख्या कम है। किन्तु इन प्रदेशों में पारम्परिक संस्थाओं के कतिपय महत्त्वपूर्ण केन्द्र आज भी विद्यमान हैं जहाँ कि पारम्परिक संस्कृत शिक्षा के विद्वान् पठनपाठन का कार्य करते हैं तथा संस्कृत विद्यालय भी चल रहे हैं। यहाँ पर यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी भी प्रदेश की पाठशाला-संख्या से उस प्रदेश में प्रचलित संस्कृतशिक्षा के प्रसार तथा उसकी प्रगति का निर्णय नहीं लिया जा सकता।

(४) पूर्व अध्याय ऐतिहासिक सिंहावलोकन में हमने उन परिस्थितियों की चर्चा की है जिनसे प्रभावित होकर पारम्परिक पठन-पाठन अंग्रेजी शिक्षा द्वारा दबा दिया गया तथा शनैः शनैः वह क्षीण होता गया। अंग्रेजो शिक्षा पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया तथा पारम्परिक संस्कृत की शिक्षा को कठिनाइयों से पूर्ण विपन्न अवस्था में ही पड़ी रहने दिया। ऐसी विषम परिस्थिति में तो संस्कृतशिक्षा नष्ट हो जाती, किन्तु उसे इस विनाश से बचाने के लिए दो परिस्थितियाँ सहायक हो गयीं। उनमें से एक थी देशी रियासतें तथा उनमें व्याप्त भारतीय सांस्कृतिक जीवन तथा दूसरी परिस्थिति थी देश में जागृत राष्ट्रीय भावना, जो कि यह चाहती थी कि अंग्रेजी शिक्षा में व्याप्त अभारतीय तथा असांस्कृतिक तत्त्वों की पूर्ति सांस्कृतिक तत्त्वों के समावेश द्वारा की जाय। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर हमारे देश के कतिपय शिक्षा-प्रेमियों ने सांस्कृतिक महत्त्व को संस्थाएँ खोलीं। हम इन दोनों ही परिस्थितियों को धन्यवाद देते हैं, क्योंकि इनके ही कारण हमारे देश में आधुनिक ढंग के संस्कृत-विद्यालयों का जाल सा बिछ गया। जनता में व्याप्त इस आधुनिक दृष्टिकोण द्वारा पारम्परिक संस्कृत पाठ-शालाओं का विशाल समूह कदापि उपेक्षा का पात्र नहीं बन सकता था, विशेषतः उन

लोगों द्वारा तो उसकी उपेक्षा नहीं ही की जा सकती थी जो कि आधुनिक विश्वविद्यालयीय शिक्षा का भार उठाये हुए थे। इसलिए जिन प्रदेशों का हमने ऊपर उल्लेख किया है उनमें से प्रमुख प्रदेशों की संस्कृत पाठशालाएँ शिक्षा निदेशालय की देखभाल में रख दी गयीं तथा इनकी सरकारी परीक्षाओं की व्यवस्था विभागीय परीक्षा-विभाग या किसी अन्य साधन द्वारा की गयी। यह कार्य उत्तर-प्रदेश, बंगाल, बिहार तथा मैसूर में किया गया। दूसरे प्रदेशों में उनके स्तर के अनुसार संस्कृत संस्थाओं को विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के रूप में दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया। उत्तर-प्रदेश, बंगाल, बिहार तथा मैसूर की परीक्षाएँ शिक्षाविभाग के नियंत्रण में चल रही थीं। यह स्थिति अब भी चली आ रही है। अन्य प्रदेशों की संस्थाएँ स्थानीय विश्वविश्वविद्यालयों से सम्बद्ध हैं। ये ही विश्वविद्यालय उनके पाठ्यक्रमों का निर्धारण करते हैं, पाठ्यपुस्तकों का निश्चय करते हैं, परीक्षाएँ लेते हैं तथा प्रमाण-पत्र देते हैं। इस प्रकार की संस्थाएँ विशेषतः दक्षिण भारत में विद्यमान हैं। कुछ अन्य प्रदेशों के विश्वविद्यालयों ने अपने ही प्रबन्ध में प्राच्य-विभाग तथा संस्कृत महाविद्यालय खोल रखे हैं। ऐसे विश्वविद्यालयों में एम० ए० पाठ्यक्रम के साथ शास्त्रों के प्रौढ़ ज्ञान की दृष्टि से पारम्परिक पद्धति द्वारा पठन-पाठन की व्यवस्था प्रचलित है। यह व्यवस्था काशी-हिन्दु विश्वविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय तथा अन्नामलायी विश्वविद्यालय में की गयी है। जिन प्रदेशों में संस्कृत परीक्षाएँ विश्वविद्यालयों द्वारा ली जाती हैं वहाँ के भी संस्कृतविद्यालयों का निरीक्षण शासन द्वारा ही किया जाता है। सरकार इन संस्थाओं को आर्थिक सहायता भी देती है, भले ही वह कितनी ही थोड़ी क्यों न हों।

(५) आधुनिक संस्कृतविद्यालय तथा महाविद्यालय जिन्हें हम पूर्वब्रिटिश शासन के समय के अन्य संस्कृत संस्थाओं से अलग करने के लिए ही ऐसी संज्ञा देते हैं उन्हें पब्लिक इन्स्ट्रक्शन विभाग तथा विश्वविद्यालयीय दोनों ही ढांचों की दोहरी पद्धति की पृष्ठभूमि में विकसित होना पड़ा। यतः ये संस्थाएँ गुरुकुलों के प्राचीन नमूने से निकली हुई थीं। अतः उनके लिए यह सम्भव नहीं था कि वे गुरुकुलों की कतिपय विशेषताओं को एकदम भूल जायँ। किन्तु इन विशेषताओं को बनाये रखना ही उनके लिए अन्ततोगत्वा अत्यधिक बाधक सिद्ध हुई। धन के अभाव से इन नवीन संस्कृत संस्थाओं के लिये यह साध्य नहीं हो सका कि आधुनिक अंग्रेजी स्कूलों के समान वे भवन तथा साज-सज्जा की व्यवस्था कर सकें, विभिन्न श्रेणियों के लिए यथोचित संख्या में योग्य अध्यापक नियुक्त कर सकें तथा उन्हें निर्धारित वेतन दे सकें। कुछ रजवाड़ों को छोड़कर, जहां कि भव्य-भवन इन संस्थाओं को प्राप्त हो गये हैं, अन्यत्र ऐसे आधुनिक संस्कृतविद्यालयों के अधिकतर भवनों की दशा दयनीय है। अपनी यात्रा में इस प्रकार की जितनी संस्थाओं को हमने देखा उनमें से अधिकांश के भवन टूटे-फूटे तथा उनकी चहारदिवारी भी गिरती दशा में दृष्टिगत हुई। यदि आधुनिक अंग्रेजी विद्यालयों के भवन तथा उनकी चहारदिवारी की यह स्थिति होती तो शासन तथा विश्वविद्यालय उनकी मान्यता रद्द कर देता। यही तथ्य इन संस्थाओं के अध्यापकों के वेतन के सन्दर्भ में भी चरितार्थ होता है। यहाँ के अध्यापकों का वेतन

अंग्रेजी विद्यालय के अध्यापकों को दिये जाने वाले वेतन से कम है। इनके पुस्तकालय उपयुक्त ढंग से सुसज्जित नहीं हैं। इनमें से जिन संस्थाओं को प्राचीन पारम्परिक विद्यालयों को बदल कर आधुनिक रूप दिया गया है वहाँ पाण्डुलिपियों का भी संग्रह देखने में आया। किन्तु इन संग्रहों की ठीक से देखभाल नहीं की जाती।

(६) इन संस्थाओं के अध्यापकों एवं छात्रों की मुखाकृति पर उदासीनता तथा उत्साह का अभाव प्रत्यक्ष था। ऐसा देखा गया कि कई एक स्थानों पर विद्यालयीय प्रबन्ध इन संस्थाओं के विधिवत् सञ्चालन एवं उनके विकास में रुचि नहीं लेता था। यद्यपि कुछ स्थानों में छात्रों को अन्य स्थानों की तुलना में अधिक सुविधाएँ सुलभ हैं, तथापि यही देखा गया गया कि समस्त देश में छात्रों की संख्या बराबर गिरती ही जा रही है। कुछ कक्षाओं में तो एक, दो या तीन छात्रों से अधिक छात्र दृष्टि में नहीं आये। कई एक सुव्यवस्थित विद्यालयों में भी यह देखने में आया कि जिन विषयों की उन्हें मान्यता प्राप्त है उनमें से कुछ विषयों के छात्र ही वहाँ नहीं हैं। हमने जो कुछ भी देखा तथा सुना उससे हमें यही पता चला कि इन संस्थाओं में वे ही छात्र आते हैं जिन्हें कुछ भी करने को नहीं रहता तथा निःशुल्क भोजन, आवास तथा अल्प छात्रवृत्ति की लालच से ही वे यहाँ पढ़ने आते हैं। छात्रों तथा अध्यापकों से विभिन्न स्थानों में बातचीत के समय हमें बार बार एक ही तर्क सुनने को मिला कि इस शिक्षा से छात्रों को कोई लाभप्रद उपयोगी जीविका नहीं प्राप्त होती। यही तथ्य इन संस्थाओं की दयनीय स्थिति और घटती हुई छात्रसंख्या के मूल में है। कुछ ऐसे विद्यालयों की कक्षाओं का भी हमने निरीक्षण किया तथा छात्रों से प्रश्न किये। अध्यापकों के व्याख्यान के समय छात्र मौन बैठे रहते थे। अध्यापक ने विषय का जो विवेचन किया उस पर हम लोगों ने प्रश्न भी किये। ऐसी स्थिति में छात्र निरुत्तर पाये गये। इनमें से अधिकांश संस्थाओं में पठन-पाठन के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य प्रचलित नहीं है। वार्षिकोत्सव के समय या किसी विशिष्ट व्यक्ति के आगमन के अवसर पर ही छात्रों की क्रियाएँ प्रदर्शित की जाती हैं।

(७) बंगाल, बिहार तथा उत्तर प्रदेशों में संस्कृत के परीक्षार्थी सबसे अधिक हैं। इन प्रदेशों में परीक्षा में सम्मिलित होने वाले छात्रों की संख्या एक मोटे तौर से प्रायः तीस हजार है। जहाँ तक कि विभिन्न कक्षाओं में वास्तविक छात्र संख्या का प्रश्न है, बिहार के विद्यालय, या महाविद्यालयों में छात्रों की संख्या प्रायः आठ सौ तक आँकी जा सकती है। इस संख्या में वे भी छात्र सम्मिलित हैं जो कि परीक्षा तक अध्ययन नहीं करते। वर्ष में कुछ ही मास अध्ययन करने वाले सांयोगिक छात्र उत्तरप्रदेश में बहुतायत से पाये जाते हैं। कुछ स्थानों में जहाँ कि छात्रसंख्या कम है तथा छात्र भी अनियमित रूप से पढ़ने आते हैं, हमने यह देखा कि वहाँ के अध्यापक ही छात्रों की कृपा पर निर्भर रहा करते हैं। कुछ विद्यालयों में अंग्रेजी विद्यालयों के छात्रों को तथा उत्सुक वयस्कों को भी कक्षाओं में बैठने की आज्ञा दे दी जाती है, किन्तु ऐसे लोगों को परीक्षा में नहीं बैठाया जाता। दक्षिण भारत तथा महाराष्ट्र में यह प्रथा देखने में नहीं आयी। यद्यपि वहाँ छात्रों की संख्या कम है, किन्तु नियमित रूप से उपस्थित होने वाले

छात्रों को ही परीक्षा में भेजा जाता है। हमने यह देखा कि विभिन्न स्थानों में छात्र चाहे नियमित रूप से पढ़ने आते हों या अनियमित रूप से, किन्तु सर्वत्र ही छात्रों की योग्यता शोचनीय ही है। हमारे इस अनुभव का बलपूर्वक समर्थन कई एक साक्षियों तथा संस्कृत विद्यालयों के अधीक्षकों ने भी किया।

(८) जिन स्थानों में नवीन या प्राचीन न्यासों अथवा प्राभृतों द्वारा इन विद्यालयों की व्यवस्था की जाती है वहाँ हमने यह देखा कि उन स्थानों पर जो साधन सुलभ हैं वे तो अनुपयुक्त हैं ही, पर प्रबन्ध की कमी के कारण जो कुछ भी प्राप्त किया जा सकता है उसे प्राप्त करने में भी अनेकानेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। संस्कृत में रुचि लेने वाले हमारे अनेक साक्षियों ने इस प्रकार के कई एक न्यासों तथा प्राभृतों की सूची हमारे समक्ष प्रस्तुत की जो कि निर्जीव तथा निष्फल पड़े हुए हैं। आयोग का ध्यान कई एक ऐसे सन्दर्भों की ओर भी आकृष्ट किया गया जहाँ कि संस्कृत के लिए समर्पित धन अङ्गरेजी विद्यालयों को खोलने में तथा संस्कृतेतर कार्यों में व्यय किया जा रहा है।

(९) देश के विभिन्न भागों में संस्कृतशिक्षा को जिस रूप में हमने देखा उससे हम यही कह सकते हैं कि उसके पाठ्यक्रम, उसके अध्ययन की अवधि उसका विस्तार, उसकी पाठ्य-पुस्तकों के प्रकार तथा अध्ययन के लिए नियत विभिन्न शास्त्रीय विषयों में समानता नहीं है। परीक्षा के उपरान्त जो प्रमाण पत्र दिये जाते हैं उनके नाम भी भिन्न-भिन्न हैं। खेद है कि इनमें एकरूपता लाने की कोई भी चेष्टा नहीं की जा रही है। इस प्रत्यक्ष विषमता के कारण जैसा कि हमें बताया गया, एक प्रदेश के पण्डित को दूसरे प्रदेश की सेवा प्राप्त करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कुछ प्रदेशों में पारम्परिक पठन-पाठन की व्यवस्था प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च श्रेणियों में विभाजित है, तो कहीं-कहीं एक ही परीक्षा ली जाती है। बंगाल तथा पंजाब में तीर्थ तथा शास्त्री से ऊपर किसी भी परीक्षा का प्राविधान नहीं है। विभिन्न केन्द्रों में जो कुछ हमने देखा उससे हमने यह अनुभव किया कि उत्तर-प्रदेश, भारती भवन बम्बई तथा तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना की आचार्य परीक्षा, मद्रास की शिरोमणि परीक्षा, मैसूर की शिरोमणि परीक्षा, त्रावणकोर की महामहोपाध्याय परीक्षा, आंध्र की विद्याप्रवीण परीक्षा पर्याप्त ऊँचे स्तर की है। मद्रास विश्वविद्यालय तथा मद्रास शासन दोनों ही के द्वारा उच्च-अध्ययन करने वाले उन्नतिशील छात्रों को छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जाती हैं तथा जो विद्वान् शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करते हैं उन्हें एम्० ओ० एल्० की उपाधि से विभूषित किया जाता है। इसी प्रकार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भी आचार्य के पश्चात् वाचस्पति तथा चक्रवर्ती नाम की दो उपाधियों का प्राविधान है।

(१०) अध्यापकों की नियुक्ति के सम्बन्ध में विभिन्न पदों के लिए योग्यता का निर्धारण नहीं किया गया है। बहुत ही कम अध्यापक प्रशिक्षित हैं। सच पूछा जाय तो पंजाब, राजमहेन्द्री तथा अन्नामलायी नगर को छोड़कर कहीं भी संस्कृत-शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं है। कई एक स्थानों पर उपाधि-विद्यालयों, विश्वविद्यालयों

तथा शोध-संस्थानों में कार्य करने वाले संस्कृत के पण्डित आधुनिक ढंग से शोधकार्य में सक्रिय भाग लेते हुए पाये गये। हमने यह भी देखा कि हमारे देश का कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जहाँ कि संस्कृत पाठशाला नहीं है तथा जहाँ संस्कृत के पण्डित नहीं हैं। साथ ही साथ हमने यह भी अनुभव किया कि कुछ प्रदेशों में वहाँ पर चलने वाली संस्कृतपाठशालाओं की तथा संस्कृत के विद्वानों की संख्या उस प्रदेश के विस्तार के अनुरूप नहीं है। इसी प्रकार किसी-किसी प्रदेश में अपनी कोई संस्कृत की परीक्षा नहीं है तथा वहाँ राजकीय संस्कृत-विद्यालय या राज्यानुदान पाने वाले विद्यालयों का भी अभाव है।

(११) यह अत्यन्त खेद की बात है कि इन विद्यालयों में से अधिकांश विद्यालयों में न तो कोई जीवन है, न तो वहाँ विकासशील व्यवस्था के कोई लक्षण ही विद्यमान हैं, उल्टे मृतप्राय संविधानों के लक्षण ही दिखाई पड़ते हैं। किन्तु यह जानकर हमें सन्तोष हुआ कि देश के शिक्षाविद्, संस्कृत से अनुराग रखने वाले व्यक्ति तथा शासकवर्ग का ध्यान इस दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति की ओर अवश्य केन्द्रित हुआ है। जनता तथा पण्डितों में भी पारम्परिक शिक्षा के महत्त्व के प्रति एक नवचेतना जाग उठी है। हमें कुछ ऐसे सज्जनों से मिलकर प्रसन्नता हुई जिनमें इस शिक्षा के प्रति अटूट विश्वास है। ऐसे संस्कृतप्रेमी इस शिक्षा को ऊँचा उठाने के लिए ठोस प्रयत्न कर रहे हैं। कहना न होगा कि इस प्रकार के अनुकूल वातावरण में थोड़े समयपूर्व ही हमारी विभिन्न प्रादेशिक सरकारों ने शैक्षिक तथा आर्थिक दोनों पहलुओं से टोलों तथा पाठशालाओं के प्रश्न पर विचार करना प्रारम्भ किया। संस्कृत के विद्वानों के लिए, शिक्षाविदों के लिए तथा प्रादेशिक शासनों के लिए यह एक चिन्ता का विषय वन गया कि जब एक ओर पारम्परिक शिक्षा के सांस्कृतिक महत्त्व तथा उससे प्राप्त होने वाली ज्ञानगरिमा को कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता तो दूसरी ओर हमारे देश में इस शिक्षा का जो पतन हमारे सामने विद्यमान है तथा उसे उज्जीवित रखने वाली पृष्ठभूमि भी धूमिल हो चुकी है, उसकी ओर भी हम अपनी आँखें नहीं बन्द कर सकते। साथ ही साथ इस पारम्परिक शिक्षा का सामान्य जीवन के प्रवाह से तथा जीविका के वर्तमान साधनों से सम्बन्धित न होना एवं पण्डित-परिवारों के नवयुवकों द्वारा अंगरेजी शिक्षा को अंगीकार करने के कारण संस्कृत परम्पराओं का जो क्रमिक लोप होता जा रहा है उसके प्रति भी हम अब असावधान नहीं रह सकते। आयोग ने उन प्राचीन पण्डितों की शोचनीय स्थिति का भी अवलोकन किया जो कि विद्वत्ता से ओत-प्रोत हैं, तथापि उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि अपने पाण्डित्य को वे किस प्रकार समाज के लिए उपयोगी बना सकते हैं। कम से कम कुछ राज्यों द्वारा इस समस्या का गम्भीरता से अनुभव किया गया तथा अपने-अपने प्रदेशों की पाठशालाओं में दी जाने वाली इस पारम्परिक संस्कृत-शिक्षा को सुसंघटित करने की ओर ध्यान दिया।

(१२) बंगाल में एक बड़ी संख्या में टोल चल रहे हैं। इस प्रदेश में कुछ समय पूर्व इनकी संख्या एक हजार तीन सौ बीस थी। आज भी इनमें से छः सौ बावन

अच्छी दशा में हैं। शेष में से कुछ को पन्द्रह रुपये से बीस रुपये तक मासिक अल्प अनुदान प्राप्त होता है। पुराने बंगाल (अब पश्चिम बंगाल) की सरकार द्वारा इन टोलों की वास्तविक स्थिति जानने के लिए तीन समितियों का आयोजन किया गया था। इनमें से अन्तिम समिति की संस्तुतियाँ सरकार ने स्वीकार कर ली हैं। इस समिति के अनुरोध पर टोलों के राज्यानुदान में वृद्धि की गयी है, छात्रों के लिए छात्रवृत्तियों का प्राविधान किया गया है, कुछ चुनी हुई संस्थाओं को प्रोन्नत करके उनको उच्च-स्तर के विद्यालय का रूप दिया गया है तथा तदनुरूप उनके अध्यापकों के वेतन में वृद्धि की गयी है, उनमें नये विभाग खोले गये हैं, शोध प्राध्यापक नियुक्त किये गये हैं तथा प्रकाशन की सुविधाएँ भी स्वीकृत की जा चुकी हैं। बंगीय शिक्षापरिषद् द्वारा वहाँ प्रवेशिका, मध्य तथा तीर्थ परीक्षाओं की व्यवस्था की जाती है। इन विद्यालयों में वेद, साहित्य, व्याकरण, षड्दर्शन, अर्थशास्त्र, जैनदर्शन, बौद्धदर्शन, शैवदर्शन, वैष्णवदर्शन, इतिहास, पुराण, कर्मकाण्ड तथा आयुर्वेद का पठन-पाठन पाठ्य-क्रम में निर्धारित किया गया है। हमने इस कोटि के दो प्रोन्नत संस्कृत महाविद्यालयों नव्य-न्याय के विख्यात केन्द्र नवद्वीप के संस्कृत कालेज तथा कलकत्ता के राजकीय संस्कृत कालेज एवं उसके शोध-विभाग का निरीक्षण किया। कलकत्ता संस्कृत कालेज में कलकत्ता विश्वविद्यालय के भी छात्र प्रवेश प्राप्त कर सकते हैं। पश्चिम बंगाल सरकार द्वारा प्राचीन संस्कृत कालेज में संस्थापित शोध-विभाग को देख कर हमें विशेष प्रसन्नता हुई। इस विभाग में वेद, लौकिक संस्कृत, भारतीय भाषा-विज्ञान, स्मृति तथा पुराण के समुन्नत शोध-कार्य के लिए प्राध्यापक नियुक्त हैं। किन्तु योग्य छात्र प्राप्त करने की कठिनाई, अनुसन्धान के समुचित साधनों की कमी तथा शोधकार्य के प्रकाशन में विलम्ब की समस्या, जो अन्यत्र देखी जाती है वह यहाँ भी विद्यमान है। पश्चिम बंगाल शासन की इस व्यवस्था से उच्चस्तर की संस्कृत पाठशालाओं को नव-जीवन प्राप्त करने में सहायता प्राप्त हो सकेगी। जिला परिषद् तथा नगर पालिकाओं की सहायता को मिलाकर पश्चिम बंगाल सरकार पारम्परिक संस्कृत शिक्षा के समुत्थान के लिए चार लाख रुपये प्रतिवर्ष व्यय करती है।

(१३) त्रिपुरा राज्य में नौ टोल कार्य करते हैं। इनमें से एक राजकीय है तथा शेष आठ राज्यानुदान प्राप्त संस्थाएँ हैं। इन टोलों में अस्सी छात्र अध्ययन करते हैं तथा अध्यापकों की संख्या दस है। राज्य सरकार प्रतिवर्ष इन पर दस हजार रुपये व्यय करती है। ये सभी टोल पश्चिम बंगाल संस्कृतपरिषद् से सम्बद्ध हैं। प्राचीन समय में त्रिपुरा के नरेश संस्कृत के विद्वानों की सभा का भी आयोजन किया करते थे। इस प्रदेश में संस्कृत की एक अच्छी परम्परा है। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत त्रिपुरा शासन अपने यहाँ एक सुव्यवस्थित संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना द्वारा इस परम्परा को शक्तिशाली बनाना चाहता है।

(१४) असम में एक संस्कृत-परिषद् है। इस परिषद् के द्वारा संस्कृत की परीक्षाओं का सञ्चालन किया जाता है। इस प्रदेश की सरकार संस्कृत की शिक्षा पर प्रायः अस्सी हजार रुपये प्रतिवर्ष व्यय करती है। यहाँ छः वर्षों का आद्य, मध्य तथा

शास्त्री का पाठ्यक्रम प्रचलित है। ज्योतिष, आयुर्वेद, वैष्णवशास्त्र, तथा अन्य प्रायः सभी शास्त्रों के पठन-पाठन की व्यवस्था है। असम में कुल एक सौ चार टोल हैं, किन्तु यहाँ शास्त्रों के अध्ययन तथा विशिष्टीकरण का स्तर यथेष्ट रूप में ऊँचा नहीं दिखायी देता। इस प्रदेश में कोई भी राजकीय संस्कृतमहाविद्यालय नहीं है। पर संस्कृत कालेज नलवाड़ी को राज्य सरकार द्वारा विशेष अनुदान दिया जाता है। सन् १९४८ में संस्कृत टोलों को पुनः संघटित करने के उद्देश्य से असम सरकार ने एक समिति बनायी थी। सम्प्रति चार आदर्श टोलों में अंगरेजी का भी अध्ययन प्रचलित है। मणिपुर क्षेत्र में भी एक टोल है। इस टोल में छियालिस छात्र हैं तथा अध्यापकों की संख्या सात है।

(१५) बिहार में पारम्परिक शिक्षा का पुनः संघटन उत्साह पूर्वक किया जा रहा है। बंगाल के समान यहाँ भी टोलों की परीक्षा के लिए एक संस्कृत एसोसियेशन संस्थापित है। इस एसोसिएशन का गठन विश्वविद्यालय-पद्धति से किया गया है तथा प्रतिवर्ष उपाधिवितरणोत्सव मनाया जाता है। कुल तीन सौ पैंसठ टोल राजकीय संस्कृत-परीक्षा से सम्बद्ध हैं। इनमें से पचास राज्यानुदान प्राप्त संस्थाओं में संशोधित पाठ्यक्रम लागू किया गया है। राज्य द्वारा प्रस्तावित योजना के अन्तर्गत प्रत्येक जनपद में एक राजकीय संस्कृत महाविद्यालय स्थापित करने के प्रश्न पर राज्य सरकार विचार कर रही है। प्रदेश के चार मण्डलों में इस योजना के अनुसार बारह राजकीय संस्कृत विद्यालय तथा चार राजकीय संस्कृत महाविद्यालय भी खोले जा चुके हैं। संस्कृत विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में कुल मिलाकर ग्यारह हजार छात्र अध्ययन करते हैं। इन महाविद्यालयों के प्रधानाचार्यों का वेतन द्वितीय श्रेणी के राज्याधिकारियों के समकक्ष आठ सौ पचास रुपये प्रतिमास निर्धारित किया जा चुका है। यदि विद्यालय की प्रबन्धसमिति अपने किसी अध्यापक को केवल दस रुपया प्रतिमास देना स्वीकृत करती है तो निर्धारित वेतनक्रम प्राप्त कराने के लिए शासन उसे पचास रुपये मासिक पूरक राज्यानुदान देता है। पारम्परिक संस्कृत की शिक्षा पर बिहार सरकार प्रतिवर्ष तीन लाख रुपये व्यय करती है। यतः संशोधित पाठ्यक्रम में आधुनिक विषयों का समावेश किया गया है। इन विषयों से सम्बद्ध पाठ्यपुस्तक के लेखकों को शासन आकर्षक पुरस्कार भी देता है।

(१६) उत्तर प्रदेश की तीन सौ सड़सठ संस्कृत संस्थाओं में संशोधित पाठ्यक्रम कार्यान्वित किया गया है। ऐसे विद्यालयों को आदर्श संस्कृत विद्यालय कहा जाता है। इस प्रदेश के संस्कृतविद्यालयों की विपुल संख्या तथा परीक्षा में सम्मिलित होने वाले छात्रों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। उत्तरप्रदेश की विभिन्न संस्कृत-पाठशालाओं में कुल चार हजार चार सौ बासठ अध्यापक कार्य कर रहे हैं। उत्तर-प्रदेश को इस बात का गर्व होना चाहिए कि यहाँ परम्परागत संस्थाओं की संख्या भारत में सबसे अधिक है! यहाँ का शासन भी संस्कृतशिक्षा के विभिन्न पहलुओं की समस्या सुलझाने में पूर्णतः दत्तचित्त है।

बनारस संस्कृत कालेज, जिसके इतिहास पर हमने पिछले अध्याय में प्रकाश डाला है, प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री तथा आचार्य श्रेणी की चार परीक्षाओं का सञ्चालन करता है। प्रदेश में संस्कृतशिक्षा में सुधार की दृष्टि से तथा उसका स्तर ऊँचा उठाने की अपनी नीति की आंशिक सिद्धि के लिए उत्तर-प्रदेश शासन ने इस महाविद्यालय को एक संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में परिणत करने का निश्चय किया है। वर्तमान स्थिति में यहाँ चार सौ साठ छात्र अध्ययन कर रहे हैं तथा अध्यापकों की संख्या चौबीस है। पारम्परिक संस्कृतशिक्षा पर उत्तर-प्रदेश शासन प्रतिवर्ष ५१६८७० रु० आवर्तक तथा ७७१८२९ रु० अनावर्तक व्यय करता है। संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना तथा संस्कृत पाठशालाओं के समुन्नयन की योजना का कार्यान्वियन हो जाने पर इस व्यय में और अधिक वृद्धि हो जायगी। जैसे कि शासन अपने चार हजार चार सौ बासठ संस्कृत अध्यापकों को नवीन वेतन-क्रम देने वाला है। इस मद में उसे छियालीस लाख रुपये और अधिक व्यय करने होंगे। मुख्य-मन्त्री तथा उनके सहयोगियों से बातचीत के द्वारा हमने यह ज्ञात किया कि वे पारम्परिक शिक्षा के संवर्धन के लिए जो कुछ भी सम्भव है उसे करने को उत्सुक हैं। सेवा-प्राप्ति के लिए शासन ने विभिन्न संस्कृत उपाधियों को समानान्तर विश्वविद्यालयीय उपाधियों के समकक्ष स्वीकार कर लिया है। संस्कृत के मौलिक रचनात्मक कार्य के लिए शासन प्रतिवर्ष पाँच सौ रुपये का पुरस्कार प्रदान करता है। पण्डितों को सामयिक जीवन के समीप ले आने की दृष्टि से एक संस्कृत पाठशाला के प्रधानाचार्य को विधान-परिषद् का मनोनीत सदस्य बनाया गया है। विश्वविद्यालयों में भी इस प्रकार की समानता का व्यवहार किया जाता है। काशी हिन्दु विश्वविद्यालय में अन्य विद्यालयों के विभागाध्यक्षों के समान ही संस्कृत महाविद्यालय के पण्डितों को भी कार्यकारिणी तथा अन्य समितियों में सम्मिलित किया जाता है।

(१७) यद्यपि प्रदेशीय शासन द्वारा संस्कृत की प्रोन्नति के लिए किये गये प्रयत्न उत्साहवर्धक हैं, तथापि हमने यह देखा कि संस्कृत के छात्र तथा विद्यालय अपनी पारम्परिक शिक्षा-व्यवस्था के पुनःसंघटन तथा उसके पुनरुज्जीवन की दिशा में निर्मित योजनाओं को सफल बनाने में सरकार को समुचित सहयोग नहीं दे रहे हैं। अनेक विद्यालयों में आधुनिक विषयों के अध्यापक समुचित संख्या में नियुक्त नहीं हैं। निरीक्षकों की संख्या सीमित होने के कारण पुनःसंघटन के प्राविधानों की पूर्ति हुई है या नहीं इसकी कठोरता पूर्वक देख भाल भी प्रायः असम्भव सी प्रतीत होती है।

(१८) बनारस संस्कृत कालेज के अतिरिक्त काशी हिन्दुविश्वविद्यालय में भी एक संस्कृतमहाविद्यालय स्थापित है। इस विश्वविद्यालय में प्राच्यशिक्षा-संकाय भी कार्य करता है। संस्कृत महाविद्यालय के विभिन्न विभागों में चार सौ सोलह छात्र अध्ययन करते हैं। आचार्योत्तर शोधकार्य भी प्रचलित है तथा इस शोधकार्य के प्रकाशन की भी व्यवस्था है। सफल शोधकार्य के लिए वाचस्पति (पी-एच्० डी०) तथा चक्रवर्ती (डी० लिट्) की उपाधियाँ प्रदान की जाती हैं तथा उच्च-स्तर के शोधकार्य के लिए छात्रवृत्तियों का भी प्राविधान किया गया है। सम्प्रति इस संस्कृत महाविद्यालय में

पचास छात्र आचार्य पाठ्यक्रम के लिए निर्धारित शास्त्रों का अध्ययन कर रहे हैं। यद्यपि इस संस्था में सभी शास्त्रों का पठन-पाठन होता है, तथापि हमने यह देखा कि बौद्धदर्शन तथा साहित्य की लोकप्रियता अधिक है। धर्मसंकाय में वेद, धर्मशास्त्र, पुराणेतिहास तथा कर्मकाण्ड की शिक्षा छः वर्षों में दी जाती है। इस पाठ्यक्रम को सफलता पूर्वक समाप्त करने पर शास्त्री की उपाधि प्राप्त होती है। इसके उपरान्त शोधप्रबन्ध की समाप्ति तथा मौखिक परीक्षा के सम्पन्न हो जाने पर वेदाचार्य की उपाधि प्रदान की जाती है। इस संकाय द्वारा पौरोहित्य में एक प्रमाणपत्रीय पाठ्यक्रम भी निर्धारित किया गया है। प्रधानाचार्य को मिलाकर इस महाविद्यालय में सत्तरह अध्यापक कार्य करते हैं। विभागाध्यक्षों को रीडर का वेतन दिया जाता है। अन्य अध्यापक प्रवक्ताओं का वेतन प्राप्त करते हैं। इस महाविद्यालय में पाँच विभागाध्यक्ष पदों के सृजन का भी प्रस्ताव विचाराधीन है। विश्वविद्यालय द्वारा एक पृथक् आयुर्वेद महाविद्यालय का भी सञ्चालन किया जाता है। आयुर्वेद की शिक्षा के साथ ही साथ इस संस्था में अंगरेजी तथा आधुनिक चिकित्सा का भी आवश्यक ज्ञान कराया जाता है। विश्वविद्यालय में अलग से एक पञ्चाङ्ग विभाग भी कार्य करता है।

(१९) उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त वाराणसी में व्यक्तिगत न्यासों तथा प्राभृतों द्वारा भी कई पाठशालाएँ चलायी जाती हैं। इनमें से विशेष महत्त्व की संस्था वल्लभराम शालिग्राम साङ्गवेदविद्यालय, रामघाट है। इस संस्था में साठ छात्र अध्ययन करते हैं। यहाँ किसी भी राजकीय परीक्षा के लिए छात्र तैयार नहीं किये जाते। पाठ्य-विषयों में विशेष अध्ययन की दृष्टि से राजनीति तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन ऐसे बहुधा उपेक्षित विषयों का समावेश किया गया है। बिरला विद्यालय लालघाट में चालीस छात्र हैं। यहाँ साहित्य, व्याकरण, न्याय तथा अद्वैत वेदान्त की शिक्षा दी जाती है। अन्य प्रमुख विद्यालयों में गोयनका महाविद्यालय, सन्यासी महाविद्यालय, तथा रामानुज महाविद्यालय की गणना की जा सकती है।

(२०) इलाहाबाद के सौदामिनी संस्कृतमहाविद्यालय में पन्द्रह छात्र तथा सरयूपारीण आदर्श संस्कृत महाविद्यालय में अस्सी छात्र हैं। यहाँ वेद, व्याकरण, साहित्य तथा वेदान्त का पठन-पाठन होता है। अयोध्या में पहले पचास पाठशालाएँ थीं, पर अब यहाँ उनकी संख्या केवल पचीस ही रह गयी है। इनमें से प्रमुख हैं—गुरुकुल आदर्श महाविद्यालय, दस ब्रह्मचारी शिक्षा प्राप्त करते हैं। राजगोपाल पाठशाला में सात अध्यापक तथा सत्तावन छात्र हैं। सद्धर्मवर्धिनी पाठशाला में चालीस छात्र हैं। दार्शनिक आश्रम, जो सरकारी परीक्षा की बाध्यता से स्वतन्त्र होकर अध्यापन करता है। ब्राह्मण वैदिक विद्यालय में एक सौ छात्र हैं और गायत्री ब्रह्मचर्याश्रम में पचास छात्र हैं। अयोध्या के आस-पास भी ऐसी कई एक संस्कृत पाठशालाएँ हैं। लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राच्य विभाग में दो पण्डित कार्य करते हैं। यहाँ पारम्परिक पद्धति से व्याकरण, साहित्य तथा दर्शन के पठन-पाठन के साथ कुछ आधुनिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती है। लखनऊ में दो आदर्श विद्यालय भी

हैं—शारदा संस्कृत विद्यालय तथा शिवप्रसाद संस्कृत विद्यालय। हरिद्वार तथा उसका पास-पड़ोस अनेक गुरुकुलों तथा आश्रमों के लिए विख्यात है। इनमें से गुरुकुल कांगड़ी सबसे अधिक प्रसिद्ध है। ऋषिकुल आश्रम, जयभारत संस्कृत विद्यालय, गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर, दर्शनमहाविद्यालय ऋषिकेश, सिंधीमहाविद्यालय, कनखल आदि प्रमुख संस्थाएँ हैं। मथुरा में प्रायः पचीस संस्कृत विद्यालय हैं। इनमें द्वारिकेश संस्कृत महाविद्यालय, माथुरचतुर्वेद महाविद्यालय, गोवर्धन संस्कृत विद्यालय, गोबर्धन गुरुकुल विद्यालय, रंगलक्ष्मी संस्कृत विद्यालय, धर्मसंघ विद्यालय, हितलाल भाई संस्कृत विद्यालय, श्रीनिवास संस्कृत विद्यालय तथा सर्वेश्वर संस्कृत विद्यालय मुख्य हैं। मथुरा में पाँच सौ पण्डित हैं। इनमें से पचास उच्चकोटि के विद्वान् हैं। उत्तरप्रदेश में मुख्यतः व्याकरण की ही शिक्षा दी जाती है। व्याकरणशास्त्र यहाँ सर्वाधिक व्यापक रूप में पढ़ाया जाता है। व्याकरण के बाद नव्यन्याय, साहित्य तथा ज्योतिष का क्रम आता है। कुछ प्रमुख संस्कृत विद्यालयों (जैसे कि राजकीय संस्कृत महाविद्यालय वाराणसी तथा संस्कृत महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) में कुछ छात्र वेद, वेदान्त (विशेषतः अद्वैत), बौद्ध तथा जैन दर्शनों का भी अध्ययन करते हैं। अयोध्या, मथुरा तथा वृन्दावन ऐसे धार्मिक केन्द्रों में वैष्णवधर्मों तथा दर्शनों का भी पठन-पाठन प्रचलित है।

(२१) उड़ीसा में टोलों की संख्या एक सौ छियालीस है। इनमें से तीन महाविद्यालय स्तर के तथा शेष प्रथमा एवं मध्यमा स्तर के हैं। यहाँ ग्यारह टोल तथा दो महाविद्यालय सरकार द्वारा सञ्चालित हैं। तीन संस्कृत महाविद्यालय पुरी, बोलनगिर, पर्लाकीमिबी में स्थित हैं। इन सभी विद्यालयों में चार सौ चौवन अध्यापक नियुक्त हैं तथा छात्रों की संख्या तीन हजार आठ सौ पचासी है। दोनों राजकीय महाविद्यालयों पर तथा अधीक्षक एवं उसके कार्यालय पर किये जाने वाले व्यय के अतिरिक्त राज्यसरकार परम्परागत संस्कृतशिक्षा पर कुल साढ़े चार लाख रुपये व्यय करती है। उड़ीसा में संस्कृत-शिक्षा तथा संस्कृति-संघ (Association) द्वारा दो-दो वर्षों के पाठ्यक्रम में प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री तथा आचार्य की परीक्षा ली जाती है। संशोधित पाठ्यक्रम में अङ्गरेजी तथा अन्य आधुनिक विषयों के पठन-पाठन का भी प्राविधान किया गया है, किन्तु अध्यापकों के वेतनक्रम में अभी सुधार नहीं हो सका है। उड़ीसा में प्राचीन ढंग के पण्डितों की संख्या बहुत ही कम है। यहाँ के सम्पूर्ण शिक्षाक्षेत्र के अध्ययन से प्रत्यक्ष होता है कि इस प्रदेश में पारम्परिक संस्कृत-शिक्षा की स्थिति शोचनीय तथा निराशाप्रद है। संस्कृतभाषा तथा शास्त्रों के अध्ययन को संर्बधित करने के उद्देश्य से यहाँ के लोगों ने पुरी में एक जगन्नाथ प्राच्य विश्वविद्यालय नामक संस्था की स्थापना का प्रस्ताव किया है जो विचाराधीन है।

(२२) जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पल्लव वंश के समय से ही कई शताब्दियों तक दक्षिणभारत भारतीय-संस्कृति तथा संस्कृत-शिक्षा का केन्द्र तथा

उसका आश्रयस्थल बनता चला आ रहा है। तेलगू, तमिल, कन्नड तथा मलयालम भाषी क्षेत्रों के राजवंशों ने विद्वानों को उदारतापूर्वक प्रश्रय दिया था। पल्लव तथा चोलवंशीय नरेशों के शिलालेख संस्कृतविद्यालयों तथा महाविद्यालयों की चर्चा से भरे पड़े हैं। उस समय कई एक ब्राह्मण-ग्राम वास्तव में प्रदेशव्यापी संस्कृत विद्यालयों के रूप में बिखरे हुए थे। आज भी मीमांसा तथा अद्वैत शास्त्रों के निष्णात दाक्षिणात्य विद्वानों की बम्बई, बड़ौदा, जयपुर तथा वाराणसी में अत्यधिक माँग है। उस समय छोटे हों या बड़े सभी रजवाड़ों तथा समस्त जमींदारियों में सर्वत्र ही सुव्यवस्थित संस्कृत विद्यालय संस्थापित थे। इन धार्मिक संस्थाओं तथा मठों के अतिरिक्त वेदान्त के तीनों प्रमुख सम्प्रदायों के द्वारा अपने-अपने स्वकीय विद्यालय खोले गये थे। कालक्रम में इन संस्थाओं को शासन तथा विश्वविद्यालयों के द्वारा मान्यता प्राप्त हो गयी। शासन द्वारा इनकी परीक्षाएँ सञ्चालित होने लगीं तथा विश्वविद्यालयों से ये सम्बद्ध हो गये।

(२३) दक्षिण भारत में भी संस्कृतविद्यालयों तथा महाविद्यालयों की शक्ति तथा उनकी लोकप्रियता के ह्रास का इतिहास अन्य प्रदेशों के समान ही कहा जायगा। समय-समय पर इस प्रदेश में भी संस्कृतशिक्षा के पुनःसंघटन तथा उसके पाठ्यक्रम में आधुनिक विषयों के समावेश के उपायों पर विचार चलता रहा। इस प्रश्न से सम्बद्ध समस्याओं का अध्ययन करने के लिए त्रावणकोर तथा मद्रास शासन ने समितियाँ बैठाईं, जिनकी संस्तुति पर संस्कृत पाठशालाओं को प्राच्य हाई स्कूलों के रूप में पुनःसंघटित किया गया। इन संस्कृत के प्रमुख पठन-पाठन के साथ-साथ आधुनिक विषयों की शिक्षा की भी व्यवस्था की गयी। पुनःसंघटन की इस योजना को विलीन त्रावणकोर राज्य ने उत्साहपूर्वक अपनाया। किन्तु इतना होने पर भी कोचीन के महाराज, जो कि स्वयं भी संस्कृत के एक विख्यात विद्वान् हैं, उन्होंने हमसे कहा कि वे अपने त्रिपुनित्तूर के संस्कृत महाविद्यालय में विशुद्ध पारम्परिक प्रणाली से शास्त्रों के विशुद्ध पठन-पाठन को ही चलाना अधिक पसन्द करते हैं। तामिल क्षेत्र ने भी अब तक इस पुनःसंघटित योजना को पूर्णतः नहीं अपनाया है। यहाँ के कुछ पाठशाला प्रबन्धक अब भी प्राचीन प्रणाली के भक्त हैं तथा कुछ की आर्थिक स्थिति इतनी पुष्ट नहीं है कि वे नये संघटन के लिए आवश्यक आरक्षित धन, क्रीडाक्षेत्र इत्यादि की व्यवस्था करके अपनी संस्थाओं को अपेक्षित नया रूप दे सकें। इन पुनःसंघटित प्राच्य हाईस्कूलों से निकले छात्र एस्० एस्० एल्० सी० के समकक्ष माने गये हैं तथा वे इनके समान ही अंग्रेजी हाईस्कूलों या संस्कृत महाविद्यालयों में नौकरी पा सकते हैं। इस नवीन पाठ्यक्रम के लागू हो जाने से संस्कृत विद्यालयों के लिए चलाई गयी ऐन्ट्रेंस परीक्षा अब बन्द कर दी जायगी। मद्रास में उपाधिपरीक्षा को शिरोमणि-परीक्षा कहा जाता है। आंध्र में इसे विद्याप्रवीण की संज्ञा दी गयी है। मैसूर राज्य ने इसका विद्वान् नामकरण किया है तथा त्रावणकोर की उपाधि-परीक्षा महामहोपाध्याय के नाम से प्रसिद्ध है। इन सभी संस्थाओं में प्रोफेसर कुप्पूस्वामी शास्त्री द्वारा बनाया गया पाठ्य-क्रम चलता है। इस पाठ्यक्रम में निर्धारित किये गये

वैकल्पिक विषयों के साधारण अध्ययन तथा विशिष्टीकृत अध्ययन की व्यापकता के बीच यथोचित संतुलन पर विशेष ध्यान दिया गया है। संस्कृतसाहित्य के इतिहास की शिक्षा तथा भाषाविज्ञान का अध्ययन इस पाठ्यक्रम की विशेषताएँ हैं। संस्कृत भारत के एक और रोचक पाठ्यक्रम ने अपनी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। वह है द्विभाषा विद्वान् पाठ्यक्रम। इस पाठ्यक्रम में संस्कृत तथा मातृभाषा के अध्ययन पर समान (सम्प्रधान) या समन्वयात्मक बल दिया गया है।

(२४) हाल ही में संस्कृत पाठशालाओं के सामूहिक ह्रास तथा अधिकारियों की भावनाओं एवं प्रवृत्तियों के कारण मद्रास प्रदेश में पारम्परिक संस्कृतशिक्षा का तीव्रता से पतन हुआ है। नये मद्रास प्रदेश में आज कुल पाँच ही संस्कृत पाठशालाएँ हैं। ये माइलापुरम् (मद्रास), श्रीपेरम्बुदूर, मधुरत्नमकम्, धर्मपुरम्, तथा तिरुवय्यारू में स्थित हैं। इनमें से तीन विद्यालयों का हमने अवलोकन किया तथा दो विद्यालयों ने अपने प्रतिनिधियों को हमारे पास भेजा। थोड़े ही समय पूर्व तक तिरुवय्यारू तथा माइलापुरम् (मद्रास) के संस्कृत महाविद्यालयों ने मद्रास प्रदेश की संस्कृत संस्थाओं तथा संस्कृत विभागों को तथा मद्रास के बाहर भी सबसे अधिक पण्डित दिये हैं। मधुरत्नकम् तथा रामानुजाचार्य की जन्मभूमि पेरुम्बुदूर के महाविद्यालयों में रामानुजवेदान्त के प्रौढ़ अध्ययन की विशेष सुविधाएँ प्राप्त हैं। धर्मपुरम् का महाविद्यालय अभी हाल ही में चलाया गया है। इस महाविद्यालय में संस्कृत तथा तामिल की शिक्षा दी जाती है। राजाकालेज तिरुवय्यरू पहिले विशुद्ध संस्कृत का महाविद्यालय था। किन्तु कुछ दिनों से यहाँ तामिल की भी शिक्षा प्रारम्भ कर दी गयी है। इस कारण इस संस्था में संस्कृत शनैः शनैः पीछे हटती जा रही है। यहाँ के लोगों ने हमारी दृष्टि उन प्रतिकूल चेष्टाओं की ओर आकर्षित किया, जिनके कारण आज के दिन संस्कृतशिक्षा के इस विख्यात केन्द्र में संस्कृत का पठन-पाठन दयनीय परिस्थिति में पड़ा हुआ है। इन महाविद्यालयों में साहित्य, व्याकरण, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, मीमांसा तथा न्याय का पठन-पाठन प्रचलित है। मद्रास में आयुर्वेद के लिए एक पृथक् महाविद्यालय है।

(२५) उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त मदुराई में रामेश्वरम् देवस्थानम् द्वारा सञ्चालित एक संस्कृत विद्यालय कार्य कर रहा है। किसी समय यह महाविद्यालय इस प्रदेश की एक प्रमुख संस्था थी। खेद है कि आज यहाँ की शिरोमणि कक्षा में एक भी छात्र नहीं है तथा केवल विद्वान् कक्षा तक ही तमिल के साथ-साथ साहित्य तथा व्याकरण का पठन-पाठन होता है। अन्नामलायी विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के साथ महाविद्यालय स्तर की पारम्परिक शिक्षा का प्राविधान है। यतः मद्रास के अनेक सेकेण्डरी स्कूलों में संस्कृत का पठन-पाठन समाप्त किया जा रहा है। संस्कृत महाविद्यालयों के छात्रों के लिए सेवा का क्षेत्र भी समाप्तप्राय है। यह एक विलक्षण सी बात है कि संस्कृत तथा तमिल में सम्प्रधान विद्वान् की उपाधि प्राप्त होने पर भी संस्कृत महाविद्यालयों के छात्र प्राच्य प्रशिक्षण में प्रदेश के अधिकारी नहीं माने जाते। हमें यह बताया गया कि जिन संस्कृत विद्यालयों में बीस से कम

छात्रों की संख्या होती है उन विद्यालयों को अपने नियमों के अनुसार शासन कोई भी अनुदान नहीं देता। मद्रास में संस्कृतशिक्षा के पाँच विद्यालय हैं। इन विद्यालयों में प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर का अध्ययनाध्यापन होता है। इनमें से दो को राज्यानुदान प्राप्त होता है। इनमें से एक पुनःसंघटित सेकेण्डरी विद्यालय मुत्तरसनल्लुर तिरुची में स्थित है। इस विद्यालय का हमने निरीक्षण किया। प्रदेशों के वर्तमान पुनःसंघटन के समय में तथा इसके पूर्व भी मद्रास शासन द्वारा संस्कृत शिक्षा पर जो कुछ भी व्यय किया जाता रहा है वह अन्य प्रदेशों की तुलना में अनुपाततः कम ही कहा जायगा। इस समय इस प्रदेश में संस्कृत के पाठशाला-निरीक्षक का कोई पृथक् स्थान नहीं है।

(२६) मद्रास में छ व्यक्तिगत संस्कृत पाठशालाएँ तथा वेदशालाएँ भी चलती हैं। इन वेदपाठशालाओं में वेद के साथ काव्य तथा व्याकरण के भी पाठ होते हैं। तिरुची तथा श्रीरङ्गम् में तथा उसके आस-पास इस प्रकार की बारह पाठशालाएँ हैं। ऐसी अन्य संस्थाएँ चिदम्बरम्, कुम्भकोणम्, तिरुवय्यरू, मन्नरगुड़ी तथा उसके आस-पास के ग्रामों में भी स्थित है। अहोविलम् मठद्वारा मधुरान्तकम् संस्कृत कालेज का सञ्चालन किया जाता है। इस मठ के अन्तर्गत और आठ विद्यालय चलते हैं। कुल मिलाकर इन संस्थाओं में पाँच सौ छात्र हैं। संस्कृत के साथ इन विद्यालयों में कुछ आधुनिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती है। मद्रास प्रदेश में कुछ ऐसो भी संस्कृत पाठशालाएँ हैं जहाँ पुनःसंघटन के अनुसार प्राच्य हाईस्कूलों का संशोधित पाठ्यक्रम चलता तो है, किन्तु सम्बद्ध वैधानिक कठिनाइयों के कारण ये संस्थायें अपने छात्रों को परीक्षा में नहीं भेज पातीं। मद्रास नगर का काकूमणी ए० के० चैरिटी स्कूल इसका एक उदाहरण है। यह एक सुव्यवस्थित संस्था है जहाँ कि ओरिएन्टल हाईस्कूल की योजना का अनुसरण किया जाता है, पर इस योजना के नियमानुसार यतः यह संस्था निरीक्षक द्वारा निर्धारित शर्तों को पूरा नहीं कर सकती, इसके छात्र परीक्षा के लिए स्वीकृत नहीं किये जाते। ऐसी संस्थाओं पर शासन की दृष्टि कोमल होनी चाहिए।

(२७) प्राचीन त्रावणकोर-कोचीन रियासत में कुल मिलाकर सैंतालीस संस्कृत हाईस्कूल और मिडिल स्कूल थे। आज इनकी संख्या घटते-घटते प्रायः बारह ही रह गयी है। प्राचीन काल में त्रिवेन्द्रम्, त्रिपुवित्तूर तथा पट्टाम्बीं के संस्कृत महाविद्यालयों ने अनेक विख्यात विद्वान् उत्पन्न किये। शंकराचार्य की जन्मभूमि कालडी में श्रृंगेरीमठ द्वारा एक पाठशाला का सञ्चालन किया जाता है। यहाँ वेद तथा अद्वैतवेदान्त का पठन-पाठन होता है। कालडी में रामकृष्णमिशन द्वारा भी एक माध्यमिक संस्कृत विद्यालय चलाया जाता है। स्वामी जी की यह योजना है कि अद्वैत तथा दर्शन के अन्य सम्प्रदायों के अध्ययन तथा शोध कार्य के लिए इस स्थान के शंकर कालेज को एक विद्यालय जैसी संस्था का रूप दिया जाय। इन पाठशालाओं में चित्तूर की पाठशाला को चौदह हजार रुपये की वार्षिक आय थी। जिसमें पहले अधिक संख्या में छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे। त्रावणकोर तथा कोचीन के राजदरबार

संस्कृत के लिये उदार आश्रयदाता के रूप में विख्यात थे। इसी प्रकार त्रिवेन्द्रम् तथा त्रिपुनित्तूर के राजदरबार भी उस समय समस्त दक्षिण भारत के पण्डितों के लिये आकर्षण के केन्द्र बने हुए थे। त्रावणकोर राज्य द्वारा व्यवस्थापित महामहोपाध्याय परीक्षा का स्तर सदैव ही उत्तम रहा है।

महाराजा कालेज त्रिपुनित्तूर अपने आठ वर्षों के पाठ्यक्रम की समाप्ति के उपरान्त भूषण परीक्षा लिया करता था। हाल ही में शोध तथा प्रकाशन कार्य के लिए इस संस्था को और अधिक निधि प्राभृत के रूप में समर्पित की गयी है। अब इस संस्था को एक नियमित राजकीय कालेज बना दिया गया है। पट्टाम्बी महाविद्यालय के कालेज विभाग में तीस तथा स्कूल विभाग में एक सौ बारह छात्र हैं। पवरट्टी के साहित्य दीपिका कालेज में तीन सौ से अधिक छात्र अध्ययन करते हैं। यह एक इसाई के द्वारा संचालित संस्था है। केरल संस्कृत कालेज में अत्र संशोधित पाठ्यक्रम लागू कर दिया गया है। देवस्वं विभाग द्वारा यहाँ छात्रवृत्तियों की सुविधा प्रदान की गयी है जिससे कि यहाँ छात्र संख्या में वृद्धि भी देखी जाती है। इस समय त्रिवेन्द्रम् के कालेज में बानवे छात्र हैं। महामहोपाध्याय परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले छात्र इस संस्था की एम्० ए० (संस्कृत) कक्षा में प्रवेश पा सकते हैं। कुछ क्षण के लिए इस दो प्रकार की संस्कृत में एम्० ए० की डिग्री के विषय में कुछ भ्रान्ति हो सकती है। संशोधित एवं पुनःसंघटित पाठ्यक्रम के परिणामस्वरूप स्वयं इस कालेज में भी संस्कृत प्रमाणपत्रीय पाठ्यक्रम के स्थान पर उपाधि पाठ्यक्रम चलाया जा रहा है। इस योजना के अन्तर्गत इस संस्था में विगत तीन वर्षों से संस्कृत बी० ए० की कक्षाएँ चल रही हैं। इस महाविद्यालय के पाठ्यविषयों में साहित्य, अद्वैत, न्याय तथा व्याकरण का पठन-पाठन प्रमुख है। यहाँ बाइस अध्यापक अध्यापन करते हैं। इस महाविद्यालय पर राज्य सरकार प्रतिवर्ष नब्बे हजार रुपये व्यय करती है।

(२८) केरल ही एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ संस्कृत की व्यापकता अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक बढ़-चढ़ कर है। ब्राह्मण, ब्राह्मणेतर समस्त वर्ग, ईजहवाज, थियाज, क्रिश्चियन तथा मुस्लिम सभी के बालक बालिकाएँ संस्कृत पढ़ते हैं। केरल के नम्बूदरी वंश ने वेदों तथा विभिन्न शास्त्रों का, आयुर्वेद तथा ज्योतिष ऐसे प्राविधिक विषयों का एवं गुप्त तंत्र-मंत्र शास्त्र का आज तक संरक्षण किया है तथा अब तक संरक्षण करता आ रहा है।

(२९) आंध्र में पाठशालाओं की संख्या बत्तीस है। इन पाठशालाओं में प्रायः दो हजार छात्र अध्ययन करते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ छब्बीस नवीन प्राच्य हाईस्कूल भी कार्य करते हैं। पुनःसंघटित संस्कृतकालेजों की सख्या बारह है। ये संस्कृत कालेज विजयानगरम्, राजमुंद्री, कोवूर, आकिरिपल्ली, चिट्टिगुडूरू, नेल्लूरू, तथा तिरुपति में स्थित हैं। इन संस्थाओं में विद्याप्रवीण परीक्षा के लिए प्रायः पैंतालीस छात्र अध्ययन करते हैं तथा भाषाप्रवीण परीक्षा की भी तैयारी की जाती है। भाषा-प्रवीण पाठ्यक्रम प्रधानतः तेलगू का पाठ्यक्रम है। किन्तु एक सहगामी विषय के रूप में संस्कृत के पठन-पाठन का भी समावेश इस पाठ्यक्रम में किया गया है।

विजयानगरम् तथा तिरुपति संस्कृतशिक्षा के प्रमुख केन्द्र हैं। एक समय था जब कि इन केन्द्रों में प्रदेश के सुविख्यात विद्वान् अध्यापन किया करते थे तथा छात्रों की संख्या भी बहुल थी। खेद का प्रसंग है कि इस समय इन केन्द्रों में छात्रों की संख्या दयनीय हो चुकी है। विजयानगरम् महाविद्यालयों में छात्रों की संख्या कुल तीस ही रह गयी है। इनमें भी विद्याप्रवीण कक्षा में एक भी छात्र नहीं हैं। हैदराबाद तथा तेलंगाना के सम्मिलित राज्यों में पन्द्रह संस्कृत पाठशालाएँ चलती हैं। इन पाठशालाओं का समन्वयन हैदराबाद संस्कृत कौन्सिल द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त आंध्र प्रदेश में वेदों तथा शास्त्रों के पठन-पाठन की दिशा में अनेक पण्डित परिवार तथा व्यक्तिगत संस्थाएँ भी संलग्न हैं। हमने यह भी अनुभव किया कि इन संस्थाओं में से अधिकांश में सुयोग्य अध्यापकों की कमी है। नवीन आंध्र शासन ने प्राच्य हाई स्कूलों की भी योजना चलाई है। इस योजना के अन्तर्गत इस समय यहाँ ग्यारह विद्यालय कार्य कर रहे हैं। विशेषता यह है कि साधारण हाई स्कूलों को ही प्राच्य हाई स्कूलों के रूपमें बदल दिया गया है। तेलगू के अध्यापक जो कि संस्कृत की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं उन्हें यहाँ विशेष वेतन वृद्धि स्वीकृत की जाती है। देवस्थानम् तथा धार्मिक प्राभूत विभाग द्वारा भी संस्कृतशिक्षा के लिए कुछ अनुदान दिया जाता है तथा मन्दिरों में पाठशालाएँ खोली जा रही हैं। जैसे कि सिंहाचलम्, अन्तवरम् तथा पॉन्नूस में। तिरुपति इस प्रदेश की संस्कृत शिक्षा का प्रमुख केन्द्र है। इस समय यहाँ का संस्कृत-विद्यालय नवस्थापित विश्वविद्यालय के अधीन कार्य कर रहा है।

(३०) मैसूर को रायल-हाउस (Royal House) का लाभ प्राप्त हुआ, जिससे संस्कृत को विस्तृत, प्रबुद्ध एवं उदार संरक्षण मिला। इस प्रदेश में आज अट्ठासी विद्यालय तथा महाविद्यालय कार्य कर रहे हैं। इनमें से चौवालीस विद्यालयों में विशुद्ध वेद की शिक्षा दी जाती है। मैसूर तथा बंगलोर में एक एक संस्कृत-महाविद्यालय हैं। इसके अतिरिक्त सिद्धगंगा, मेल्कोट, तथा उडुपि में भी एक एक व्यक्तिगत संस्था कार्य कर रही है। इन सभी में कुल मिलाकर दो हजार पाँच सौ छात्र अध्ययन कर रहे हैं। संस्कृत शिक्षा पर मैसूर राज्य प्रतिवर्ष दो लाख चौबीस हजार रुपये व्यय करता है। मैसूर की परीक्षाएँ पाँच श्रेणियों में विभक्त हैं—प्रथमा, काव्य, साहित्य, विद्वद्मध्यमा तथा विद्वद् उत्तमा। सम्पूर्ण पाठ्यक्रम तेरह वर्षों का है। वेद तथा आगम की परीक्षा पृथक् ली जाती है। अन्य दक्षिण पाठ्यक्रमों के समान यहाँ केवल शास्त्रों तथा आयुर्वेद का ही पठन-पाठन नहीं होता किन्तु इसके साथ ही साथ ज्योतिष, वेद तथा श्रौत के सभी अंग, धर्म एवं वीरशैवदर्शन, जैनसिद्धान्त, संस्कृतसाहित्य का इतिहास तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान के भी पठन-पाठन की व्यवस्था है। यहाँ सन् १९५६ में संस्कृतपाठशाला पुनः संघटन योजना शासन को प्रस्तुत की गयी। इस योजना के पाठ्यक्रम में संस्कृत के साथ आधुनिक विषयों का समावेश प्रस्तावित है। संस्कृत कालेज मैसूर में तीन सौ बीस छात्र हैं तथा अध्यापकों की संख्या छियालीस है। इनमें से अठारह प्राध्यापक हैं। सिद्धगंगा संस्कृत कालेज के एक बड़े छात्रावास में

सभी छात्रों को निःशुल्क आवास की सुविधा दी गयी है तथा कुछ छात्रों के लिए निःशुल्क भोजन तथा छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था है। यहाँ बीस अध्यापक तथा पाँच सौ पचास छात्र हैं। इस विद्यालय में यद्यपि विद्वत् श्रेणी तक साहित्य, व्याकरण तथा तर्क की शिक्षा दी जाती है, तथापि वीरशैवागम का पठन-पाठन प्रमुख है। यहाँ वेद की शिक्षा भी पृथक् से दी जाती है। मेल्लकोट की वेदवेदान्तवर्धिनी संस्कृत पाठशाला वहाँ के मन्दिर से संलग्न है। यह संस्था सन् १८५३ में स्थापित की गयी थी। यहाँ दस अध्यापक तथा चौरासी छात्र हैं। पाठ्य-विषयों में व्याकरण, साहित्य, विशिष्टाद्वैत, तथा न्याय की शिक्षा का प्राविधान किया गया है। वेद तथा आगम के भी अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था है। उडुपि के द्वैतमठ अपने-अपने प्रधान स्थानों में एक-एक संस्कृत विद्यालय तथा कालेज का सञ्चालन करते हैं। ये संस्थाएँ पहले मद्रास राज्य के विधान के अन्तर्गत कार्य करती थीं। यहाँ प्राच्य हाईस्कूलों की पुनःसंघटित योजना चल रही है। इन स्कूलों तथा कालेजों में कुल मिलाकर तीन सौ छात्र शिक्षा पाते हैं। विभिन्न धार्मिक संस्थाओं के द्वारा मैसूर राज्य में भी अनेक व्यक्तिगत संस्थाएँ चलायी जाती हैं। इनमें से अधिकांश में प्रदेश की संस्कृत परीक्षाओं का ही पाठ्य-क्रम प्रचलित है।

(३१) महाराष्ट्र में एक समय संस्कृत पाठशालाओं की बहुलता थी। पेशवा वंश के राज्यकाल में यहाँ संस्कृत का पठन-पाठन उत्तरोत्तर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर रहा है। एक समय था जब कि पूना नगर अनेक संस्कृत विद्यालयों से विभूषित था। किन्तु खेद है कि उस नगर में आज के दिन संस्कृत छात्रों की संख्या घटते-घटते नगण्य सी हो गयी है। तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना के अन्तर्गत एक संस्कृत महाविद्यालय कार्य करता है। इस महाविद्यालय में आचार्यपर्यन्त पठन-पाठन होता है, तथापि महाराष्ट्र में पारम्परिक संस्कृतशिक्षा की स्थिति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। प्राचीन पारम्परिक प्रणाली से यहाँ एक सौ संस्कृत विद्यालय चल रहे हैं। बम्बई में कोई सरकारी संस्कृत परीक्षा नहीं है। वेदशास्त्रोत्तेजक सभा, तथा तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना तथा भारतीय विद्याभवन बम्बई जैसी कतिपय प्रमुख संस्थाओं को परीक्षाओं को सरकार मान्यता देती है। वर्तमान शिक्षा के प्रारम्भ काल से ही महाराष्ट्र शासन ने अङ्ग्रेजी स्कूलों तथा कालेजों में संस्कृत शिक्षा पर अपना ध्यान केन्द्रित रखा है। इस राज्य में पारम्परिक तथा आधुनिक शिक्षा के बीच किसी प्रकार का विशेष द्वन्द्व नहीं देखा जाता। यही कारण है कि आज महाराष्ट्र प्रदेश में तथा विशेषकर बम्बई के स्कूल कालेजों में संस्कृत का स्तर ऊँचा है तथा प्रदेश के संस्कृतज्ञ शोधकार्य में विशेष रुचि ले रहे हैं। बम्बई के भारतीय विद्याभवन द्वारा एक व्यापक संस्कृत परीक्षा-व्यवस्था सञ्चालित की जाती है। इस परीक्षा-व्यवस्था की पाँच श्रेणियाँ हैं—प्रवेशिका, मध्यमा, शास्त्री, आचार्य तथा वाचस्पति। पाठ्यक्रम दस वर्षों का है। सेकेण्डरी स्कूलों की नवीं कक्षा उत्तीर्ण छात्रों का प्रवेश प्रवेशिका कक्षा में किया

जाता है। भवन के अपने संस्कृत कालेज में तथा मुम्बादेवी संस्कृत महाविद्यालय में यह पाठ्यक्रम प्रचलित है। यहाँ के शिक्षक पंडित तथा प्राध्यापक दो श्रेणियों में विभक्त हैं। इस संस्कृत शिक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत प्राचीन तथा नवीन दोनों प्रकार के पाठ्यक्रमों का समावेश किया गया है। प्राचीन पाठ्यक्रम को चलानेवाली सत्तरह संस्थाएँ तथा नवीन पाठ्यक्रम को अपनाने वाले इकतीस कालेज तथा सत्तरह पाठशालाएँ भारतीय विद्याभवन से सम्बद्ध हैं। नवीन पाठ्यक्रम में आधुनिक विषय भी निर्धारित किये गये हैं। पाठ्य-विषयों में वेदान्त, व्याकरण, साहित्य तथा ज्योतिष का समावेश किया गया है।

(३२) बम्बई प्रदेश के अहमदाबाद ऐसे प्रमुख केन्द्रों में संस्कृत पाठशालाएँ वाराणसी या बृहद् गुजरात संस्कृतपरिषद् की परीक्षाओं के लिए छात्र तैयार करती हैं। सौराष्ट्र विद्वत्-परिषद् द्वारा सौराष्ट्र की संस्कृत पाठशालाओं का नियंत्रण किया जाता है। ये पाठशालाएँ उस क्षेत्र के प्रायः दो हजार छात्रों को विभिन्न संस्कृत परीक्षाओं के लिए प्रतिवर्ष तैयार करती हैं। सौराष्ट्र में दश संस्कृत पाठशालाएँ हैं। प्राचीन सौराष्ट्र-शासन संस्कृत शिक्षा पर प्रतिवर्ष चालीस हजार रुपये व्यय किया करता था। प्राचीन बम्बई प्रदेश में पाठशालाओं की संख्या प्रायः एक सौ पच्चीस थी। इनमें से चालीस राज्य से मान्यता प्राप्त थीं। सन् १९५० में वम्बई शासन ने भी संस्कृतशिक्षा पर विचार करने के लिए एक समिति का आयोजन किया था। अन्य विषयों के साथ-साथ इस समिति ने संस्कृतशिक्षा के संवर्धन, पुनःसंघटन, संस्कृत-पण्डितों के वेतनक्रम की वृद्धि, राज्यानुदान में वृद्धि तथा पाठशालीय छात्रवृत्तियों के प्राविधान के सम्बन्ध में भी अपनी संस्तुति की है। विभिन्न भाषाओं के आधार पर या अन्य किसी आधार पर निर्धारित क्षेत्रों में सर्वसाधनसम्पन्न कम से कम पाँच संस्कृत महाविद्यालयों की स्थापना, इस समिति की संस्तुतियों में सबसे महत्त्वशील संस्तुति है।

(३३) बम्बई नगर, गुजरात तथा राजस्थान में संस्कृत के एक विशेष रूप का अवलोकन करके हम अधिक प्रभावित हुए। वे हैं—जैन-मतावलम्बियों द्वारा संस्थापित जैन-संस्थाएँ। ये संस्थाएँ पाण्डुलिपियों के विशाल भाण्डारों का सञ्चय करती हैं तथा बड़े ही उत्साह से संस्कृत तथा प्राकृतों का अध्ययन समुन्नत करने की दिशा में दत्तचित्त हैं। बम्बई प्रदेश के ये भाग वल्लभसम्प्रदाय द्वारा सञ्चालित संस्थाओं के लिए भी प्रसिद्ध हैं।

(३४) बड़ौदा संस्कृत कालेज, बड़ौदा बम्बई प्रदेश का एक प्रमुख संस्कृत महाविद्यालय है। बड़ौदा के भूतपूर्व महाराजा सयाजीराव ने इस विद्यालय का बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से संवर्धन किया था। श्रावण मास दक्षिणा परीक्षा, जिसके लिए देश के सुदूर भागों के भी छात्र एकत्रित होते थे, संस्कृत महाविद्यालय का सञ्चालन तथा पुरोहित-विधेयक इत्यादि कार्यों के द्वारा बड़ौदा राज्य ने संस्कृत की बहुमूल्य सेवा की है तथा उसे अत्यधिक प्रोत्साहन दिया है। इस समय बड़ौदा

संस्कृत कालेज में ग्यारह अध्यापक तथा अस्सी छात्र हैं। पाठ्यक्रम में वेद, कर्मकाण्ड, पुराण, धर्मशास्त्र, साहित्य, व्याकरण तथा ज्योतिष का समावेश किया गया है। इन विषयों के साथ-साथ यहाँ न्याय तथा वेदान्त का भी पठन-पाठन होता है। समस्त पाठ्यक्रम प्रवेशिका, विशारद, शास्त्री तथा आचार्य इन चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है। वेतनक्रम तथा सेवा प्राप्त करने के लिए ये परीक्षाएँ विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं के समकक्ष मानी जा चुकी हैं। अब इस संस्था पर एम्० एस्० विश्वविद्यालय, बड़ौदा का नियंत्रण है। मैट्रिक्यूलेशन स्तर तक अंगरेजी एक अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ायी जाती है तथा पण्डितों के साथ चार एम्० ए० अध्यापक भी यहाँ कार्य करते हैं।

(३५) वर्तमान मध्यप्रदेश में एक सौ बारह संस्कृत पाठशालाएँ तथा बारह संस्कृत कालेज हैं। प्राचीन मध्यभारत के समस्त राजाओं ने जो जो विद्यालय अपने-अपने राज्यों में खोल रखे थे, वे विद्यालय आज भी विद्यमान हैं। केवल विन्ध्यप्रदेश क्षेत्र ही में बीस पाठशालाएँ कार्य कर रही हैं। राज्यों के विलयन के बाद इन संस्थाओं में प्रचलित निःशुल्क भोजन तथा आवास की व्यवस्था में बहुत गिरावट आ गयी है। प्राचीन मध्यभारत-शासन द्वारा इन पाठशालाओं पर प्रतिवर्ष तीन लाख रुपये व्यय किये जाते थे। मध्यप्रदेश में सस्कृत का कोई पृथक् निरीक्षणालय नहीं है. किन्तु शीघ्र ही यहाँ संस्कृत का भी निरीक्षणालय स्थापित किया जाने वाला है। सम्प्रति एक तदर्थ निरीक्षकवर्ग द्वारा इन विद्यालयों का निरीक्षण किया जाता है। शासन द्वारा भाषा-निदेशक के रूप में एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया गया है। डाक्टर के० एन्० काटजू की अध्यक्षता में मध्यप्रदेश शासन संस्कृत पाठशालाओं के संघटन तथा उनके समुन्नयन की दिशा में प्रस्तुत किये गये अनेक प्रस्तावों पर विचार कर रहा है। सन् १९५५ में संस्कृत संस्थाओं के समुन्नयन के प्रश्न पर सुझाव देने के लिए मध्यप्रदेश शासन ने एक समिति का भी आयोजन किया था। इस सन्दर्भ में मध्यप्रदेश की जनता ने यह निर्णय किया था कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के कुछ अंशों का समावेश करते हुए संस्कृतशिक्षा की पारम्परिक शैली को सुरक्षित रखा जाय। समिति की यह भी संस्तुति है कि प्रथमा, मध्यमा, शास्त्री तथा आचार्य परीक्षाओं के साथ वाचस्पति नाम की आचार्योत्तर शोध उपाधि का भी प्राविधान किया जाना चाहिए।

(३६) राजस्थान शासन की प्रवेशिका, उपाध्याय (दो वर्ष), शास्त्री (दो वर्ष) तथा आचार्य (दो वर्ष) की परीक्षाएँ अपनी राजकीय परीक्षाएँ हैं। इन परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में जैनधर्म, बौद्धधर्म, पौरोहित्य, धर्मशास्त्र तथा पुराणेतिहास के पठन-पाठन की व्यवस्था की गयी है। इस राज्य में पाठशालाओं तथा कालेजों की कुल संख्या एक सौ दस है। अध्यापकों की संख्या पांच सौ बाइस तथा छात्रों की संख्या आठ हजार तीन सौ आठ है। पारम्परिक संस्कृत-पाठशाला निरीक्षक भी नियुक्त किया गया है। केवल बीस पाठशालाओं में ही निःशुल्क भोजन तथा आवास का प्राविधान किया गया है। उत्तरप्रदेश तथा विहार के समान इस प्रदेश में भी

४

सामयिक छात्र अध्ययन करते हैं। ऐसे छात्र न तो अध्ययन में कोई रुचि लेते हैं, न तो परीक्षा तक विद्यालय में उपस्थित ही होते हैं। पहले राजस्थान के नरेशों ने संस्कृत-शिक्षा को पर्याप्त प्रश्रय दिया था। इस कारण ही आज भी यह प्रदेश संस्कृतशिक्षा का प्रमुख केन्द्र बना हुआ है। जयपुर संस्कृत कालेज में नौ अध्यापक तथा दो सौ पचास छात्र हैं। आधुनिक विषयों के अध्यापन के लिए एम्० ए० अध्यापक नियुक्त हैं। इस महाविद्यालय के अध्यापक अंग्रेजी विद्यालयों के प्रोफसरों के समान वेतन प्राप्त करते हैं। हाल ही में राजस्थान शासन ने संस्कृत पाठशालाओं को पुनःसंघटित करने के प्रश्न पर अपने सुझाव देने के लिए एक समिति निर्धारित की है। इस समिति ने अपनी संस्तुतियाँ समर्पित कर दी है, जिन पर शासन विचार भी कर रहा है। पाठ्यक्रम के संशोधन के लिए भी इस समिति ने अपने सुझाव दिए हैं। पाठशालाओं की आर्थिक दशा सन्तोषप्रद न होने के कारण वे आज इस स्थिति में नहीं दिखाई पड़तीं कि नवीन पुनःसंघटन के प्राविधानों के अनुसार वे अपनी व्यवस्था कर सकें।

(३७) हमारे देश की राजधानी दिल्ली में भी पाँच पाठशालाएँ हैं। अभी तक दिल्ली विश्वविद्यालय ने पारम्परिक संस्कृतशिक्षा के समुत्थान की दिशा में कोई प्राविधान नहीं रखा है।

(३८) पंजाब में शिक्षा के अन्य अंगों के समान विभाजन के कारण पारम्परिक संस्कृत-शिक्षा को भी संकट का सामना करना पड़ा है। हम इस बात को कदापि नहीं भुला सकते कि अपनी शिक्षा तथा अपने शैक्षिक जीवन के पुनर्निर्माण के लिए कितने पराक्रम से कमर कसे हुए हैं। संस्कृत को प्रोन्नत करने के लिए पंजाब में अनेक न्यास तथा प्राभूत विद्यमान हैं, किन्तु इनमें अधिकांश या तो निष्क्रिय हैं या तो उनका प्रबन्ध यथोचित ढंग से नहीं किया जा रहा है। एक समय था जब कि अमृतसर संस्कृतशिक्षा के एक प्रमुख केन्द्र के रूप में विख्यात था। यहाँ पाँच हजार छात्र अध्ययन किया करते थे। सन् १९२० में यहाँ दो सौ पचासी संस्कृत पाठशालाएँ थीं, पर खेद है कि आज यहाँ केवल पैंतीस पाठशालाएँ ही बच रही हैं। इनमें से दो राजकीय संस्थाएँ हैं। अभी हाल ही में पंजाब शासन ने अपने प्रदेश की व्यक्तिगत पाठशालाओं पर पचास हजार रुपये व्यय किया है। पंजाब जैसे प्रदेश के लिए, जो कि पारम्परिक संस्कृतशिक्षा का एक समय गढ़ रह चुका है, संस्कृत की यह दयनीय दशा तथा उसके समुत्थान के लिए शासन की चेष्टाएँ, इन दोनों को ही सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। पंजाब के प्रमुख संस्कृत विद्यालयों में निम्नांकित विद्यालय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

कृष्णकिशोर सनातनधर्म संस्कृत कालेज, अम्बाला; एस्० डी० गुरुकुल, जगाधारी; सरस्वती विद्यालय, खन्ना; एस्० डी संस्कृतकालेज, होशियारपुर; एस्० डी० संस्कृत कालेज, जालंधर; गवर्नमेन्ट-संस्कृत-कालेज कपूरथला; हिन्दूसभा संस्कृत कालेज; दुर्गियाना मन्दिर संस्कृत कालेज तथा डूंगरमल संस्कृत कालेज अमृतसर। ये सभी विद्यालय यहाँ के विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हैं। विश्वविद्यालय के

संस्कृत विभाग में भी पारम्परिक पाठ्यक्रम का प्राविधान किया गया है। यहाँ संस्कृत साहित्य के अनेक अंगों का पठन-पाठन होता है, किन्तु शास्त्री परीक्षा से ऊँचे पाठ्यक्रम की व्यवस्था नहीं है। पंजाब के सभी पण्डितों की यह इच्छा है कि शास्त्री से आगे के पाठ्यक्रम तथा इससे उच्चतरीय परीक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। पंजाब शासन ने अभी हाल ही में संस्कृत-शिक्षा के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करके उसके समुत्थान के लिए अपने सुझाव देने के उद्देश्य से एक समिति की नियुक्ति की है। इस समिति ने कतिपय शैक्षिक तथा प्रशासनिक प्रकार के सुधारों तथा व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में अपने सुझाव दिये हैं। हमने यह अनुभव किया कि इस प्रदेश का पण्डितवर्ग पारम्परिक पाठ्यक्रम में आधुनिक विषयों के समावेश का समर्थन करता है।

(३९) हिमाचल प्रदेश में दो संस्कृत कालेज हैं। इन दोनों को मिलाकर समस्त छात्रों की संख्या एक सौ चालीस है। यहाँ की परीक्षाएँ पंजाब विश्वविद्यालय के समान ही हैं। इन कालेजों में प्राइमरी विभाग भी चलते हैं। दोनों संस्कृत कालेजों की सम्मिलित अध्यापक संख्या बारह है। इन कालेजों के अतिरिक्त इस प्रदेश में कुछ ऐसे पण्डित-परिवार भी हैं जिन्होंने पारम्परिक शास्त्र-अध्ययन को सुरक्षित रखा है तथा पाण्डुलिपियों का भी संग्रह किया है।

(४०) इतिहास के प्रारम्भिक तथा मध्यकालीन युग में काश्मीर ने संस्कृत को विकसित करने के क्षेत्र में बहुमूल्य सहयोग दिया है, किन्तु आज उस प्रदेश में संस्कृत का पठन-पाठन पतन के निम्नतम स्तर तक जा पहुँचा है। इस प्रदेश में पिछले सौ वर्षों से प्रचलित संस्कृतशिक्षा के प्रमुख केन्द्र रघुनाथमंदिर, जम्मू का अवश्य निरीक्षण किया। जम्मू में आज विभिन्न शास्त्रों के प्रायः एक सौ विद्वान् विद्यमान हैं। रघुनाथमन्दिर संस्कृत महाविद्यालय, जम्मू में वेदों तथा शास्त्रों की शिक्षा दी जाती है। इस समय यहाँ अस्सी छात्र हैं। इन सभी के लिए निःशुल्क भोजन तथा आवास की व्यवस्था है। पञ्जाब के समान इस प्रदेश में भी चार प्रकार की परीक्षाएँ प्रचलित हैं। इस कालेज का वार्षिक व्यय चालीस हजार रुपया है। पहिले जम्मू में कई एक संस्कृत पाठशालाएँ थीं, किन्तु आज वे सभी बन्द हो गयी हैं। प्राचीन काश्मीर राज्य के धर्मार्थ ट्रस्ट द्वारा रघुनाथमन्दिर संस्कृत कालेज का पोषण होता रहा है। इसी कारण यह कालेज आजतक स्थित है। इस ट्रस्ट के द्वारा श्रीनगर में प्रताप संस्कृत-विद्यालय का भी सञ्चालन किया जाता है। इस संस्कृत विद्यालय के अतिरिक्त श्रीनगर में एक और संस्कृत विद्यालय व्यक्तिगत रूप से चलाया जाता है। एक सार्वजनिक अंग्रेजी स्कूल के साथ उसका राजकीय प्राच्य-विभाग भी कार्य कर रहा है। हमें बताया गया कि ट्रस्ट यह चाहता है कि रघुनाथ संस्कृत कालेज को प्रोन्नत किया जाय। इसके भवन तथा इसके पुस्तकालय में सुधार किया जाय तथा उसमें एक शोध-विभाग भी स्थापित किया जाय। इस कार्य के लिए ट्रस्ट किसी योजना पर विचार भी कर रहा है। काश्मीर जैसा राज्य जहाँ कि एक समय संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य सम्पन्न किये जा चुके हैं, वहाँ के अधिकारियों का परम कर्त्तव्य हो

जाता है कि वे संस्कृत के पठन-पाठन तथा उसे ऊँचा उठाने की दिशा में उदारतापूर्ण नीति अपनावें। यहाँ के सभी संस्कृत विद्यालय हायर सेकेण्डरी स्कूलों में परिणत कर दिये गये हैं।

(४१) हमने यह देखा कि यद्यपि इन पारम्परिक संस्कृत विद्यालयों में कई एक शास्त्रों तथा संस्कृतवाङ्मय के विशेष-विशेष अंगों का पठन-पाठन होता है, तथापि संस्कृत पाठशालाओं के पाठ्यक्रम का यदि हम सर्वांगीण अध्ययन करें तो हमें प्रत्यक्ष होगा कि इस पाठ्यक्रम में कुछ कमियाँ अवश्य ही विद्यमान हैं। कुछ प्राचीन पण्डितों ने हमें यह सूचित किया कि वाराणसी ऐसे विख्यात संस्कृत-शिक्षा के केन्द्र में भी वेद, पूर्वमीमांसा तथा अद्वैत के पठन-पाठन की अपेक्षित व्यवस्था नहीं है। सच पूछा जाय तो पूर्वमीमांसा तो दूर रहा अद्वैत का भी अध्ययन-अध्यापन पूर्वी भारत में ठोस नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार इस क्षेत्र में मीमांसा तथा न्याय के प्रौढ अध्ययन की भी कमी है।

दक्षिणभारत में मीमांसा तथा वेदान्त के तीनों सम्प्रदायों का जिस प्रकार ठोस अध्ययन किया जाता है, उस कोटि का अध्ययन नव्यन्याय का नहीं किया जाता। यद्यपि मैसूर तथा कोचीन की परीक्षाओं में नव्यन्याय का विषय एक विशेष अध्ययन के रूप में निर्धारित है। कुछ भी हो हमने यह देखकर सन्तोष का अनुभव किया कि कोचीन के वर्तमान महाराज स्वयं नव्यन्याय के एक विख्यात आचार्य हैं तथा उसके एक सम्प्रदाय के पठन-पाठन को प्रोत्साहित भी करते हैं। मैसूर को छोड़कर दक्षिण भारत में धर्मशास्त्र, श्रौत तथा वेदों की परीक्षा का कहीं भी कोई प्राविधान नहीं है, किन्तु देश के इस भाग में वेद के लिए कतिपय व्यक्तिगत परीक्षा की व्यवस्था है। हमने यह अनुभव किया कि सर्वत्र ही छात्रवर्ग साहित्य पढ़ने के लिए ही एकत्रित होता है। अधिकारियों को चाहिए कि वे इस प्रवृत्ति को रोकें। उन्हें ऐसी व्यवस्था बनानी चाहिए कि छात्रवर्ग सभी शास्त्रों का कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य प्राप्त करे। उत्तर तथा पूर्व भारत में हमने देखा कि धर्मशास्त्र, पुराणेतिहास, कर्मकाण्ड, पौरोहित्य, बौद्धदर्शन, जैनदर्शन तथा शैवदर्शन का समावेश पाठ्यक्रम में किया गया है, किन्तु इस क्षेत्र में मैसूर को छोड़कर समस्त दक्षिण भारत पिछड़ा ही दिखायी पड़ता है।

(४२) मान्यताप्राप्त विद्यालयों में वेदों के पठन-पाठन की व्यवस्था नितान्त अपर्याप्त है। दक्षिण भारत में केवल मैसूर ही एक ऐसा स्थान है जहाँ कि वेद तथा श्रौत की सरकारी परीक्षा चलती है। यहाँ वेदों का एक सुव्यवस्थित पाठ्यक्रम भी निश्चित किया गया है। वेदों के अध्ययन के अन्तर्गत केवल उनके भाष्यों सहित वेदों के पाठमात्र को ही सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए। इस अध्ययन में कण्ठस्थीकरण का भी समावेश होना अपेक्षित है। जो भी हो यतः कण्ठस्थीकरण पौरोहित्य व्यवसाय से सम्बद्ध है। कुछ स्थानों के विद्यालयों को इस व्यवस्था में कठिनाई का अनुभव हो सकता है, किन्तु जहाँ कभी भी परिस्थिति अनुकूल हो वहाँ वेदों के कण्ठस्थ पाठ की व्यवस्था अवश्य की जानी चाहिए।

(४३) जहाँ कहीं भी हम गये वहाँ हमें इस तथ्य की जिज्ञासा अवश्य रही कि वहाँ पण्डितों की प्राचीन परम्परा किस सीमा तक सजीव है तथा वहाँ विविध शास्त्रों के प्रौढ ज्येष्ठ आचार्य कितने हैं। हमने विशेष रूप से यह जानकारी प्राप्त करनी चाही कि क्या पण्डितवर्ग अब भी भाष्य लिखने में रुचि लेता है या प्रान्तीय तथा प्राकृत भाषाओं में ग्रन्थ लिखने की प्राचीन परम्परा का उसके द्वारा अब भी निर्वाह किया जा रहा है। इस सन्दर्भ में हमें यह जानकर दुःख हुआ कि सामान्यतः प्रौढ पण्डितों की संख्या कोई अधिक नहीं रह गयी है। कुछ प्रदेशों में तो वे उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। हमने देखा कि कुछ पण्डित ऐसे भी हैं जो कि अपने साहित्यिक कार्य में निरन्तर रुचि ले रहे हैं तथा थोड़ी संख्या में कुछ ऐसे विद्वान् भी विद्यमान हैं जो कि आधुनिक शोधकार्य से प्रेरणा प्राप्त करके शास्त्रों पर अथवा अन्यान्य सामान्य दार्शनिक विषयों पर संस्कृत या प्रान्तीय भाषाओं में समालोचनात्मक तथा व्याख्यात्मक निबन्ध लिखते हैं। इस प्रकार के साहित्यिक कार्य व्याकरण तथा साहित्य में भी देखे गये। हमने यह भी देखा कि संस्कृत कविता अब भी प्रेरणा की स्रोत बनी हुई है तथा सर्वत्र ही पण्डितवर्ग श्लोक तथा नाटक की रचना में रुचि ले रहा है। वास्तव में हमारा पण्डितवर्ग परस्पर पत्राचार तथा समस्त प्रचलित भावों के प्रकाशन में संस्कृत का स्वतन्त्रता पूर्वक प्रयोग करने में सन्तोष का अनुभव करता है। यथार्थ में हमसे कुछ ऐसे पण्डितों की भेंट हुई जो संस्कृत के माध्यम से धाराप्रवाह भाषण देने में पूर्ण समर्थ थे।

(४४) हमारे देश के नरेश, भूमिधर, धनीमानी व्यक्ति तथा आचार्य एवं जनपरिषद् समय-समय पर पण्डितसभाओं तथा विद्वद्गोष्ठियों के महत्त्वपूर्ण आयोजन करते रहे हैं। इनके इस प्रकार के आयोजनों से संस्कृत के विद्वानों के पाण्डित्य में केवल संवर्धन ही नहीं हुआ, अपितु इनसे संस्कृत के प्रति उनकी रुचि भी निरन्तर बनी रही। तदतिरिक्त इन आयोजनों से हमारे पण्डितों को जो आर्थिक लाभ हुआ उससे वे पठन-पाठन एवं अध्ययन की दिशा में और भी प्रोत्साहित हुए। विजयादशमी तथा अन्य प्रमुख पर्वों के अवसर पर प्राचीन रजवाड़ों द्वारा प्रतिवर्ष पण्डितसभाओं की व्यवस्था की जाती थी। अब भी मठाधीश तथा साम्प्रदायिक आचार्यगण पण्डितों के इस प्रकार के सम्मेलन का आयोजन किया करते हैं। इसके अतिरिक्त देश के किसी भी भाग का कोई पण्डित जब किसी साम्प्रदायिक आचार्य से भेंट करने आता था तो उससे शास्त्रार्थ करने का या व्याख्यान देने का अनुरोध किया जाता था तथा उसे पुरस्कार या नगद भेंट द्वारा सम्मानित किया जाता था। आज भी कुछ ऐसे व्यक्तिगत प्राभृत विद्यमान हैं जो कि जन्माष्टमी, रामनवमी तथा ऐसे अन्य पर्वों के दिन पण्डितपरिषद् (Pandita Sabhas) का आयोजन किया करते हैं। कुछ मन्दिरों में इसी प्रकार पण्डितों को व्याख्यान के लिए आमंत्रित किया जाता है तथा उन्हें सम्मानित किया जाता है। प्राचीन समय में इन शास्त्रार्थों से संस्कृतवाङ्मय के चिन्तन तथा उसके साहित्य के विकास के प्रति विलक्षण प्रेरणा प्राप्त हुआ करती थी। इस प्रणाली को पुनर्जीवित करने से ही शास्त्रों

के अध्ययन की प्राचीन प्रौढि स्थित रखी जा सकती है तथा उसे हम विकसित भी कर सकते हैं। हाल ही में हमारे शिक्षित मध्यम वर्ग में जो नव-जागरण उत्पन्न हुआ है तथा कतिपय स्थानीय गण्यमान नागरिकों में संस्कृत के प्रति जो रुचि जागृत हुई है उसके फलस्वरूप कुछ स्थानों में रामायण, महाभारत, गीता, उपनिषद्, वेदान्त, धर्मशास्त्र इत्यादि पर व्याख्यानों का एक नियमित संघटन सा बन गया है। इन व्याख्यानों की व्यवस्था या तो जनसाधारण के लिए की जाती है या तो व्यक्तिगत कक्षाओं के रूप में एक चुने हुए वर्ग के लिए इनका आयोजन किया जाता है। गीता तथा वेदान्त के विषयों को व्यक्तिगत रूप में पढ़ाने के लिए कुछ धनी-मानी व्यक्ति पण्डितों की खोज में रहा करते हैं।

(४५) इस समय देश के सभी भागों में संस्कृत अकादमी, संस्कृत-परिषद्, संस्कृत-सम्मेलन, संस्कृत-सभा तथा संस्कृत-गोष्ठियाँ संघटित की जा रही हैं। ये संस्थायें संस्कृत कवियों की जयन्तियों, संस्कृत-विषयों पर व्याख्यानमालाओं, संस्कृत-कक्षाओं, संस्कृत-निबन्ध की प्रतियोगिताओं, संस्कृत वाद-विवादों, मौलिक रचनाओं (लघुकथा, कविता, नाटक), संस्कृत-अन्त्याक्षरी प्रतियोगिताओं तथा संस्कृत नाटकों के मञ्चन का आयोजन करती हैं। इनके द्वारा संस्कृत की सस्ती पुस्तकों का प्रकाशन भी किया जाता है। संस्कृत साहित्य-परिषद्, कलकत्ता, संस्कृत अकादमी मद्रास, भारतीय विद्याभवन बम्बई। संस्कृत-विश्वपरिषद् (जिसकी समस्त भारत में पाँच सौ शाखाएँ हैं), ब्राह्मणसभा, बम्बई (जिसकी एक नाटक-मण्डली भी है); अखिल भारतीय संस्कृत-सम्मेलन, दिल्ली—ये संस्थायें संस्कृत के क्षेत्र में ठोस कार्य कर रही हैं। इन संस्थाओं का विस्तार स्थानीय ही नहीं, किन्तु देशव्यापी है। हाल ही में नागपुर तथा उज्जैन में कालिदास की रचनाओं के अध्ययन तथा उनके प्रचार के लिए समितियाँ बनायी गयी हैं। हमें यह जानकर हर्ष हुआ कि सम्बद्ध प्रदेशों की सरकारें इन समितियों की सहायता भी कर रही हैं। हमें यह बताया गया कि कालिदास परिषद्, उज्जैन के पास डेढ़ लाख रुपयों का सञ्चित कोश भी है। गीता के अध्ययन को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से भी हमारे देश में कुछ संघटन कार्य कर रहे हैं। स्वाध्यायमण्डल, पारडी तथा वेदधर्म-परिपालन संगम कुम्भकोणम् ऐसे संस्थान वैदिक विचारों तथा वैदिक साहित्य को लोकप्रिय बनाने में रुचि ले रहे हैं। आधुनिक हिन्दु आन्दोलनों में आर्यसमाज तथा रामकृष्णमिशन संस्कृत और उसके ज्ञान के प्रति रुचि बढ़ाने की दिशा में उत्तम कार्य कर रहे हैं। कई एक संस्कृत कालेज तथा अङ्ग्रेजी कालेजों के संस्कृत विभागों में संस्कृत-विषयों से सम्बद्ध व्याख्यानमालाओं के आयोजन किये जाते हैं तथा संस्कृत-नाटकों के अभिनय की भी व्यवस्था की जाती है।

(ii) माध्यमिक विद्यालयों में संस्कृत

(४६) हमारे विचार से संस्कृतशिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—सामान्य माध्यमिक विद्यालयों में उसका स्थान, क्योंकि वे ही संस्थाएँ संस्कृत की उच्च शिक्षा

के लिए महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों को छात्र देती हैं। ये विद्यालय ही आधुनिक ढंग से संस्कृताध्ययन के मूल आधार भी हैं। कुछ लोग यह कहते हैं कि संस्कृत-शिक्षासम्बन्धी दो प्रणालियों का पाठशालाओं तथा अंगरेजी विद्यालयों में प्रचलित रहना एक असङ्गत सी बात है। अतः इन दोनों प्रणालियों को एक में मिला देना चाहिए। ऐसा कहने वाले लोगों को चाहिए कि यदि उन्हें संस्कृत की यथार्थ चिन्ता है तो वे भाषा की शिक्षण-व्यवस्था में संस्कृत को उसका यथोचित स्थान दें। किन्तु वास्तव में वे यह नहीं करते। एक समय भूतपूर्व सातों प्रदेशों में संस्कृत एक अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाई जाती थी। कुछ स्थानों पर जहाँ संस्कृत मातृभाषा के विकल्प के रूप में निर्धारित थी, वहाँ भी संस्कृत लेने की एक साधारण प्रवृत्ति व्याप्त थी। आज की शिक्षा-व्यवस्था में मातृभाषा को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। अङ्गरेजी के अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया जाता है तथा राजभाषा होने नाते हिन्दी सीखना अनिवार्य समझा जाता है। इन सब कारणों से समस्या जटिल हो गयी है, क्योंकि भाषाज्ञान का तारतम्य ठीक करने की इन समस्त योजनाओं में संस्कृत को ही सबसे अधिक हानि उठानी पड़ती है। एक पृथक् अध्याय में हम इस प्रश्न पर सविस्तार विचार करेंगे। यहाँ हम उस विषम स्थिति की ओर ही ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे जिससे कि संस्कृत को वास्तव में बाहर निकाला जा रहा है। मातृभाषा, राजभाषा तथा आधुनिक विज्ञान की भाषा—इन तीनों की ओर माता-पिता तथा छात्रों की अधिक रुचि का होना एक स्वाभाविक सी बात है। इसका परिणाम यह हुआ है कि संस्कृत की कक्षाओं में छात्र-संख्या गिरती जा रही है। इस सन्दर्भ में छात्र तथा उनके अभिभावक अत्यन्त सरल तथा स्पष्टतः ग्रहण करने योग्य लाभप्रद मार्ग का ही अनुसरण करते हैं। हम देखते हैं कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के अनन्तर भाषा की स्थिति अस्थिर बनी हुई है। भाषा की नीति में बार बार परिवर्तन किए जा रहे हैं। इन सभी के परिणाम स्वरूप आज हमें भाषा सीखने की दिशा में एक चलायमान परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा है।

(४७) हमने यह देखा कि जिन प्रदेशों में संस्कृतशिक्षा निर्धारित भी की गयी है वहाँ पर भी विद्यालयों में छात्रों की संख्या बराबर घटती ही जा रही है। इस सन्दर्भ में हम देश के विभिन्न विभागों के कुछ उदाहरण देते हैं। देशी रियासतों के पुनः संघटन के पूर्व मैसूर राज्य में चालीस प्रतिशत से अधिक माध्यमिक विद्यालयों में संस्कृत का प्राविधान था। अभी अभी जो आंकड़े हमें प्राप्त हुए हैं उनसे प्रत्यक्ष होता है कि वहाँ ८४०१७ छात्रों में से ६२३० छात्र ही द्वितीय भाषा या वैकल्पिक भाषा के रूप में संस्कृत का अध्ययन कर रहे हैं। हाल ही में एस्० एस्० एल्० सी० परीक्षा समाप्त हुई है। इस परीक्षा में कुल २४७६७ छात्र सम्मिलित हुए थे। इनमें से केवल २२०८ ने ही संस्कृत विषय लिया था। आंध्र प्रदेश में सात सौ हाई स्कूल हैं। इनमें से केवल इक्यानवे स्कूलों में ही संस्कृत की शिक्षा दी जाती है। हमें यह बताया गया कि पंजाब विश्वविद्यालय में १०५००० छात्रों ने मैट्रिकुलेशन परीक्षा में भाग लिया। इनमें से प्रायः दस हजार छात्र ही संस्कृत लेकर परीक्षा में सम्मिलित हुए थे। मद्रास में छात्राभाव के व्याज से संस्कृत के अध्यापक निकाल कर बाहर किये जा रहे हैं।

खेद है कि जो छात्र संस्कृत पढ़ने को इच्छुक भी हैं उनसे कहा जाता है कि किसी अन्य विद्यालय में चले जाओ। इस प्रकार छात्र संस्कृत छोड़ने को बाध्य किये जाते हैं। ऐसी स्थिति में संस्कृत पढ़ने की इच्छा रखने वाले छात्र मातृभाषा ले लिया करते हैं। इतना होने पर भी हमने देखा कि मद्रास के कुछ हाईस्कूलों में संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों की अच्छी संख्या है। इसका कारण है उन स्कूलों की एक विशेष पृष्ठभूमि। ये विद्यालय रामकृष्णमिशन द्वारा चलाये जाते हैं, जो कि एक सांस्कृतिक संस्था द्वारा संचालित विद्यालयों में पचास प्रतिशत छात्र संस्कृत लेते हैं। पर हिन्दु हाईस्कूल त्रिप्लीलेन, जो कि मद्रास की एक प्रमुख संस्था है तथा जिस संस्था में एक समय वहाँ के सत्तर प्रतिशत छात्र संस्कृत लिया करते थे, उस संस्था में ही हमने यह देखा कि निम्न कक्षाओं में केवल तीस प्रतिशत छात्र तथा उच्चकक्षाओं में केवल बीस प्रतिशत छात्र ही अब संस्कृत लेते हैं। मद्रास के एक दूसरे भाग में हाईस्कूल में केवल तीस प्रतिशत छात्र ही संस्कृत पढ़ते हैं। तामिलनाडु के चिदम्बरम् ऐसे भीतरी भाग के हाईस्कूलों में संस्कृत-छात्रों के आंकड़ों का भी हमने जाँच किया जिससे हमें यह प्रत्यक्ष हुआ कि यहाँ १२ से २० प्रतिशत ही छात्र संस्कृत पढ़ते हैं।

(४८) उत्तर भारत की स्थिति जो भी हो भिन्न ही कही जायगी। उत्तर प्रदेश के प्रायः सभी स्कूलों में संस्कृत का प्राविधान किया गया है। बिहार में नवमीं कक्षा तक संस्कृत अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाती है। पश्चिमी बंगाल की स्कूल फाइनल परीक्षा में सन् १९५७ में कुल ७३३७३ छात्र सम्मिलित हुए थे। इनमें से संस्कृत लेने वाले छात्रों की संख्या ५८७३८ थी। कुछ प्रदेशों में जैसे कि मध्यप्रदेश में संस्कृत तृतीय भाषा के रूप में पढ़ाई जाती है तथा मातृभाषा एवं संस्कृत के मिश्रित पाठ्य-क्रम में संस्कृत को अनिवार्य रखा गया है। पूना, बम्बई तथा उसके पास-पड़ोस के स्कूलों में संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों की संख्या विशेष निराशाजनक है। पर संस्कृत के विकल्प में यहाँ अर्धमागधी तथा पाली को भी लिया जा सकता है। यतः अर्धमागधी तथा पाली में उत्तीर्ण होना सरल होता है, अतः अनेक छात्र इनको ही ले लिया करते हैं। जैसा कि हमने अन्यत्र भी कहा है, इस प्रकार की व्यवस्था वाञ्छनीय नहीं है।

(४९) देश के अनेक शिक्षा-निदेशकों तथा शिक्षा के अधिकारियों से भी हमारी भेंट हुई। संस्कृतशिक्षा के सम्बन्ध में जिन प्रश्नों तथा विचारों को उन्होंने हमारे सामने रखा उससे इस शिक्षा की अनिश्चितता ही सिद्ध होती है। इस सन्दर्भ में इस प्रश्न पर गम्भीर विचार अवश्य करना चाहिए कि वास्तव में हमारे देश के बालक-बालिकाओं को संस्कृत पढ़ने की इच्छा है या नहीं? यदि उनकी इच्छा है कि हम संस्कृत पढ़ें तो क्या किसी ऐसे भाषासूत्र को शिक्षा क्षेत्र में लागू करना उचित न होगा जिससे कि हमारे माध्यमिक स्कूलों में संस्कृत का स्थान सुदृढ हो जाय? यदि यह नहीं किया गया तो हमारे विश्वविद्यालयों में संस्कृत की वही स्थिति हो जायगी जो कि आज यूरोप के विश्वविद्यालयों में असीरियायी भाषा-विज्ञान की हो

चुकी है। आज इस भाषा का अध्ययन केवल शोधकार्य के रूप में ही एक पुरातत्त्व की वस्तु के समान इने-गिने विशेषज्ञों तक ही सीमित है। वही दशा संस्कृत की भी हो जाने का भय है। यदि हमने संस्कृत का इस प्रकार का पोषण किया जैसा कि हम इस समय कर रहे हैं तो निश्चित ही हमारी धार्मिक जनता संस्कृत जगत् से बहिष्कृत हो जायगी तथा विगत डेढ़ सौ वर्षों में हमारे आधुनिक विद्यालयों तथा कालेजों ने संस्कृत के प्रचार तथा उसे लोकप्रिय बनाने की दिशा में जो भी श्रेष्ठतम कार्य सम्पन्न किये हैं उन पर पानी फिर जायगा।

(*iii*) महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में संस्कृत

(५०) महाविद्यालयों में संस्कृत का पठन-पाठन दो प्रकार से प्रचलित है—सामान्य तथा विशेष। देश के अधिकांश महाविद्यालयों में प्रायः सर्वत्र ही सामान्य संस्कृत की पढ़ाई होती है। किन्तु इसमें कुछ अपवाद भी हैं। जिस समय हम लोग देश के भ्रमण पर थे उस समय अधिकांश स्थानों पर एक वर्षीय पूर्व विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम के साथ नये त्रिवर्षीय उपाधि पाठ्यक्रम के आधार पर महाविद्यालयों की शिक्षा का पुनःसंघटन चल रहा था। इससे यह देखा जाता है कि देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में संस्कृत के पाठ्यक्रम में एकरूपता नहीं है। अतः इस समय हमारे लिए यह सम्भव नहीं है कि हम पुराने नाम (इन्टरमीडिएट, बी० ए०, एम्० ए०) अथवा नवीन नामों के आधार पर महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों की संस्कृत-शिक्षा का कोई समान विश्लेषण कर सकें। इस पुनःसङ्घटन के समय जब कि विभिन्न महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में संस्कृत की स्थिति भिन्न-भिन्न है, यदि हम किसी प्रकार का विश्लेषण भी करें तो हमारे इस विश्लेषण में एकरूपता नहीं आ सकती। ऐसी स्थिति में इस समय हम केवल संस्कृत के क्षेत्र में व्याप्त प्रवृत्तियों, संस्कृत कक्षाओं में छात्रसंख्या, पाठ्यक्रम के प्रकार, परीक्षाएँ तथा संस्कृत के स्तर का ही सिंहावलोकन कर सकते हैं।

(५१) दक्षिण भारत के विश्वविद्यालयों में त्रिवर्षीय उपाधि पाठ्यक्रम कार्यान्वित किया जा चुका है। इस नयी व्यवस्था में पूर्वविश्वविद्यालयीय कक्षाओं के लिए विभिन्न भाषाओं के सामान्य अध्ययन तथा वैकल्पिक रूप में उनमें विशेष अध्ययन का प्राविधान निर्धारित किया गया है। भाषाओं के अध्ययन की इस व्यवस्था में संस्कृत का भी समावेश किया गया है। इस विशेष पाठ्यक्रम में पारम्परिक रीति से संस्कृत का अध्ययन जैसे कि वह संस्कृत-पाठशालाओं में चलता है, उसे भी स्थान दिया गया है। इस समय मद्रास विश्वविद्यालय के इकतालीस महाविद्यालयों में इन्टरमीडिएट (पूर्व विश्वविद्यालय) तथा बी० ए० में संस्कृत विषय रखा गया है तथा नगर के केवल दो महाविद्यालयों को ही एम्० ए० कक्षाओं में संस्कृत पढ़ाने की मान्यता दी गयी है। केरल के अड़तीस महाविद्यालयों में से केवल आठ ही में संस्कृत की शिक्षा दी जाती है। त्रिवेन्द्रम् के केवल एक ही विश्वविद्यालयीय महाविद्यालय की बी० ए० (आनर्स) तथा एम्० ए० की कक्षाओं में संस्कृत का पठन-पाठन होता है। भाषाओं के अध्ययन सम्बन्धी नीति परिवर्तित हो जाने

के कारण माध्यमिक विद्यालयों में संस्कृत लेने वाले छात्रों की संख्या उत्तरोत्तर घटती ही जा रही है। इसके फलस्वरूप महाविद्यालयों को भी संस्कृत के बहुत कम छात्र मिल पाते हैं। दक्षिण भारत में कुछ समय पूर्व कई नये महाविद्यालय स्थापित किये गये हैं। खेद है कि इनमें से किसी भी महाविद्यालय में संस्कृत के पठन-पाठन का कोई प्राविधान नहीं रखा गया है। हमें यह बताया गया कि कलकत्ता विश्वविद्यालय में नये महाविद्यालय भी अपने यहाँ संस्कृत के पठन-पाठन के लिए बहुधा आवेदन नहीं करते। पंजाब की स्थिति भी अपेक्षाकृत कोई अच्छी नहीं जान पड़ती। राजकीय महाविद्यालय, लुधियाना में चार सौ छात्रों में से केवल साठ ने ही संस्कृत लिया है। लखनऊ में एक महाविद्यालय की बी० ए० कक्षा में संस्कृत के केवल बारह ही छात्र हैं। बम्बई तथा पूना ने संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों की संख्या का अपना उच्च प्रतिशत अब तक सुरक्षित रखा है। उदाहरणार्थं बम्बई विश्वविद्यालय की इन्टर (कला) परीक्षा में सम्मिलित होने वाले छात्रों में प्रायः पचहत्तर प्रतिशत छात्र संस्कृत लेते हैं। बी० ए० की विशेष संस्कृत में छात्रों की संख्या दो सौ बीस है तथा एम्० ए० में मुख्य संस्कृत में बीस छात्र हैं। पश्चिम बंगाल की कला कक्षाओं के प्रायः ४२००० छात्रों में से प्रायः १५००० छात्र संस्कृत लेते हैं। विगत वर्ष यहाँ इन्टर कला परीक्षा में ५६७५ छात्र सम्मिलित हुए थे। इनमें से १५०० छात्रों ने संस्कृत लिया था। बी० ए० में संस्कृत लेने वाले छात्रों की संख्या २८२१ थी। इनमें से संस्कृत में बी० ए० (आनर्स) के सत्तावन छात्र थे। इस वर्ष एम्० ए० (पञ्चम वर्ष) में संस्कृत के पचपन छात्र तथा एम्० ए० अन्तिम वर्ष (षष्ठ वर्ष) में बावन छात्र हैं।

(५२) भारत के कई विश्वविद्यालयों में बी० ए० (आनर्स) या एम्० ए० में संस्कृत के पठन-पाठन का प्राविधान नहीं है। श्रीवेंकटेश्वरविश्वविद्यालय, तिरुपति के जो छात्र एम्० ए० में संस्कृत पढ़ना चाहते हैं, उन्हें अपेक्षित आर्थिक सहायता देकर मद्रास या आन्ध्र प्रदेश के विश्वविद्यालयों में भेजा जाता है। आन्ध्र-प्रदेश में बी० ए० (आनर्स) तथा एम्० ए० में संस्कृत पठन-पाठन अभी हाल ही में प्रारम्भ हुआ है। उत्कल तथा गौहाटी विश्वविद्यालयों को अभी भी संस्कृत की व्यवस्था करनी ही है। गौहाटी विश्वविद्यालय में कुछ संस्कृत के अध्यापकों की नियुक्ति प्रस्तावित है। कुछ विश्वविद्यालयों के विषय-समूह इस प्रकार बैठाए गये हैं कि विज्ञान विषय लेने वाले छात्रों को संस्कृत लेने में आप से आप कठिनाई का सामना करना पड़ता है। नागपुर, गौहाटी तथा पंजाब विश्वविद्यालयों में हमें इस प्रकार की कठिनाई बतायी गयी। जहाँ तक उच्चशिक्षा का प्रश्न है वहाँ तो कम से कम ज्ञान के व्यापक चिन्तन की आशा तो की ही जाती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि देश के प्रत्येक कालेज में संस्कृत तथा भारतीय दर्शन ऐसे मानवीय शास्त्रों के प्रमुख विषयों के पठन-पाठन की व्यवस्था की जाय। यहाँ पर हमें नागपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति न्यायमूर्ति श्री मंगलमूर्ति के शब्दों का स्मरण हो आता है। उन्होंने हमसे कहा कि जब कोई विदेशी हमारे विश्वविद्यालय को देखने आता है

तो वह हमसे यह प्रश्न अवश्य करता है कि आपका दर्शन विभाग कहाँ है ? मैं यह उत्तर देने में सदा दुःखी हो जाता हूँ कि हमारे विश्वविद्यालय में यह विभाग ही नहीं है।

(५३) कुछ विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत भारतीय ज्ञान-विज्ञान विभाग तथा महाविद्यालय भी हैं। नागपुर में अभी हाल ही में इस विषय के एक प्राध्यापक की नियुक्ति की गयी है। कुछ वर्ष पूर्व मैसूर में भारतीय ज्ञान-विज्ञान का एक नया विभाग खोला गया था, किन्तु हमें यह बताया गया कि इस विभाग के सान्निध्य में वहाँ का संस्कृत विभाग अन्धकार में पड़ता जा रहा है। श्रीवेंकटेश्वर महाविद्यालय के सम्बन्ध में हमें यह सूचना प्राप्त हुई है कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान के लिए ही केन्द्रीय शासन इस महाविद्यालय को अनुदान देता है। शुद्ध संस्कृत विभाग के लिए कोई अलग से अनुदान नहीं देता। भारतीय ज्ञान-विज्ञान कई एक विषयों का सुनियोजित समूह मात्र है जिसमें संस्कृत का स्थान गौण रहा करता है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान विभाग के द्वारा संस्कृत विभाग या संस्कृत एम्० ए० के पूरे पाठ्यक्रम के अभाव की पूर्ति कदापि नहीं की जा सकती। अधिक ज्ञानार्जन के उद्देश्य से यदि संस्कृत के एम्० ए० को या इतिहास के एम० ए० को इस सम्मिश्रित पाठ्यक्रम के अध्ययन में प्रोत्साहित किया जाय तो हमारी समझ में यह अधिक वाञ्छनीय होगा।

(५४) हमने यह देखा कि दक्षिण भारतीय विश्वविद्यालयों के बी० ए० आनर्स (संस्कृत) तथा एम्० ए० संस्कृत के पाठ्यक्रम में विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन दो भागों में विभाजित है। छात्र इन दोनों भागों में निर्धारित विषयों को पर्याय से पढ़ता है। ऐसा ही प्राविधान कुछ और भी विश्वविद्यालयों में है। किन्तु विश्वविद्यालयों में शास्त्रीय विषयों का इस समय जो प्राविधान किया गया है उसे सामान्यतः पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। इस कमी की पूर्ति के लिए केवल यही अपेक्षित नहीं है कि शास्त्रीय विषयों की मात्रा में वृद्धि की जाय, पर साथ ही साथ यह भी नितान्त आवश्यक है कि इन शास्त्रों का अध्यापन करने के लिए सुयोग्य पारम्परिक पण्डित भी रखे जायँ। एम्० ए० कक्षाओं को पढ़ाने वाले कतिपय अध्यापकों ने यह असन्तोष प्रकट किया कि पाठ्यक्रम में पुस्तकों का बाहुल्य है। उन्होंने यह सुझाव दिया कि यदि कुछ पुस्तकें कम कर दी जायँ तो थोड़ी पुस्तकों का गम्भीर तथा ठोस अध्ययन सम्भव होगा, जिससे कि उन विषयों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया जा सकेगा। एक और भी बात है जिस पर लोगों ने हमारे समक्ष बार-बार जोर दिया। वह यह है कि उच्चस्तर के जिस ऊपरी निर्माण में हम लगे हैं उसकी आधारशिला तथा उस पर चढ़ने की सीढ़ियाँ पुष्ट नहीं हैं। कहने का अर्थ यह है कि आज हाईस्कूल तथा इण्टरमीडिएट के संस्कृत पाठ्यक्रम के बीच जो दरार हमारी दृष्टि में आती है ठीक उस प्रकार की ही दरार हम बी० ए० (आनर्स) तथा एम्० ए० के संस्कृत पाठ्यक्रमों के बीच देखते हैं। यदि एम्० ए० के किसी छात्र को पूरी-पूरी तथा समुचित सफलता प्राप्त करानी है तो यह अनिवार्य जान पड़ता है कि निम्नस्तर के पाठ्यक्रम को अधिकाधिक पुष्ट बनाया जाय। पाठ्यक्रम में केवल भव्य पुस्तकों के समूह को रख देने मात्र से ही किसी प्रकार का

उपयोगी प्रयोजन सिद्ध होने की कदापि आशा नहीं की जा सकती। अनुभव कहता है कि न तो ये पुस्तकें हाथ में ली जातीं हैं और यदि ये पुस्तकें हाथ में ली भी जाती हैं तो उनका विधिवत् अध्ययन नहीं किया जाता है।

(५५) कहीं कहीं यह प्रयत्न किया जा रहा है कि पारम्परिक पाठशालों के पाठ्यक्रम को उपाधि पाठ्यक्रम का रूप दिया जाय अथवा एम्० ए० पाठ्यक्रम में विशुद्ध शास्त्रीय शाखा का प्राविधान किया जाय। इस प्रकार प्रशंसनीय प्रयत्न की हम अन्यत्र भी चर्चा कर चुके हैं। स्पष्टतः इस व्यवस्था से दो प्रकार के एम्० ए० निकलेंगे। केरल में यह योजना चल भी रही है। यहाँ के (विशेषतः प्राचीन प्रणाली से एम्० ए० उत्तीर्ण) छात्रों ने हमसे निवेदन किया कि इस प्रकार जो दो प्रकार के एम्० ए० हो रहे हैं—एक अनियमित सी बात है। इस प्रथा को समाप्त कर देना चाहिए। हमारी समझ से अन्तरिम व्यवस्था के रूप में दो प्रकार के एम्० ए० की इस प्रथा को उस समय तक चलाते रहना चाहिए जब तक कि सभी विश्वविद्यालयों के एम्० ए० पाठ्यक्रम के इस सम्मिश्रित स्वरूप में शास्त्रीय अध्ययन समुचित रूप में एकदम घुल-मिल न जाय। इस सन्दर्भ में हम एक और बात की भी चर्चा करना चाहेंगे। उत्तर प्रदेश के कुछ विश्वविद्यालयों में, जैसे कि बनारस तथा आगरा विश्व-विद्यालयों में, बिना किसी औपचारिक प्रशिक्षण के आचार्य उत्तीर्ण लोगों को संस्कृत या हिन्दी की एम्० ए० परीक्षा में बैठने की अनुमति दी जाती है। इसी प्रकार मद्रास में शिरोमणि को एम्० ए० होने लिए कुछ छूट दी गयी है। इस व्यवस्था से कुछ ऐसे एम्० ए० निकल रहे हैं जिन्हें अंगरेजी या आधुनिक विचारधाराओं तथा पद्धतियों का अल्प-ज्ञान अथवा कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ करता। इससे उन्हें अपने नाम के साथ एक आडम्बरपूर्ण उपाधि जोड़ने तथा सम्भवतः कुछ और अच्छी नौकरी पाने में सफलता मिल जाती है, जिसे कि वे विशुद्ध शास्त्री उपाधि से नहीं प्राप्त कर सकते। उचित तो यही होगा कि एम्० ए० उपाधि की यथार्थ योग्यता प्राप्त करने के लिए इन एम्० ए० लोगों को वह औपचारिक प्रशिक्षण अवश्य दिया जाय जो कि एम्० ए० के लिए साधारणतः अपेक्षित हुआ करता है।

(५६) कुछ विश्वविद्यालयों में संस्कृत एम्० ए० के पाठ्यक्रम में संस्कृत से सम्बद्ध विभिन्न विषयों के समावेश द्वारा उसका विस्तार किया गया है। ऐसे विषय विशेष अध्ययन के विषय निर्धारित हैं। उदाहरणार्थ पंजाब, कलकत्ता तथा नागपुर विश्वविद्यालयों के एम्० ए० संस्कृत के पाठ्यक्रम में शिलालेख-विद्या का भी समावेश किया गया है। कभी कभी इन विषयों का अध्ययन छात्रों के लिए विशेष आकर्षक सिद्ध होता है। हमारे विचार से एम्० ए० संस्कृत के पाठ्यक्रम में शास्त्री तथा साहित्यिक दोनों ही कोटि के पाठ्यग्रन्थों को यथोचित संख्या में रखा जाना चाहिए। यह व्यवस्था ही इस पाठ्यक्रम का वास्तविक मर्मस्थल बन सकेगी।

(५७) अपने देश में आधुनिक शिक्षा के प्रारम्भिक काल की चर्चा करते हुए ऊपर हम यह कह चुके हैं कि उस समय के पाठ्यक्रम में संस्कृत को अनिवार्य अथवा मातृभाषा के विकल्प के रूप में स्थान दिया था। संस्कृत की यह प्रभावशाली पृष्ठभूमि

आज भी कुछ स्थानों में विद्यमान है। हमने यह देखा कि इस समय मातृभाषा के अध्ययन पर विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। सर्वत्र पाठ्यक्रम के अन्तर्गत मातृभाषा का महत्त्व बनाये रखना ठीक नहीं प्रतीत होता। पश्चिम देशों के किसी भी विश्वविद्यालय में उच्चशिक्षा स्तर पर मातृभाषा के अध्ययन का प्राविधान नहीं है, जब तक कि कोई छात्र उस भाषा का कोई विशेष अध्ययन न करना चाहे। उच्चशिक्षा में मातृभाषा को इस प्रकार महत्त्वशील बना देने से संस्कृत का अध्ययन बाधित होता है। इस प्रकार उच्चशिक्षा से संस्कृत को हटाए जाने के कारण ही हमारे सांस्कृतिक संस्कार ढीले पड़ गये हैं। विभिन्न विश्वविद्यालयों ने अपने छात्रों के सांस्कृतिक उत्थान के लिए कई एक उपायों का समाश्रयण किया है। काशी हिन्दूविश्वविद्यालय कं स्थापना के उद्घोषित उद्देश्यों में से एक उद्देश्य यह भी था कि यहाँ के सभी छात्रों को संस्कृत के आधार पर प्रशिक्षित किया जायगा। फलतः वहाँ के सभी छात्रों के लिए संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य कर दिया गया। लखनऊ विश्वविद्यालय में मानवीय शास्त्रों का अध्ययन करने वाले समस्त छात्रों के लिए संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य रखा गया है। बी० ए० में उत्तीर्ण होने के लिए इस अनिवार्य संस्कृत में उत्तीर्ण होना आवश्यक होता है। हमें यह बताया गया कि एम्० एस्० विश्वविद्यालय बड़ौदा तथा पञ्जाब विश्वविद्यालय में कला के पाठ्यक्रम में प्रवेश पाने के लिए एस्० एस्० एल्० सी० परीक्षा में संस्कृत लेना अनिवार्य कर दिया गया है।

(५८) छात्रों को संस्कृत की ओर अधिक संख्या में आकर्षित करने के लिए उत्तरप्रदेश के कुछ विश्वविद्यालयों ने एक और उपाय किया है। इन विश्वविद्यालयों के जो छात्र प्रान्तीय भाषाएँ लेते हैं उन्हें संस्कृत पढ़ना अनिवार्य कर दिया गया है। पञ्जाब में एम्० ए० स्तर के पञ्जाबी लेने वाले छात्रों के लिए भी संस्कृत या फारसी का एक आधा प्रश्नपत्र नियत किया गया है। उत्तरप्रदेश में हिन्दी एम्० ए० के पाठ्यक्रम में संस्कृत का स्थान और भी अच्छा है। इस पाठ्यक्रम में संस्कृत का एक पूरा प्रश्न पत्र रखा गया है, किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। यतः हिन्दी को अपने भावी विकास के लिए संस्कृत पर बहुत कुछ निर्भर रहना है। हिन्दी एम्० ए० के पाठ्यक्रम में संस्कृत की मात्रा और अधिक प्रभावशाली होनी चाहिए। उड़िया के एम्० ए० पाठ्यक्रम में संस्कृत का एक पृथक् प्रश्नपत्र रखा गया है।

गौहाटी के असमी एम्० ए० के पाठ्यक्रम में संस्कृत का एक प्रश्नपत्र निर्धारित है। बम्बई प्रदेश के विश्वविद्यालयों में प्रान्तीय भाषाओं के किसी पाठ्यक्रम में संस्कृत का कोई अनिवार्य स्थान नहीं है। उसे सम्बद्ध भाषा के रूप में ही लिया जा सकता है। तेलगू, मलयालम तथा कन्नड़ विषयों के बी० ए० तथा एम्० ए० पाठ्यक्रम में भी एक सम्बद्ध भाषा के रूप में संस्कृत का एक पूरा प्रश्नपत्र रखा गया है। मैसूर में तो कन्नड़ के पाठ्यक्रम में संस्कृत के दो प्रश्नपत्रों का प्राविधान है। चाहे भारोपीय मूल की हों चाहे द्राविड़ी मूल की, समस्त भारतीय भाषाएँ संस्कृत की गोद में ही पली हैं। अतः यदि विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सोचा जाय तो यही स्पष्ट

होगा कि जब तक संस्कृत की नींव सुदृढ़ नहीं की जायगी तब तक किसी भी भारतीय भाषा को हम जितना भी पढ़ें हमारा अध्ययन अधूरा ही बना रहेगा।

(५९) प्रान्तीय भाषाओं के समान ही दर्शन का भी संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमें यह देख कर प्रसन्नता हुई कि हमारे अधिकांश विश्वविद्यालयों के दर्शन-पाठ्यक्रम में भारतीय दर्शन केवल साधारण भाग में ही नहीं, अपितु अध्ययन के एक विशेष अङ्ग के रूप में भी निर्धारित किया गया है। इसी प्रकार कई विश्वविद्यालयों में दर्शन के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत वेदान्त, न्याय तथा बौद्ध-दर्शन साधारण तथा विशेष दोनों ही प्रकार के अध्ययन के लिए नियत हैं। यद्यपि प्राचीन भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व तथा शिलालेख विद्या के अध्ययन में संस्कृत विशेष रूप से सहायक सिद्ध होती है, तथापि हमने यह देखा कि हमारे किसी भी विश्वविद्यालय के इतिहास के पाठ्यक्रम में संस्कृत का कोई स्थान नहीं है। विभिन्न विश्वविद्यालयों के संस्कृत एम्० ए० के पाठ्यक्रम को देखने से हमें यह ज्ञात हुआ कि इन पाठ्यक्रमों में निर्धारित संस्कृत भाषा के इतिहास तथा भारोपीय दर्शन के अध्ययन की मात्रा तथा उसका अध्ययन क्षेत्र सभी स्थानों में भिन्न-भिन्न है। दक्षिण भारत के सभी विश्वविद्यालयों में इस विषय के लिए डेढ़ प्रशनपत्र रखे गये हैं।

(६०) विश्वविद्यालयों में संस्कृत का स्वरूप पाठशालाओं की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा है। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम अधिक व्यापक तथा चौड़े आधार के होते हैं। इससे वहाँ जो कुछ भी संस्कृत का अध्ययन होता है उसमें गहराई की कमी देखी जाती है। यद्यपि पाठशालाओं की अपेक्षा कालेजों तथा विश्वविद्यालयों की बी० ए० आनर्स तथा एम्० ए० संस्कृत की कक्षाएँ अधिक उत्साहवर्धक हुआ करती हैं, तथापि हमें यह तो स्वीकार करना ही होगा कि इन संस्थाओं ही में विज्ञान तथा मानवीय-शास्त्रों की अन्य शाखाओं की तुलना में संस्कृत-विभाग तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के विभाग की स्थिति दुःखपूर्ण क्षीण स्थिति का अनुभव कर रहे हैं।

(६१) हमारे अनेक विश्वविद्यालयों के संस्कृत विभागों में मुख्यतः अध्यापन कार्य ही प्रचलित है। समय मिलने पर ही वहाँ के विभागाध्यक्ष या अन्य अध्यापक शोधकार्य हाथ में लेते हैं। कुछ विश्वविद्यालयों में, जैसे कि बम्बई विश्वविद्यालय में, कोई पृथक् संस्कृत विभाग नहीं है। सम्बद्ध कालेजों के शिक्षकों के सहयोग से यहाँ संस्कृत के उच्चस्तरीय पठन-पाठन की व्यवस्था की जाती है। कलकत्ता विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिए पृथक् अध्यापक नियुक्त हैं। इन अध्यापकों के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों की कक्षाओं को स्थानीय कालेजों के संस्कृताध्यापक भी पढ़ाते हैं। आगरा, बिहार, बम्बई, गौहाटी, गुजरात, जम्मू तथा काश्मीर, कर्नाटक, नागपुर, राजस्थान, सागर, श्रीवेंकटेश्वर, उत्कल तथा विक्रम के विश्वविद्यालयों में संस्कृत विभागाध्यक्ष का पद नहीं है। ऐसे स्थानों पर जहाँ विश्वविद्यालयों के अध्यापकों को एम्० ए० का समस्त पाठ्यक्रम पढ़ाना होता है, शोधकार्य की मात्रा कोई अधिक

नहीं हुआ करती; किन्तु पूना तथा कलकत्ता के अध्यापकों ने अपनी प्राचीन शोध-परम्परा को प्रचलित रखा है।

(६२) सफल शोधकार्य की अधिकाधिक उपलब्धियों के लिए मद्रास विश्व-विद्यालय की व्यवस्था विशेष अनुकूल है। यहाँ के संस्कृत-विभाग की अपनी स्वकीय ग्रन्थमाला है, जिसमें अब तक इकतीस ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। अपने प्रारम्भ के दिन से अब तक इस विभाग में पचास शोध-छात्र पंजीकृत किये जा चुके हैं तथा नौ डाक्टरेट एवं एम्० लिट् के शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं। विभाग के अन्तर्गत तीन प्रकार के स्थायी शिक्षक हैं—प्रोफेसर, रीडर तथा प्रवक्ता। विभाग इस समय एक बड़ी योजना का कार्य कर रहा है। वह है—बृहद् नवीन ग्रन्थसूची (न्यू कैटालोगरु कैटालोगोरम्) की योजना। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रोफेसर को अभी हाल ही में पाँच शोध सहायक दिये गये हैं। मद्रास में तीन स्नातकोत्तर उपाधियाँ दी जाती है—एम्० लिट्०, पी-एच्० डी०, तथा डी० लिट्०। इन उपाधियों की परीक्षा में शोधप्रबन्ध, दो लेख, तथा मौखिक परीक्षाओं का प्राविधान है।

(६३) विश्वविद्यालय के प्रोफेसरों द्वारा वास्तविक अध्यापन की अपेक्षा शोध उपाधि के लिए शोध-प्रबन्ध तैयार करने वाले छात्रों का मार्गप्रदर्शन अधिक महत्त्व का कार्य माना जाता है। सभी विश्वविद्यालयों में शोधछात्रों के प्रशिक्षण की सुविधाएँ नहीं प्राप्त हैं। जहाँ कहीं ये उपलब्ध भी हैं वहाँ भी इनका प्राविधान अल्प ही कहा जायगा। त्रावणकोर में शोधकार्य की कोई सुविधा नहीं प्राप्त है। यहाँ के छात्रों को शोधकार्य के लिए बम्बई या पूना जाना होता है। अन्नमलायी विश्व-विद्यालय में शोधकार्य की सुविधाएँ थोड़ी ही हैं।

मैसूर की स्थिति भी कोई भिन्न नहीं है। आंध्र विश्वविद्यालय में अभी हाल ही में शोध छात्रवृत्तियाँ प्रारम्भ की गई हैं। मद्रास में शोधकार्य के प्रथम वर्ष में अस्सी रुपया प्रतिमास तथा द्वितीय वर्ष में एक सौ प्रतिमास की दो छात्रवृत्तियाँ नियमित रूप से प्रतिवर्ष दी जाती हैं। तदतिरिक्त बिना छात्रवृत्ति के भी छात्रों का पञ्जीकरण किया जाता है। मद्रास विश्वविद्यालय में ऊँची धनराशि की सदस्यता-वृत्ति (फैलोशिप्) का भी प्राविधान है, किन्तु इनकी संख्या बहुत ही कम है। विगत कई वर्षों से संस्कृत-विभाग को ये वृत्तियाँ नहीं प्राप्त हुई हैं। बी० ए० तथा एम्० ए० परीक्षाओं में एक निर्धारित प्रतिशत अङ्क प्राप्त करने वाले जो छात्र शोध-कार्य करना चाहते हैं उन्हें पूना विश्वविद्यालय में एक सौ रुपया मासिक कनिष्ठ छात्रवृत्ति दी जाती है। इसी प्रकार इस विश्वविद्यालय में अपने सभी विभागों में या मान्यता प्राप्त शोधसंस्थानों में अपना शोधकार्य प्रचलित रखने वाले छात्रों को दो सौ रुपये मासिक वरिष्ठ शोध-छात्रवृत्ति का भी प्राविधान है। नवयुवक शोध छात्रों को शोध-कार्य में प्रोत्साहित करने की दिशा में जो सुविधाएँ अन्य विश्वविद्यालयों में प्राप्त हैं उन सभी में यह व्यवस्था सर्वाधिक उत्तम प्रतीत होती है। बम्बई विश्वविद्यालय भी कई एक शोध-छात्रवृत्तियाँ देता है। विगत दस वर्षों में यहाँ इस प्रकार की तिरपन छात्रवृत्तियाँ दी जा चुकी हैं। बड़ौदा के एम्० एस्० विश्वविद्यालय में पन्द्रह शोध-छात्र हैं। राजस्थान में तेरह, दिल्ली में छब्बीस, पंजाब में छः, बनारस में

दस, सागर में आठ, नागपुर में दो, उस्मानियाँ में दो तथा आँन्ध्र में एक शोध-छात्र हैं। इलाहाबाद में पचास रुपये की शोध छात्रवृत्ति दी जाती है। यह धनराशि कम है। यहाँ तथा लखनऊ में शोध-छात्रवृत्तियों की संख्या थोड़ी ही है। शोध-कार्य करने के लिए अधिकांश छात्रों को नौकरी भी करनी पड़ती है। कुछ विश्वविद्यालयों में, जैसे कि दिल्ली तथा बनारस में, शोध-छात्रों की एक बड़ी संख्या है, किन्तु एक ही विभागाध्यक्ष से इन सभी के मार्गप्रदर्शन की आशा नहीं की जा सकती है। हमने विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्रचलित शोधकार्य की जाँच की। इससे हमें प्रत्यक्ष हुआ कि बहुधा एक ही विषय की पुनरावृत्ति की जाती है तथा शोधकार्य के लिए जो विषय चुने जाते हैं उनमें से अनेक विषय शोध-प्रबन्ध के योग्य भी नहीं हुआ करते।

(६४) वाराणसी ऐसे सुविख्यात शोध-केन्द्र में शोधकार्य की मात्रा कम ही कही जायगी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत ग्रंथों के सम्पादन तथा प्रकाशन कार्य के लिए अलग-अलग समर्पित निधियाँ हैं तथा इस दिशा में कुछ कार्य प्रारम्भ भी किया जा चुका है। इतना होने पर भी वाराणसी की महत्ता के विचार से तथा इस दृष्टि से कि यहाँ पाण्डुलिपियों की एक बड़ी संख्या विद्यमान है यह समुचित जान पड़ता है कि विश्वविद्यालय अपनी स्वकीय ग्रन्थमाला प्रकाशित करे। इलाहाबाद, आँन्ध्र, बड़ौदा तथा पूना विश्वविद्यालयों की अपनी-अपनी स्वकीय ग्रन्थमालाएँ हैं। विश्वभारती विश्वविद्यालय चीनी तथा तिब्बती में तैयार किये गये ग्रन्थों का प्रकाशन करता है। कुछ वर्ष पूर्व कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'साहित्य विभाग ग्रन्थमाला' तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय की 'अध्ययनमाला' इन संस्थाओं द्वारा किये गये शोधकार्य के प्रकाशन का एक उपयोगी साधन था। उस्मानियाँ विश्वविद्यालय में संस्कृत पाण्डुलिपियों का एक बहुत बड़ा संग्रह है। संस्कृतग्रन्थों के प्रकाशन के लिए यहाँ एक संस्कृत अकादमी की भी स्थापना की गयी है, किन्तु अब तक इस अकादमी के कार्य में कोई प्रगति दृष्टि में नहीं आयी। हमें यह बताया गया कि यहाँ के पाण्डुलिपि-संग्रह के अरबी तथा फारसी सामग्री के लिए केन्द्रीय शासन से अच्छा अनुदान प्राप्त होता है, किन्तु संस्कृत-पाण्डुलिपियों के लिए कुछ भी सहायता नहीं प्राप्त होती। अधिकांश विश्वविद्यालयों की अपनी-अपनी शोध-पत्रिकाएँ तथा वार्षिक लेख पुस्तिकाएँ हैं। मद्रास तथा कुछ अन्य विश्वविद्यालयों में भी इस प्रकार की दो-दो पत्रिकाओं की व्यवस्था है, तथापि विश्वविद्यालयों में आज प्रकाशन-कार्य के लिए जो सुविधाएँ प्राप्त हैं उन्हें पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। अनेक केन्द्रों में शोधप्रबन्ध अब भी अप्रकाशित पड़े हुए हैं।

जिन केन्द्रों में शोधकार्य के लिए पर्याप्त सुविधाएँ नहीं प्राप्त हैं वहाँ के वरिष्ठ तथा कनिष्ठ शोधछात्र बाधित तथा हतोत्साह दिखायी पड़ते हैं। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय तथा बाद में विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग द्वारा शोध-छात्रवृत्तियों की कमी में कुछ सुधार किया गया है। ये दोनों ही कुछ संख्या में छात्रवृत्तियों की व्यवस्था करते हैं। इसी प्रकार विश्वविद्यालयों में पड़े हुए शोध-प्रबन्धों में से छाँटकर महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्धों के प्रकाशन के लिए भी इन दोनों ही स्रोतों के द्वारा अनुदान दिये जाते हैं।

(६५) संस्कृत शोधकार्य के लिए विभिन्न विद्यालयों में जो सुविधाएँ प्राप्त हैं उन सुविधाओं के उपर्युक्त विवेचन से यह प्रत्यक्ष होता है कि अधिकांश विश्वविद्यालयों के संस्कृत विभागों को अध्यापन तथा शोध दोनों ही कार्य करने होते हैं। यद्यपि उनका यह कार्य योग्यता तथा मात्रा दोनों ही दृष्टियों से प्रशंसनीय है. तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि अध्यापकों के ऊपर अध्यापन-कार्य का भारी बोझ विभाग की अनुसन्धान उपलब्धियों पर बहुधा विपरीत प्रभाव डाला करता है। इसलिए यह आवश्यक है कि या तो विभाग के अध्यापकों की संख्या में वृद्धि की जाय या अध्यापकों के अध्यापन का बोझ कुछ कम किया जाय, जिससे कि वे शोधकार्य में अपेक्षित प्रगति ला सकें। यह भी ध्यान देने की बात है कि एक ही निदेशक द्वारा अनेक शोध-प्रबन्धों का निर्देशन सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में शोधकार्य की देख-भाल तथा उसके निर्देशन का कार्य नाममात्र का ही होगा तथा वह सफल भी नहीं हो सकेगा। कुछ विश्वविद्यालयों ने अपने यहाँ के शोधप्रबन्धों की विवरणात्मक सूची हमें दी। इन सूचियों के अवलोकन से यह प्रत्यक्ष होता है कि जिन शोधप्रबन्धों का लेखनकार्य पाँच-छः वर्ष पूर्व या इससे भी पहले प्रारम्भ किया जा चुका है उनमें से अधिकांश अब तक पूरे नहीं किये गये हैं। कुछ विश्वविद्यालय अपने तथा अन्य विश्वविद्यालयों के छात्रों को भी व्यक्तिगत रूप से प्रविष्ट कर लिया करते हैं तथा सुदूर केन्द्रों में भी शोधकार्य करने की अनुमति दे दिया करते हैं। इस प्रथा को पूर्णतः बन्द कर देना चाहिए, क्योंकि ऐसी स्थिति में सम्बद्ध शोध-छात्र को किसी प्रकार के अनुशासन में रखना या किसी निश्चित कार्यक्रम के अनुसार उसे शोधकार्य में सञ्चालित करना निदेशक के लिए असम्भव सा हो जाया करता है। नौकरी के लिए किसी शोधकार्य में पञ्जीकृत हो जाना ही एक विशेष योग्यता हो जाती है। इससे नाम मात्र के पी-एच्० डी० छात्रों की संख्या वास्तविक पी-एच्० डी० छात्रों की अपेक्षा बहुधा अधिक हो जाया करती है। हमें यह बताया गया कि एक ही छात्र एक ही विषय में अपने क्षेत्र से भिन्न दो विश्वविद्यालयों में शोध-कार्य के लिए पञ्जीकृत था। अतः यदि हम वास्तव में स्थिति सुधारने को इच्छुक हैं तो हमें शोधछात्रों के चयन में कठोरता बरतनी पड़ेगी, छात्र-वृत्तियों में वृद्धि करनी होगी तथा शोधकार्य में अध्यापकों द्वारा समुचित निर्देशन की व्यवस्था भी करनी होगी। हम यह जानते हैं कि विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग इस समस्या से भलो-भाँति परिचित है तथा स्नातकोत्तर शोधकार्य के नियमों में तथा उसकी विधियों में कुछ न कुछ समानता अवश्य लागू करना चाहता है।

(६६) कुछ विश्वविद्यालयों में, जैसे कि मद्रास विश्वविद्यालय में, बी० ए० (आनर्स) तथा एम्० ए० के लिए मान्यताप्राप्त विद्यालयों के अध्यापकों को भी व्यक्तिगत रूप से उच्च उपाधियों के लिए शोधकार्य करने की अनुमति दे दी जाती है। ऐसी संस्थाओं में सुसज्जित पुस्तकालय इत्यादि उच्चस्तरीय शोधकार्य के लिए साधारणतः आवश्यक सुविधाएँ सुलभ हुआ करती हैं, इसीलिए उन अध्यापकों को

यह छूट प्रदान की जाती है। इस सन्दर्भ में यह भी आवश्यक है कि दूसरे प्रकार के अध्यापक भी संस्कृत के मौलिक शोधकार्य में रुचि लें। उन्हें यह भी चाहिए कि वे पत्रिकाओं एवं पुस्तकों में निरन्तर प्रकाशित होने वाली शोध-सामग्री से सम्पर्क बनाये रखें। हमने यह देखा कि हमारे बहुसंख्यक अध्यापक पाठ्यक्रम में निर्धारित प्राचीन पुस्तकों के अध्यापनमात्र से सन्तुष्ट रहा करते हैं। इसलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि जिन विश्वविद्यालयों में संस्कृत विभाग है वहाँ के अध्यापकों को किसी न किसी शोध-कार्य में अवश्य प्रोत्सहित किया जाय।

(ii) शोधसंस्थान, पाण्डुलिपि संग्रह तथा अन्य शोध-क्रियाकलाप

(६७) विश्वविद्यालयों के संस्कृत विभागों के अतिरिक्त संस्कृत के शोध-क्षेत्र में अन्य क्रियाकलाप भी विद्यमान हैं। इन क्रियाकलापों की चर्चा करना यहाँ हम आवश्यक समझते हैं। इस क्रम में सर्वप्रथम क्रम आता है प्राचीन रजवाड़ों द्वारा पिछले वर्षों में चलाई गयीं पुस्तकमालाएँ। जम्मू-काश्मीर, श्रीनगर के शोध-विभाग द्वारा एक भव्य पुस्तकमाला प्रकाशित की जाती थी। यदि यह पुस्तकमाला न होती तो सम्भवतः हम काश्मीर शैवदर्शन के विषय में कुछ भी न जान पाते। बनारस संस्कृत कालेज की प्राचीन पण्डित-ग्रन्थमाला उन प्रमुख चेष्टाओं में गण्य है जिनके द्वारा आधुनिक युग में संस्कृत के अध्ययन की नींव डाली गयी। इस ग्रन्थमाला का कार्य प्रिंसेस आफ वेल्स एवं सरस्वती भवन में उपलब्ध मूल रचनाओं एवं आलोचना-ग्रन्थों के आधार पर होता रहा, किन्तु अब यह कार्य नियमित रूप में नहीं चल रहा है। सरस्वतीभवन, वाराणसी में सम्भवतः आज हमारे देश का सबसे बड़ा पाण्डुलिपि-संग्रह है, किन्तु एक लम्बे समय से यह संग्रह एक असन्तोषप्रद स्थिति में पड़ा हुआ है। उसकी अनेक पाण्डुलिपियों की न तो जांच की गयी है न तो उन्हें सूचीबद्ध ही किया गया है। हमें यह बताया गया कि इस विभाग के संवर्धन के लिए स्वीकृति दी जा चुकी है, किन्तु उसका पालन नहीं हो पाया है। इस पुस्तकालय में जो पाण्डुलिपि-संग्रह संरक्षित किया गया है उस समस्त सामग्री के पूर्ण उपयोग के लिए यहाँ कर्मचारियों तथा साज-सज्जा की व्यवस्था भी यथोचित नहीं है।

(६८) प्राच्य-संस्थान बड़ौदा (Oriental Institute Baroda), अब एम्० एस्० विश्वविद्यालय, बड़ौदा के अन्तर्गत कार्य करता है, द्वारा संचालित गायकवाड़ प्राच्य-ग्रन्थमाला (Gaekwad's Oriental Series) द्वारा अब तक एक सौ छब्बीस ग्रन्थों का प्रकाशन किया जा चुका है। कई और ग्रन्थ तैयार भी किये जा रहे हैं। इस प्राच्यसंस्थान में एक बृहत् योजना पर कार्य चल रहा है। वह है "वाल्मीकिरामायण का समालोचनात्मक संस्करण"। बम्बई के शिक्षा-विभाग द्वारा पहले एक संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थमाला का परिचालन किया जाता था। भाण्डारकर प्राच्य शोध-संस्थान, पूना अब इस ग्रन्थमाला का प्रकाशन तथा परिचालन करता

है। बम्बई शासन ने प्राचीन डेक्कन कालेज पूना को एक शोध-संस्थान के रूप में पुनः उज्जीवित किया है। यह संस्था अब पूना विश्वविद्यालय के अन्तर्गत कार्य करती है तथा इसमें एम्० ए० के पठन-पाठन के साथ शोधकार्य भी चलता है। डेक्कन शोध-संस्थान द्वारा एक वैदिक शोध-विभाग का भी सञ्चालन किया जाता है। यहाँ पाण्डुलिपियों के संरक्षण की भी व्यवस्था है। इस समय इस संस्थान में ऐतिहासिक सिद्धान्तों पर एक नवीन शब्दकोश तैयार करने की एक बड़ी योजना का कार्य चल रहा है। यह संस्था दो पत्रिकाओं का प्रकाशन करती है तथा इसमें कई पाण्डित्य-पूर्ण लेख भी प्रकाशित हो चुके हैं। इस संस्थान में एक आदि भारतीय तथा प्राचीन भारतीय इतिहास का विभाग भी कार्य करता है। गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थ-माला (Gaekwads Oriental Series) के समान मैसूर प्राच्य-ग्रन्थमाला (Bibliotheca Sanskrit) तथा त्रिवेन्द्रम् संस्कृत-ग्रन्थमाला से भी संस्कृत-साहित्य के विभिन्न अंगों से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं। ग्रन्थमाला निकालने वाले राजकीय पाण्डुलिपि-संग्रहालयों ने कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया है। मद्रास राज्य प्राच्य पाण्डुलिपि-संग्रहालय तथा सिंधिया प्राच्य संस्थान, उज्जैन इस प्रकार के संग्रहालय हैं। जयपुर में राजस्थान शासन ने भी एक राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर की स्थापना की है। इस संस्थान में एक पाण्डुलिपि-संग्रह है तथा यहाँ से अब तक तीस संस्कृत ग्रन्थों का प्रकाशन भी हो चुका है। यह ज्ञातव्य है कि इन पाण्डुलिपि पुस्तकालयों में संचालन, निर्देशन तथा सम्पादन सम्बन्धी जो सुविधाएँ प्राप्त हैं उनमें बहुत कुछ सुधार करना अभी बाकी ही है।

(६९) इन प्रदेशों में से इस समय बिहार में यह निश्चय किया गया है कि वहाँ कम से कम तीन शोध-केन्द्रों के संस्थापन द्वारा संस्कृत तथा सम्बद्ध शोधकार्यों को समुन्नत किया जाय। इस निर्णय के अनुसार संस्कृत के विख्यात केन्द्र दरभंगा में संस्कृत का अध्ययन करने के लिए मिथिला संस्थान, प्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र नालन्दा में पाली तथा बौद्ध अध्ययन-संस्थान तथा जैन केन्द्र वैशाली में जैन अध्ययन-संस्थान स्थापित किये जा चुके हैं। इनमें से मिथिला के संस्थान ने अपने पाण्डुलिपि-संग्रह तथा संस्कृत-ग्रन्थमाला के प्रकाशनकार्य से एक अच्छे शुभारम्भ का परिचय दिया है।

(७०) ब्रिटिश सरकार ने जब आधुनिक शिक्षा का प्रारम्भ किया तथा उसने भारतीय-विश्वविद्यालयों की नींव डाली, उस समय उन्होंने शोधकार्य के लिये कोई भी प्राविधान नहीं रखा। शोधकार्य के हमारे मार्गदर्शक हैं पाश्चात्त्य तथा भारतीय विद्वान् और हमारे व्यक्तिगत प्रयासों द्वारा संस्थापित संघ जिनकी चर्चा हम विगत अध्याय में कर चुके हैं। इन सभी संघों में एसियाटिक सोसाइटी कलकत्ता (Asiatic Society Calcutta) सबसे प्राचीन संस्था है। इस संस्थान में पाण्डुलिपियों का एक विशाल संग्रह है। भारतीय संग्रहालय (Indian Museum) ने अपने एक बृहत् संग्रह को भी इस संस्था को हस्तान्तरित कर दिया है। इस संस्थान ने संस्कृतग्रन्थमाला (Bibliotheca Indica) का सर्वप्रथम प्रकाशन

किया है तथा अपनी पत्रिका के माध्यम से इसने प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी शोधकार्य की मौलिक सेवा की है। संस्थान (Society) से विभिन्न क्रिया-कलाप अब तक चल रहे हैं। यदि अधिक धन प्राप्त होता तो इस संस्था को अपनी पाण्डुलिपियों की सूची शीघ्र प्रकाशित करने के कार्य में तथा अपने ग्रन्थमाला के प्रकाशन-कार्य को अधिक शान्तिपूर्वक पुनः प्रारम्भ करने की व्यवस्था में अवश्य बल प्राप्त हो जाता। एसियाटिक सोसाइटी के अतिरिक्त कलकत्ता में संस्कृत साहित्य-परिषद् तथा बंगीय साहित्य-परिषद् भी कार्य कर रही हैं। ये संस्थाएँ अपनी-अपनी ग्रन्थमालाएँ भी प्रकाशित करती हैं तथा इनके पास अपने पाण्डुलिपि-संग्रह भी हैं। इनमें से संस्कृत साहित्य-परिषद् को एक नया पाण्डुलिपि-संग्रह भी प्राप्त हुआ है। कहना न होगा कि समुचित स्थान की कमी के कारण इस संग्रह को उपयुक्त ढंग से स्थान देने में कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। भारतीय ऐतिहासिक त्रैमासिक (Indian Historical Quarterly) पत्रिका की चर्चा के बिना संस्कृत के अध्ययन-क्षेत्र में कलकत्ता के अंशदान का विवरण अधूरा ही रह जायगा। विगत तीन दशकों तथा इससे भी अधिक समय से इस पत्रिका ने मौलिक कार्य को प्रोत्साहित किया है। आसाम में कामरूप शोध-संस्थान के पास भी पाण्डुलिपियों तथा शिलालेखों के संग्रह हैं। इस संस्था से एक पत्रिका भी प्रकाशित होती है। गौहाटी से बाहर नलबाड़ी के संस्कृत कालेज को तथा संस्कृत संजीवनी सभा को पाण्डुलिपि-संग्रह के लिए राज्यानुदान प्राप्त होता है। गौहाटी में असम सरकार एक इतिहास तथा पुरातत्त्व विभाग (१९२८ में संस्थापित) का भी सञ्चालन करती है। इस विभाग में प्राचीनकाल के अवशेषों तथा पाण्डुलिपियों का एक बहुमूल्य संग्रह भी है।

(७१) पटना बहुत समय से शोधकार्य का एक प्रमुख केन्द्र रह चुका है। स्व० के० पी० जायसवाल के सञ्चालन में बिहार तथा उड़ीसा (अब केवल बिहार) शोध-संस्थान तथा इसकी पत्रिका ने प्रशंसनीय कार्य किये हैं। अतः इस सोसाइटी के नाम के साथ उस विद्वान् का नाम जोड़ कर बिहार सरकार ने एक सर्वथा उचित कार्य किया है। पण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा तिब्बत तथा नेपाल में संचित समस्त बौद्ध लेख इस शोध-संस्थान में संगृहीत हैं। इन हस्तलेखों के समालोचनात्मक संस्करण निकालने के उत्साहपूर्ण प्रयत्न किये जा रहे हैं तथा कुछ पुस्तकें छप भी गयी हैं। इस संस्थान को बिहार सरकार प्रतिवर्ष पचीस हजार रुपये का राज्यानुदान देती है। केन्द्रीय शासन से भी इसे पाण्डुलिपियों को खरीदने के लिए प्रतिवर्ष पन्द्रह हजार रुपये प्राप्त होते हैं।

मिथिला संस्थान के अतिरिक्त दरभंगा में एक राज्य पुस्तकालय भी स्थित है। इस पुस्तकालय में पाण्डुलिपियों का एक बहुमूल्य संग्रह है। हमें यह बताया गया कि मधुवनी के सर चन्द्रशेखर सिंह ने विगत पचीस वर्षों में प्राचीन अवशेषों का

जो संग्रह किया था उसे बिहार सरकार को उसके माध्यम से एक शोध-केन्द्र खोलने के लिए उन्होंने दे दिया है। इन अवशेषों का मूल्य लगभग एक लाख रुपया है।

(७२) वाराणसी में हिन्दू विश्वविद्यालय, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय तथा सरस्वतीभवन इसके अतिरिक्त हैं। चौखम्बा तथा मोतीलाल बनारसीदास संस्कृतप्रकाशन ग्रन्थमालाएँ भी हैं। इन ग्रन्थमालाओं तथा छोटी-छोटी अन्य ग्रन्थमालाओं के माध्यम से संस्कृत के पण्डितों एवं विद्वानों को संस्कृत तथा सम्बद्ध विषयों की अपनी रचनाओं के प्रकाशन में सहायता प्राप्त होती है। व्यक्तिगत संघटनों द्वारा सञ्चालित शोधसंस्थानों में जैनन्यास (Foundations), भारतीय ज्ञानपीठ तथा पार्श्वनाथ विद्याश्रम के नाम उल्लेखनीय हैं। ये संस्थान अपने-अपने ग्रन्थों तथा ग्रन्थावलियों का प्रकाशन करते हैं। पार्श्वनाथ विद्याश्रम ने जैन-साहित्य के इतिहास की रचना का कार्यक्रम बनाया है।

(७३) गंगानाथ झा शोध-संस्थान, इलाहाबाद भी एक प्रमुख गैर-सरकारी शोधकेन्द्र है। इसका अपना भवन है तथा यहाँ चार हजार पाँच सौ से अधिक पाण्डुलिपियों का भी संग्रह किया गया है। इस संस्थान से एक पत्रिका भी प्रकाशित होती है। शोध-छात्रवृत्तियों की भी कुछ व्यवस्था है। आधुनिक युग में उत्तर प्रदेश तथा बिहार के एक विशिष्ट विद्वान् के नाम तथा उसकी कृतियों के स्मारक के रूप में यह संस्थान स्थापित किया गया है, किन्तु इस संस्थान के प्रति जनता तथा सरकार का जैसा ध्यान होना चाहिए वह दृष्टिगत नहीं होता। इसके अतिरिक्त इलाहाबाद में नगरपालिका संग्रहालय (Municipal Museum) नामक एक और संस्था उल्लेखनीय है यहाँ भी हस्तलेखों का एक बड़ा संग्रह है।

स्वामी वनमहाराज ने मथुरा में वैष्णव तथा अन्य दर्शनों के अध्ययन के लिए एक संस्था की स्थापना की है। इस संस्था में स्वामी जी ने दक्षिण के कुछ योग्य विद्वानों तथा कुछ छात्रों का संग्रह किया है। वे संस्कृत में दो छात्र-वृत्तियाँ भी देते हैं। दार्शनिक अध्ययन के लिए यहाँ एक विश्वविद्यालय या उस कोटि की कोई उच्चस्तरीय संस्था खोलने की योजना स्वामी जी के मन में है। हमारा सुझाव है कि अपनी निजी उपाधियों की व्यवस्था करने के स्थान में इस संस्था को एक शोध-संस्थान के रूप में यदि विकसित किया जाय तो और भी अच्छा होगा। ऐसा हो जाने पर इस शोध-संस्थान को आगरा अथवा हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कराया जा सकता है। राजस्थान में जयपुर और बीकानेर के राजमहलों में संस्कृत पाण्डुलिपियों के अच्छे संग्रह विद्यमान हैं। दुर्भाग्यवश इन संग्रहों तक जनता नहीं जा सकती। इस प्रकार संस्कृत के विद्वानों को इन हस्तलेखों तक न पहुँचने देना महल के अधिकारियों के लिए उचित नहीं प्रतीत होता। राजस्थान विश्वविद्यालय, उदयपुर में भी एक शोध-विभाग है जो कि लोकगीत, विरहगीत, पाण्डुलिपि इत्यादि का संग्रह करता है। शार्दूल राजस्थानी शोधसंस्थान बीकानेर भी ऐसा ही कार्य करता है।

(७४) विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान होशियारपुर (पंजाब) तथा उससे सम्बद्ध डी० ए० वी० कालेज लाहौर, पश्चिमोत्तर भारत का व्यक्तिगत रूप से संघटित एक प्रमुख शोध-संस्थान है। इसके पुस्तकालय में लगभग २२५०० मुद्रित पुस्तकें तथा ७५०० पाण्डुलिपियाँ हैं, जिनमें से प्रायः १५०० दक्षिण भारतीय लिपि में लिखी हुई हैं। यह संस्था वैदिक भाषा-विज्ञान शोध-विभाग के माध्यम से उसके परिसर में धीरे-धीरे विकसित हुई है। सन् १९२४ से यह संस्थान अपने वैदिक शब्दकोश की योजना में लगा हुआ है। यह शब्दकोश छत्तीस जिल्दों में प्रकाशित होगा। इस योजना के दो प्रमुख खण्ड हैं। प्रथम इक्कीस जिल्दों की 'वैदिक शब्द साम्ययुक्त व्याकरण विषयक शब्द अनुक्रमणिका' तथा दूसरी पन्द्रह जिल्दों का 'वैदिक शब्दकोश'। इस संस्थान के पाण्डुलिपि संग्रह, संरक्षण तथा प्रकाशन विभाग के द्वारा इस समय बीस ग्रन्थों के प्रकाशन की एक नवीन योजना का श्रीगणेश हो चुका है। जिसके अन्तर्गत निम्नांकित प्रकाशनों का समावेश किया गया है :—

(१) संस्थान में संगृहीत पाण्डुलिपियों की सरणीबद्ध (Tabular) सूची तैयार करना।

(२) इन ग्रन्थों के समालोचनात्मक संस्करण तैयार करना। इसके अन्तर्गत अधोलिखित प्रकाशन आते हैं :—

(अ) ऋग्वेद के अप्रकाशित भाष्य।

(ब) अथर्ववेद का सायण-भाष्य।

(स) देवराज-यज्व का निघण्टु-निर्वचन।

(द) कल्हण की राजतरंगिणी इत्यादि।

संस्कृत के पठन-पाठन के सांस्कृतिक स्वरूप को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से इस संस्थान का सांस्कृतिक विभाग 'विश्वज्योति' नाम की मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी करता है। इस विभाग द्वारा पंजाबी रामायण, ब्रह्मविद्या, तथा भारतीय संस्कृति का इतिहास ऐसे विशेष महत्त्व के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये जा चुके हैं। दो कुशल तथा अनुभवी विद्वानों के मार्ग-प्रदर्शन में यहाँ विगत वर्षों में इतिहास, दर्शन तथा धर्म विभागों का संस्थापन किया गया है। स्नातकोत्तर शोध-प्रबन्ध लिखने के लिए पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा इस संस्था को निदेशन-केन्द्र की मान्यता दी गयी है। तथ्यों को देखते हुए यह उचित प्रतीत होता है कि इस संस्थान में एक स्नातकोत्तर तथा एक उत्तरशास्त्री अध्यापन विभाग भी खोले जायँ। इस संस्थान को पंजाब विश्वविद्यालय, केन्द्रीय शासन, पञ्जाब शासन एवं अन्य सरकारों से भी अनुदान प्राप्त होता है। संस्था के भारी व्ययभार की दृष्टि से इस संस्था को जो सहायताएँ शासन द्वारा प्राप्त होती हैं उनकी समस्त धनराशि भी पर्याप्त नहीं कही जा सकती।

(७५) उज्जैन के नवस्थापित विश्वविद्यालय से यह आशा की जाती है कि वह अपने यहाँ मानवीयशास्त्र तथा संस्कृत के अध्ययन पर विशेष बल देगा। इन सभी का वास्तव में उज्जैन से घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। हमारा यह सुझाव है कि

विश्वविद्यालय के संस्कृत तथा भारतीय ज्ञान-विज्ञान विभाग को, सिंधिया प्राच्य संस्थान को तथा इस प्रकार के संस्कृत-विषयक अन्य विविध क्रिया-कलापों को विक्रम-कीर्ति मन्दिर, उज्जैन, जिसकी निधि साढ़े सात लाख रुपया है, अधीन कर दिया जाना चाहिए। संस्कृत तथा भारतीय विज्ञान के क्षेत्रों में गुजरात विद्या सभा, बी० जे० संस्थान अहमदाबाद नवस्थापित गुजरात विश्वविद्यालय की प्रमुख शोध-संस्थाएँ हैं। इस संस्था को तो स्नातकोत्तर छात्रों के शोधकार्य-निर्देशन की मान्यता प्राप्त है। यहाँ पाण्डुलिपियों का एक बृहत् संग्रह है। इस समय यहाँ भागवत पुराण के आलोचनात्मक संस्करण के प्रकाशन की योजना चल रही है। किन्तु प्रत्येक दशा में सभा तथा संस्थान दोनों के कार्य-निर्वाह के लिए यहाँ स्थान की नितान्त कमी है। यह आशा की जाती है कि बहुमूल्य सामग्री से सुसज्जित भारतीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में गुजरात के इस प्रमुख शोध-केन्द्र को गतिशील बनाने के लिए और अधिक सुविधाएँ उपलब्ध करायी जायँगी। अपने शोध आयोजनों को एक समुचित ढंग से पूरा करने के लिए इस संस्थान को और अधिक कर्मचारियों की आवश्यकता है। अहमदाबाद जैन मठों या उपाश्रमों से भरा पड़ा है। यहाँ श्रीमुनि पुण्यविजय जी (जो कि विद्वानों की सहायता करने को सदा तत्पर रहा करते हैं) तथा अन्य जैन सन्तों के पास पाण्डुलिपियों का विशाल संग्रह है।

(७६) स्नातकोत्तर पठन पाठन तथा शोधकार्य को समन्वित तथा केन्द्रित करने के लिए बम्बई विश्वविद्यालय में न तो विभागाध्यक्ष का पद है न तो संस्कृत विभाग को चलाने के लिए अपनी कोई व्यवस्था ही है। विश्वविद्यालय के शताब्दी समारोह के अवसर पर कई अनुभवी व्यक्तियों ने यह प्रस्ताव रखा था कि इस विश्वविद्यालय में एक पृथक् विभाग तथा भारतीय संस्कृति एवं इतिहास विभाग की स्थापना की जानी चाहिए। हमें यह बताया गया कि विश्वविद्यालय के अधिकारी इस सुझाव के अनुकूल नहीं थे। उन्होंने यह विचार प्रकट किया कि जब बम्बई तथा उसके आस-पास अन्य केन्द्रों में भी शोध-संस्थान निपुणतापूर्वक चलाये जा रहे हैं तथा वहाँ स्नातकोत्तर शोधकार्य भी भलीभाँति प्रगति पर है तो बम्बई विश्व-विद्यालय में इन व्यवस्थाओं की आवश्यकता ही क्या है? विश्वविद्यालय इन संस्थानों को तो अनुदान देता ही है तथा भविष्य में भी देता रहेगा। इस अनुदान-योजना के अन्तर्गत महाभारत के आलोचनात्मक संस्करण के लिए बम्बई विश्व-विद्यालय ने भाण्डारकर-शोध संस्थान, पूना को एक लाख रुपयों का अनुदान दिया तथा डेक्कन कालेज पूना को भी नवीन शब्दकोश को प्रकाशित करने के लिए बारह हजार की सहायता दी। स्नातकोत्तर पठन-पाठन तथा शोधकार्य के लिए यह विश्व-विद्यालय अपने सम्बद्ध महाविद्यालयों के कतिपय अध्यापकों को भी मान्यता प्रदान करता है। इसी प्रकार पी-एच्० डी० तथा डी० लिट्० की उपाधि के लिए शोधकार्य करने वाले स्नातकों के लिए छात्रवृत्तियों तथा सहायक वृत्तियों (फेलोशिप्) भी स्वीकृत करता है।

(७७) वर्तमान समय में बम्बई के जो केन्द्र संस्कृत तथा भारतीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में सक्रियतापूर्वक कार्य कर रहे हैं उनमें से एसियाटिक सोसाइटी,

सेन्ट एग्जीवियर्स कालेज की ऐतिहासिक शोधसमिति तथा भारतीय विद्या-भवन प्रमुख हैं। एसियाटिक सोसाइटी के पास एक मूल्यवान् पुस्तकालय तथा पाण्डुलिपियों का संग्रह भी है। यह सोसाइटी पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यानों की व्यवस्था करती है तथा प्रख्यात शोधकार्य के लिए विद्वानों को सम्मानित भी करती है। यहाँ से एक पत्रिका भी प्रकाशित होती है जिसके द्वारा इस प्रदेश में शोधकार्य के समुन्नयन क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी जा चुकी है।

(७८) दो शतकों से यह संस्था अत्यन्त सक्रियतापूर्वक कार्य कर रही है। इस संस्था का स्नातकोत्तर तथा शोध-अध्ययन केन्द्र, मूंगालाल गोयनका संशोधन मन्दिर, बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा संस्कृत, प्राकृत, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान तथा भारतीय संस्कृति में स्नातकोत्तर स्तर तक मान्यता प्राप्त है। यहाँ विश्वविद्यालय की डाक्टरेट उपाधि के लिए निर्देशन कार्य का भी प्राविधान है। भवन प्रायः दस छात्रों को पचहत्तर तथा एक सौ रुपये प्रतिमास छात्रवृत्ति प्रदान करता है। इस समय यहाँ एम्० ए० तथा पी-एच्० डी० के छात्रों की संख्या सबसे अधिक है। इस संस्था में मुद्रित पुस्तकों तथा पाण्डुलिपियों का एक बहुमूल्य पुस्तकालय भी है। भवन के प्रकाशनों में मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित विख्यात सिंघी-जैन-ग्रन्थमाला का प्रमुख स्थान है। इस ग्रन्थमाला में अब तक संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थों एवं अध्ययनों की तीस समृद्ध जिल्दें प्रकाशित की जा चुकी हैं। तदतिरिक्त यहाँ से भारतीय विद्या ग्रन्थमाला तथा भारतीय विद्या शोधपत्रिका का भी प्रकाशन होता है। भवन की योजनाओं में सर्वप्रमुख योजना है दस जिल्दों में (10 volumes) भारतीयों का इतिहास तथा उनकी संस्कृति (History and Culture of the Indian People) नामक ग्रन्थों का प्रकाशन होने वाला है। हमने देखा कि भवन का यह कार्य शीघ्रता पर ध्यान देते हुए सफलतापूर्वक सम्पन्न किया जा रहा है। सत्तर विद्वानों के सहयोग से इस ग्रन्थ के पाँच जिल्द प्रकाशित किये जा चुके हैं। भारतीय विद्याभवन की शाखाएँ अब दिल्ली, कानपुर तथा इलाहाबाद में भी स्थापित हो चुकी हैं।

(७९) जो भी हो, हमें यह अवश्य ही स्मरण रखना चाहिए कि इन संस्थाओं के अतिरिक्त शोध-क्षेत्र में विगत दस शतकों में बम्बई की ख्याति महामहोपाध्याय डाक्टर पी० वी० काणे, तथा डाक्टर एच्० डी० वेलणकर द्वारा सम्पादित शोधकार्य की मात्रा तथा उसकी महत्ता पर भी अवलम्बित है। आज तक बम्बई संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशन का एक प्रमुख केन्द्र बना हुआ है। निर्णय सागर प्रेस, गुजराती मुद्रणालय तथा वेंकटेश्वर प्रेस ऐसे मुद्रणालयों ने इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किये हैं। बम्बई नगर में कई पाण्डुलिपि-संग्रह भी विद्यमान हैं। यह आवश्यक है कि इन पाण्डुलिपि-संग्रहों की विधिवत् छान-बीन की जाय तथा उन्हें भलीभाँति सूचीबद्ध किया जाय।

(८०) पूना में संस्कृत तथा भारतीय विद्या में शोधकार्य करने वाली एक से अधिक संस्थाएँ हैं। इनमें से सर्वप्रमुख संघटन है। भण्डारकर प्राच्य शोध-संस्थान

(Bhandarakara Oriental Research Institute), जो कि अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन (Oriental Conference) ऐसे क्रियाकलापों की आधारभूत संस्था है। पश्चिम भारत के प्रभूत ज्ञानसम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान् श्री रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर के नाम को चिरस्मरणीय बनाने के उद्देश्य से सन् १९१८ में इस संस्था की स्थापना की गयी। अपनी स्थापना के समय ही इस संस्था को एक उत्कृष्ट प्रारम्भ का गौरव प्राप्त हुआ। इसके उद्भव काल में ही संस्था के उपयोग के लिए बम्बई शासन ने अपने संस्कृत तथा प्राकृत के बहुमूल्य पाण्डुलिपि-संग्रहों को तथा अपनी संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थावली को भी इसे समर्पित कर दिया। एशियाटिक सोसाइटी के अतिरिक्त एक लम्बे समय तक यह केन्द्र बम्बई प्रदेश का एकमात्र शोध-संस्थान बना रहा। फलतः इसे सरकारी सहायता सदैव ही प्राप्त होती रही। संस्थान में एक बहुत बड़ा पुस्तकालय तथा पाण्डुलिपि-संग्रह भी है। यहाँ से एक शोध-पत्रिका प्रकाशित की जाती है तथा पुस्तकों एवं अध्ययनों का भी प्रकाशन चार ग्रन्थमालाओं के रूप में प्रचलित है। इसकी इस समय की प्रमुख योजना है महाभारत के आलोचनात्मक संस्करण का प्रकाशन। भारत तथा विदेशों में भी इस उपयोगी योजना को अच्छा समर्थन प्राप्त हुआ है। इस संस्थान के स्नातकोत्तर शोध विभाग, संस्कृत-विभाग, भारतीय इतिहास एवं संस्कृति-विभाग, तथा शोधनिर्देशन कार्य पूना विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हैं। इस संस्थान के संरक्षक प्रोफेसर वी० के० गोदे अब देश के विभिन्न भागों में किये जाने वाले शोधकार्य के एक आवश्यक माध्यम से हो गये हैं। यहाँ हम बलपूर्वक यह कहना चाहते हैं कि अपने क्रियाकलापों के सम्यक् सञ्चालन में तथा अपेक्षित संख्या में कर्मचारियों की नियुक्ति में इस संस्था की क्षीण आर्थिक स्थिति बाधक सिद्ध हो रही है। साथ ही साथ हम इस तथ्य से भी अपनी आँख नहीं मूँद सकते कि इस संस्था में जो विपुल शोध-सामग्री उपलब्ध है तथा भारतीय विद्या-सम्बन्धी संसार की जो समस्त पत्रिकाएँ प्राप्त होती हैं, दुर्भाग्यवश स्थानीय विद्वान् उनका कम ही उपयोग कर रहे हैं। पूना में कई महाविद्यालय (कालेज) हैं तथा यहाँ संस्कृत विद्वानों का एक बड़ा समुदाय भी विद्यमान है। इस प्रकार के संस्थानों को चाहिए कि वे ऐसे उपायों का प्रयोग करें तथा समय-समय पर अपने क्रिया-कलापों के प्रकाशन का भी कार्यक्रम बनाया करें जिससे कि स्थानीय विद्वान् नियमित रूप से उसके समीप आ सकें।

(८१) महत्त्व की दृष्टि से भाण्डारकर शोध-संस्थान के बाद भारत-इतिहास संशोधक मंडल का स्थान आता है। इस मण्डल का भवन यद्यपि शोचनीय है, तथापि इस मण्डल ने ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्त्व की एक समृद्ध सामग्री का सञ्चय किया है। इसकी पत्रिका तथा इसके प्रकाशनों से मण्डल के ठोस कार्य का परिचय प्राप्त होता है। हमें यह बताया गया कि अपने संग्रह की पाण्डुलिपियों की सूची बनाने के लिए इस संस्था को केन्द्रीय शासन से अनुदान भी प्राप्त होता है। वैदिक संशोधन मण्डल, पूना में वैदिक शोध तथा प्रकाशन का कार्य किया जाता है। सायण-भाष्य के साथ ऋग्वेद का एक संस्करण यहाँ से प्रकाशित हो चुका है तथा एक श्रौतकोश (वैदिककर्मपद्धतिकोश) के निर्माण में भी मण्डल लगा हुआ है। मंडल

द्वारा वैदिक ग्रन्थों का प्रकाशन भी किया जाता है। मण्डल की रोचक योजनाओं में से अवेस्ता का देवनागरी संस्करण तैयार करने का भी कार्य है। इस संस्था में एक आयुर्वेद-कोश भी तैयार किया जा रहा है। ग्रन्थमालाओं में आनन्दाश्रम, पूना द्वारा प्रकाशित ग्रन्थावली से संस्कृत विद्वानों को वही सहायता प्राप्त होती है जिसे कि वे गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थावली तथा त्रिवेन्द्रम् ग्रन्थमाला से प्राप्त करते हैं। इस ग्रन्थमाला में एक सौ चालीस ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इस संस्था का कार्य कुछ समय तक बन्द रहा है किन्तु अब पुनः चल पड़ा है। आनन्दाश्रम में पाण्डुलिपियों का एक बृहत् संग्रहालय भी है।

(८२) महाराष्ट्र के अन्य केन्द्रों में भी संस्कृत से सम्बन्धित शोधकार्य श्रमपूर्वक किया जा रहा है। यहाँ बाई की प्राज्ञ-पाठशाला द्वारा प्रकाशित किये जा रहे 'धर्मकोश' तथा 'मीमांसाकोश' का निर्माण कार्य विशेष उल्लेखनीय है। लोनावाला का 'कैवल्य धम्म' योग का शोधकार्य कर रहा है। इसकी एक शाखा बम्बई में भी है। इस समय यहाँ आधुनिक शरीरशास्त्र, मनोविज्ञान तथा चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से योग पर एक महत्त्वशील शोधकार्य चल रहा है। इस संस्था में प्रचलित अन्य क्रिया-कलापों में योगसाहित्य तथा योगमीमांसा पत्रिका के प्रकाशन-कार्य की चर्चा की जा सकती है।

(८३) उड़ीसा का शोधकार्य छितराया सा है। 'कलिंग ऐतिहासिक शोध समिति पत्रिका' का प्रकाशन अब बन्द हो चुका है। भारतीय विद्या के क्षेत्र में इस प्रदेश में ऐतिहासिक शोध-समिति, भुवनेश्वर द्वारा केवल एक ही पत्रिका प्रकाशित की जाती है। पुरी में स्थित जगन्नाथ ऐतिहासिक गवेषणा-समिति ने पाण्डुलिपियों का अच्छा संग्रह किया है। इसी प्रकार की अन्य सामग्री पण्डित सदाशिवरथ द्वारा सञ्चालित रघुनन्दन पुस्तकालय में भी पायी जाती है, किन्तु बाहर के पण्डितों को इस सामग्री का ज्ञान नहीं है, न तो स्थानीय विद्वान् ही इसका पूरा पूरा लाभ उठा रहे हैं।

(८४) काकीनाडा आंध्र में तेलगू अकादमी कार्य करती है। यहाँ पाण्डुलिपियों का संग्रह है तथा प्रकाशन कार्य भी किया गया है। आंध्र ऐतिहासिक शोधसमिति राजमुन्द्री की ख्याति इससे अच्छी है। कुछ वर्षों से यह समिति एक पत्रिका का भी प्रकाशन कर रही है। दुर्भाग्यवश उपयुक्त सहायता के अभाव में आंध्र प्रदेश की यह एकमात्र व्यक्तिगत शोध-समिति आज शिथिल सी हो चली है। एक विस्तृत योजना को लेकर वेंकटेश्वर प्राच्य संस्थान का शुभारम्भ किया गया है, किन्तु इस समय इस संस्था का जीवनकाल अनिश्चित सा प्रतीत होता है। यह संस्थान श्रीतिरुपति तिरुमलायी, देवस्थानम् द्वारा चलाया जाता है। इसके पुनः संघटन एवं उन्नयन के लिए किये गये सभी निष्फल प्रयत्नों के किये जाने पर भी अभी तक यह संस्था नवस्थापित वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय के अन्तर्गत नहीं लायी जा सकी है। आशा है कि यह संस्था एक निश्चित कार्यक्रम के अनुसार कार्य करेगी। संस्था के पास पाण्डुलिपियों का एक बहुमूल्य संग्रहालय भी है। यहाँ से कुछ ग्रन्थों का तथा एक पत्रिका

का प्रकाशन भी किया जाता है। इस संस्थान द्वारा प्रकाशित वैखानस-आगम ग्रन्थ-माला विद्वानों के लिए एक विशेष रुचि की वस्तु होगी।

(८५) मद्रास में मद्रास विश्वविद्यालय से बाहर भी शोधकार्य में अत्यधिक सक्रियता देखी गयी। आड्यार पुस्तकालय तथा शोधकेन्द्र में पाण्डुलिपियों तथा मुद्रित ग्रन्थों का एक बहुमूल्य संग्रह है। इन पाण्डुलिपियों में से कुछ की विवरणात्मक सूची भी बन चुकी है तथा शेष का परीक्षण करके उनकी विवरणात्मक सूची बनाना बाकी है। आड्यार पुस्तकालय द्वारा अपनी ग्रन्थमालाओं के माध्यम से आज तक ग्रन्थों, अध्ययनों तथा पुनः मुद्रणों के एक सौ जिल्दों का प्रकाशन किया जा चुका है। यह संस्था 'ब्रह्मविद्या' या 'आड्यार पुस्तकालय विज्ञप्ति (Bulletin)' का भी प्रकाशन करती है। आड्यार पुस्तकालय तथा शोधकेन्द्र का व्यय-वहन तथा सञ्चालन इस समय थियासोफिकल सोसाइटी करती है। किन्तु इसका संवर्धन तथा इसके शोधकार्य का प्रचलित रहना संस्थान के सदस्यों की आर्थिक सहायता पर ही निर्भर रहा करता है।

(८६) कुप्पूस्वामी शास्त्री शोध-संस्थान, मद्रास, दक्षिण भारत के प्रमुख संस्कृत प्रोफेसर श्री कुप्पूस्वामी शास्त्री के नाम से संस्थापित किया गया है। प्रोफेसर कुप्पूस्वामी शास्त्री ने अध्ययन तथा शोधकार्य के क्षेत्र में अपने एक विशेष सम्मान्य सम्प्रदाय का निर्माण किया था। इस संस्थान की स्थापना सन् १९२७ में की गयी "प्राच्य शोध पत्रिका" (Journal of Oriental Research) तथा महामहोपाध्याय कुप्पूस्वामी शास्त्री द्वारा अपने जीवन-काल में सञ्चालित ग्रन्थमालाओं एवं अध्ययनों के क्रम को बनाये रखने के लक्ष्य से कार्य कर रहा है। अब भी इस संस्थान का पत्रिका तथा ग्रन्थमाला का कार्य पूर्ववत् प्रचलित है। इसके अतिरिक्त यहाँ एक उन्नत पुस्तकालय तथा वाचनालय भी हैं तथा अभ्यागत अध्यापकों के पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यानों का आयोजन भी किया जाता है। कुप्पूस्वामी शास्त्री द्वारा संशोधित 'ध्वन्यालोक' के संस्करण की पूर्ति, उनके ग्रन्थों तथा व्याख्यानों का प्रकाशन, गीता की विवरणात्मक सूची (Gita-Bibliography) का निर्माण, तथा संस्कृत प्राकृत साहित्यकार ग्रन्थमाला की रचना इस संस्था के प्रमुख कार्यक्रम हैं। कुप्पूस्वामी शोध-संस्थान दक्षिण भारत की केवल एक ही ऐसी संस्था है जिसका आयोजन भाण्डारकर शोधसंस्थान, पूना के ढांचे पर किया किया गया है, किन्तु आज तक इसे केन्द्रीय अथवा प्रदेशीय शासन से कुछ भी अनुदान नहीं प्राप्त होता है। विद्वानों तथा संस्कृति के अनुरागी सज्जनों का स्वैच्छिक अंशदान ही इस संस्था के पोषण का एकमात्र साधन है।

(८७) इस सन्दर्भ में मद्रास तथा उसके आस-पास चलने वाले शोधकार्य के कतिपय अन्य क्रिया-कलापों की ओर भी चर्चा की जा सकती है। बालमनोरमा मुद्रणालय, मद्रुलापुर ने कुछ संस्कृत ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। गणेश एण्ड कंपनी मद्रास—१७ द्वारा एक तान्त्रिक ग्रंथमाला का प्रकाशन किया गया है। मद्रास ला जर्नल प्रेस ने भी कुछ ग्रन्थों को प्रकाशित किया है, जिनमें से रामायण का प्रकाशन

प्रमुख है। उभय वेदान्त ग्रन्थमाला समिति वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों का प्रकाशन करती है। वविल्ला रामशास्त्री शास्त्रुलु एण्ड सन्स एक लम्बे समय से संस्कृत-ग्रंथों के मुद्रण तथा प्रकाशन कार्य में लगे हुए हैं। ग्रंथमाला कार्यालय काञ्चीपुरम् द्वारा वेदान्तदेशिक जैसे श्रीवैष्णव लेखकों की कृतियों का प्रकाशन किया जा रहा है। काञ्ची कामकोटि के शङ्कराचार्य पीठ के संरक्षण में कुम्भकोणम् की अद्वैत सभा उच्चकोटि के अद्वैत साहित्य का विमोचन कर रही है।

(८८) मद्रास में स्थित महाराजा सर्फोजी सरस्वती महल पुस्तकालय, तंजोर संस्कृत तथा सम्बद्ध शोधकार्य का एक प्रमुख केन्द्र है ! नायक तथा मराठा नरेशों के शासन-काल में तंजोर महल में एकत्रित किये गये हस्तलेखों से इस पुस्तकालय का संवर्धन हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में महाराज सर्फोजी द्वितीय द्वारा इस पुस्तकालय को नवीन ग्रन्थों से सुसज्जित किया गया। इन पाण्डुलिपियों की विवरणात्मक सूची भी बन चुकी है। स्वतंत्रता के बाद संस्कृत तथा अन्य भाषाओं की कुछ पाण्डुलिपियों के प्रकाशन के लिए इस पुस्तकालय को मद्रास शासन द्वारा सहायता प्राप्त होती है। इस पुस्तकालय में आज जो शोध-सामग्री सुलभ है उसे देखते हुए यह उचित होगा कि इसे एक शोध-संस्थान के रूप में समुन्नत किया जाय। कुछ प्रकाशनों को छोड़कर इस संस्था के वर्तमान प्रकाशन निम्नस्तर के हैं तथा उनमें उपयुक्त पद्धति का भी अनुसरण नहीं किया गया है। यहाँ के अवैतनिक मंत्री ने हमें बताया कि इस पुस्तकालय के विक्रय-विभाग से प्राप्त प्रायः पचास हजार रुपयों की वार्षिक आय मद्रास सरकार ले लिया करती है। इसके बदले वह इसे प्रकाशन सहायता देती है। मंत्री ने हमें सुझाव दिया कि यदि ये पचास हजार रुपये पुस्तकालय के ही हाथ में रहते तो यह संस्था और अधिक ठोस कार्य कर सकती है।

(८९) तिरुवय्यारु में श्रीनिवास प्रेस भी कुछ संस्कृत ग्रन्थों का प्रकाशन करता है। पर वाणीविलास प्रेस श्रीरंगम् दक्षिण भारत का सर्वप्रसिद्ध प्रकाशक तथा मुद्रक है। इस प्रेस के द्वारा एक आकर्षक शैली में शंकराचार्य-ग्रन्थावली तथा कतिपय अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाशन किया गया है। हमें यह बताया गया कि अब यह प्रेस ठीक से काम नहीं कर रहा है तथा शंकराचार्य गुरुकुल पत्रिका, जिसमें धारावाही रूप में संस्कृत ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ करता था, बन्द भी हो चुकी है।

(९०) मैसूर राज्य के अन्तर्गत बंगलोर में मैथिक सोसाइटी (पौराणिक मण्डल) एक स्वतन्त्र प्राचीनतम शोध-संस्थान है। इस संस्था में एक अच्छा सा पुस्तकालय है तथा एक त्रैमासिक पत्रिका भी प्रकाशित होती है। आज से प्रायः पचीस वर्ष पूर्व इस पत्रिका ने उल्लेखनीय कार्य किये थे।

(९१) दक्षिण भारत के विभिन्न अन्य केन्द्रों में भी हाल में प्रारंम्भ की हुई कई छोटी-छोटी शोध-संस्थाएँ चल रही हैं। ये संस्थाएँ या तो शुद्ध संस्कृत

के क्षेत्र में काम कर रही हैं या संस्कृत के साथ स्थानीय भाषा, इतिहास तथा पुरातत्त्व इत्यादि क्रम में कार्य कर रही हैं। ये संस्थाएँ पाण्डुलिपियों का संग्रह करती तथा इनके द्वारा आख्याओं (Bulletins) और ग्रन्थों का प्रकाशन किया जाता है।

(९२) अध्यापकों तथा शोध-छात्रों के अतिरिक्त भी कुछ व्यक्ति तथा राज्याधिकारी संस्कृत के प्रौढ़ अध्ययन एवं मौलिक शोधकार्य में लगे हुए हैं। ये व्यक्ति प्रायः नगरों के आस-पास के कस्बों में कार्य करते हैं। हमारी यात्रा के समय विभिन्न प्रदेशों के इन ग्रामीण क्षेत्रों के प्रोफेसरों तथा अन्य व्यक्तियों ने भी साक्षी के रूप में हमें सूचित किया कि प्रमुख नगरों के पुस्तकालय भी दयनीय स्थिति में हैं। कोचीन राज्य के भूतपूर्व सचिव श्री अच्युत मेनन, जो कि स्वयं किसी शोधकार्य में लगे हुए हैं, ने हमें बताया कि समस्त केरल प्रदेश में शोधकार्य के लिए उपयोगी एक भी उपयुक्त सर्वसाधन सम्पन्न पुस्तकालय नहीं है। देश के अनेक भागों के पुस्तकालयों के सम्बन्ध में भी हमें यही बात सत्य प्रतीत हुई। सम्बद्ध अधिकारियों को इस स्थिति पर ध्यान देना चाहिए। अनेक पुस्तकालयों में बाहर ले जाकर पढ़ने के लिए या वहीं पुस्तकालय में पढ़ने के लिए ही पुस्तकें नहीं मिला करतीं। उन्हें सरलतापूर्वक खरीदा भी नहीं जा सकता। अनेक गवाहों ने हमें बलपूर्वक यह बताया कि संस्कृत ग्रन्थों को प्रकाशित करने वाले प्रकाशकों की संख्या भी पर्याप्त नहीं है। देश में संस्कृत पुस्तक-विक्रेताओं का भी अभाव सा व्याप्त है। इनमें से जो कुछ थोड़े से कार्य भी कर रहे हैं वे अपनी प्रकाशित पुस्तकों की सूची का व्यापक रूप से प्रचार भी नहीं किया करते जिससे कि जनसाधारण को यह जानने में भी कठिनाई होती है कि जिन विषयों के अध्ययन में वे रुचि लेते हैं उन विषयों की कौन-कौन सी नवीन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

(९३) संस्कृत तथा भारतीय विद्या सम्बन्धी अपने देश में होने वाले क्रिया-कलापों पर जब दृष्टि डालते हैं तो हमें प्रत्यक्ष होता है कि हमारे देश में उक्त अध्ययनों के लिए शोधसामग्री का संग्रहकार्य, शोध-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थमालाओं का शुभारम्भ एवं उनके सञ्चालन की व्यवस्था, तथा छोटी-बड़ी शोध-योजनाओं का निर्माण बड़े ही उत्साह से किया जा रहा है। इतना कुछ होने पर भी इस क्षेत्र में अधिकारियों का तथा जनता का जो सहयोग मिल रहा है उसे शोचनीय ही कहना पड़ेगा। यही कारण है कि या तो यह उत्साह शिथिल हो जाया करता है या निराशा में परिणत हो जाता है। व्यक्तिगत प्रयासों से चलने वाले सभी शोध-संस्थान तथा शोध-केन्द्रों को आर्थिक सहायता की नितान्त आवश्यकता है। हमारे देश के विद्वानों की एक बड़ी संख्या को थोड़े से या विना कर्मचारियों के भी इन संस्थाओं की अवैतनिक सेवा करनी होती है। शोधकार्य में कुछ रुचि रखने वाले व्यक्तियों की सहायता से ही ये अधिकांश संस्थान चल रहे हैं। कुछ स्थानों पर कतिपय संस्थाएँ पाण्डित्य-संवर्धन के उद्देश्य से खोली गयी थीं। ऐसी संस्थाएँ किन्हीं कारणों से अत्यधिक लोकप्रिय बनती जा रही हैं। प्रकाशन के क्षेत्र में जो नवीन संस्थाएँ चल पड़ी हैं उनके क्रिया-कलापों, यथोचित-निर्देशन, तथा पण्डित्यपूर्ण प्रकाशन-कार्य के स्तर

में भी कमी देखी गयी। पुस्तकालय तथा पाण्डुलिपि-संग्रहालय सामान्यतः भली-भाँति साधनसम्पन्न नहीं हैं। उनकी देखभाल भी समुचित प्रकार से नहीं की जाती। कुछ पाण्डुलिपि-संग्रहालयों में जनता तथा विद्वानों का प्रवेश वर्जित है। इस स्थिति तथा इस प्रवृत्ति को अब नहीं चलने देना चाहिए। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि देश के समस्त शोध-संस्थान, उसके पाण्डुलिपि-संग्रहालय तथा उसकी प्रकाशन क्रियाएँ इत्यादि किसी एक सूत्र के अन्तर्गत कर दी जायँ, जो कि इन सभी का सञ्चालन करेगा तथा उनकी आर्थिक सहायता की भी व्यवस्था करेगा।

(v) संस्कृत के प्रति जनभावना

(९४) सब कुछ होते हुए भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि संस्कृत के प्रति जनता के भाव अनुकूल हैं। हमारे इस कथन का कदापि यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृत के पठन-पाठन के प्रेमी ही संस्कृत के प्रति उत्साही हैं। पर इस तथ्य को हम विशेष बलपूर्वक कहना चाहेंगे कि सामान्य जनवर्ग के ऐसे भी व्यक्ति जो कि प्रधानतः राष्ट्रिय जीवन के अन्य पहलुओं में रुचि लेते हैं या शिक्षा की अन्य शाखाओं से सम्बद्ध हैं या अन्य भाषाओं एवं साहित्य के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं, वे भी अनुभव करते हैं कि हमें संस्कृत का यथोचित ढंग से परिपोषण अवश्य करना चाहिए तथा उसके समुन्नयन में तत्पर रहना चाहिए। भारत माता के प्रति राष्ट्रप्रेम के बाद यदि हम भारतवासी अन्य किसी के प्रति स्नेह तथा सम्मान की भावना से भरे हुए हैं तो वह है संस्कृत। साधारणजन, साहित्यिक, शिक्षाविद्, व्यवसायी तथा अधिकारी-वर्ग एवं राजनीतिक समाज सभी के अन्तःकरण में यह भावना समा सी गयी है। प्रत्येक भारतवासी संस्कृत के सांस्कृतिक महत्त्व को हृदय से अनुभव करता है तथा वह भली-भाँति जानता भी है कि भारतवर्ष की समस्त वस्तुओं में जो भी अपनी श्रेष्ठता तथा महत्ता के कारण उसे प्रिय लगती है वह संस्कृत में ही दृढतापूर्वक सन्निविष्ट है। कुछ लोगों में यह सम्मान की भावना केवल शाब्दिक प्रशंसा से अधिक नहीं है। ऐसे लोगों को यह भय है कि कहीं यह प्राचीन संस्कृत भाषा उनकी प्रिय क्षेत्रीय भाषाओं के आगे बढ़ने में बाधक न सिद्ध हो। हम लोगों में से कुछ इस प्रकार के भी लोग हैं जो कि यह नहीं चाहते कि संस्कृत अपने ऊँचे सिंहासन से नीचे उतर कर सड़कों तथा बाजारों में भ्रमण करे। इससे भी अधिक गम्भीर बात यह जान पड़ती है कि संस्कृत के प्रति कुछ लोगों में केवल उदासीनता तथा उपेक्षा ही नहीं, अपितु विरोध की भावना व्याप्त है। यह भावना विशेषतः प्रान्तीय भाषाओं के पीछे पागल लोगों में पायी जाती है। जैसे कि उत्तर भारत में एक विशेष प्रकार के हिन्दी प्रेमी तथा दक्षिण भारत में तामिल जनों का एक विशेष वर्ग। तथापि क्षेत्रीय भाषाओं के भक्तों का अधिकांश भाग आज यही अनुभव कर रहा है कि क्षेत्रीय भाषाओं को समृद्ध बनाने के लिए संस्कृत एक आवश्यक तत्त्व है। उनका यह विचार है कि यदि हम इसका परिपोषण करेंगे तो हमारी क्षेत्रीय भाषाएँ सुदृढ़ एवं पुष्ट बन जायगीं तथा उनके रचनात्मक कार्यकलापों में भी संस्कृत सहायक सिद्ध हो सकेगी।

(९५) कुछ लोग यह समझते हैं कि संस्कृत कोई एक ऐसा तत्त्व है जो कि आधुनिक कही जाने वाली समस्त वस्तुओं का विरोध करता है तथा हमारे विकास के मार्ग में रोड़े अटकाता है। संस्कृत के पठन-पाठन से हम लोगों में इस प्रकार की मानसिक स्थिति भी बन जाया करती है। संस्कृत के भक्त होकर हम आधुनिकता का विरोध करते हैं तथा लकीर के फकीर बन कर किसी प्रकार की प्रगति या किसी प्रकार के विकास में विघ्न डालते हैं।

जैसा कि हमने अन्यत्र भी कहा है कि हम लोगों की यह धारणा सर्वथा अग्राह्य है। इस प्रकार की विचार-धारा के समान ही संस्कृत-विरोधी एक विचित्र सी यह धारणा चल पड़ी है कि यह एक जाति-विशेष की भाषा है। यह धारणा भी स्वीकार करने के योग्य नहीं है। यह एक दुर्भाग्य पूर्ण संस्कृत-विरोधी प्रचार मात्र है। ऐसी भावना के कारण ही दक्षिण भारत के एक भाग में संस्कृत को पीछे हटाने के लिए गुप्त प्रयास चल रहे हैं। संस्कृत किसी जाति-विशेष की भाषा कदापि नहीं है। स्वतः दक्षिण भारत ही इस तथ्य को प्रमाणित करता है। यहाँ के आन्ध्र तथा केरल प्रदेश में ब्राह्मणेतर लोग भी संस्कृत से ओत-प्रोत हैं तथा संस्कृतमयी भाषा का व्यवहार भी करते हैं। केरल के ईझव, थीया, मोप्लर तथा क्रिश्चियन जन भी संस्कृत का अध्ययन करते हैं। हमें यह बताया गया कि मध्यप्रदेश की स्कूल अन्तिम परीक्षा में संस्कृत का एक प्रश्नपत्र अनिवार्य रखा गया है। इस प्रश्न पत्र को मुसलमान भी लेते हैं। लखनऊ के एक इण्टरमीडिएट कालेज में मुसलमान कन्याएँ भी संस्कृत पढ़ रही हैं। गुजरात में पारसी लोग भी संस्कृत का अध्ययन कर रहे हैं। पंजाब के संस्कृत छात्रों में, अध्यापकों में, शास्त्रियों में तथा शोध-छात्रों में अनेक सिक्ख पाये जाते हैं। मध्यप्रदेश के शिक्षा-निदेशक, जो स्वयं क्रिश्चियन हैं, ने हमें बताया कि वे एंग्लो इण्डियन छात्रों को भी संस्कृत पढ़ने की राय देते हैं। उनकी यह धारणा है कि भारत के भावी नागरिक होने के नाते उनके लिए यह परमावश्यक है कि वे भारतीय जनता के मन तथा उनकी संस्कृति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करें। उनका विचार है कि यह संस्कृत के अध्ययन से ही सम्भव है।

(९६) अपने दक्षिण भारत के यात्राक्रम में हमसे इस प्रकार के ब्राह्मणेतर व्यक्तियों से भेंट हुई जो कि बड़े-बड़े पदों पर कार्य कर रहे थे या जिनका जन-जीवन सक्रियता से व्याप्त था, अथवा जो व्यापार इत्यादि से सम्बद्ध थे। हमने देखा कि विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाला यह समस्त जनवर्ग संस्कृत का समर्थक है। मद्रास नगर ही में हमने देखा कि वहाँ के स्थानीय मान्यताप्राप्त विद्यालयों में तथा व्यक्तिगत कक्षाओं में ब्राह्मणेतर, कुछ मुस्लिम तथा क्रिश्चियन छात्र भी, संस्कृत का अध्ययन करते हैं। हमें यह सूचित किया गया कि चिद्वरम् के किसी विद्यालय में एक मुस्लिम छात्र ने संस्कृत में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। हमें यह देख कर प्रसन्नता हुई कि चिद्वरम् के ब्राह्मणेतर व्यवसायी वर्ग का एक मण्डल, जो कि हमारे सामने उपस्थित हुआ था, वह संस्कृत शिक्षा तथा संस्कृति का प्रबल समर्थक था। तञ्जोर में वहाँ के स्थानीय विद्यालयों के प्रधानाचार्यों तथा शिक्षकों ने भी हमें यह सूचित किया कि

वहाँ के ब्राह्मणेतर, मुस्लिम तथा क्रिश्चियन छात्र संस्कृत खूब पढ़ते हैं। ध्यान देने की बात है कि ब्राह्मणेतर वर्ग, विशेषतः चेड्डियर जाति के लोग संस्कृत के लिये बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। कहना न होगा कि इस वर्ग ने कुछ समय पूर्व वेद तथा संस्कृत के लिए धर्मस्व तथा प्राभूतों की स्थापना द्वारा पाठशालाओं की स्थायी सहायता का प्रबन्ध किया था। सड़कों पर, मन्दिरों में, तथा जनसाधारण की तथा सार्वजनिक सभाओं में जनसम्पर्क द्वारा हमने यह अनुभव किया कि संस्कृत के प्रति अरुचि, घृणा अथवा विरोध की भावना एक विशेष प्रकार के जनवर्ग तक ही सीमित है, जो कि स्वार्थ वश अपने निजी हित के लिए इससे एक अनुचित राजनीतिक लाभ उठाना चाहता है। यह वर्ग संस्कृत के विरोध में दृढ़ता पूर्वक संघटित है तथा प्रभावशाली प्रदर्शन में भी लगा हुआ है। संस्कृत के अनेक प्रवक्ताओं तथा शिक्षकों ने हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया कि प्रार्थना के समय या अन्य किसी उत्सव या पर्व अथवा विद्यालयीय समारोह के अवसर पर यदि संस्कृत का कोई कार्य-क्रम सामने आता है तो छात्र समुदाय का एक वर्ग हँसी, उपहास तथा व्यंग्य के ताने मारना प्रारम्भ कर देता है तथा अरुचि एवं घृणा के शब्दों से उस कार्यक्रम के प्रति अपना असन्तोष प्रकट करता है। वास्तव में यह एक दुर्भाग्य का ही प्रसङ्ग है कि यह स्थिति देश के एक ऐसे भाग में विद्यमान है जो कि एक समय भारत के अन्य प्रदेशों की जनता के द्वारा भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत पाण्डित्य के एक वास्तविक केन्द्र के रूप में देखा जाता था। मद्रास से प्राप्त हमारी प्रश्नावली के अधिकांश उत्तर उस चिन्ता का प्रकाशन करते हैं जो कि संस्कृत के भविष्य के विषय में इस प्रदेश के वातावरण में व्याप्त है।

(९७) जो लोग पारम्परिक संस्कृतशिक्षा के समुन्नयन तथा उसके संरक्षण के इच्छुक हैं—जैसे कि पण्डितवर्ग, पारम्परिक संस्थाओं के प्रबन्धाधिकरण, विद्वान् छात्र तथा संस्कृत क्षेत्र के कार्यकर्त्ता—उन्हें हमने इस पारम्परिक प्रणाली का अगाध निष्ठावान् पाया। उनमें से केवल थोड़े से लोग कुछ सीमा तक आवश्यकता से अधिक उत्साही प्रतीत हुए। यथोचित मात्रा में हर वस्तु अच्छी लगती है। हमें यह देखकर दुःख हुआ कि कुछ लोगों में अपने सामने उपस्थित समस्या को सुलझाने की दिशा में व्यावहारिक उपायज्ञता की कमी थी। ठोस साधनों, उपायों एवं मार्गों की प्रकल्पना न करके बहुधा निराश होकर वे प्रायः अधिकारियों को ही दोषी ठहराया करते हैं। संस्कृत-शिक्षा तथा पाण्डित्य के असफल होने के कारणों में इस शिक्षा के प्रति अधिकतर उन लोगों के विश्वास की ही कमी है जिन्हें कि निष्ठा तथा भक्तिपूर्वक इस शिक्षा में दत्तचित्त रहना चाहिए। अधिकांश स्थानों में हमने यह भी देखा कि उपलब्ध सामग्री का भी समुचित प्रयोग नहीं किया जाता, जब कि एक ओर हम अधिकारियों से अनुरोध करते हैं कि वे संस्कृत के प्रोत्साहन की नीति अपनावें तब दूसरी ओर हम जनता से भी यही आग्रह करना चाहेंगे कि वे अधिक से अधिक संख्या में संस्कृत को अपनावें तथा यह भी देखें कि कहीं थोड़े से बहाने के कारण ही उनके बच्चे संस्कृत से विमुख तो नहीं हो रहे हैं।

(९८) अपनी यात्रा के अवसर पर हमने यह देखा कि निश्चय रूप से सर्वत्र ही हमारे समाज में एक विलक्षण सांस्कृतिक चेतना जाग उठी है तथा संस्कृत के महत्त्व के प्रसंग में उत्सुकता से भी जागृति फैलती जा रही है। इस स्थिति के अवलोकन से हमने यह अनुभव किया कि देश में संस्कृत की वास्तविक स्थिति का सम्पूर्ण चित्र केवल विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों तथा पाठशालाओं को देखने मात्र से ही हमारे सामने नहीं आ सकता। इन संस्थाओं की दीवारों के बाहर भी देश में स्वेच्छया सञ्चालित संघटनों का जाल बिछा हुआ है। इन संघटनों की संख्या में वृद्धि तथा इनके योजनाबद्ध कार्यकलापों के विस्तार के लिए यह जानना आवश्यक है कि संस्कृत के लिए वे जो कुछ कार्य कर रहे हैं, उनकी सफलता के मार्ग में कौन से अभाव कठिनाई उत्पन्न कर रहे हैं, जिनकी पूर्ति शासन द्वारा करायी जा सके।

(९९) हमने देखा कि प्रायः सभी प्रमुख नगरों तथा शहरों में संस्कृत की समुन्नति के लिए व्यक्तिगत रूप से आयोजित संघटन कार्य कर रहे हैं। इनमें से अधिकांश पञ्जीकृत संस्थाएँ हैं तथा स्थानीय प्रमुख नागरिक और विद्वान् इन संस्थाओं से सम्बद्ध हैं। संस्कृत की स्थिति को प्रभावित करने वाली समस्त विरोधी क्रियाओं के प्रति ये संघटन दत्तचित्त रहा करते हैं तथा अहितकर तत्त्वों से संस्कृत की रक्षा करने में भी सक्रिय प्रतीत होते हैं। अतः ये संस्थाएँ कुछ हद तक देखभाल करने का भी कार्य करती हैं। ये संघटन संस्कृत को लोकप्रिय बनाने की दिशा में निर्धारित ठोस कार्यों की सुनियोजित योजनाओं के कार्यान्वयन में भी तत्पर रहा करती हैं, जैसे कि व्यक्तिगत संस्कृत-कक्षाओं तथा व्यक्तिगत संस्कृत-परीक्षाओं का सञ्चालन करना। इनमें से कुछ संघटनों ने संस्कृत की शिक्षण-पद्धति के प्रश्न पर भी अपना ध्यान केन्द्रित किया है। इन संघटनों के क्रियाकलापों का शुद्धतः साहित्यिक पक्ष है। उदाहरणार्थ—सभाओं तथा व्याख्यानों का आयोजन करना, संस्कृत के प्रकाशनों की व्यवस्था करना तथा संस्कृत के नाटकों का मञ्चन करना इत्यादि इत्यादि। इनके द्वारा वेदपाठ का भी आयोजन किया जाता है तथा रामायण, महाभारत, भागवत, उपनिषद्, गीता इत्यादि के सार्वजनिक लोकप्रिय व्याख्यानों की व्यवस्था भी की जाती है। इन कथाओं, व्याख्यानों तथा भाषणों को सुनने के लिए साधारण तथा सुशिक्षित दोनों ही कोटि की जनता एक अच्छी संख्या में एकत्रित हुआ करती है। इन क्रियाओं की अपेक्षा सबसे अधिक आकर्षक वस्तु है वह रुचि जिसे कि प्रौढ़ तथा अवकाशप्राप्त व्यक्ति व्यक्तिगत या अध्ययन-समूह के रूप में हमारे पण्डितों से दर्शन ग्रन्थों के नियमित अध्ययन द्वारा प्रकाशित करते हैं।

(१००) संस्कृत के क्षेत्र में ऐसे व्यक्तिगत संघटनों की क्रियाएँ विभिन्न प्रकार की देखी जाती हैं। इन क्रियाओं का क्षेत्र भी व्यापक है—जैसे कि सामान्य तथा विशेष, जनप्रिय तथा पाण्डित्यपूर्ण, बौद्धिक तथा कलात्मक, साहित्यिक तथा संघटनात्मक। हमारे विचार से जनसाधारण के ये क्रियाकलाप यथार्थ में संस्कृत के लिए आशा तथा प्रोत्साहन का सञ्चार करते हैं।

—:०:—

[चतुर्थ अध्याय]

संस्कृत तथा स्वतंत्रभारत की आकांक्षाएँ

१. राष्ट्रिय-आत्मचेतना की जागृति तथा संस्कृत

(१) यूरोपीय बुद्धिजीवियों के सम्पर्क में आ जाने के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय विचारतत्त्व में एक नवजागृति का सञ्चार हुआ। इससे भारतवासियों के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक जीवन में संस्कृत ने एक नया रूप धारण किया। इस नवचेतना के प्रारम्भ में नयी शिक्षा में पले हुए कुछ लोगों को यह प्रतीत हुआ कि संस्कृत की महत्ता तथा उसकी शक्ति अब समाप्त हो चुकी है, किन्तु बात कुछ दूसरी ही थी। उस समय पारम्परिक प्रणाली की संस्कृत-शिक्षा चल रही थी तथा हमारा सांस्कृतिक जीवन संस्कृत से प्रकाशमान बना हुआ था। यूरोपीय आधुनिक-वाद के उभड़ते हुए जल-ज्वार में बहते हुए अंगरेजी के प्रति अत्यधिक उत्साही हमारे छात्रों का एक वर्ग अपनी राष्ट्रिय विश्रामस्थली से दूर हटता जा रहा था। किन्तु समुचित संतुलन की स्थिति पुनः जागृत हो उठी। इस संतुलन का प्रधान तत्त्व था, बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता में संस्कृत के पठन-पाठन का बोलबाला। इसी समय यूरोप में संस्कृत-ग्रंथों का प्रकाशन होने लगा तथा वहाँ के विद्वानों में भी संस्कृत का प्रचार बढ़ा। इस प्रकार भारत तथा विदेश दोनों ही स्थानों में साथ-साथ संस्कृत की एक सर्वथा अज्ञात सी अध्ययन-धारा चल पड़ी। इस समवेत अध्ययन से एक विलक्षण आविष्कार प्रकाश में आया। वह यह था कि यूरोप तथा भारत की वंशपरम्परा एक ही है तथा दोनों की उत्पत्ति का स्रोत भी एक ही है। इस महत्त्वपूर्ण खोज से विश्व के वातावरण में संस्कृत का महत्त्व तथा उसका सम्मान एक नये रूप में हमारे सामने आया। अब एक ऐसा समय आ गया है जब कि विदेशों के विद्वान् संस्कृत-वाङ्मय के दार्शनिक, सौन्दर्यात्मक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की प्रशंसा करने लग गये हैं। भारतीय विद्वानों ने जब यह देखा कि यूरोप का बुद्धिजीवी वर्ग संस्कृत के प्रति एक विलक्षण सम्मान प्रदर्शित कर रहा है तो उनमें भी संस्कृत की ओर एक नये प्रकार की प्रेरणा तथा एक नये प्रकार की अभिरुचि जाग उठी।

(२) विगत शताब्दी के दूसरे अर्धभाग में हममें ब्रिटिश उपनिवेशवाद तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति एक विलक्षण घृणा की भावना जागृत हुई। इस भावना से प्रेरणा प्राप्त करके हमारी राष्ट्रिय आकांक्षाएँ शक्तिशाली हुईं तथा हम स्वतंत्रता का स्वप्न देखने लगे। इस स्वतंत्रता की इच्छा से उद्बुद्ध होकर हमारा मस्तिष्क एक नवीन विश्वदर्शन के निर्माण में अग्रसर हुआ, जिससे हमारी सभ्यता को एक नया मानसिक बल तथा एक नयी नैतिक शक्ति प्राप्त हुई। इस मानसिक

बल तथा नैतिक शक्ति से प्रेरित होकर हममें यह इच्छा बलवती हुई कि हमारे देश में भारतीय सभ्यता के जो स्थायी तथा सार्वभौम तत्त्व विचार तथा विज्ञान के क्षेत्र में विद्यमान हैं, उन्हें हम पाश्चात्त्य तत्त्वों से जोड़ दें। स्वतंत्रता के पूर्व हमारे राष्ट्रिय कार्यकर्ताओं ने यह स्वीकार कर लिया था कि भारतीय जनजीवन तथा सामाजिक गठन में संस्कृत एक वास्तविक तत्त्व के रूप में स्थित है। सन् १८८० में जब बंकिम-चन्द्र चैटर्जी ने 'वन्दे मातरम्' की रचना की उस समय उन्हें क्या ज्ञात था कि भविष्य में राष्ट्रिय आन्दोलन के अवसर पर इसका महत्त्व इतना ऊँचा उठ जायगा कि इस राष्ट्रगान के केवल दो शब्द 'वन्दे मातरम्' राष्ट्र के मूलमंत्र 'राष्ट्र गायत्री' का रूप धारण करेंगे ? संस्कृत को भारत की एक स्वाभाविक भाषा समझकर ही उन्होंने इस गान की रचना संस्कृत ही में की। समाज में संस्कृत का स्थान इतना प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट था कि उसके सम्बन्ध में किसी विशेष प्रकार से सोचने समझने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता था।

(३) स्वतंत्रता-प्राप्ति के बहुत दिन पूर्व हमारे नेता इस विचार में पड़े थे कि वह कौन सी अच्छी से अच्छी विधि अपनायी जा सकती है जिससे हमारी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक एकता एक ही अविभक्त इकाई के रूप में शक्तिशाली बनायी जा सके। उस समय संस्कृत को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। यह भी अनुभव किया जाता था कि इस भाषा में एकता स्थापित कर सकने की एक महत्त्व-पूर्ण महाशक्ति भी अन्तर्हित है। किन्तु इसके साथ ही साथ उस समय हमारे देश में एक और विचारधारा चल पड़ी थी। वह यह थी कि संस्कृत अब पहले के समान जनसाधारण की भाषा नहीं रह गयी है। यही कारण है कि एक जनसाधारण की भाषा के रूप में उसे उज्जीवित करने की दिशा में कोई भी उत्साहपूर्ण प्रयत्न नहीं किया गया। ऐसी स्थिति में हिन्दी को बोलचाल की प्रचलित भाषाओं में महत्त्वशील स्थान प्राप्त हुआ, क्योंकि हमारे देश के एक विस्तृत क्षेत्र में यह भाषा विभिन्न रूपों में फैली हुई थी। इसीलिए सन् १९२१ में महात्मागांधी तथा उनके अनुयायी कांग्रेस जनों ने राजनीतिक आन्दोलन के अन्तिम चरण में यह स्वीकार किया कि स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए भविष्य में राष्ट्रभाषा पद पर यदि किसी भाषा को प्रतिष्ठापित किया जा सकता है तो वह हिन्दी भाषा ही हो सकती है। तदनुसार स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त विधानसभा ने यह निर्णय लिया कि देवनागरी लिपि में हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाया जाय। उनके इस निश्चय पर भारतीय संविधान में हिन्दी को राजभाषा निर्धारित किया गया। उस समय जनसाधारण में यह धारणा पर्याप्त फैली हुई थी कि संस्कृत में वह विलक्षण शक्ति विद्यमान है जो कि समस्त देश को एकता के सूत्र में बाँध सकती है। यदि हम उसकी इस शक्ति पर ध्यान नहीं देते हैं तो एक ऐसा भी दिन आ सकता है जब हम यह अनुभव करना भी भूल जायेंगे कि हम सब एक ही अविभक्त राष्ट्र के अवयव के रूप में परस्पर बँधे हुए हैं।

(४) हिन्दी को इतने बड़े जनसमुदाय द्वारा समर्थन प्राप्त करने का एक-मात्र कारण यही था कि केवल हिन्दी ही संस्कृत का सामना कर सकती थी। देव-

नागरी लिपि हिन्दी के लिए समस्त देश की लिपि मानी गयी है। यह संस्कृत की ही लिपि है। इसके अतिरिक्त हिन्दी के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपनी उच्चकोटि की शब्दावली को विदेशी भाषाओं से न प्राप्त कर अपने देश के ही स्रोतों से प्राप्त करे। स्वभावतः इसके लिए उसे संस्कृत का ही समाश्रयण लेना पड़ा। हिन्दी के पक्ष में यही संस्तुति प्रस्तुत की जाती है कि वह किसी न किसी रूप में संस्कृत का अधिक से अधिक अनुसरण करती है। यही नहीं प्रायः दो सौ वर्षों से अधिकांश मध्यकालीन तथा आधुनिक भारतीय भाषाएँ अपनी शब्दावली तथा विचार-परम्परा दोनों ही में संस्कृत के निकट सम्पर्क में रहती चली आ रही हैं। इससे ये भाषाएँ संस्कृत की शक्ति से भली-भाँति परिपूरित हो चुकी हैं। यही कारण था कि संस्कृत-बहुल हिन्दी ही को हमारे देश की समस्त आधुनिक भाषाओं का वास्तविक प्रतिनिधि माना गया। साथ ही साथ यह भी निश्चय किया गया कि विशेषतः संस्कृत शब्दों से परिपुष्ट हिन्दी ही नवोदित भारत की उपयुक्ततम राष्ट्रभाषा बनने का अधिकार रखती है। कुछ लोगों का उस समय इस प्रकार का एक दृढ़ तर्क भी था कि संस्कृत-बहुल हिन्दी के स्थान पर चालू हिन्दी को ही यदि रख दिया जाय तो हम संस्कृत के प्रति पक्षपात से बचे रहेंगे। किन्तु बहुमत इस पक्ष में ही था कि जनसमुदाय को यदि यह निर्णय करने का अवसर दिया गया कि संस्कृत-बहुल हिन्दी या चालू हिन्दी इन दोनों में से किसे राष्ट्रभाषा बनाया जाय तो अधिकांश लोग निश्चित रूप से इस बात का ही समर्थन करेंगे कि संस्कृत-बहुल हिन्दी को ही भारत की सर्वव्यापी राष्ट्रभाषा बनाया जाना चाहिए। इसका एकमात्र कारण यही बताया गया कि संस्कृत-बहुल हिन्दी ही अहिन्दी भाषी क्षेत्रों द्वारा सरलतापूर्वक समझी जा सकती है।

(५) हिन्दी के समर्थन का अर्थ है संस्कृत के माध्यम से देश की एकता पर बल देना। भले ही वह हिन्दी के द्वारा ही क्यों न हो। यह ठीक ही सोचा गया है कि स्वतंत्र भारत की आकांक्षाओं की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति आधुनिक भारतीय भाषाओं में क्रियाशील संस्कृत के सहारे ही सम्भव है।

(६) वर्तमान राष्ट्रिय आत्मचेतना के वातावरण में संस्कृत सामान्यतः आगे बढ़ती चली आ रही है। देखें, देश का 'भारत' नाम सरकारी तौर पर मान्य हो चुका है। भारत-राष्ट्र का सिद्धान्तवाक्य 'सत्यमेव जयते' (केवल सत्य ही विजय प्राप्त करता है) उपनिषद् वाक्य का ही उद्धरण है। रवीन्द्रनाथ टैगोर का बनाया हुआ हमारा राष्ट्रगान "जन गण मन" नब्बे प्रतिशत संस्कृत में तथा दस प्रतिशत संस्कृत-सदृश है। इसी कारण हमारे समस्त देशवासी उसे सरलता से समझते हैं।

'श्री' तथा 'श्रीमती' भारत सरकार द्वारा सरकारी सम्बोधन के शब्द निर्धारित किये जा चुके हैं। लोकसभा का आदर्श वाक्य 'धर्मचक्रप्रवर्तनाय' संस्कृत वाक्य है। आकाशवाणी ने भी "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" को अपने मार्गदर्शक सिद्धान्तवाक्य के रूप में अंगीकार किया है। जीवन बीमा निगम का सिद्धान्तवाक्य "योगक्षेमं वहाम्यहम्" भगवद्गीता से लिया गया है, जिसका अर्थ है—"उन्नति तथा कल्याण का उत्तरदायित्व मैं अपने ऊपर लेता हूँ"। भारतीय नौ सेना ने वैदिक प्रार्थना

"शं नो वरुणः" (जल के देवता हमारा कल्याण करें) को अपने सिद्धान्तवाक्य के रूप में स्वीकार किया है। भारत की विदेशी नीति का महान् सिद्धान्त 'पञ्चशील' के नाम से विख्यात है, जो कि संस्कृत का ही शब्द है। इसी प्रकार हमारे जनजीवन के कई एक भागों में जैसे कि आधारशिला रखने के औपचारिक समारोह में या किसी भी विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-समारोह के समय भी जब हम संस्कृत का प्रयोग करते हैं, हमारे इस कार्य से यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि राष्ट्रिय आकाक्षाओं की अभिव्यक्ति की दिशा में संस्कृत एक उपयुक्ततम भाषा के रूप में धीरे धीरे गतिशील होती जा रही है। यही नहीं, अन्ताराष्ट्रिय व्यवहार में भी अपने स्थान को सुदृढ़ बनाने के लिए तथा अपने आत्मसम्मान की भावना को सुस्थापित करने के लिए भी आज हम संस्कृत को सहायक मान रहे हैं।

२. भारतीय इतिहास तथा भारतीय संस्कृति में संस्कृत का स्थान

(७) संस्कृत विश्व की महत्त्वपूर्ण भाषा है। वह केवल भारत की ही नहीं, अपि तु समस्त एशिया महाद्वीप के एक बड़े भूभाग के उच्चतम साहित्य की सर्वोत्कृष्ट भाषा है। प्राचीन होने के नाते संस्कृत के प्रति वास्तव में आज भी आदर के भाव भरे हुए हैं। इस भाव से प्रेरित होकर लोग संसार की एक प्राचीनतम भाषा के रूप में तथा समस्त आध्यात्मिक ज्ञान एवं विज्ञान के एक महान् कोश के रूप में आज भी संस्कृत की पूजा करते हैं। आज कल के ऐतिहासिक तथा समालोचनात्मक अध्ययन से श्रद्धा की यह भावना और अधिक बलवती हो उठी है। मानव सभ्यता के इतिहास में संस्कृत एक उच्च भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है। इस भाषा की तुलना विश्व की इनी-गिनी कुछ थोड़ी सी ही उच्च भाषाओं से की जा सकती है। यूनानी, चीनी, लैटिन तथा अरबी ये भाषाएँ ही सच पूछा जाय तो संस्कृत के समान अपने-अपने देश की सभ्यता का प्रतिनिधित्व आज भी कर रही हैं। सामान्यतः मानवजाति के लिए तथा विशेषतः भारत के लिए संस्कृत का मूल्य विश्व की एक पोषकभाषा के रूप में सर्वत्र माना जाने लगा है। एक पोषक भाषा के रूप में संस्कृत ने कुछ आधुनिक पिछड़े वर्ग की भाषाओं को अपने भावप्रकाशन के लिए आवश्यक शब्दों तथा मुहाबिरों से ही परिपुष्ट नहीं किया है, अपितु अपने विशाल साहित्य के माध्यम से हमारी इस देवभाषा ने आधुनिक जगत् के मानसिक तथा आध्यात्मिक परिपोषण में भी सहायक सिद्ध हुई है। संस्कृत एक ऐसी वाणी है जिसके द्वारा भारतीय समाज और सभ्यता सहस्राब्दियों वर्ष पूर्व अपने प्रारम्भिक काल के वैदिक युग से ही प्रकाशित होती चली आ रही है।

(क) संस्कृत भारत की एक महान् सांस्कृतिक विरासत

(८) संस्कृत के महत्त्व पर हमारे देश के निवासियों की एक सर्वव्यापी विश्वासपरम्परा निरन्तर चली आ रही है। केवल हमारे देश के ही विचारकों तथा नेताओं ने ही नहीं, अपि तु भारतीय इतिहास तथा सभ्यता के विदेशी विद्वानों ने भी संस्कृत की महत्ता का अनुभव किया है। इन समस्त विचारकों, नेताओं तथा पाश्चात्य विद्वानों के सुचिन्तित विचारों को ही श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपने

निम्नाङ्कित शब्दों में दुहराया है। यही नहीं, अपने अनुभव के बल पर भी श्रीनेहरू संस्कृत का यथार्थ मूल्याङ्कन करने के एक अधिकारी विद्वान् हैं।

"यदि मुझ से यह पूछा जाय कि भारत के पास कौन सी श्रेष्ठ बहुमूल्य वस्तु है तथा हमारी सुन्दरतम विरासत क्या है? तो बिना किसी हिचकिचाहट के मैं उत्तर दूँगा कि वह है संस्कृत-भाषा तथा संस्कृत-साहित्य और उसमें पायी जाने वाली समस्त सामग्री। यह एक ऐश्वर्यशाली विरासत है। जब तक यह बनी रहेगी तथा हमारे देश में रहने वालों को प्रभावित करती रहेगी तब तक भारत के बुद्धि-वैभव का स्रोत निरन्तर प्रवाहित होता रहेगा"।

सच पूछा जाय तो सर विलियम जोन्स से लेकर आज के दिन तक हमारे देश के तथा बाहर के भी जिन विद्वानों तथा विचारकों ने संस्कृत के महत्त्व पर अपने जो विचार प्रकट किये हैं, उनको यदि यहाँ रखा जाय तो सम्बद्ध उद्धरणों की एक लम्बी सूची तैयार हो जायगी। सन् १७८६ में सर विलियम जोन्स ने पाश्चात्त्य जगत् में यह उद्घोष किया था कि संस्कृत ग्रीक की अपेक्षा अधिक पूर्ण, लैटिन की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा इन दोनों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित एवं उत्कृष्ट है। उन्होंने यह भी बताया कि संस्कृत का स्थान तथा संस्कृत का महत्त्व केवल भारत के लिए ही नहीं, अपि तु समस्त विश्व के लिए है।

(९) भारत का जनजीवन तथा भारत की परम्परा का दीर्घ एवं अखण्ड नैरन्तर्य अद्वितीय है। चीन, जिसका ऐतिहासिक नैरन्तर्य उसकी लेखन प्रणाली से बना हुआ है, को छोड़कर विश्व के किसी भी देश के जीवन तथा उसकी परम्परा में इस प्रकार का अखण्ड नैरन्तर्य विद्यमान नहीं है। यूनानी तथा रोमी सभ्यता की परम्परा क्रिश्चियनों के द्वारा भंग की गयी। इसी प्रकार मिस्र तथा बेबीलोन को भी दो बार भाषा तथा धर्म के क्षेत्र में अवरोध का सामना करना पड़ा, किन्तु भारतवर्ष में धर्म तथा भाषा की अखण्ड अविच्छिन्नता युगों से चली आ रही है।

(१०) इस प्रसंग में यह तो मानना ही पड़ेगा कि संस्कृत ने जिस अद्भुत बलवती सक्रियता का प्रदर्शन किया है उससे प्रत्यक्ष होता है कि इस भाषा का जीवन-स्रोत सनातन काल से प्रवाहित होता चला आ रहा है। संस्कृत सदैव ही गतिशील बनी रही है।

(११) वैदिक काल से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक भारतीय इतिहास के पर्यवेक्षण से यह तथ्य प्रत्यक्ष हो जायगा कि तेरहवीं शताब्दी में जब उत्तर भारत में तुर्की शक्ति प्रबल थी उस समय भी आर्यभाषाओं का समस्त विकास एक विशेष व्यापक अर्थ में निश्चय ही 'संस्कृत' के साथ जुड़ा हुआ था। संस्कृत के विषय में इस पारम्परिक विचार को केवल संस्कृत तथा प्राकृत के क्षेत्र में अध्ययन प्रारम्भ करने वाले हमारे विद्वानों ने ही स्वीकार नहीं किया है, अपितु भारतीय अध्ययन में दत्तचित्त अल्बेरुनी ऐसे विदेशी विद्वानों ने भी इस विचार का समर्थन किया है। यदि हम पारम्परिक दृष्टिकोण से विचार करें तो हमें स्पष्टतः विदित हो जायगा कि हमारे देश में आर्यभाषा के दो स्वरूप प्राकृत तथा अपभ्रंश कभी भी

पृथक्-पृथक् दो भाषाओं के रूप में नहीं देखे जाते थे। इनके उच्चारण तथा व्याकरण में अत्यधिक संशोधन भी हुए, तथापि ये दोनों ही भाषाएँ संस्कृत की ही दो विभिन्न शैलियाँ मानी जाती रहीं। साधारण जीवन में प्राकृत बोलने वाले भी संस्कृत को भलीभाँति समझते थे। यह वस्तुस्थिति उपर्युक्त विचारधारा को सिद्धान्ततः पुष्ट करती है। अल्बेरुनी ऐसे विदेशी द्रष्टा ने भी यही लिखा है कि भारत में एक ही भाषा प्रचलित है, वह है संस्कृत। इस संस्कृत भाषा के दो स्वरूप हैं—पाण्डित्य-पूर्ण साहित्यिक भाषा के रूप में उसका बाह्य, औपचारिक तथा साहित्यिक स्वरूप तथा नितान्त व्यावहारिक कार्यों के लिए उसका अभिन्न स्वरूप प्राकृत। इस तथ्य का हम इसलिए निर्देश करना चाहते हैं कि कभी-कभी कुछ लोग बिना विचारे ही यह कह दिया करते हैं कि संस्कृत केवल उच्चवर्ग की भाषा थी। अपने इस मत को पुष्ट करने के लिए वे तर्क प्रस्तुत करते हैं कि संस्कृत नाटकों के स्त्री तथा समाज के साधारण कोटि के लोग केवल प्राकृत ही समझा करते थे। ऐसे लोग इस तथ्य को भूल जाया करते हैं कि प्राकृत बोलने वाले ये पात्र संस्कृत संवादों का ही तो उत्तर देते हैं तथा गूढ़ से भी गूढ़ कठिन संस्कृत में कहे गये शब्दों एवं भावों को भी समझ लेते हैं।

(१२) जो भी हो अपने विकासक्रम में संस्कृत ने जैसे-जैसे एक शताब्दी से दूसरी शताब्दी में पदार्पण किया, उसकी कई एक अवस्थाएँ तथा कई एक स्वरूप देखने में आते हैं। संहिताओं की वैदिक संस्कृत, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों की अपनी विशेष संस्कृत, महाभारत, रामायण तथा पुराणों की जनप्रिय संस्कृत, शास्त्रों में निष्णात साम्प्रदायिक आचार्यों की संस्कृत, जिसे कि पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि ने शिष्टों की, अर्थात् विशेष शिक्षित समाज की भाषा के रूप में चित्रित किया है; बौद्धों की खिचड़ी संस्कृत; अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र, आयुर्वेद तथा ज्योतिष जैसे प्रायोगिक तथा वैज्ञानिक ग्रन्थों की संस्कृत, नाटकों तथा सरल काव्यों के रूप में नवविकसित ललित साहित्य की सरल संस्कृत, महाकाव्यों तथा प्रेम, उमंग एवं उत्साह से ओत-प्रोत गद्यकाव्यों की सजी हुई संस्कृत, सरल, सीधी-सादी जनसाधारण की शैली में प्रकाशित संस्कृत, जो कि बोलचाल की भाषाओं के भावों तथा उनकी शब्दावली के अति सन्निकट है तथा पञ्चतंत्र एवं हितोपदेश जैसे कथासाहित्य में, बाद की आख्यान कविताओं में प्रतिष्ठापित संस्कृत; सहस्रों सुभाषितों या गम्भीर विचारपूर्ण उपदेशात्मक श्लोकों में प्रकाशित एक विशाल जनसमूह की वाणी में व्याप्त होने वाली संस्कृत। संस्कृत के विकासक्रम के ये विभिन्न तथा अनेक रूप हमारी दृष्टि में आते हैं। इस श्रेणी में और भी ग्रन्थों को रखा जा सकता है। ये ग्रन्थ उन बोलचाल की भाषाओं में हैं जो भाषाएँ संस्कृत की गोद में पली थीं। जैसे—पाली, विभिन्न प्रकार के प्राकृत तथा अपभ्रंश। यदि पाली तथा प्राकृत साहित्य को छोड़ भी दिया जाय तो भी इस विशाल साहित्य का बचा हुआ भण्डार ही किसी भी देश में समकालीन प्राचीन तथा मध्यकालीन युग में विरचित साहित्यिक सामग्री की तुलना में कहीं अधिक उत्कृष्ट, श्रेष्ठ तथा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होगा।

(१३) सच पूछा जाय तो भारतीय सभ्यता तथा भारतीय समाज दोनों ही ने संस्कृत की गोद में जन्म धारण किया है। हमारी ऐतिहासिक प्रगति से हाथ मिलाकर चलती हुई यह भाषा केवल भारत ही के लिए नहीं, अपितु समस्त संसार के लिए प्राचीन काल से एक ऐसे अमूल्य विरासत के रूप में निरन्तर विद्यमान है, जिसके तेजोमय प्रकाश से हमारी विचार-शक्ति तथा हमारी संस्कृति सदैव शक्ति प्राप्त करती रही है।

(१४) इससे यह प्रत्यक्ष होता ह कि हमारे प्राचीन साहित्य में संरक्षित संस्कृत केवल एक उच्चकोटि की भाषा के रूप में ही स्थित नहीं है। इसका महत्त्व इससे कहीं और अधिक है। एक ओर वेद तथा दूसरी ओर महाकाव्य तथा पुराण ऐसे उत्कृष्ट साहित्य के माध्यम से हमारे देश के दूरदर्शी महापुरुषों ने अतीत की वास्तविक तथा सरल व्याख्या की है। साथ ही साथ अपनी इस व्याख्या के आधार पर वर्तमान तथा भविष्य की स्थिति की सार्थकता तथा अपनी आशाओं की नींव डालने में भी वे समर्थ हो सके हैं। इसके फलस्वरूप जिस अखण्ड संस्कृति ने जन्म लिया उसमें ऋतु तथा धर्म पर आधारित नैतिक तथा ईश्वरीय व्यवस्था की धारणा ने एक प्रमुख तत्त्व का रूप धारण किया। इस धारणा का एक विलक्षण प्रभाव प्रत्यक्ष हुआ। वह था संसार की समस्त वस्तुओं को उनके स्वरूप के अनुरूप ही स्थान दिये जाने का औचित्य। इससे संस्कृत-साहित्य के एक अनोखे लचीलेपन की परिपुष्टि होती है। इस प्रकार निरन्तर विकासशील संस्कृत-संस्कृति की परिधि में प्रगति करते हुए हमारे देश के लोगों ने संस्कृत के सहारे एकता स्थापित करने के क्षेत्र में एक विलक्षण शक्ति प्राप्त की है। हमारी इस संस्कृति की सीमा के अन्तर्गत विभिन्न विचार-धाराओं के अनेक धरातल दृष्टि में आते हैं। जीवन तथा जीव के विषय में प्रचलित नास्तिक भावनाएँ भी इस संस्कृति से वहिष्कृत नहीं हैं। इस संस्कृति ने उन्हें भी अपना समुचित स्थान अपने साम्राज्य में दिया ही है। संस्कृत उस महान् सांस्कृतिक संकलन के बहुभाषात्मक तथा साहित्यिक प्रकाशन का वह अद्भुत माध्यम है जिसे कि हम तथाकथित भारतीय धर्म, भारत की आत्मा या भारतवाद से कभी भी अभिन्न नहीं मान सकते।

(१५) हम देखते हैं कि यद्यपि इस प्रकार समस्त भारत संस्कृत के क्रोड में समा गया, तथापि संस्कृत की यह विशेषता रही है कि उसने अन्य भाषाओं को कदापि नहीं दवाया। इन भाशाओं की अपनी-अपनी विशेषताएँ ज्यों की त्यों बनी ही रहीं। इसका ज्वलन्त प्रमाण है कि संस्कृत के आदर्श पर अन्य भारतीय भाषाओं ने भी अपने-अपने व्याकरण की रचना की। दक्षिण भारत की भाषाएँ भी इन भाषाओं की श्रेणी में आ जाती हैं। "जियो तथा जीने दो" की नीति से संस्कृत ने अन्य भाषाओं का सक्रिय पोषण किया। इससे प्रभावित होकर भारतीय जनवर्ग के अन्तःकरण में संस्कृत के प्रति समर्थन की भावना अपने आप जाग उठी।

(१६) संस्कृत हमारी वह मानसिक तथा आध्यात्मिक कड़ी है जो कि ईरान, अरमानियाँ तथा यूरोप सरीखे पश्चिम भारोपीय एवं आर्यभाषा-भाषी एक

विशाल जनवर्ग से हमारा सम्बन्ध जोड़ती है। संस्कृत यूनानी, लैटिन, गाथिक, प्राचीन आयरिश तथा प्राचीन स्लावी भाषाओं की बड़ी बहिन है। एक ओर आधुनिक उत्तर भारतीय आर्यभाषाएँ, भारत से बाहर की भारोपीय भाषाएँ, हिन्दी, वंगला, मराठी तथा शेष भाषाएँ तथा दूसरी ओर अंगरेजी, फ्रांसीसी, रूसी तथा शेष भाषाएँ भी एक ही परिवार की चचेरी वहिनें हैं। तेलगू, कन्नड़, तामिल तथा मलयालम् ऐसी दक्षिण भारत की परिष्कृत द्राविड़ी भाषाओं में निहित अत्यन्त व्यापक तथा अनिवार्य संस्कृततत्त्व एक ऐसी बहुमूल्य कड़ी है जो कि इन भाषाओं का यूरोप की भारोपीय भाषाओं से सांस्कृतिक सम्बन्ध जोड़ती है।

(१७) एक विशाल साहित्य से विभूषित हमारी संस्कृतभाषा प्राचीनतम भारोपीय भाषा के रूप में भारत से बाहर यूरोपीय भाषाभाषी जन-समाज के लिए भी एक अनुपम तथा महत्त्वपूर्ण भाषा के रूप में मान्य है। संस्कृत से प्राप्त प्रेरणा से ही भारोपीय जगत् स्थापित हुआ। इतिहास के विषय में एक सर्वथा नवीन विचारधारा को जन्म देने का भी श्रेय इस प्रेरणा को ही दिया जा सकता है। संस्कृत तथा उसकी बहिनों के अध्ययन द्वारा कुछ सीमा तक भारोपीय जन-समाज सम्भव हो सका।

(१८) अपने उद्‌गम तथा अपनी शैली की विशेषताओं के आधार पर संस्कृत हमें पश्चिम जगत् से जोड़ देने में पूर्ण समर्थ है। यही नहीं, एसिया के अन्य देश सरिन्दिया या प्राचीन एवं मध्यकालीन मध्य एसिया, जहाँ कि चीन तथा भारत की संस्कृतियाँ परस्पर मिला करती थीं, उन भूभागों तथा वहाँ के निवासियों से भी हमें एकता के एक शक्तिशाली बन्धनसूत्र से बाँध देने के कार्य में भी संस्कृत का अंशदान कुछ कम नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त तिब्बत, चीन तथा उसकी सभ्यता के क्रोड में आने वाले अन्य देश जैसे कोरिया, जापान, वियतनाम तथा सबसे अधिक बृहत्तर भारत के प्रदेश ब्रह्मदेश, श्याम, पैथेटलाओ, कम्बोडिया, कोचिन चीन या चम्पा तथा मलाया एवं इण्डोनेशिया के क्षेत्र—इन सभी देशों को तथा उनके निवासियों को हम से एकता की डोरी में बाँध देने में संस्कृत का अद्वितीय अंशदान सबसे अधिक ही कहा जायगा।

सच पूछा जाय तो श्रीलंका भी भारत का ही एक ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक प्रक्षेप के समान उसका उभरा हुआ हिस्सा ही माना जायगा। ईशा के पूर्व प्रथम सहस्र वर्षों की अन्तिम शताब्दियों से संस्कृत ने इन सभी देशों तथा वहाँ के निवासियों के बीच अपना घर बनाया तथा ज्ञान एवं संस्कृति के आदान-प्रदान के निरन्तर साधन के रूप में अपनी भूमिका निभाती रही। उस समय इन सभी भूभागों में संस्कृत द्वारा संस्थापित ज्ञान तथा संस्कृति के विनिमय का स्रोत एक शान्तिपूर्ण सांस्कृतिक प्रचार एवं प्रसार के रूप में प्रवाहित होता रहा। यही नहीं एशिया के अन्य देशों में भी संस्कृत ने अपने नये-नये स्थान स्थापित किये। इस क्रम में चीन ऐसे महान् देशों की संस्कृति में भी संस्कृत को अपना सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ। चीन का अनुसरण करते हुए कोरिया, जापान, वियतनाम,

तिब्बत, मध्य एसिया का तुर्किस्तान, मंगोलिया तथा मंचूरिया देश के निवासियों ने भी संस्कृत को अपनी संस्कृति में सत्कारपूर्वक प्रतिष्ठापित किया।

जिस समय चीन में बौद्ध अध्ययन अपनी चरम सीमा पर था उस समय वहाँ के विद्वत्-समाज की सहायता से हमारे देश के पंडित बौद्धग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद कर रहे थे। उस युग में चीन देश में संस्कृत के पठन-पाठन का एक विद्यालय भी चल रहा था। बोधिरुचि मठ में सात सौ भिक्षु संस्कृत के ज्ञाता थे। उस समय संस्कृत-चीनी शब्दकोशों की भी रचना की गई थी। चीन देश के लोग संस्कृत के इतने भक्त हो गये कि ह्वेनसांग सरीखे तीर्थयात्रियों ने अपना नाम मोक्षाचार्य तथा महायान देव रखा। भारत से चीन लौट जाने पर भी वे अपने भारतीय गुरुओं से पत्रव्यवहार करते रहे। कम्बोडिया, बोर्नियो तथा जावा में विशुद्ध काव्य-शैली में खोज द्वारा अनेक शिलालेख प्राप्त हुए हैं।

(१९) इस प्रकार संस्कृत ऐसी निधि से धनी होने के कारण मानव जाति तथा मानव समाज की विविध शाखाओं को एकता के एक बन्धनसूत्र में बाँध देने में संस्कृत सदैव ही सक्रिय रही है। इन सभी को संकलित तथा एकत्रित करने के क्षेत्र में भी संस्कृत की भूमिका किसी भी दशा में कम नहीं कही जा सकती। संस्कृत के इस अंशदान से विश्व के वातावरण में उसे एक अद्वितीय स्थान प्राप्त हुआ है। इस प्रकार यह सरलतापूर्वक देखा जा सकता है कि संस्कृत ने भारत के अतीत की उस समस्त संस्कृति को संरक्षित रखा है जिस संस्कृति का अखण्डप्रगतिप्रवाह यूरोप तथा एसिया से अपने पूर्व ऐतिहासिक तथा ऐतिहासिक मेल-जोल एवं सम्बन्धों को हमारे देश से सतत जोड़ रखने में सदा सफल होता आ रहा है। यह क्रिया विगत चार हजार वर्षों से निरन्तर चली आ रही है। संस्कृत की परम्परा आज के दिन भी एक जीवित परम्परा बनी हुई है। इसका विकासक्रम अब भी हमारे सामने विद्यमान है।

(ख) संस्कृत के मानवीयशास्त्र तथा संस्कृत-अध्ययन का बौद्धिक मूल्य

(२०) संस्कृत एक ऐसी भाषा है जो सभी प्रकार की विचार-क्रियाओं के चित्रण में समर्थ है। सभी गम्भीर एवं सूक्ष्म भावनाओं तथा कल्पनाओं के प्रगाढ़ तर्क-वितर्क में शक्तिशाली है। सौन्दर्यात्मक तथा भावात्मक प्रत्यक्षज्ञान के समस्त संस्कारों एवं शैलियों में गहन वादानुवाद में विचारक को बल देती है। आध्यात्मिक अन्तःस्फूर्ति को जागृत करने वाली आभ्यन्तरिक प्रेरणा की मूर्ति है। ज्ञान के महत्तम तथा घनिष्ठ सम्बन्धों एवं स्वरूपों के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म ऊहापोह में वादी तथा प्रतिवादी को अपने-अपने भावप्रकाशन में कदापि निराश नहीं होने देती। इतना ही नहीं, मानवशास्त्रों की सीमा में आने वाले समस्त विषय तथा प्रसङ्ग संस्कृत की अखण्ड ज्योति से ज्योतिर्मय हो रहे हैं।

(२१) इस प्रसङ्ग के प्रारम्भ में ही यह जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि संस्कृत भाषा का अध्ययन स्वतः ही एक उच्चकोटि का मानसिक प्रशिक्षण

है। धातु तथा अन्त्यवर्ण, ध्वनि-परिवर्तन के नियम, शब्दार्थ के सूक्ष्म परिवर्तनों को बताने वाले विभिन्न सूत्र आदि से बनी हुई संस्कृत भाषा की तुलना यदि हम विश्व की किसी भी अन्य प्राचीन भाषा से कर सकते हैं तो वे हैं उसकी बहिनें यूनानी तथा अरबी। प्राचीन युग में हमारे वैयाकरणों ने संस्कृत भाषा की निर्माण-प्रक्रिया का जो प्रतिपादन किया है वह वास्तव में एक विलक्षण बुद्धि का पोषक है। इस सन्दर्भ में यह ध्यान देने की बात है कि उपयुक्त भावप्रकाशन का सामर्थ्य प्रदान करने की दिशा में तथा भाषा का बुद्धिमानी से प्रयोग करने के मार्ग में संस्कृत व्याकरण में दक्षता प्राप्त करने की क्रिया स्वतः ही एक आनन्द है जिससे कि हमारा मन तथा हमारा अन्तःकरण स्फूर्ति तथा शक्ति से परिप्लावित हो उठता है। आनन्द-विभोर होकर भारतीय विद्याओं के एक उच्च विद्वान् वैरेण्ड फडेगो ने कहा है—"मैं पाणिनि की पूजा करता हूँ, क्योंकि वे हमारे लिए भारत की आत्मा का प्रकाशन करते हैं; मैं भारत की पूजा करता हूँ, क्योंकि वह हमारे लिए आत्मा की आत्मा का प्रकाशन करता है"।

(२२) हम देखते हैं कि आज के विज्ञान का सम्बन्ध दो वस्तुओं से है। उनमें से एक है हमारे चारों ओर फैला हुआ भौतिक जगत् तथा दूसरी वस्तु है मानव जीवन के विभिन्न अंग। संस्कृत-साहित्य भी आधुनिक विज्ञान के इन दोनों ही क्षेत्रों पर विचार करता है, किन्तु उसकी विचार-पद्धति विशेष करके उस 'उच्चतर विज्ञान' पर केन्द्रित है जो कि मानव-जगत् से सम्बद्ध ज्ञान तथा उस जगत् की आन्तरिक प्रकृति, उसके मन, उसके चेतनात्मक अनुभव तथा उसकी आत्मा का चिन्तन करता है। प्राचीन जनों की भाषा के रूप में संस्कृत का उच्चतम साहित्यिक विकास उस समय ही हो चुका था जब कि आधुनिक भौतिक विज्ञान अपने शैशव-काल ही में पड़ा हुआ था। इससे भी अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि आज के युग में जिन विज्ञानों के विकसित रूप हमारे सामने हैं उन विज्ञानों में से मुख्य मुख्य विज्ञानों के आधारभूत सिद्धान्त संस्कृत-वाङ्मय में सुरक्षित पाये जा सकते हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञान के प्रारम्भिक इतिहास के अध्ययन की दिशा में जो विपुल सामग्री संस्कृत-वाङ्मय में सुलभ है उस सामग्री की हम कदापि उपेक्षा नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त मानवीय-शास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र में भी संस्कृत की महत्ता स्पष्टतः प्रत्यक्ष है। यह ध्यान देने की बात है कि आज के युग में जब कि हम विज्ञान तथा तकनीक पर एक भयानक बल देते चले जा रहे हैं, ऐसे विषम समय में संस्कृत-वाङ्मय में प्रतिपादित मानवीयशास्त्र एक विलक्षण संतुलन की भूमिका निभा रहे हैं। इस सन्दर्भ में हम एक प्रसंग की विशेष चर्चा करना चाहेंगे जिसकी ओर प्रधान मंत्री श्रीनेहरू ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। श्रीनेहरू ने हमें सूचित किया कि अमेरिका के सुविख्यात महान् अणुवैज्ञानिक ओपेन हाइमर अपना बहुत सा समय संस्कृत तथा पाली के अध्ययन में बिताते थे।

(२३) यदि हम संस्कृत-वाङ्मय की विशाल सामग्री का अध्ययन करें तो हमें स्पष्टतः प्रत्यक्ष हो जायगा तथा हम अनुभव भी करेंगे कि इस विशाल साहित्य

में मानव-प्रकृति के अंग-प्रत्यंग का कितने विभिन्न दृष्टिकोणों से एक विलक्षण चित्रण किया गया है। संस्कृत भाषा का प्रारम्भिक प्रशिक्षण प्राप्त करके जब हम अपने शास्त्रों की विभिन्न शाखाओं पर दृष्टि डालते हैं तो हमें एक ऐसे ज्ञान-भाण्डार का दर्शन होता है जिसके अध्ययन के लिए यदि एक प्रगाढ़ विद्वान् भी तैयार हो जाय तो वर्षों की तो बात ही क्या उसे अपने सम्पूर्ण जीवन का भी समय लगाना पड़ सकता है। यही नहीं, किन्तु अपने सफल अध्ययन तथा अपने शोधकार्य के लाभ से वह लोक-कल्याण करने में भी समर्थ हो सकता है। संस्कृत-वाङ्मय कितनी अनेकता से परिपूर्ण है, इसका ज्ञान तो उसकी विभिन्न शाखाओं के सर्वेक्षण से ही प्राप्त किया जा सकता है।

(२४) सर्वप्रथम हम वैदिक साहित्य पर ही विचार करेंगे। वैदिक साहित्य संसार का एक प्राचीनतम साहित्य है। इस महान् साहित्य का अध्ययन अपने प्रारम्भकाल से आज के दिन तक एक अखण्ड परम्परा से निरन्तर चला आ रहा है। वेदों में केवल धर्म, दर्शन तथा आध्यात्म-विद्या का ही समावेश नहीं है। इस विशाल साहित्य में उच्च साहित्यिक प्रतिभा से सम्पन्न काव्य के भी दर्शन होते हैं तथा इसके मन्त्रों में भारतीय सभ्यता का प्राचीनतम स्वरूप परिलक्षित होता है। यही नहीं हमारे वेदों में भारत का राजनीतिक इतिहास भी विद्यमान है, जिसका संग्रह उसमें विखरे हुए सन्दर्भों से किया जा सकता है। जब हम विभिन्न भाषाओं के अध्ययन की दृष्टि से वेदों का अवलोकन करते हैं तब हमें यह ज्ञान होता है कि हमारे वेद तुलनात्मक भाषाविज्ञान तथा तुलनात्मक धर्म एवं तुलनात्मक साहित्य के चिन्तन-क्षेत्र के मूल आधार हैं।

(२५) संस्कृतभाषा का अध्ययन वैदिक साहित्य के अध्ययन से घनिष्ठ संबन्ध रखता है। भारतवर्ष तथा विश्व के बौद्धिक इतिहास में वैदिक शिक्षा या ध्वनि-विज्ञान, व्याकरण तथा निरुक्त या शब्दव्युत्पत्तिशास्त्र का स्थान अद्वितीय है। शब्द-व्युत्पत्तिशास्त्र के नियम-प्रतिपादन में यास्क ने ध्वनि तथा शब्दार्थ परिवर्तनों के माध्यम से भाषाविकास के कतिपय स्वरूपों का स्पष्ट तथा निश्चित विवेचन करके उसे नियमबद्ध किया है। भाषाविज्ञान के क्षेत्र में उनका यह कार्य विश्वसाहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम प्रयास कहा जायगा। पाणिनीयव्याकरण के समस्त विचारक एक स्वर से यही कहते हैं कि यह मानवबुद्धि की एक महत्तम उपलब्धि है। पाणिनि के उपरान्त संस्कृत-व्याकरण का विकास एक ऐसी शोध-प्रक्रिया तथा व्याख्या परम्परा से विभूषित है, जिसके समान भाषा के रचनात्मक तथा औपचारिक स्वरूप के अध्ययन-क्षेत्र में अन्य कोई शोध-प्रक्रिया अथवा व्याख्यान-परम्परा अन्यत्र कहीं भी दृष्टि में नहीं आती। भाषा के विभिन्न निर्माणतत्त्वों के प्रसंग में ही नहीं अपितु भाषा के शब्दार्थ तथा दार्शनिक स्वरूपों के अध्ययन ने यूरोप में इस समय एक नया मोड़ लिया है। इस अध्ययनकार्य में आज के दिन हमारे प्राचीन वैयाकरण आधुनिक भाषावैज्ञानिकों को नवीन विचारबिन्दु प्रदान कर रहे हैं।

(२६) भारत के दर्शन-साहित्य के विषय में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। हमारा देश दर्शन का निवास-स्थल कहा जाता है। वेदों से लेकर आज तक श्रीअरविन्द तथा डॉ० राधाकृष्णन् ऐसे विचारकों से मानवीय-शास्त्र की इस शाखा के अध्ययनों में हमारे देश की बुद्धि-प्रतिभा सर्वाधिक सफल सिद्ध हुई है। हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन में ब्रह्म तथा सृष्टि या जगत् का ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में समस्त सम्भव मार्ग का ही केवल अन्वेषण अथवा अनुसन्धान मात्र ही नहीं किया गया है, किन्तु भारतीय दर्शनशास्त्र जीवन की कतिपय व्यावहारिक सफलताओं तक पहुँचा देने के कार्य में भी हमारा सहायक सिद्ध हुआ है। दर्शनशास्त्र का अध्ययन हम लोगों में विषयप्रतिपादन सम्बन्धी एक विशिष्ट शिष्टाचार तथा शिष्ट मनोवृत्ति का आरोप करता है। इस विशेषता की प्रेरणा का ही फल है कि हम अपने तर्क-वितर्क तथा अपनी अन्तःस्फूर्ति द्वारा प्राप्त विचार-मार्ग पर आरूढ़ रहते हुए भी अन्य मतों की प्रामाणिकता अस्वीकार नहीं करते। अपने दार्शनिक अध्ययन की विशिष्टता के कारण ही हमारा मस्तिष्क सभी प्रकार के दार्शनिक विचारों, कल्पनाओं एवं मतों के प्रति 'अतिथि-पूजक' बन गया है। इस प्रकार की मनोवृत्ति को ही यह श्रेय प्राप्त है कि आज के दिन हम अपनी विचार-पद्धति में एक साथ मानव तथा मानवोचित होने की एक महती विशिष्ट योग्यता से विभूषित हैं। विचारात्मक एकनिष्ठता तथा अपनी विशिष्ट विचार-पद्धति पर सतत आरूढ़ रहने के कारण ही भारतीय-दर्शन द्वारा ढाली गयी भारतीय आत्मा के लिए परपीड़न सर्वथा अज्ञात तथा विपरीत आचरण है। भारत का यह दर्शन संस्कृत के पवित्र मन्दिर में संरक्षित है।

(२७) जीव तथा ब्रह्म के विषय में प्राचीन भारतीय चिन्तन की अभिव्यक्ति रामायण, महाभारत तथा पुराणों में चित्रित की गयी है। रामायण तथा महाभारत हमारे देश के श्रेष्ठतम ग्रंथ हैं। इनकी गणना समस्त विश्वसाहित्य की प्रमुख साहित्यिक रचनाओं में की जाती है। हमारे समाज के ये ही वास्तविक साहित्य हैं। इन दो ग्रंथों में प्राचीन भारत के मन, आत्मा तथा जीवनसम्बन्धी विचारों की विवेचना तो विद्यमान है ही, किन्तु आज के दिन ये दोनों ही महान् ग्रंथ हमारे मन तथा हमारे जीवन के संरक्षण तथा उनके निर्माण की दिशा में एक प्रबल शक्ति के रूप में क्रियाशील हैं। श्री जवाहरलाल नेहरू का कथन है कि "मैं नहीं समझता कि भारत के गौरव तथा उसके निधि के रूप में विद्यमान इन दो महान् महाकाव्यों के ज्ञान के बिना किसी भी व्यक्ति के लिए यह सम्भव है कि वह भारत तथा उसके जनसमुदाय को समझ सके"।

(२८) शुद्ध साहित्य के रूप में भी संस्कृत वाङ्मय एक विलक्षण विविधता से भरपूर है। साहित्य के इस विशाल वितान में लम्बी-लम्बी कविताएँ, महाकाव्य, तथा वर्णनात्मक काव्य हमारी दृष्टि में आते हैं। यह विशाल साहित्य गीतात्मक, उपदेशात्मक, वर्णनात्मक, भावात्मक, विचारात्मक तथा प्रेमात्मक काव्यों के एक बहुत बड़े समूह से अलंकृत है। इसमें मानव अनुभव के समस्त क्षेत्र को स्पर्श करने-

वाली कविताएँ तथा श्लोक भरे पड़े हैं। हमारे प्राचीन साहित्य की ये कविताएँ, ये श्लोक तथा ये काव्य कहीं अपने व्यापक विवेचन के माध्यम से तथा कहीं अपने संक्षिप्त चित्रण के रूप में साहित्यिक सौन्दर्य का एक अद्भुत जगत् प्रस्तुत करते हैं। इस साहित्य के नाटकों में से कुछ नाटक समस्त मानव जाति के लिए एक सम्पत्ति बन चुके हैं। इसके अतिरिक्त हमारे इस साहित्य में उमंग तथा उत्साह से ओत-प्रोत गद्यकाव्य भी विद्यमान हैं। इनके अवलोकन से प्रत्यक्ष होता है कि इनके रचयिता ने इनके निर्माण में कितना महान् श्रम किया होगा। इनकी शैली से हमें यह स्पष्टतया विदित होता है कि इन गद्यकाव्यों की रचना करने वाले हमारे मनीषी विविध शास्त्रों के कितने निष्णात पण्डित तथा विचारक हो चुके हैं। हमारा संस्कृत-वाङ्मय इस प्रकार की लघुकथाओं, गल्पों तथा कहानियों से भी परिपूर्ण है। यह साहित्य एक सुगम एवं चित्रात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है कि बच्चे भी इन कथाओं तथा कहानियों का सरलतापूर्वक आनन्द ले सकते हैं। इसके अतिरिक्त विशुद्ध साहित्य की विविध शाखाओं का भी समुचित प्रतिनिधित्व हमारे विशाल संस्कृत-वाङ्मय में विद्यमान है। यदि साहित्य का यह लक्ष्य है कि वह मानवजीवन को परोपकारी बनावे तो हम देखते हैं कि हमारा संस्कृतसाहित्य इस लक्ष्य की पूर्ति में केवल भारत को ही हस्तावलम्ब नहीं दे रहा है, अपितु समस्त संसार भी उसके उपदेशामृतों से असीम लाभ उठा सकता है।

(२९) संस्कृत ने इस प्रकार साहित्यिक अध्ययन के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, जिससे सौन्दर्यशास्त्र एवं अभिव्यञ्जनावाद के दर्शन की उत्पत्ति हुई। काव्य तथा नाट्यशास्त्र के क्षेत्र में भी भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के समय तक के रस तथा ध्वनिसिद्धान्तों का यदि हम अध्ययन करें तो हमें जान पड़ेगा कि इस दीर्घ काल में इन सिद्धान्तों का पूरा-पूरा विकास हुआ, इनकी अध्ययन-परम्परा निरन्तर गतिशील बनी रही तथा इनकी व्याख्या-प्रणाली भी उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ती गयी।

(३०) जैसा कि महामहोपाध्याय डा० पी० वी० काणे के व्यापक अध्ययन से प्रत्यक्ष होता है कि हमारे संस्कृतवाङ्मय के नीतिशास्त्र, विधिशास्त्र, व्यवहारशास्त्र तथा धर्मशास्त्र भी भारत की महती उपलब्धियों के द्योतक हैं। इन शास्त्रों पर बाद में जो टीकाएँ, व्याख्याएँ तथा टिप्पणियाँ लिखी गयी हैं उनके अनुशीलन से हमें विधिशास्त्र तथा न्याय के विभिन्न स्वरूपों से सम्बद्ध भारतीय दृष्टिकोण का परिज्ञान होता है। मिताक्षरा, वीरमित्रोदय तथा उस प्रकार की टीकाओं के कानूनी विचार-विमर्श अपनी स्पष्टता, यथार्थता तथा भावप्रकाशन की सरलता की दृष्टि से विख्यात ही नहीं, अपितु अद्वितीय भी हैं। राजनीति तथा अर्थशास्त्र के क्षेत्र में भी संस्कृतवाङ्मय की मानव-सेवा उच्चकोटि की ही कही जायगी। कौटल्य के अर्थशास्त्र के बाद भी अर्थशास्त्र, राजनीति, नीति तथा समाजशास्त्र एवं नैतिक आचरणसम्बन्धी रचा गया साहित्य भी आज उपलब्ध है। राजनीति तथा राजधर्म के क्षेत्र में विषय का ठीक-ठीक चित्रण करने वाले किसी भी प्रकार के अध्ययन की तुलना हमारे 'अर्थशास्त्र' सरीखे ग्रन्थ

से की जा सकती है। इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि हमारे संस्कृत-वाङ्मय की यह उपलब्धि दो हजार वर्षों से भी अधिक पहले की है।

(३१) संस्कृत साहित्य की कुछ ऐसी भी शाखाएँ हैं जिनका सम्बन्ध विशुद्ध विज्ञान से ही है। कश्यप, सुश्रुत तथा चरक की सुव्यवस्थित रचनाओं से प्रारम्भ करके यदि हम इस साहित्य-परम्परा का अनुशीलन करते चलें तो यह प्रत्यक्ष होगा कि हमारे देश में चिकित्सा-विज्ञान तथा रोगों को दूर करने वाले औषधशास्त्र (जड़ी-बूटी विद्या) का कितना बहुमूल्य विशाल साहित्य विद्यमान है। इस क्षेत्र में हमारे चिकित्सकों की उपलब्धियों का चीन तथा अरब में स्नेहभरा स्वागत किया गया। यह भी सम्भव है कि ईसा से पूर्वकाल में यूनानी तथा चीनी चिकित्साशास्त्र भारतीय रोग-विज्ञान से प्रभावित हुआ हो। ईसा के पूर्वकालीन युग में गणित तथा विशुद्ध ज्योतिष-विद्या, नक्षत्रशास्त्र के क्षेत्र में भी हमारे देश की उपलब्धियाँ संस्कृतवाङ्मय में पवित्रता पूर्वक संरक्षित हैं।

(३२) यदि हम अपने संस्कृत-वाङ्मय की अनेकानेक विभिन्न उपलब्धियों का सरलतापूर्वक ज्ञान करना चाहते हैं, तो हमें यह जान लेना भी अपेक्षित है कि हमारे देश में संस्कृत-व्याकरण के साथ ही साथ शब्दकोश-विद्या का एक बहुमूल्य साहित्य भी अपने विकास की चरम सीमा पर स्थित था। इस बहुमूल्य साहित्य में विभिन्न शब्दों को अपनी-अपनी श्रेणी तथा अपने-अपने वर्ग के अनुसार भली-भाँति व्यवस्थित किया गया है। इस क्षेत्र में अपने देश के मनीषियों द्वारा किये गये प्रयत्नों पर यदि हम दृष्टि डालें तो हमें यह ज्ञात हो जायगा कि वैदिक निघण्टुओं की तरह इस कार्य का सूत्रपात भी पर्यायवाची शब्दों की सूचियों से तथा इस प्रकार की अन्य सूचियों के सहारे ही किया गया था। राजेट अपने "शब्दमुहाबिरा भण्डार" (Treasure of English Words and Phrases) में अमरसिंह के अमर-कोश की चर्चा करते हुए कहते हैं कि वर्गानुसार शब्दों को क्रमबद्ध करने की प्रणाली का यह एक प्रमुख पथप्रदर्शक ग्रन्थ है।

(३३) यहाँ तक हमने एक ऐसे साहित्य का विवेचन किया है जिसे कि विशुद्ध पारम्परिक भारतीय अन्तःस्फूर्ति द्वारा विरचित कहा जा सकता है, किन्तु इस विशुद्ध शास्त्रीय वाङ्मय के अतिरिक्त हमारे संस्कृत-वाङ्मय की अन्य आकर्षक एवं प्रभावशाली शाखाएँ भी विद्यमान हैं। वे हैं हमारे जैन तथा बौद्धशास्त्र। हमारा बौद्ध संस्कृत-साहित्य पालि-साहित्य के समान ही बृहत् है। इस साहित्य में भी दर्शन, धर्म, काव्य तथा कथोपकथन विद्या की रचनाएँ उपलब्ध हैं। जैन दर्शन के सिद्धान्तों का परिष्कार संस्कृत-साहित्य का एक समृद्धरूप है। इस सम्प्रदाय ने वर्णनात्मक काव्यों तथा महाकाव्यों के एक अतिविस्तृत साहित्य के अतिरिक्त अपने नाटकों, गद्यगाथाओं तथा स्तोत्रों से संस्कृत-वाङ्मय को धनी बनाया है। साथ ही साथ जैनमत का व्याकरणशास्त्र, उसकी कोशविद्या तथा नक्षत्रविद्या इत्यादि ने भी संस्कृत-वाङ्मय को गौरवान्वित करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। इसके अतिरिक्त इस प्रसंग में हम हीनयान बौद्ध सम्प्रदाय के पालि-साहित्य

तथा जैनियों के प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य को भी नहीं भूल सकते। सच पूछा जाय तो इस बहुमूल्य साहित्य के यथोचित परिज्ञान के लिए हम उसे संस्कृत से पृथक् नहीं कर सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही पहलुओं को लाभान्वित करने के लिए परिमाण तथा गुणसम्पन्नता दोनों ही विचारकोणों से संस्कृत साहित्य एक अत्यन्त महान् तथा अत्यन्त व्यापक साहित्य के रूप में आज भी हमारे सामने विराजमान है।

(ग) संस्कृत-साहित्य तथा मानसिक शक्तियों का सर्वांगीण विकास

(३४) कुछ लोगों का कथन है कि संस्कृत पौरोहित्य की भाषा है तथा कट्टरपन्थी हिन्दुओं की विचारधाराओं एवं उनकी संस्थाओं, उपासना-विधियों तथा प्रयोगों तक ही सीमित है। इस पक्ष के समर्थक यह कहते सुने जाते हैं कि संस्कृत हमें आज की दुनियाँ के विरुद्ध प्रतिक्रियावाद की ओर अग्रसर करने में ही सहायक होती है। इन लोगों का कहना है कि जो लोग संस्कृत से प्रेरणा प्राप्त करते हैं वे जीवन की वास्तविकता की ओर से आँखें मूँदकर एक आदर्श अतीत की ही बात सोचा करते हैं। ऐसे लोगों को यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य के किसी भी स्वरूप को किसी भी प्रकार विशुद्ध धार्मिक या साम्प्रदायिक कहना एक बहुत बड़ी भूल होगी। हमने इसी अध्याय के एक स्थल पर यह बताया है कि संस्कृत-वाङ्मय में तकनीकी तथा वैज्ञानिक ज्ञानभाण्डार के साथ-साथ व्यावहारिक जीवन का एक विशाल भाण्डार विद्यमान है। कौटल्य के अर्थशास्त्र सरीखे राजधर्म के ग्रन्थों को अथवा शिल्पशास्त्र के मानसार, समरांगणसूत्रधार तथा अपराजित-पृच्छा ऐसी रचनाओं को एवं संस्कृत-वाङ्मय के अन्यान्य कला-ग्रन्थों को धार्मिक ग्रन्थ की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इस सन्दर्भ में हमें अपने वाङ्मय के विभिन्न प्रकार के संस्कृत नाटकों तथा काव्यों की ओर भी दृष्टि डालनी चाहिए। इन ग्रन्थों के विशुद्ध साहित्य को क्या हम धार्मिक या कट्टरपन्थी साम्प्रदायिक साहित्य कह सकते हैं? इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने की बात है कि यदि हम संस्कृत-वाङ्मय के विभिन्न अंग-प्रत्यंगों का सर्वेक्षण करने की चेष्टा करें तो हमें विदित हो जायगा कि उसका एक बहुत बड़ा भाग किसी विशेष सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। हमें स्पष्टरूप से यह दिखाई देगा कि संस्कृत-साहित्य का एक अधिक अंश ऐसे मनीषियों द्वारा भी विरचित है जो ब्राह्मण नहीं हैं। यहाँ तक कि हिन्दू भी नहीं हैं। इन अब्राह्मण तथा अहिन्दू विद्वानों ने हमारे साहित्य को समृद्ध बनाने में अपूर्व गौरव-पूर्ण भूमिका निभाई है। ऐसी स्थिति में यह सत्य मान बैठना सर्वथा अनुचित होगा कि संस्कृत हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य की प्रतिनिधि भाषा मात्र है।

(३५) संस्कृत एकनिष्ठतया धार्मिक भाषा नहीं है। इसे भारतवर्ष के कतिपय मुसलमान शासकों ने भी स्वीकार किया था। इस विचार-पद्धति से प्रभावित होकर ही उन्होंने संस्कृत को संरक्षण प्रदान किया। गुजरात, बंगाल तथा कुछ अन्य स्थानों के अपने शिलालेखों में इन मुहम्मदीय शासकों ने संस्कृत को स्थान दिया।

इस भावना से अरब के लोगों ने भी प्रेरणा प्राप्त की थी। संस्कृत साहित्य के वैज्ञानिक एवं लौकिक स्वरूप, उसके चिकित्सा-शास्त्र तथा नक्षत्र-विद्या पर व्याख्यान देने के स्वार्थ से उन लोगों ने इन शास्त्रों के ग्रन्थों को अरबी में रूपान्तरित करने का विचार किया। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए उन्होंने भारतीय विद्वानों को बगदाद आमंत्रित करके उनका अभूतपूर्व स्वागत किया था। अभी हाल तक भारतीय चिकित्सा-पद्धति हमारी राष्ट्रिय चिकित्सा-पद्धति बनी हुई थी। इसे समस्त देश ने चिकित्सा-व्यवसाय के रूप में अपनाया भी था। आयुर्वेद की चिकित्सा-पद्धित में प्रवेश पाने के लिए संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य था। अतः बंगाल के मुस्लिम आयुर्वेद-चिकित्सकों ने संस्कृत ग्रन्थों का भी अध्ययन किया था। हम लोग प्रायः यह कहा करते हैं कि अंगरेजी के अध्ययन पर बल देना अंगरेजों को शासक के रूप में भारतभूमि पर पुनः बुलाने के समान है। अपनी इस धारणा को हम प्रतिक्रिया का परिचायक नहीं माना करते। यदि ऐसा है तो हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि संस्कृत का अध्ययन भी किसी प्रकार की प्रतिक्रिया की भावना के कारण ही बन सकता है। कालिदास, वराहमिहिर तथा शङ्कर सरीखे हमारे महान् ग्रन्थकारों ने अति प्राचीनकाल से जिन अनुभूतिपूर्ण भावनाओं की अभिव्यक्ति की है, उससे बढ़कर स्फूर्तिदायक उदारता एवं युक्तिसंगत दृष्टिकोण का अन्य उदाहरण और क्या हो सकता है? "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" कालीदास के यह वचन; "म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रम् इदं स्थितम्। ऋषिवत् तेऽपि पूज्याः स्युः" (यवन ही म्लेच्छ हैं, किन्तु यह विज्ञान उनमें भी स्थित है। अतः वे भी ऋषिवत् पूज्य हैं) वराहमिहिर के ये वचन; "न हि पूर्वजा मुधा आसीदिति अवरजनेऽपि मुधेन भवितव्यम्" (पूर्वज अनभिज्ञ थे, इससे यह नहीं समझा जा सकता कि हम भी अनभिज्ञ बने रहें) शंकर के वचन सिद्ध करते हैं कि संस्कृत हमें कट्टरपन्थी बनाती है अथवा वर्तमान प्रगति के विरुद्ध हममें विपरीत भावनाएँ जागृत करती है। भारतीय विचार-पद्धति की यह एक आधारभूत विशेषता बनी रही है कि वह सभी विषयों पर एक बुद्धिसंगत मार्ग द्वारा ही मनन करने की ओर अग्रसर होती रही है। वैदिक प्रार्थना गायत्री में मानव-विचारशक्ति को उत्तेजित करने के लिए ही ईश्वर से प्रार्थना की गयी है—"धियो यो नः प्रचोदयात्"। चार्वाक या लोकायत ऐसे सौन्दर्यपरायण जड़वादी दार्शनिक सिद्धान्त भी संस्कृत भाषा में ही प्रतिपादित हैं। निरुक्त का निर्देश है कि अपने मानसिक कार्यव्यापार में सभी लोगों को तर्क की विधि का अनुसरण करना चाहिए। आज भी संस्कृत के पण्डितों में एक उच्चस्तर की विचारस्पष्टता तथा शिष्टाचार विद्यमान है। यदि संस्कृत के अध्ययन से कट्टरपंथी या प्रतिक्रिया की भावना जागृत होती तो उनमें ये गुण कभी नहीं पाये जाते।

(३६) इस सन्दर्भ में हमें संस्कृत तथा संस्कृति की इन दो विशेषताओं को स्पष्टतः समझ लेना चाहिए। प्रथम विशेषता यह है कि विक्षुब्ध अनेकता में संस्कृत जगत् एक विलक्षण एकता प्रदर्शित करता है। सन् १९३७ में अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन (All India Oriental Conference) के नवम अधिवेशन के सभापति श्री

एफ० डब्ल्यू टामस् ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा है—"भारत के प्रदेश, नगर तथा मन्दिर यद्यपि अपने धार्मिक पर्वों, अपने रीति-रिवाजों तथा अपनी विचार पद्धतियों से अपने एक विशेष व्यक्तित्व का परिचय देते हैं, तथापि ये सभी एक ही मूल से तथा एक समान परम्परा से जुड़े हुए हैं। इस प्रकार समस्त आर्यजगत् एक ऐसे आकाश के समान है जिसमें कई प्रकार के नक्षत्र यद्यपि परस्पर जुड़े हुए हैं, तथापि इनमें से प्रत्येक अपने एक विशेष रंग की चमक से प्रकाशित होने को उद्यत हैं"। दूसरी विशेषता की चर्चा करते हुए श्रीटामस् आगे कहते हैं कि—"कुछ प्राचीनता के कारण तथा कुछ अपनी सामाजिक जटिलता से सामञ्जस्य स्थापित रखने के कारण एवं अपनी इच्छा के अनुरूप संकल्पित गूढ चिन्तन के कारण भी अन्य मनुष्यों की अपेक्षा भारतीय मानव अधिक विचारशील सिद्ध हुआ है। प्राचीन भारत में एक राजकीय विभाग के अध्यक्ष के लिए भी 'धर्मचिन्तक' सरीखे शब्दों का प्रयोग किया जाता था"।

(घ) संस्कृत तथा राष्ट्रिय एकता

(३७) भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता की अभिव्यक्ति की दिशा में संस्कृत की भूमिका पर तथा संस्कृत किस प्रकार हमारी संस्कृति तथा सभ्यता की मूर्ति है इस सन्दर्भ में भी हम इसके पूर्व विचार कर चुके हैं। यह विशेष रूप से ध्यान देने की बात है कि हमारी संस्कृत विचार-परम्परा कोई कृत्रिम परम्परा नहीं है। वह तो हमारी मूलप्रवृत्तियों से स्वतः उद्‌बुद्ध है। हम लोग संस्कृत को एक ऐसी महती संयोजक शक्ति के रूप में देखते हैं—जिस शक्ति ने युग-युगान्तरों से हमारे इस विशाल देश के विभिन्न भाषाभाषी तथा अपने स्थानीय ढंग से विभिन्न प्रकार का जीवन-यापन करने वाले एक महान् जनसमुदाय को एकता के कठिन बन्धन में बाँध देने का अनुपम कार्य किया है। हमने केरल से काश्मीर तथा कामरूप से सौराष्ट्र तक अपने देश की एक व्यापक यात्रा की है। इस यात्रा से हमने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खोज की है। हमने यह देखा कि हमारे देश के निवासियों की जीवन-पद्धति भिन्न-भिन्न है, उनकी सामाजिक आदतें भिन्न-भिन्न हैं, उनके रीति-रिवाजों में कई प्रकार के अन्तर हैं, तथापि वे सभी अपने आप को एकता के एक ही सूत्र में बँधा मानते हैं और यह अनुभव करते हुए अपने को गौरवान्वित समझते हैं कि वे एक समान विरासत का उपभोग कर रहे हैं तथा राष्ट्रियता से जुड़े हुए एक ही राष्ट्र के नागरिक हैं। निश्चय ही वह विरासत संस्कृत ही है जो कि इस अनेकरूपता में एकरूपता का आरोप करती है। प्राचीनकाल में संस्कृत हमारे देश के शिक्षित समाज की एक अत्यन्त नैसर्गिक भाषा थी। हम सब जानते हैं कि हमारे देश के विभिन्न भागों में रहने वाले संस्कृत के पण्डित आज भी अपने वार्तालाप, पत्रव्यवहार तथा तर्क-वितर्क में संस्कृत का प्रयोग करते हैं। आज भी सर्वसाधारण की भाषा के रूप में संस्कृत, हिन्दी तथा अंगरेजी के समान ही अपना एक विशेष महत्त्व रखती है। आज भी हमारे देश में कुछ ऐसे लोग हैं, चाहे वे भारतीय हों या विदेशी, जो कि संस्कृत को छोड़ कर अपनी

भाषा से अतिरिक्त अन्य कोई भाषा नहीं जानते। ऐसे लोग आपस में संस्कृत ही बोला करते हैं। अपने इस स्वरूप में भी संस्कृत आज के दिन भी एक महत्त्वपूर्ण भाषा बनी हुई है। संस्कृत के इस स्वरूप के बल पर ही हमारे देश के कुछ विचारकों ने यह पक्ष प्रस्तुत किया है कि बिना किसी भी हिचकिचाहट के वास्तव में संस्कृत को ही राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठापित किया जाना चाहिए। कहना न होगा कि उनके इस सुझाव को प्रबल समर्थन भी प्राप्त हुआ है। अपने इस कथन को पुष्ट करने के लिए हम अपने कुछ साक्ष्यों के एक विशेष दृष्टिकोण की चर्चा करना चाहेंगे। ये साक्ष्य बलपूर्वक यह कहते हैं कि यदि यह संस्कृत आयोग, प्रदेश-पुनःसंघटन आयोग के पूर्व आयोजित किया गया होता तो हम अपने राष्ट्रिय जीवन के कई एक वर्तमान लड़ाई-झगड़े से बच गये होते। भारतीय-विद्या के एक प्रमुख विद्वान् की चर्चा करते हुए डाक्टर काटजू ने हमें यह सूचित किया है कि उन्हें इस बात को देख कर आश्चर्य हुआ कि भारत में राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर मतभेद चल रहा है। आज की इस परिस्थिति में हम इस बात पर आग्रह नहीं करते कि संस्कृत राष्ट्रभाषा बना दी जाय। यद्यपि सी० वी० रमन सदृश हमारे कतिपय साक्ष्यों ने हमें यह सुझाव दिया कि संस्कृत को राष्ट्रभाषा उद्घोषित कर दिया जाना चाहिए। इसी कोटि के कुछ प्रमुख ख्यातिप्राप्त विद्वानों ने हमसे यह कहा कि इस प्रश्न पर यदि संविधान में संशोधन की भी आवश्यकता आ पड़े तो वह भी हो जाना चाहिए। एफ़० डब्ल्यू टामस् तो भारतीय नहीं थे। उनका कथन है कि "मैं यह अनुभव नहीं करता कि भारतवर्ष में संस्कृत को सर्वसाधारण की साहित्यिक भाषा के रूप में पुनः प्रतिष्ठापित करने का विचार सर्वथा त्याज्य है। इसके अतिरिक्त दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि भारतीय विचारों के अनुसार स्वयं साधनहीन अंगरेजी को छोड़ अन्य किसी भाषा को भारत की राष्ट्रभाषा न बनाया जाय या संस्कृत के पक्ष में अनिवार्य इच्छाओं के होते हुए भी बोलचाल की किसी विशेष भाषा को इस सन्दर्भ में प्रमुखता दी जाय"।

(३८) संस्कृत की एक अन्य प्रमुख विशेषता पर हमें ध्यान देना चाहिए। हमें केवल एक तथ्य पर ही बल नहीं देना चाहिए कि संस्कृत भारत की एक महती एकतास्थापक-शक्ति के रूप में सक्रिय रही है। यदि यह शक्ति न होती तो भारत की चालीस करोड़ की जनसंख्या अपने आप को आज एक राष्ट्र कहने का दावा कदापि न रख सकती तथा भारत एक दर्जन या इससे भी अधिक देशों में विभक्त हो गया होता। भारतवर्ष के कतिपय मुसलमान नेताओं का संस्कृत से तालमेल नहीं बैठता था। ऐसे सज्जनों ने जानबूझ कर या उसकी उपेक्षा करते हुए, अंशतः ब्रिटिश साम्राज्यवाद से प्रेरित होकर, यह चेष्टा की कि वे संस्कृत की विरासत से मुक्त हो जायँ। इन नेताओं ने हमारे देश के मुस्लिम नागरिकों को एक दूसरे मार्ग की ओर ले जाने का प्रयत्न किया। ऐसे महानुभावों के द्वारा संस्कृत को त्याग देने के अनुष्ठान का यह परिणाम है कि हमारे देश को जीवित अंगविच्छेद की दारुण पीड़ा सहनी पड़ी तथा हमारे देश के करोड़ों नागरिकों के ऊपर एक अवर्णनीय विपत्ति का पहाड़

टूट पड़ा। संस्कृत को इस प्रकार त्याग देने का क्या परिणाम होता है, आज हम उसे प्रत्यक्ष देख रहे हैं। यह परिणाम ही वर्तमान युग में संस्कृत की सर्वोपरि महत्ता को प्रकाश में लाता है।

(३९) भारत के समान ही तीन अन्य देशों को भी इसी प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। जिस प्रकार भारत में संस्कृत ने सांस्कृतिक तथा राजनीतिक एकता के दृढीकरण में हमारी सहायता की है उसी प्रकार चीन में भी सांस्कृतिक तथा राजनीतिक एकता के दृढीकरण में उस देश की एक विलक्षण लेखन-प्रणाली का विशेष स्थान है। सच पूछा जाय तो चीन में किसी एक ही भाषा का प्रयोग नहीं होता। वहाँ कई भाषाएँ हैं, जिन्हें साधारणतः 'प्रान्तीय भाषा या प्राकृत' कहा जाता है। हान या चीनी भाषा बोले जाने वाले क्षेत्रों में इन्हें मुख्य भाषा में ही मिला दिया गया है। प्राकृत या प्रान्तीय भाषाओं के रूप में उन्हें किसी पृथक् प्रधान भाषा के समान नहीं देखा जाता। चीन की विचित्र लेखन प्रणाली ने इनके मुख्य भाषातत्त्वों को अन्धकार में डाल दिया है। यद्यपि इन चीनी भाषाओं के व्याकरण तथा उच्चारण की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न होने के कारण इन भाषाओं की पृथक् इकाई बन सकती थी। समान लिपि में लिखी जाने के कारण ही ये सभी भाषाएँ एक इकाई के रूप में ही विद्यमान हैं।

चीनी लिपि में वस्तुओं का चित्रमय रूप है। विचारों के प्रतीकात्मक रूप हैं। इस वर्णमाला में ध्वनि एवं विचारों के संयुक्त भावों के लिए संकेतात्मक विचार-चित्र, भावचित्र तथा ध्वनि-चित्र के रूप में संयुक्तवर्ण निर्धारित किये गये हैं। चीन में यही लिपि पढ़ी तथा समझी जाती है। इस लिपि के माध्यम से ही उस देश के सुदूर कोने भी आज तक एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में जुड़े हुए हैं। यदि चीनी या किसी अन्य शक्ति के द्वारा इस चित्रात्मक एवं प्रतीकात्मक लिपि के स्थान पर किसी प्रकार की ध्वन्यात्मक लिपि को स्थापित करने की चेष्टा की गयी, तो यह सम्भव है कि चीन की सांस्कृतिक एवं राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो जाय। इसी कारण चीन के लोगों ने यह निश्चय कर लिया है कि उनके देश के बालकों तथा बालिकाओं को अपनी भाषा के कुछ हजार वर्णों को सीखने में कुछ वर्षों तक परिश्रम पूर्वक कठिन अभ्यास करना चाहिए। यह लिपि ही चीनी एकता की स्पष्टतम, शक्तिशाली तथा वास्तव में समस्त भावप्रकाश को एकमात्र प्रतीक के रूप में आज उस देश में विद्यमान है। इजराइल ने अपने पूर्वजों की, अपने धर्म की तथा अपनी संस्कृति की प्राचीन भाषा हिब्रू को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया है। उनकी धारणा है कि एक संयुक्त राष्ट्र के रूप में अपने को जीवित रखने के लिए इस भाषा के माध्यम से ही उनके राष्ट्र का सांस्कृतिक तथा धार्मिक आधार सुदृढ बनाया जा सकता है। इसी प्रकार आयर में आयरिश भाषा के पुनरुत्थान की चेष्टा भी वर्तमान युग में राष्ट्रिय संस्कृति तथा राजनीतिक एकता को बलशाली बनाने के लिए अपने देशवासियों के पूर्व इतिहास से जुड़ी हुई भाषा की सहायता लेने का एक स्मरणीय उदाहरण है। ऐसी स्थिति में, जब हम यह मान चुके हैं कि हमारी संस्कृत भाषा एक जीवित परम्परा तथा संस्कृति से भरपूर है तथा हमारे देश में इस भाषा

का स्थान अपेक्षाकृत अब भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, कोई कारण नहीं कि हम उसे अपने वास्तविक रूप में प्रतिष्ठापित न करें।

(४०) इस समय हम यह अनुभव कर रहे हैं कि हमारे देश में विग्रह उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियाँ सक्रिय हैं। ऐसी स्थिति में आज के दिन अपनी एकता को शक्तिशाली बनाना हमारे लिए और दिनों की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यक है। एक महान् विरासत के रूप में संस्कृत इस समय विभिन्न भारतीय भाषाओं को, साहित्यों को एवं संस्कृतियों को जोड़ने वाली एक स्वर्णश्रृंखला का कार्य कर सकती है। हमारी इच्छा है कि संयुक्त भारतराष्ट्र की हमारी धारणा खतरे में न पड़ जाय, अतः हमारा यह परम कर्त्तव्य होगा कि हम संस्कृत की कदापि उपेक्षा न करें तथा किसी भी दशा में उसका ह्रास न होने दें। इस आधार पर ही हम भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में संस्कृत को उसके यथोचित स्थान पर प्रतिष्ठापित कर सकेंगे।

(ङ) संस्कृत तथा चरित्र-निर्माण

(४१) किसी भी बौद्धिक प्रशिक्षण के दो स्वरूप हुआ करते हैं—सूचनात्मक तथा निर्माणात्मक। सूचनात्मक स्वरूप हमें कुछ अंश तक यथार्थ ज्ञान की ओर ले जाता है। निर्माणात्मक स्वरूप चरित्र-निर्माण की दिशा में तथा साधारणतः मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों के विकास में हमारी सहायता करता है। यही नहीं, वह इन शक्तियों को अधिक से अधिक संग्रहशील उदार बनता है। हमारे साहित्य में मानसिक प्रशिक्षण के ये दोनों रूप विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त उसमें सूचनात्मक तथा निर्माणात्मक साहित्य के परस्पर भेद भी स्पष्टतया देखे जा सकते हैं। संस्कृत साहित्य अपने सूचनात्मक तथा निर्माणात्मक दोनों ही स्वरूपों से हमारी सहायता करता है। यतः यहाँ हम अपने देश की शिक्षा के क्षेत्र में संस्कृत के स्थान पर विचार कर रहे हैं, हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम उसके निर्माणात्मक अथवा दूसरे शब्दों में उसके चरित्रनिर्माण के पहलू पर यथोचित ध्यान दें।

(४२) मानव सभ्यता को प्रत्येक राष्ट्र अपना कुछ न कुछ अंशदान देते ही हैं। मानव के आत्मप्रकाशन के किसी न किसी भाग में उनके मनीषियों का कुछ न कुछ चिन्तन होता ही है। विचार तथा व्यवहार की किसी न किसी विशेष पद्धति पर उस राष्ट्र के अनुभव से ही उसका जीवन-दर्शन संगृहीत होता है। भारत का जीवन-दर्शन या भारत की राष्ट्रिय-प्रतिभा की परिभाषा कई प्रकार से की जा चुकी है। सामान्यतः यह माना जाता है कि भारत के इस जीवन-दर्शन का तात्पर्य है बुद्धि तथा साधना से परिपुष्ट मानव-अन्तःस्फूर्ति द्वारा अनुभव किये गये मूलभूत अदृष्ट तत्त्व परब्रह्म परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना। हमारा जीवन-दर्शन जीव तथा जीवन की एकरूपता पर तथा समस्त सृष्टि में सर्वव्यापी अद्वितीय ब्रह्म के सिद्धान्त पर भी विश्वास करता है। भारतीय दर्शन में इस सिद्धान्त की अभिव्यक्ति कई प्रकार से की गयी है तथा यह स्थिर किया गया है कि इस परब्रह्म

की अन्तःअनुभूति तथा लोक में तदनुसार व्यवहार करना ही मानव-जीवन की श्रेष्ठता का द्योतक है। जीवन का यह भारतीय दृष्टिकोण, जिसे भारतवाद भी कहा जा सकता है, जीवन के शोकजनक प्रसंगों के सम्बन्ध में अपना यह विचार प्रकट करता है कि इस जगत् में शोक तथा पीड़ा का ही साम्राज्य है। मानव का यह कर्त्तव्य होता है कि ज्ञान, आत्मसंयम, सत्कार्य तथा ईश्वर पर विश्वास का मार्ग ग्रहण करके वह इस शोक तथा पीड़ा से अपने आपको मुक्त करे। यह भारतीय जीवन-दर्शन समस्त जीवन-लोक को पवित्र तथा सम्मान करने योग्य मानता है। इस विचारधारा की विशिष्टताएँ हैं—अगाध करुणा, सहानुभूति, उत्साहपूर्ण सेवा-कार्य तथा परोपकार। इसके अतिरिक्त भारतीय जीवन-पद्धति समस्त मानव क्रियाओं के सञ्चालन में हमें धर्म की आवश्यकता की भी शिक्षा देती है।

(४३) हमारा अध्ययन हमारे जीवन में उतरता है। जैसे कोई यूनानी साहित्य का अध्ययन करता है, तो वह उसका मन तथा उसका अन्तःकरण उस साहित्य में व्याप्त हेलेनवाद के आदर्शों से समुन्नत तथा प्रसन्न हुए बिना रह ही नहीं सकता। उसी प्रकार प्राचीन हिब्रू साहित्य, जिसे कि हम बाइबिल के प्राचीन भाग (Old Testament) में देखते हैं, उसका भी अध्ययन एक प्रकार का नैतिक उत्साह जागृत करता है। इसी प्रकार सामाजिक सुव्यवस्था तथा न्याय की एक गम्भीर इच्छा, जो कि कभी-कभी सृष्टि की एकरूपता की रहस्यमयी भावना के साथ उत्पन्न हुआ करती है, चीनी अध्ययन (Confucianism and Taoism) से प्रकट होती है। ठीक इसी प्रकार संस्कृत-वाङ्मय में निहित मानवीय शास्त्रों के अध्ययन का परिणाम होता है एक विशेष प्रकार की विचार-परम्परा तथा महत्त्वपूर्ण जीवन-पद्धतियों का परिज्ञान। संस्कृत का विद्वान् लौकिक व्यवहार में कुशल तथा चतुर व्यक्ति भले ही न हो, पर उसमें चरम सत्य की अत्यन्त सजीव भावना तो व्याप्त रहती ही है। वास्तव में समस्त मानव-जगत् तथा जीवित प्राणिमात्र के प्रति उसके कार्य तथा व्यवहार, अहिंसा, करुणा तथा मैत्री की भावना से अनुरञ्जित रहा करते हैं। एक सुनिश्चित मात्रा में सौजन्यभाव, विनय तथा नम्रता—विशेषतः जीवन की अदृष्ट शक्तियों के प्रति सभी को उनके यथोचित प्राप्तव्य दे देने की इच्छा, दूसरों के धार्मिक विचारों एवं विश्वासों के प्रति सहिष्णुता तथा सर्वोपरि सभी विचारों एव भावों में नैतिकता एवं सत्यता—ये सभी गुण एक आदर्श संस्कृत विद्वान् में विद्यमान रहा करते हैं। जीवन में स्थायित्व लाने वाली एक महान् शक्ति के रूप में या नैतिक आश्रय के रूप में संस्कृत की विशेषता के सम्बन्ध में जितना बल देकर कहा जाय वह थोड़ा ही प्रतीत होगा। केन्द्रीय गृहमन्त्री श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में हमसे कहा कि संस्कृत हमारे जीवन को एक प्रकार की एकरसता प्रदान करती है।

(४४) संस्कृत-साहित्य के असंख्य श्लोकों तथा सुभाषितों में उच्चकोटि के नैतिक उपदेश भरे पड़े हैं। संस्कृत-वाङ्मय की हमारी उस बहुमूल्य सामग्री को एक बहुत ऊँचे उपदेश साहित्य की संज्ञा दी जा सकती है। ऐसे व्यक्ति जो कि बचपने से ही इन श्लोकों तथा सुभाषितों से परिचित होने के कारण उनकी आत्मा

से घुल-मिल जाया करते हैं तथा जो रामायण, महाभारत तथा उपनिषदों के वातावरण में पल चुके हैं, उनका अपने देश तथा अन्य देशों के जीवन के प्रति एक संतुलित एवं सुसंस्कृत दृष्टिकोण बन जाया करता है। वास्तव में इस प्रकार का दृष्टिकोण उन लोगों में कदापि नहीं पाया जा सकता है जो कि इस उपदेशात्मक वातावरण तथा साहित्य के सम्पर्क से वञ्चित रहे हैं। यथार्थ में इस भारतवाद के उच्च आदर्शों को सुकोमल बालकों के संस्कारों में उनकी मातृभाषाओं में विरचित रचनाओं तथा विवेचनों के माध्यम से ही बैठाया जा सकता है। संस्कृत की मूल अभिव्यक्तियों तथा उसके उपदेशों में प्रभुत्व का स्वर सदैव व्याप्त रहा है। उनकी भाषा की ध्वनि एक विलक्षण सौन्दर्यात्मक प्रभाव एवं आकर्षण से परिपूर्ण हुआ करती है। बालकों के मन पर इन अभिव्यक्तियों, उपदेशों, प्रभावशाली स्वर एवं सौन्दर्यात्मक ध्वनि का सदैव के लिए एक स्थायी छाप लग जाया करती है। उनकी सोचने-विचारने की आदतों एवं उनके लौकिक व्यवहारों में ये तत्त्व गहरायी तक अपना स्थान बना लिया करते हैं। संस्कृत एक ऐसी भाषा है जो कि अपने माधुर्य तथा अपने सुरीलेपन से हमें अपने से ऊँचा उठाने में सर्वथा समर्थ है। पढ़ी हुई तथा गायी हुई संस्कृत का सन्देश है—'अपने हृदय को ऊँचा उठाओ'। इस तथ्य में ही निहित है संस्कृत का सूक्ष्म से भी सूक्ष्म सौन्दर्यात्मक तथा शक्तिशाली मूल्य। अतः जैसा कि अपने अनुभव से सहस्रों व्यक्ति कहेंगे यह आवश्यक है कि चरित्र-निर्माण की दिशा में तथा अन्तःकरण में उदात्त भावनाओं को विकसित करने के मार्ग में गतिशील होने की हमारी वास्तविक इच्छा है, तो हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि भारतव्यापी संस्कृति एवं राष्ट्रिय एकता को सुनिश्चित बनाने के लिए हम अपने नवयुवकों की शिक्षा-व्यवस्था में संस्कृत भाषा का ज्ञान अनिवार्य कर दें।

(च) संस्कृत तथा स्वतन्त्र भारत का बौद्धिक जागरण

(४५) भारतीय संस्कृति के संरक्षण तथा भारत में राजनीतिक एकता को बनाये रखने में तथा हमारे देश के बौद्धिक वैशिष्ट्य के पोषण में संस्कृत की अद्वितीय भूमिका की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त हमने अपनी शिक्षा-व्यवस्था में अपने इस बहुमूल्य विरासत को मानवीय शास्त्रों के अध्ययन के क्षेत्र में प्रशिक्षण का एक प्रमुख अंग निर्धारित किया है। हमने उसे अपने देश के चरित्र-निर्माण का साधन बनाया है। अपने नवयुवकों के मस्तिष्क में भारतवाद का वातावरण साक्षात् रूप में स्थापित करने का माध्यम बनाया है। इसी कारण हमारे देश के शिक्षा-कार्यक्रम में संस्कृत का शैक्षिक मूल्य चिरस्थायी हो चुका है। इससे यह प्रत्यक्ष है कि वर्तमान समय में संस्कृत हमारे जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

(४६) यदि हम संस्कृत का सहारा लेते हैं तो हमें निश्चित ही यह बोध हो जायगा कि हमारे शब्दों तथा विचारों को समृद्ध बनाने की दिशा में मुख्यतः ऐसे विचारों को विकसित करने के मार्ग में, जो कि भारतवाद के स्थायी मूल्यों से जुड़े हुए हैं, संस्कृत हम लोगों के लिए एक प्रमुख साधन के रूप में एक आवश्यक वस्तु है।

यही नहीं, हम यह भी अनुभव करेंगे कि हमारी आधुनिक भाषाओं के विकास के लिए भी संस्कृत एक अनिवार्य तत्त्व है। यदि हम संस्कृत को अपनायेंगे तो निश्चय ही विभिन्न विषयों के अध्ययन में संस्कृत भाषा हमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करेगी। इसके अरिरिक्त अन्ततः संस्कृत हमें अपने जीवन की उन परम्पराओं को बनाये रखने के लिए भी आवश्यक होगी जो कि आज तक जीवित हैं तथा अपनी उत्कृष्टता एवं उपयोगिता के बल पर हितकर सिद्ध हो रहीं हैं।

(४७) आर्य तथा द्राविडी, हमारी दोनों हो वर्तमान भारतीय भाषाएँ एक स्थिति में दिखायी देती हैं। ये दोनों ही संस्कृत के आश्रय में रही हैं। सभी आधुनिक आर्य-भाषाएँ संस्कृत की गोद में उत्पन्न हुई हैं। जहाँ तक द्राविडी भाषाओं की बात है, जब से साहित्य के क्षेत्र में वे उतरी हैं, उस समय से ही संस्कृत भाषा उनका पोषण करती चली आ रही है। जैसा कि संगम ग्रन्थों से प्रत्यक्ष है, तामिल भाषा की तथा उसके प्रारम्भिक साहित्य की अपनी कुछ स्वकीय विलक्षण विशेषताएँ अवश्य थीं, किन्तु वे सभी विशेषताएँ भी संस्कृत की सीमा के भीतर ही हैं। शिवज्ञान मुनिवर ने प्राचीनतम तामिल व्याकरण ग्रन्थ 'तोलकप्पियम्' की व्याख्या में लिखा है—"जिन्होंने संस्कृत नहीं पढ़ी है, उन्हें तामिल भाषा का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सकता"। प्राचीन संगम ग्रन्थों की तामिल भाषा में संस्कृत के अनेक शब्द हैं। इन शब्दों की संख्या शताब्दियों के साथ ही साथ बढ़ती गयी है। प्रारम्भिक तथा बाद की तामिल भाषा के अन्य सभी द्राविडी भाषाओं के साहित्यों के विचार संस्कृत जगत् के विचारों के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। यही नहीं, इन विचारों के साथ संस्कृत के शब्द भी इन साहित्यों में स्थानान्तरित कर दिये गये हैं, किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी हमारे दक्षिण भारत के विद्वत्समाज ने अपने गम्भीर विचारों की अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत को ही अपनाया है। वास्तव में हमारे देश के प्रमुख साहित्यकारों ने अपने उच्चस्तरीय विचारों के प्रकाशन में उत्तर या दक्षिण कहीं की भाषा का प्रयोग नहीं किया। इस प्रसंग में सर्वप्रथम उन्होंने संस्कृत को ही चुना तथा उसके बाद मातृभाषा को।

(४८) इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि यूरोपीय विचारों के तथा वहाँ के साहित्य के सम्पर्क में आ जाने के कारण हमारे देश में एक विलक्षण नयी चेतना की लहर दौड़ पड़ी है। जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक भारतीय भाषाओं की ओर हमने गम्भीरतापूर्वक ध्यान देना प्रारम्भ किया। बौद्धिक दृष्टि से कुतूहल तथा उत्साह दोनों से ही प्रेरित होकर भारतीय लेखकों की यह इच्छा हुई कि वे अपने विचारों को मातृभाषा के माध्यम से ही प्रकाशित करें। उन्हें कुछ ऐसा लगा कि एक प्राचीन साहित्यिक भाषा की अपेक्षा मातृभाषा का माध्यम और अधिक सुन्दर होगा। इसी समय राष्ट्रिय आन्दोलन को जनसमुदाय तक पहुँचाने के लक्ष्य से भी हमारे साहित्यकारों ने आधुनिक भारतीय भाषाओं को अपनाया। इससें आधुनिक भारतीय भाषाओं में साहित्य-रचना को और भी अधिक बल प्राप्त हुआ। राष्ट्रियता की इस व्यापक भावना के साथ ही साथ हमारे देश में विभिन्न प्रान्तीय

भाषाओं के प्रति भी अनुराग विकसित हो चला। फलतः स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने के पश्चात् सिद्धान्ततः यह स्वीकार कर लिया गया कि बिना किसी विघ्न-बाधा के भारत की मान्य आधुनिक भाषाओं के पूर्ण विकास की ओर हमें दत्तचित्त होना ही है। किन्तु अब हम यह अनुभव कर रहे हैं कि गम्भीर दार्शनिक विचारों तथा जटिल वैज्ञानिक सिद्धान्तों को यथोचित ढंग से ठीक ठीक प्रस्तुत करने में हमारी आधुनिक भारतीय भाषाएँ यथेष्ट रूप में विकसित नहीं हैं। इस तथ्य को अब हम भली-भाँति समझ रहे हैं कि इन भाषाओं में उपयुक्त शब्दावली की कमी है, जिसकी पूर्ति साक्षात् संस्कृत के शब्दों, धातुओं अथा अन्त्यवर्णों के द्वारा नये शब्दों की रचना से की जा सकती है। यह कार्य अखिल-भारतीय स्तर पर इस प्रकार आयोजित किया जाना चाहिए कि सभी आधुनिक भाषाओं के लिए संस्कृत के सहारे उपयुक्त अपेक्षित शब्दावली तैयार की जाय। इस प्रकार उनके शब्दावली का अभाव दूर किया जा सकता है। सिद्धान्तः अब हम यह मान चुके हैं कि, यतः हम लोग अनेक भाषाओं का व्यवहार करते हैं, शिक्षा तथा शासन के सभी स्तरों पर इन अनेक भाषाओं में से किसी एक को समस्त राष्ट्र के लिए चुन लेना साध्य नहीं है। भले ही सुपरिचित साहित्यिक भाव-प्रकाशन में ये आधुनिक भाषाएँ कुछ सीमा तक स्वीकार कर ली जायें। पारिभाषिक शब्दों की एकरूपता के द्वारा ही हम राष्ट्रिय एकता के समीप पहुँच सकते हैं। प्रश्न यह उठता है कि यह एकरूपता किस भाषा के प्रयोग से लायी जा सकती है? सभी लोग अब यह स्वीकार कर चुके हैं कि पारिभाषिक शब्दों की एकरूपता की यह व्यवस्था केवल संस्कृत से ही लायी जा सकती है। जैसा श्री सी० डी० देशमुख ने हमसे अपने साक्ष्य में कहा था कि नये शब्दों के निर्माण में संस्कृत की शक्ति विलक्षण है।

(४९) उपर्युक्त प्रसङ्ग से पर्याप्त स्पष्ट है कि समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओं के हित में संस्कृत को बनाये रखना, उसका पोषण करना तथा उसे विकसित करना विशेषतः आज के दिन कितना अधिक आवश्यक है। हमारी शिक्षा-व्यवस्था में अंगरेजी शिक्षा के प्रवेश के समय से ही इस दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ हो चुका है। जहाँ-जहाँ आधुनिक विषयों का अध्यापन आधुनिक भारतीय भाषाओं के माध्यम से अङ्गीकार किया जा चुका है वहाँ पारिभाषिक शब्दों की रचना में संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की ही यथासम्भव चेष्टा की गयी है। इसका एक अनिवार्य परिणाम यह देखा जा रहा है कि जैसे-जैसे इन आधुनिक विषयों की शब्दावली बढ़ती जा रही है वैसे-वैसे संस्कृत के प्रयोग में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में पहुँचे हुए संस्कृत के शब्द उन भाषाओं के अभिन्न अंग बन जाते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि किसी भी पुस्तक या शब्दकोश का संस्कृत शब्द बंगला, मराठी या उड़िया का भावी शब्द हो जाया करता है। जैसे-जैसे यूरोपीय विचार एवं विज्ञान तथा उस देश की जीवन-पद्धति तथा राजनीति से हम परिचित होते चल रहे हैं वैसे-वैसे हमारी भाषा का संस्कृतीकरण गति तथा लय पकड़ता चल रहा है। किन्तु इस सन्दर्भ में हमें सतर्क होने की आवश्यकता है।

नवीन पारिभाषिक शब्दावली को बनाने में अशुद्ध संस्कृत के प्रयोगों का परित्याग करना है। आधुनिक भारतीय भाषाओं तथा उनकी शब्दावली का ठीक-ठीक प्रभावशाली एवं सफल प्रयोग करना है। संस्कृत को भारतव्यापी बनाने के लक्ष्य को ध्यान में रखकर व्याकरण के जाल में नहीं फँसना है। शब्दार्थ सम्बन्धी त्रुटियों से बचना है। संस्कृत की मान्य प्रतिभा पर आघात करने वाले नये शब्दार्थ तथा नये-नये शब्दों के आविष्कारों से हट कर चलना हैं। ये अनुचित आविष्कार भाषा को अस्पष्ट तथा दुरूह बनाते हैं। संक्षेप में हमें संस्कृत की शब्दरचना की शक्ति का पूरा-पूरा लाभ उठाना है। यह कैसे सम्भव है कि संस्कृत के ज्ञान से ही हम उपर्युक्त दोषों से मुक्त रह सकते हैं। सच पूछा जाय तो संस्कृत का ज्ञान उन लोगों के लिए तो परम उपयोगी तथा आवश्यक भी सिद्ध होगा जो कि आधुनिक भारतीय भाषाओं में लिखने की इच्छा रखते हैं। अतः अनेक शिक्षाविशेषज्ञों तथा विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं के लेखकों द्वारा यह सुझाव प्रस्तुत किया गया है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं के हित में यह वाञ्छनीय होगा कि इनके पठन-पाठन के किसी न किसी स्तर पर संस्कृत का ज्ञान अवश्य कराया जाय।

(५०) विभिन्न आधुनिक विज्ञानों तथा दर्शनों के अध्ययन पर हम यदि दृष्टिपात करें तो हमें यह विदित होगा कि इन अध्ययनों के क्षेत्र में भारत के अंशदान पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता, बल्कि उसकी उपेक्षा की जाती है। दार्शनिक विचार-धाराओं तथा भौतिक विज्ञानों के विकास के क्षेत्र में भारत की क्या भूमिका है, इस तथ्य से केवल विदेशी ही अनभिज्ञ नहीं हैं, किन्तु हमारे भारतीय विद्वान् तथा छात्र भी इन क्षेत्रों में अपने ही देश की उपलब्धियों को नहीं जानते। इसलिए हमें सामान्य दार्शनिक विचार तथा विज्ञान के क्षेत्र में अपने नवयुवकों तथा विद्वानों में विशुद्ध भारतीय उपलब्धियों के ज्ञान करने की क्षमता को विकसित करना ही है। इस मन्तव्य की पूर्ति के लिए स्वतन्त्र भारत में संस्कृत का पूर्ण एवं प्रचुर अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। क्या यह सम्भव है कि रसायनशास्त्र अथवा गणित सम्बन्धी जो ज्ञान हमारे संस्कृत-वाङ्मय में विद्यमान हैं उसकी जानकारी के बिना हम इन विषयों के इतिहास का पूरा-पूरा अध्ययन कर सकें? ठीक यही बात तर्कशास्त्र, साहित्यिक समालोचना तथा राजशास्त्र एवं दूसरे क्षेत्रों के विषय में भी कही जा सकती है। आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था में ऐसे विषयों के विभिन्न विज्ञान तथा विचार-पद्धतियों के इतिहास का जब हम यह पाठ्यक्रम बनाते हैं तब हमें चाहिए कि इस पाठ्यक्रम में सम्बद्ध भारतीय अंशदान एवं उस पर किये गये शोधकार्य के परिणामों को भी स्थान दें। इस आवश्यकता की ओर राष्ट्रिय विज्ञान-संस्थान ऐसे संघटनों का भी ध्यान आकृष्ट हुआ है। इस संस्था में संस्कृत के मूल ग्रंथों पर आधारित चिकित्साशास्त्र के इतिहास पर शोधकार्य चल रहा है। इस प्रकार एक नये दृष्टिकोण से यदि हम संस्कृत के अनुशीलन द्वारा आधुनिक विज्ञानों की उत्पत्ति तथा उनके प्रारम्भिक इतिहास का अध्ययन करने की चेष्टा करें तो निश्चय ही इन आधुनिक विज्ञानों के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की परिधि अत्यधिक विस्तृत हो सकेगी।

संयुक्त राष्ट्र शिक्षा तथा विज्ञान संघटन (यूनेस्को) भी इस प्रकार की अध्ययन-प्रणाली में रुचि ले रहा है। यह संस्था पाश्चात्त्य विद्यालयों में अध्ययन करने वाले छात्रों को उनके अध्ययन के विभिन्न विषयों से सम्बद्ध प्राच्य सभ्यता की उपलब्धियों का ज्ञान कराती है।

(५१) अन्त में संस्कृत का अध्ययन हमें अपनी उन राष्ट्रिय परम्पराओं तथा जीवनपद्धतियों को पुनरुज्जीवित करने में सहायक सिद्ध होगा, जिसका विषम परिस्थितियों के कारण कुछ समय पूर्व से ही लोप होना प्रारम्भ हो चुका है। प्राचीन समय में संस्कृत हमारे जीवन के वातावरण में व्याप्त थी। हमारे संस्कार, हमारे उत्सव, हमारे धार्मिक संस्कार तथा हमारे छोटे-मोटे सभी क्रिया-कलाप सभी कुछ संस्कृतमय था। यही कारण है कि उस समय के जीवन में संस्कृत अत्यधिक शक्तिशाली तथा सजीव थी। हमारे दैनिक पूजापाठ में, चाहे वे घर के निजी उपासना-स्थल पर हों, या बड़े अथवा छोटे मन्दिरों में हों, या तीर्थ के बृहत् केन्द्रों में हों जहाँ सहस्रों लोग एकत्रित होते हों—समस्त वातावरण संस्कृत से प्रतिध्वनित होता रहता था, अतः जहाँ तक हमारे सुसंघटित, व्यक्तिगत एवं सामाजिक अस्तित्व का प्रश्न है, संस्कृत हमारे नासिका छिद्रों का प्राणवायु तथा हमारे नेत्रों की ज्योति है।

(५२) ये परिस्थितियाँ यदि निरन्तर ही ज्यों की त्यों बनी रहतीं तो संस्कृत के लिए कोई भय नहीं था। परन्तु समय में परिवर्तन हो रहा है। हमारे जीवन के ढंग बदलते जा रहे हैं। हमारे नवयुवकों का पालन-पोषण एक ऐसे वातावरण में हो रहा है जिसमें आर्थिक मूल्यों की प्रधानता है। यह वातावरण हमारे जीवन के आदर्शात्मक, भावनात्मक तथा सौन्दर्यात्मक पक्षों एवं मूल्यों को ढकेल कर अपना रास्ता बनाना चाहता है। एक समय था जब कि संस्कृत हमारे जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त थी। पर अब वह स्थिति नहीं रह गयी है। आज के दिन हमारा जीवन केवल नितान्त ऐहलौकिक ही नहीं हो रहा है, किन्तु अब हम अपनी कल्पना तथा अपनी गम्भीरता से भी वञ्चित होते जा रहे हैं। अशिक्षित सामान्य जनों की भाँति हम अहंकार से अनुरञ्जित होते जा रहे हैं। संस्कृत से दूर हटने के कारण ही हमें इस स्थिति का सामना करना पड़ रहा है। इस अभाव की पूर्ति करना घर तथा समाज के वश के बाहर की वस्तु हो गई है। हमारे विद्यालय ही एक मात्र ऐसे साधन हैं जो कि इस स्थिति में सुधार ला सकते हैं। उन्हें ही अब इस कमी की पूर्ति करनी है। यदि सच पूछा जाय तो इस समय हमारे विद्यालय ही संस्कृत को जनजीवन में उतार सकने के केन्द्र बन सकते हैं, क्योंकि आज की स्थिति में हमारे बालक-बालिकाओं का जीवन विद्यालयमय होता जा रहा है तथा विद्यालय ही उनकी मनोवृत्तियों तथा उनके चरित्र का रूपरचयिता सिद्ध हो रहे हैं।

३. अन्य प्राचीन साहित्यिक भाषा की अपेक्षा भारत में संस्कृत का आधुनिक मूल्य

(५३) लोगों को यह कहने का प्रायः अभ्यास सा पड़ गया है कि ग्रीक या लैटिन के समान संस्कृत भी एक प्राचीन-साहित्यिक भाषा मात्र है। इस सन्दर्भ में

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि ग्रीक अथवा लैटिन की स्थिति यूरोप में सभी जगह एक सी नहीं है। इटालियन तथा फ्रेञ्च बोलने वालों के लिए लैटिन की अपेक्षा अंगरेजी ही अधिक समीप है। इसी प्रकार जर्मन या मग्यार भाषा को बोलने वालों के लिए अंगरेजी की अपेक्षा लैटिन ही अधिक समीप है। एक समय था जब कि पश्चिम यूरोप के प्रगतिशील राष्ट्रों ने लैटिन तथा उसके द्वारा ग्रीक को भी उच्चकोटि की सांस्कृतिक भाषा का स्थान दिया गया था। अब लैटिन तथा आधुनिक यूरोपीय भाषाओं का बन्धन शिथिल हो चुका है। भारतीय जनजीवन में संस्कृत का जो गम्भीर तथा व्यापक प्रभाव आज हम देख रहे हैं उस कोटि का ग्रीक तथा लैटिन का प्रभाव यूरोप के जनजीवन में कदापि नहीं देखने को मिलता। वहाँ तो लैटिन अब केवल थोड़े से विद्वानों तक या मठों की चहारदिवारियों तक ही सीमित है। अधिक से अधिक वहाँ इन भाषाओं का शैक्षिक महत्त्व ही रह गया है। किन्तु हमारे देश में संस्कृत की स्थिति यूरोप में लैटिन तथा ग्रीक की अपेक्षा कहीं अधिक गम्भीर एवं अधिक शक्तिशाली है। हमारे देश में संस्कृत विशुद्ध शैक्षिक भाषा तो है ही, साथ ही लोकप्रिय भी है।

(५४) संस्कृत आधुनिक भाषाओं की उद्‌गम स्थली है। वास्तव में इन आधुनिक भारतीय भाषाओं में संस्कृत शब्दों की प्रमुखता स्पष्टतः देखी जाती है। हमारे देश की शब्दावली में सर्वत्र ही संस्कृत छायी हुई है। यहाँ तक कि तामिल क्षेत्र के भी हमारे देशवासियों ने अपनी शब्दावली में एक प्रकार की लोकप्रिय भारतव्यापी संस्कृत को सरलता पूर्वक स्थान दिया है। आज हम देखते हैं कि हमारे धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में संस्कृत की प्रतिष्ठा बनी ही हुई है। यूरोपीय इतिहास के मध्यकाल में जिस प्रकार लैटिन मृतभाषा नहीं थी उसी प्रकार भारतवर्ष में संस्कृत को भी आज के दिन हम मृतभाषा कदापि नहीं कह सकते।

४. भारतवर्ष के वर्तमान राष्ट्रिय जीवन में संस्कृत का स्थान

(५५) हमारे समक्ष ऐसे तथ्य विद्यमान हैं जिनके आधार पर यदि हम संस्कृत को अपने राष्ट्रजीवन का प्रतीक बना लें तो हमारा यह कार्य अनुचित नहीं कहा जायगा। यद्यपि अपनी शासनव्यवस्था में तथा अपने शिक्षा के कार्यक्रम में संस्कृत को हम एक सर्वसाधारण भाषा का रूप नहीं दे पाये, तथापि हमारे सामाजिक जीवन में इस प्रकार के अनेक विभाग विद्यमान हैं. जिनके द्वार संस्कृत के लिए खुले हुए हैं। समस्त धार्मिक पर्वों के समय तथा औपचारिक अवसरों पर जब कभी भी इन उत्सवों को बड़प्पन, प्रतिष्ठा अथवा गौरव से ऊँचा उठाना चाहते हैं तो संस्कृत अपने सहयोग का हाथ आगे बढ़ा दिया करती है तथा बड़ी ही सरलतापूर्वक हम उसकी यह सहायता स्वीकार कर लिया करते हैं। भारतीय संविधान ने संस्कृत को भी एक मान्य राजभाषा मान लिया है। इससे प्रत्येक नागरिक को समस्त सरकारी कार्यालयों में अपने आवेदन संस्कृत में भी प्रस्तुत करने की छूट दी गयी है। कई व्यक्तियों ने हमें यह सुझाव दिया है कि कुछ विशेष कार्यों में, जैसे शपथग्रहण, सम्मान तथा उपाधि-वितरण, विदेशी शासनों तथा सम्मानित व्यक्तियों

से पत्राचार में, विश्वविद्यालयों के दीक्षान्त समारोहों तथा उपाधि-वितरणोत्सव के समय संस्कृत का व्यवहार नीति के रूप में अपनाया जाना चाहिए। ऐसे समय जब कि हम अपने देश में व्यापक एकता स्थापित करने के उपायों पर विचार कर रहे हैं, किसी भी आधुनिक भाषा के सामने हमें संस्कृत को वरीयता देनी चाहिए। यदि इन आधुनिक भारतीय भाषाओं के स्थान पर अन्ताराष्ट्रिय स्तर पर हम संस्कृत का प्रयोग करें तो यह स्थिति नहीं उपस्थित होगी क्योंकि विदेशों में संस्कृत एक प्रतिष्ठित भाषा के रूप में देखी जाती है। विदेशीय राष्ट्रों में संस्कृत समझने वाले राष्ट्रों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। यद्यपि पश्चिम देशों के विद्वानों ने प्रायः सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं तथा भारतीय विषयों पर शोध किया है, तथापि विदेश तो भारत को 'संस्कृत भारत' के रूप में ही देखता है। कहना न होगा कि जब कभी कोई भारतीय विश्वविद्यालय अपने उत्सवों या जयन्तियों का निमंत्रण पत्र विदेशों में भेजता है तो विदेशी विश्वविद्यालय उसके निमंत्रणपत्रों के उत्तर में अपने अपने अभिनन्दनपत्र या बधाई पत्र साधारणतः संस्कृत में ही भेजा करते हैं। यही नहीं स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व भी अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलनों में जहाँ कहीं भी भारतवर्ष के प्रतिनिधियों को अपनी भाषा में बोलने का अवसर प्राप्त होता था हमने यह अनुभव किया है कि हमारे प्रतिधियों ने जहाँ कहीं अपने भाषणों में संस्कृत का प्रयोग किया वहाँ संस्कृत भाषा का जितना आदर किया गया उतना सम्मान किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा को प्राप्त करना सम्भव नहीं होगा। हम यह भी देखते हैं कि आधुनिक भारतीय भाषाओं को बोलने वाले विभिन्न प्रान्तों के लोग जब आपस में मिलते हैं तो वे अधिकतर संस्कृत का ही व्यवहार करते हैं। यह बात भी हमसे छिपी नहीं है कि आज भी संस्कृत गद्य तथा पद्य दोनों प्रकार की रचनाएँ लगातार प्रकाशित हो रही हैं। अतः आज भी संस्कृत निःसन्देह एक अत्यन्त सजीव भाषा है। इसकी सजीवता के कारण ही विगत डेढ़ शताब्दियों में विकसित वर्तमान संस्कृत साहित्य के इतिहास की रचना अब भी सम्भव है। लोकप्रिय पुराणों के कथावाचक; जो कि नाटकीय ढंग से कथा कहने में नितान्त निपुण होते हैं, अपने प्रदर्शन में उच्चकोटि की संस्कृतबहुल बंगला, तेलगू, उड़िया, कन्नड़ तथा पञ्जाबी भाषा का प्रयोग अधिक पसन्द किया करते हैं। उनकी यह भाषा बहुतायत से अशिक्षित समाज के द्वारा भी समझी जाती है। हम यह भी देखते हैं कि कभी-कभी धार्मिक उपदेश भी संस्कृत में दिये जाते हैं। अपनी मातृभाषाओं का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाले व्यक्ति सामान्यतः इस भाषा को सरलतापूर्वक समझ लेते हैं। हमने यह भी अनुभव किया कि आज के दिन संस्कृत के प्रति लोगों का सम्मानपूर्ण अगाध स्नेह है। वर्तमानयुग में जब कि आधुनिक वैज्ञानिक तथा राजनीतिक निबन्धों तथा व्याख्यानों में भावों का प्रकाशन संस्कृत में भी होने लगा है तो यह कैसे मान लिया जाय कि संस्कृत का विकास रुक गया है। ये समस्त तथ्य इस बात को पर्याप्त पुष्ट करते हैं कि इस युग में भी हमारे भारतीय जीवन में संस्कृत एक सजीव शक्ति है। अपनी राष्ट्रिय संस्कृति तथा एकता के इस एकमात्र सर्वशक्तिमान् साधन की उपेक्षा करना तथा उसे एक अनुपयोगी वस्तु

उद्घोषित करके विस्मृति के गर्भ में डाल देना हम राष्ट्रप्रेमी भारतवासियों के लिए प्रायः एक प्रकार की आत्महत्या का ही प्रसङ्ग कहा जायगा।

५. भारतीय शिक्षा की सामान्य योजना में संस्कृत का स्थान

(५६) ऊपर के अनुच्छेदों में जो कुछ कहा जा चुका है उससे पर्याप्त स्पष्ट है कि हमारे देश की वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में संस्कृत का एक महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। 'भारतीय कला, कला के रूप में भारतीयता के विना जीवित नहीं रह सकती' भारतीय कला के विषय में फ्रांस देश के एक कला-समालोचक का यह वचन भारतीय नवयुवकों के लिए भी चरितार्थ हो सकता है। यदि भारतीय नवयुवक की प्रकृति तथा उसके स्वभाव में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत का वातावरण कार्य नहीं करता तो यथार्थ में उसकी भारतीयता समाप्त ही समझनी चाहिए। भारतीय शिक्षित व्यक्ति के आत्मसंरक्षण की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि उसे संस्कृत तथा संस्कृत साहित्य का कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य होना चाहिए। संस्कृत-वाङ्मय में संरक्षित अपने राष्ट्रिय विरासत के ज्ञान से शून्य जो नवयुवक या नवयुवतियाँ हाईस्कूलों या विश्वविद्यालयों से निकलते हैं उनमें विदेशी जगत् का सामना करने के लिए एक वहुत वड़े साधन का अभाव देखा जाता है। इस अभाव की स्थिति में वे आश्वस्त होकर आत्मसम्मान पूर्वक विदेशियों के सम्पर्क में नहीं आ सकते। वह अभाव है संस्कृतवाङ्मय में संरक्षित उपर्युक्त राष्ट्रिय विरासत के ज्ञान की शून्यता। इस भारतीय विरासत में वह शक्ति है कि उससे सुसज्जित व्यक्ति अपने आप में एक विलक्षण आध्यात्मिक तथा मानसिक दृढता एवं आत्मविश्वास का अनुभव करने लग जाता है। ऐसे व्यक्ति जब विदेशियों के सम्पर्क में आते हैं तब उन्हें किसी प्रकार की हिचकिचाहट, कमजोरी या घबराहट का अनुभव नहीं होता। यह बार बार देखा जाता है कि विदेशों में गये हुए भारतीय नवयुवक आधुनिक जीवन की तीव्र धारा में बहते चले जाते हैं। इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी अथवा जहाँ कहीं भी वे हों वहाँ की वस्तुओं को निःशंक होकर जैसे का तैसा स्वीकार करते चले जाते हैं। ऐसी दशा में हिलने-डुलने, विचलित होने या व्याकुलता से वचने के लिए उन्हें संतुलित तथा स्थिर रहने के लिए एक ऐसी निर्णयात्मक बुद्धि की आवश्यकता हुआ करती है जो कि अपनी संस्कृति द्वारा स्थिर की गयी हो। इस प्रकार की निर्णयात्मिका बुद्धि उन्हें संस्कृत तथा संस्कृतसाहित्य से ही प्राप्त हो सकती है।

इसलिए प्रत्येक भारतीय नागरिक के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह संस्कृत तथा संस्कृत-जगत् का कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य प्राप्त करे। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए यह उचित होगा कि हमारे बालक तथा बालिकाओं की जो एक बहुत बड़ी संख्या हमारी शिक्षण संस्थाओं में अपने बाल्यकाल में प्रवेश करती है उसी समय संस्कृत से परिचय कराने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। हमार सच्यों की एक बड़ी संख्या ने अत्यन्त तत्परतापूर्वक जोर दिया है तथा अपने लिखित उत्तरों में भी दृढतापूर्वक इस तथ्य को दुहराया है कि संस्कृत के माध्यम से भारत के राष्ट्रिय

विरासत को हमारे नवयुवकों तथा नवयुवतियों तक पहुँचाने का सरलतम साधन यही है कि यह विरासत उनके पाठ्यक्रमों में रख दिया जाय। आज इस कार्य की अत्यधिक आवश्यकता आ पड़ी है।

६. संस्कृत के लिए विशेष प्रोत्साहन की अपेक्षा

(५७) विद्यालयों में दी जाने वाली आजकल की शिक्षा में विस्तृत योजनाएँ चल रही हैं। इस व्यवस्था में प्रतिस्पर्धी विषयों का एक बड़ा समुदाय पाठ्यक्रम में रख दिया गया है, जिसका बच्चों के मस्तिष्क पर अत्यधिक दबाव पड़ना अवश्यम्भावी है। इन योजनाओं में भाषाओं का स्थान क्रमशः अधिक से अधिक सीमित होता जा रहा है। आज की वास्तविक शिक्षा का चरम लक्ष्य है, जिस जगत् में हम रहते हैं उसका ठीक-ठीक ज्ञान करना। इसीलिए कुछ मात्रा में गणित, भूगोल, इतिहास, समाजविज्ञान के तत्त्व, शासन तथा राजनीति के तत्त्व और भौतक-विज्ञान ही ऐसे विषय हैं जिन्हें नितान्त आवश्यक माना जाता है। भाषाओं को पढ़ना या सीखना केवल एक साधन या उपकरण के रूप में ही देखा जाता है। इस आधार पर ही आजकल की यह प्रचलित मनोवृत्ति किसी एक भाषा के विस्तृत अध्ययन को सहन कर सकती है, चाहे वह भाषा मातृ-भाषा हो या अंगरेजी हो अथवा अन्य कोई भी भाषा हो। संस्कृत या अन्य प्राचीन साहित्यिक भाषाएँ स्वभावतः ठेलकर पीछे हटा दी जाती हैं। इसका कारण है कि बाह्य दृष्टि से उनका प्रत्यक्ष मूल्य सामने नहीं दिखायी पड़ता। जीविकोपार्जन के विचार से भी ये अर्थकरी नहीं हुआ करतीं। इस सन्दर्भ में हम यह कहना चाहेंगे कि पाठ्यक्रम में निर्माणात्मक तथा सूचनात्मक शिक्षा के इन दोनों स्वरूपों का समुचित भार होना चाहिए। शिक्षा-विशेषज्ञों ने इस आधार पर ही पाठ्यक्रम में साहित्य के अध्ययन को तथा उच्चस्तर पर दर्शन के महत्त्व को स्वीकार किया है। यह अनुभव का विषय है कि साहित्य चाहे वह सूचनात्मक हो या ज्ञान-शक्ति से सम्बद्ध हो उसके सफल अध्ययन के लिए एक ही भाषा का ज्ञान पर्याप्त नहीं हुआ करता। भारत जैसे देश में यह तथ्य विशेषतः चरितार्थ होता है, क्योंकि यहाँ की आधुनिक भाषाएँ भावप्रकाशन की दृष्टि से उपयुक्त नहीं हैं। साहित्यिक सामग्री की दृष्टि से हमारे देश में अंगरेजी तथा संस्कृत बहुत आगे बढ़ी-चढ़ी हैं।

(५८) तथाकथित कुछ शैक्षिकेतर कारणों से आधुनिक भारतीय शिक्षा में हिन्दी को एक असंगत सा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। विशेषतः जब कि हम इस सन्दर्भ पर अहिन्दी-भाषी जनसमुदाय के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर उद्यत होते हैं। ऐसी स्थिति में हमें अपनी अन्तरात्मा से प्रश्न पूछना चाहिए कि संस्कृत जैसी भाषा से जो बौद्धिक प्रशिक्षण उपलब्ध है तथा उससे जो निर्माणात्मक सम्पत्ति प्राप्त की जा सकती है उस समस्त सम्पत्ति का ज्ञान प्राप्त करने के अवसरों को काट-छाँट कर छोटा करके कोमलमति के अपने बच्चे-बच्चियों के ऊपर एक ऐसी भाषा को लादना क्या उचित है? जिस भाषा का सूचनात्मक तथा साहित्यिक महत्त्व अपेक्षाकृत कम

ही कहा जायगा। अपने बच्चों, किशोरों तथा वयस्क युवकों एवं युवतियों की शिक्षा-व्यवस्था में ऐसे विषयों की शिक्षा पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिए जो कि मस्तिष्क की अन्तर्हित शक्तियों को प्रकाश में ला सके। इस दृष्टिकोण से यह तो हमें स्वीकार करना ही होगा कि संस्कृत का जो एक स्थायी सांस्कृतिक एवं सामाजिक मूल्य है उसे हिन्दी अथवा किसी भी अन्य आधुनिक भाषा के अध्ययन द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता।

(५९) हमारे संविधान का यह निर्देश भी है कि वह संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहित करने की दिशा में तथा उसे समुन्नत बनाने की दिशा में उन उपायों तथा साधनों का ही प्रयोग करे जो कि आज वह हिन्दी के लिए कर रहा है। संस्कृत भाषा तथा साहित्य हमारे देश की सांस्कृतिक एकता को सुदृढ बनाने की हमारी एक महती शक्ति है। इस सांस्कृतिक एकता पर ही हमारी राजनीतिक एकता निर्भर है। जैसे भी हो हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम इस एकता का अवश्य ही पोषण करें तथा उसे शक्तिशाली बनावें। इस विचार से भी यह कहना समुचित प्रतीत होता है कि हिन्दी के समान ही संस्कृत का भी यह अधिकार है कि वह विशेष व्यवस्था तथा वरीयता प्राप्त करे।

आजकल की शिक्षा-व्यवस्था में कई एक ऐसे तत्त्व क्रियाशील हैं जिनके कारण पाठ्यक्रम में संस्कृत की परम्परा तथा संस्कृत के स्थान पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा है। ऐसी दशा में शासन को चाहिए कि वह संस्कृत की रक्षा के लिए आगे बढ़े तथा वर्तमान स्थिति में जितना अधिक सम्भव हो वह उस परम्परा को पुनः उपलब्ध कराने की एक व्यापक नीति अपनावे। यह तभी सम्भव होगा जब कि शासन विद्यालयों के पाठ्यक्रम में संस्कृत के स्थान को सुरक्षित करने की चेष्टा करेगा। संस्कृत जीविकोपार्जन की भाषा नहीं है। इसी कारण अनुपाततः अनेक व्यक्ति स्वभावतः उसके बौद्धिक तथा आध्यात्मिक मूल्य से कम ही परिचित हो पाते हैं। हम ऊपर बता चुके हैं कि संस्कृत का महत्त्व व्यापक रूप से सर्वत्र ही स्वीकार किया जा चुका है। यदि हम वास्तव में इस मान्यता को कार्य रूप में परिणत करना चाहते हैं तो हमारा यह भी कर्तव्य हो जाता है कि उसके लिए हम कोई न कोई विशेष व्यवस्था अवश्य करें। अपने इस कथन के प्रति हमारा यह विश्वास है कि हमने एक यथोचित तथा न्यायपूर्ण ढंग से संस्कृत के लिए विशेष व्यवस्था के पक्ष में एक अत्यन्त पुष्ट तर्क प्रस्तुत किया है।

—:०:—

पञ्चम अध्याय

संस्कृत-शिक्षा

(१) निम्नाङ्कित तीन शीर्षकों के अन्तर्गत हम संस्कृत-शिक्षा के प्रश्न पर विचार कर सकते हैं :—

(१) सामान्य शिक्षा के रूप में संस्कृत का अध्यापन। इसके अन्तर्गत मुख्यतः माध्यामिक विद्यालयों में संस्कृत के पठन-पाठन का प्रश्न आता है।

(२) संस्कृत का विशेष अध्ययन, जो पारम्परिक रीति से पाठशालाओं में तथा आधुनिक पद्धति से महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में प्रचलित है।

(३) कुछ अन्य विषयों के पठन-पाठन में एक आवश्यक परिपूरक विषय के रूप में, जैसे कि आधुनिक भारतीय भाषाओं, प्राचीन इतिहास तथा भारतीय दर्शन इत्यादि।

१. माध्यमिक विद्यालयों में संस्कृत

(२) जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि अंग्रेजी के प्रभाव से उसके संरक्षण के लिए कुछ विश्वविद्यालय स्थापित किये गये हैं। इनमें कलकत्ता तथा बम्बई के विश्वविद्यालयों में लन्दन विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम के अनुसार प्रवेश (Entrance) परीक्षा में किसी एक प्राचीन भाषा का पठन-पाठन अनिवार्य कर दिया गया है। प्रवेश (Entrance) परीक्षा उस समय कालेज में प्रवेश पाने के लिए योग्यता-परीक्षा थी। भारत में अधिकतर संस्कृत ही प्राचीनतम भाषा के रूप में ली जाती थी। कई वर्षों तक कलकत्ता विश्वविद्यालय का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत था। बंगाल के अतिरिक्त इस विश्वविद्यालय का कार्य-क्षेत्र आसाम, बिहार, उड़ीसा, संयुक्त-प्रदेश, पञ्जाब, अजमेर, ब्रह्मदेश तथा लंका तक व्याप्त था। इस विस्तृत क्षेत्र में सर्वत्र संस्कृत एक अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ी जाने लगी। यद्यपि बम्बई विश्वविद्यालय का कार्यक्षेत्र कलकत्ता विश्वविद्यालय की अपेक्षा कम था, तथापि यहाँ भी संस्कृत एक अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ी-पढ़ाई जाने लगी। मद्रास विश्वविद्यालय ने संस्कृत को अनिवार्य विषय का स्थान न देकर उसे ऐच्छिक विषय का स्थान दिया था। वहाँ के छात्र संस्कृत के विकल्प में तेलगू, तमिल, कन्नड़ तथा मलयालम् ले सकते थे। हम देखते हैं कि देश के एक इतने बृहत् क्षेत्र में संस्कृत का प्रचार बढ़ जाने से हमारा एक बहुत बड़ा जनवर्ग संस्कृत से परिचित होने लगा।

(३) यह एक नितान्त सत्य है कि भारत के दो बड़े से बड़े विश्वविद्यालयों की प्रवेश (Entrance) परीक्षा के पाठ्यक्रम में संस्कृत को एक अनिवार्य विषय

के रूप में स्थान दिया गया था। उसी समय दो शतकों से राजनीतिक आन्दोलन भी चल पड़ा था। इस व्यापक आन्दोलन के कारण हमारे देश में मातृभाषा में रुचि लेने वाला जनवर्ग क्रमशः शिक्षित होने लगा। इससे क्षेत्रीय भाषा को भी कुछ न कुछ प्रमुखता प्राप्त होने लगी। इसी क्रम में आधुनिक भौतिक विज्ञान का भी बोलबाला बढ़ा। इस प्रकार संस्कृत चक्की के दो पाटों के बीच आ पड़ी। एक ओर ऊपर उभड़ती हुई क्षेत्रीय भाषाएँ तथा दूसरी ओर विज्ञान तथा अन्य आधुनिक विषयों का अभ्युदय। ऐसी दशा में लोगों में एक सामान्य प्रवृत्ति व्याप्त हो गयी कि संस्कृत को अब वैकल्पिक विषय के रूप में ही रखा जाय।

(४) हम देखते हैं कि कुछ वर्षों से संस्कृत के एक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में एक और भाषा आ पड़ी है, वह है हिन्दी। भारतीय संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लिया गया है। प्रदेशों को यह भी आदेश दिया जा चुका है कि वे इस भाषा को अपनावें। ऐसी दशा में अब यह आवश्यक सा हो गया है कि सारे देश के छात्र हिन्दी का सामान्य ज्ञान प्राप्त करें। साथ ही साथ यह भी आवश्यक हो गया है कि हमारे विद्यालयों के समयचक्र में हिन्दी के कुछ न कुछ घण्टे अवश्य रखे जायँ। इस व्यवस्था को चलाने के लिए मातृभाषा, गणित, इतिहास अथवा नागरिकशास्त्र के घण्टे तो कम नहीं किए जा सकते थे। हिन्दी के लिए बेचारी संस्कृत को ही स्थान छोड़ने को बाध्य होना पड़ा।

(५) यह बड़े दुःख की बात है कि इस विषम परिस्थिति में संस्कृत को अनिवार्य बनाने की कोई भी चेष्टा नहीं की गयी। कम से कम माध्यमिक विद्यालयों में तो यह व्यवस्था की ही जा सकती थी। जो कुछ थोड़े से लोग इस पक्ष में थे भी, उन्हें कुछ समर्थन भी नहीं प्राप्त हुआ। हम देख रहे हैं कि अभी हाल ही में वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में सर्वत्र ही प्राचीन साहित्यिक भाषाओं को चुनौती देने की प्रवृत्ति जाग उठी है। इस पक्ष के लोगों का कहना है कि वर्तमान सयय में मानवलोक के सामने कई एक नवीन मार्ग खुलते जा रहे हैं। वैज्ञानिक विकास ने आज तक मानव-कल्पना की पहुँच के बाहर की असम्भव वस्तुओं को भी सम्भव बना दिया है। जडजगत् को वशीभूत करने की जिस विलक्षण शक्ति का कभी हमने स्वप्न भी नहीं देखा था, उस शक्ति को हमें प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो चुका है। ऐसी स्थिति आ जाने पर भी हमारा यह दुर्भाग्य ही होगा कि हमारे बुद्धिमान् तथा विद्वान् व्यक्तियों की दृष्टि अग्रगामी होने के स्थान पर पीछे की ओर चली जाय। ऐसे लोगों का ध्यान हम पिछले अध्याय की ओर आकृष्ट करना चाहेंगे, जहाँ कि हमने संस्कृत का महत्त्व बताया है तथा उस परिप्रेक्ष्य में स्वतंत्र भारत की आशाओं तथा आकांक्षाओं पर भी प्रकाश डाला है। इसे कौन नहीं मानता कि आज मानव समाज के सामने नये-नये मार्ग प्रकाश में आते जा रहे हैं, किन्तु हम उस कठोर सत्य के प्रति अपनी आँखें क्यों मूँद रहे हैं कि एक आधुनिक वैज्ञानिक के लिए क्या यह सम्भव है कि वह अतीत को ठुकरा कर अपने क्षेत्र में आगे बढ़ता चले? क्या यह सम्भव है कि वह अपने पूर्वजों के पदचिह्नों पर अपने पैर को रखे बिना

अपनी खोजों को लेशमात्र भी आगे बढ़ा सके ? सच पूछा जाय तो वर्तमान भूतकाल का केवल एक नैरन्तर्य मात्र ही नहीं तो और क्या है ? इसके पूर्व हमने भलीभाँति समझा भी दिया है कि हमारे अतीत के साहित्यों में ऐसे सिद्ध प्रयोगों के अभिलेख भरे पड़े हैं जिनमें जडजगत् तथा मानव से सम्बद्ध तत्त्वों की पूरी-पूरी समीक्षा की गयी है। अतीत के हमारे ये प्रयोग ही आजकल के नये-नये प्रयोगों की आधार शिला हैं। इनके सहारे ही आज हम यह निर्णय करने में समर्थ हो रहे हैं कि आगे चलकर हमें कौन-कौन से और नये-नये प्रयोग करने हैं। अतः अतीत के ये सभी अभिलेख अपना एक विशिष्ट मौलिक महत्त्व रखते हैं। उनका प्राचीन होना उनकी मान्यता को कदापि मलिन नहीं बनाता; विशेषतः जब कि वे आज की स्थिति में भी शिक्षा से परिपूर्ण हैं। यह तो हमें मानना ही पड़ेगा कि वर्तमान जगत् में सब कुछ परिवर्तन के होते हुए भी मानव प्रकृति अब भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। हम यह कदापि नहीं भुला सकते कि संस्कृत या किसी भी प्राचीन भाषा की अवज्ञा करना अथवा उसको तिरस्कार की दृष्टि से देखने का अर्थ होता है उन बहुमूल्य अनुभवों की अवज्ञा या उनका तिरस्कार, जिसे कि हमने शताब्दियों से एकत्रित कर रखा है। हम देखते हैं कि पाश्चात्त्य सभ्यता आज जीवन के नये-नये मूल्यों को हमारे सामने लाती जा रही है। इसकी तुलना में संस्कृत की उपलब्धियाँ क्या कम हैं ? यदि हम थोड़ी सी भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो जान पड़ेगा कि जिस पृष्ठभूमि को संस्कृतवाङ्मय ने हमें उपलब्ध कराया है, उसके बल पर ही अपनी राष्ट्रिय संस्कृति को समझने तथा उसके वास्तविक मूल्य का ठीक-ठीक ज्ञान करने में आज हम अपने आप को समर्थ पा रहे हैं।

(६) ऐसा सुना जाता है कि प्राचीन युग में जो कुछ कहा या किया जा चुका है उसका वर्तमान युग में ज्ञान कराना शिक्षा का मूलभूत लक्ष्य होता है। यदि ऐसी बात है तो शिक्षा-व्यवस्था में संस्कृत का यथोचित स्थान सुरक्षित किये बिना आज हम अपनी शिक्षा-व्यवस्था को क्या प्रामाणिक कह सकते हैं ? संस्कृत के अभाव में हमारी शिक्षा-व्यवस्था अप्रामाणिक ही बनी रहेगी। सच पूछा जाय तो अपने देश की शिक्षा-व्यवस्था के प्रसंग में हम संस्कृत को एक साधारण विषय के रूप में नहीं देख सकते। अन्य विषयों की अपेक्षा संस्कृत का स्वरूप कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि निश्चय ही यह भाषा समस्त मानवशास्त्र की आधार भूमि है। इससे स्पष्ट है कि हम भारतवासियों के लिए संस्कृत केवल इसलिए बहुमूल्य नहीं है कि वह हमारी प्राचीन भाषा है या उसका ऐतिहासिक महत्त्व है, इसके अतिरिक्त संस्कृत के अध्ययन द्वारा हमें कुछ और महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना है।

(७) कुछ लोगों ने यह तर्क दिया है कि संस्कृत को यदि हम अपने पाठ्य-क्रम का एक आवश्यक अंग मान भी लें तो उसके अध्ययन की सामग्री क्या होगी ? क्या यह सम्भव नहीं है कि संस्कृत भाषा को पढ़ाए बिना भी हम अपने बच्चों को संस्कृतवाङ्मय में संरक्षित विचारों तथा भारतीय संस्कृति का बोध करा सकें ?

इस दृष्टि से अपने देश के छात्रों के लिए हम संस्कृत साहित्य के इतिहास तथा भारतीय संस्कृति का एक क्रमबद्ध पाठ्यक्रम अनिवार्य कर सकते हैं। संस्कृत-वाङ्मय के विचार तथा वर्तमान छात्र के बीच जिस खाई का आज हम अनुभव कर रहे हैं, उसे क्या संस्कृत ही भर सकती है? इस खाई को जोड़ने के लिए क्या कोई आधुनिक भारतीय भाषा सेतु का कार्य नहीं कर सकती? इस विचारधारा के लोग यह भी प्रश्न करते हैं कि क्या धातुरूपों या शब्दरूपों का ज्ञान किये बिना यह सम्भव नहीं है कि हम गीता के दर्शन का बोध कर सकें या कालिदास के काव्यों का रसास्वादन कर सकें? इन प्रश्नों तथा शंकाओं के सन्दर्भ में हम यह कहना चाहेंगे कि इस प्रकार की धारणा मान्य तो है, किन्तु पूरी-पूरी नहीं, कुछ अंश तक ही। उक्त विचारधारा के व्यक्तियों से हम यह पूछना चाहते हैं कि क्या कोई भी गम्भीर चिन्तक यह मानने को तैयार होगा कि साहित्य का कोई भी भाग केवल अनुवाद के ही माध्यम से ठीक-ठीक समझा जा सकता है या उसके सौन्दर्य का वास्तविक आनन्द प्राप्त किया जा सकता है? निश्चय ही इस बात को कोई भी निष्णात विद्वान् कदापि स्वीकार नहीं करेगा। इसके विपरीत वह यही कहेगा कि उपनिषदों या वाल्मीकिरामायण को यदि हम मूलरूप में पढ़ें तो इन ग्रन्थों में संरक्षित ज्ञान का हमें अधिक सूक्ष्म तथा गम्भीर बोध होगा तथा इस प्रकार के अध्ययन द्वारा जिस आनन्द की अनुभूति हमें प्राप्त होगी वह कहीं अधिक वास्तविक, बुद्धिपूर्ण तथा प्रामाणिक भी होगी। इस विचार का कोई भी व्यक्ति विरोध नहीं कर सकता कि जब तक हम मूल ग्रन्थ की भाषा का वास्तविक ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेते तब तक हमें उस भाषा के साहित्य का यथार्थ आनन्दानुभव नहीं हो सकता। अनुवाद मूल के छायामात्र को छोड़कर और है ही क्या? अनुवाद के माध्यम से तो हम केवल मूलग्रन्थ की सामग्री तथा उस सामग्री के एक साधारण प्रभाव को ही प्राप्ति कर सकते हैं।

यही नहीं, यदि हम ठीक-ठीक विचार करें तो हमें जान पड़ेगा कि प्राचीन साहित्य की उत्कृष्टता केवल उसके सौन्दर्य तथा साहित्य की उदात्त सामग्री पर ही एकमात्र निर्भर नहीं रहा करती। जब तक हम उसकी रचना-शैली का आनन्द नहीं लेते तब तक उसके रस की अनुभूति भी हमारे लिए एक असम्भव वस्तु सिद्ध होगी। भला अनुवाद से हम इस रचनाशैली के इस चमत्कार का ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकते हैं? संस्कृत साहित्य की महत्ता की, उसके विलक्षण माधुर्य की, उसकी यथार्थता की, उसकी निर्मलता की तथा थोड़े से शब्दों में गम्भीर से गम्भीर भावों के प्रकाशन की अद्भुत शक्ति की नकल करना किसी भी अनुवाद के लिए क्या साध्य हो सकता है? महात्मा गांधी ने इस बात पर जोर दिया है कि हमें अपनी बालिकाओं तथा अपने बालकों को संस्कृत का कुछ न कुछ प्रारम्भिक ज्ञान अवश्य ही कराना चाहिए। वे इस सुझाव को ठीक नहीं समझते कि मूल के स्थान पर अनुवाद से ही काम चला लिया जाय। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने एक उदाहरण दिया है। वे कहते हैं कि "गायत्री मन्त्र का ठीक-ठीक अनुवाद करना असम्भव है। इस मन्त्र का

अनुवाद कर देना सभी अनुवादों के लिए एक चुनौती होगी। मूलमन्त्र के लय का सञ्चार अनुवाद द्वारा कैसे किया जा सकता है" ?

(८) यह आवश्यक है कि माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययन करने वाले हमारे बालक तथा हमारी बालिकाएँ इस तथ्य का कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य प्राप्त करें कि प्राचीनकाल से हमारा देश किन-किन उच्च आदर्शों का प्रतिनिधित्व करता आ रहा है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमें चाहिए कि माध्यमिक विद्यालयों के सामाजिक अध्ययन के पाठ्यक्रम में हम संस्कृत-वाङ्मय में संरक्षित विचारों तथा भारतीय संस्कृति के विवेचन का भी कुछ अंश निर्धारित करें।

(९) अंगरेजी विद्यालयों में संस्कृत के पढ़ाये जाने का विरोध बहुधा इस आपत्ति से किया जाता है कि इस भाषा का पठन-पाठन उपयोगी नहीं होता। यह सत्य है कि वर्तमान समय में जब हम पाठ्यक्रम बनाने का कार्य हाथ में लेते हैं तो समय तथा धनोपार्जन की समस्याएँ हमारे सामने आ खड़ी होती हैं। फलतः हमारा ध्यान इस बात पर जाता है कि एक सीमित समय में कम से कम विषयों का अध्ययन किया जाय। ऐसी दशा में अनेक विषय अपना-अपना अधिकार प्रस्तुत करते हैं और हमें काट-छाँट तथा चुनाव करने को बाध्य हो जाना पड़ता है। इस काट-छाँट तथा चुनाव की स्थिति में हमें ऐसे विषयों को वरीयता देनी पड़ जाती है, जिनका कम समय में अध्ययन भी हो जाय और धनोपार्जन तथा लौकिक लाभ की दृष्टि से उनका अध्ययन शीघ्र ही फल भी देने लगे। इस सन्दर्भ में हमें यह कहना है कि पाठ्यक्रम निर्धारण के विषय में शिक्षा-विशेषज्ञों की दृष्टि व्यापक होनी चाहिए। यह हो सकता है कि संस्कृत पढ़ने का कोई लौकिक परिणाम प्रत्यक्ष न हो, पर इसे कौन अस्वीकार करेगा कि इस अध्ययन से हमारे छात्र-छात्राओं का चरित्रनिर्माण तथा व्यक्तित्व अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य प्रभावित होता है। वास्तव में संस्कृत के अध्ययन का केवल विशुद्ध शैक्षिक तथा बौद्धिक मूल्य होता है। संस्कृत हमारे जीवन का एक मार्ग है। जीवन की एक पद्धति है। अनेक साक्ष्यों ने बलपूर्वक हमसे यह कहा है कि संस्कृत निश्चय ही हमें जीवन का ठीक-ठीक मूल्याङ्कन करने की योग्यता प्रदान करती है। देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह तो ठीक ही है कि हम ऐसी सभी योजनाओं को सबसे पहले समुन्नत करें, जिनसे जनसमुदाय का आर्थिक कल्याण होता हो अथवा जो योजनाएँ देश की उत्पादन-क्षमता को विकसित करती हों, पर साथ ही साथ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जो लोग इन योजनाओं में लगे हुए हैं उन्हें अपने उत्साह, अपनी क्रियाओं तथा अपनी आत्मशक्ति को स्थिर रखने की भी आवश्यकता है। उनके लिए यह भी आवश्यक है कि एक सभ्य राष्ट्र के सदस्य होने के नाते उन्हें व्यक्तिगत एवं सामूहिक जीवन के कुछ आदर्शों को बनाये रखना चाहिए। उन्हें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि इन आदर्शों को स्थिर रखने के लिए कतिपय ऐसे भी तत्त्वों की आवश्यकता है जो कि लौकिक लाभ के विचारों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वशील हैं। सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह राष्ट्र के आध्यात्मिक पक्ष को भी सबल बनावे तथा उन कलात्मक एवं सांस्कृतिक

विकासों में भी तीव्रता से गति लावे, जो जन-जीवन को समृद्ध बनाते हैं तथा उसमें उत्साह एवं आनन्द का सञ्चार करते हैं। संस्कृत-शिक्षा को समुन्नत करके ही हम इन सबको अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त कर सकते हैं। वह शिक्षानीति राष्ट्र के लिए कदापि हितकर नहीं कही जा सकती, जो कि पाठ्यक्रम में केवल लौकिक दृष्टि से धनोपार्जन में सहायक विषयों को स्थान देने का उद्देश्य रखती हो।

(१०) हमारा सुझाव है कि हमारे विद्यालयों में संस्कृत की शिक्षा एक सर्वथा स्वतंत्र तथा पृथक् विषय के रूप में नहीं देनी चाहिए। आधुनिक भारतीय भाषाओं में से जिन भाषाओं को हम अपने पाठ्यक्रम में रखते हैं उनसे सह-सम्बन्ध स्थापित करते हुए ही संस्कृत के पठन-पाठन की व्यवस्था होनी चाहिए। इस सह-सम्बन्ध को हम इस चतुराई से बैठावें कि उसके माध्यम से हम अप्रत्यक्षतया प्राचीन जगत् से वर्तमान जगत् में आ सकें तथा पुनः प्राचीन जगत् में सरलता पूर्वक लौट भी सकें। इंग्लैण्ड के अङ्ग्रेजी तथा फ्रांसीसी भाषाओं के अध्यापकों ने यह अनुभव किया है कि इन भाषाओं के पठन-पाठन के क्रम में यदि लैटिन का प्रशिक्षण केवल एक वर्ष का ही दे दिया जाय तो इस प्रशिक्षण से इन दोनों ही भाषाओं के सफल अध्ययन की पूरी तैयारी हो जाती है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के पठन-पाठन के सन्दर्भ में भी संस्कृत का ऐसा ही प्रशिक्षण और भी अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकता है।

(११) इसके अतिरिक्त व्यावहारिक ढंग की कुछ और भी बातें हैं। कई अध्यापकों ने हमें अपने अनुभव की यह बात बताई कि संस्कृत-भाषा के अध्ययन-क्रम में हम जो मानसिक प्रशिक्षण बालकों को देते हैं, वह अन्य विषयों में भी उनकी मानसिक क्षमता के संवर्धन में लाभदायक सिद्ध होता है। प्राचीन साहित्यिक भाषाओं के अध्ययनक्रम में प्रशिक्षित व्यक्तियों ने इन भाषाओं से सर्वथा भिन्न अन्य क्षेत्रों में विलक्षण सफलता प्राप्त की है। यदि हम यूरोप के इतिहास की ओर दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होगा कि विगत कुछ शताब्दियों में इंगलैंड तथा कुछ अन्य यूरोपीय देशों के कतिपय राजनीतिज्ञ तथा शासनमर्मज्ञ प्राचीन साहित्यिक भाषाओं के विद्वान् थे। एक हजार वर्षों से भी अधिक समय तक चीन की प्राचीन साहित्यिक भाषा का अध्ययन ही योग्यतम चीनी प्रशासनिक सेवा का आधार बना हुआ था। संस्कृत या किसी भी प्राचीन साहित्यिक भाषा का अध्ययन करने से विभिन्न मानसिक शक्तियों का व्यायाम होता है। साथ ही साथ स्मृति, कल्पना, सौन्दर्यानुभूति तथा यथार्थ-ज्ञान करने की पद्धति भी इस अध्ययन से बल प्राप्त करती है। संस्कृत का अध्ययन छात्रों में अन्य विषयों के अध्ययन के प्रति गम्भीर, विद्वत्तापूर्ण प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। इस आयोग के साक्षात्कार के अवसर पर अनेक अध्यापकों ने यह सिद्ध किया कि संस्कृत के छात्रों के सम्पर्क में आकर संस्कृत न लेने वाले छात्र भी लाभान्वित होते हैं।

(१२) कभी-कभी लोग यह भी तर्क किया करते हैं कि माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में संस्कृत को अनिवार्य करना निश्चय ही एक वाञ्छनीय बात होगी,

किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा करना साध्य नहीं प्रतीत होता। जोर देकर लोग यह कहा करते हैं कि मुख्यतः यह एक कठिन भाषा है। विशेषतः एक ऐसे समय में शिक्षा का विकास होने से हमारे माध्यमिक विद्यालयों में कई एक वर्गों के छात्र प्रविष्ट हो रहे हैं, किसी एक वर्ग के लिए तो संस्कृत निश्चय ही एक गम्भीर बाधा का रूप धारण कर सकती है। ऐसे लोगों के उत्तर में हम सर्वप्रथम यह कहना चाहेंगे कि कोई भी विषय स्वतः सरल या कठिन नहीं हुआ करता। उसका अध्यापन ही उसे कठिन या सरल बनाया करता है। इसके अतिरिक्त जहाँ तक सामान्य शिक्षा का प्रश्न है आज के युग में शैक्षिक दृष्टि से छात्रों के 'वर्ग' की चर्चा करना हितकर नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार के विरोध से क्या हम किसी भी विषय के कठिन होने के भ्रम पर आवश्यकता से अधिक बल नहीं दे रहे हैं? इस सन्दर्भ में हम उन शिक्षा-विशेषज्ञों से सहमत होना चाहते हैं जिन्होंने साक्षात्कार के समय हमें यह सूचित किया कि आजकल पाठ्यक्रम को सरल करने की जो प्रवृत्ति अत्यधिक जोर पकड़ती जा रही है, शैक्षिक दृष्टि से यह अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होगी। वास्तव में आज का शिक्षा-विज्ञान यह स्वीकार करता है कि "बुद्धि का आवश्यकता से अधिक विस्तार उतना ही बुरा है जितना कि उसका विस्तार न करना"। आधुनिक शिक्षा-विज्ञान हमारा ध्यान इस विचार की ओर भी आकृष्ट करता है कि "युवक के संस्कारशील मस्तिष्क को रिक्त रखने की अपेक्षा उसे परिपूर्ण रखना ही अधिक श्रेयस्कर हुआ करता है।" आजकल यह चर्चा साधारण सी हो गयी है कि संस्कृत का व्याकरण नीरस है। उसके सीखने में कठिन परिश्रम की आवश्यकता है। ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि भारत तथा विदेशों के भी अनेक अध्यापकों ने यह अनुभव किया है कि बालक अपने व्याकरण-कार्य में निश्चय ही अधिक रुचि लेते हैं। इसलिए चीनी से ढकी कड़वी गोलियों के समान जो लोग संस्कृत के व्याकरण को अधिक से अधिक रुचिकर बनाने की चेष्टा में लगे हुए हैं तथा जिन-जिन व्यापक चतुराइयों के अनावश्यक अनुसन्धान में दत्तचित्त हैं, वास्तव में छात्रों के लिए उनकी आवश्यकता है ही नहीं। संस्कृत या किसी भी प्राचीन भाषा के औपचारिक व्याकरण का अभ्यासक्रम इसलिए अपरिवर्तनीय होता है, क्योंकि वह उसकी आधारभूत पद्धति का एक अंग हुआ करता है। हम प्रायः इसे परिश्रमपूर्ण तथा अरुचिकर बना दिया करते हैं। व्याकरण के पठन-पाठन में इसे वास्तव में छोड़ा भी जा सकता है। इस सन्दर्भ में हमें यह भी जान लेना चाहिए कि शिक्षाविशेषज्ञों ने यह बात मान ली है कि कण्ठस्थीकरण बालक के मानसिक विकास में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाता।

(१३) माध्यमिक विद्यालयों में संस्कृत को अनिवार्य विषय बनाने के विरोध में एक और तर्क प्रस्तुत किया जाता है। लोग प्रायः यह पूछा करते हैं कि तीन या चार वर्षों के पाठ्यक्रम में बालक कितनी संस्कृत पढ़ सकते हैं? इतने थोड़े समय में तो उसे संस्कृत का जो कुछ ऊपरी ज्ञान कराया जा सकता है, वह किस काम का? इससे तो संस्कृत के भावुक लोगों को केवल एक भावनात्मक संतोष को छोड़ कर और मिल ही क्या सकता है? इस छिछले तथा ऊपरी परिचय की अपेक्षा तो यह कहीं अधिक उचित होगा कि कुछ थोड़े से ही छात्र संस्कृत का विशेष अध्ययन करें। इस

तर्क की भ्रमात्मक तथा असत्य धारणा स्पष्ट है। शिक्षा का, विशेषतः सामान्य शिक्षा का कभी भी यह लक्ष्य नहीं हुआ करता कि "पूर्णज्ञान या कुछ भी नहीं"। माध्यमिक विद्यालयों में संस्कृत के विशेष अध्ययन का प्राविधान तो होना ही चाहिए, किन्तु यह भी आवश्यक है कि पाठ्यक्रम में अनिवार्य संस्कृत भी रखी जाय। संस्कृत के इस अनिवार्य सामान्य पाठ्यक्रम का मुख्य लक्ष्य होगा—छात्रों को अपनी प्राचीन-संस्कृति का आवश्यक ज्ञान कराना, अपने पूर्वजों की भाषा तथा उसके साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न करना, उनके मस्तिष्क तथा चरित्र को एक हितकर प्रशिक्षण देना तथा शुद्ध विद्वत्ता के प्रति उनमें आदरभाव जागृत करना। विद्यालय के प्रत्येक बालक को एक छोटे आकार का संस्कृतपण्डित बना देने की बात तो किसी ने कभी नहीं सोची। इस सन्दर्भ में हमें इस बात पर भी गम्भीरता पूर्वक ध्यान देना चाहिए कि जब साधारण संस्कृत जाननेवालों की संख्या में वृद्धि होगी तभी उन व्यक्तियों में से ही संस्कृत के विशेषज्ञ उत्पन्न होंगे।

(१४) इस सन्दर्भ में कुछ शिक्षाविशेषज्ञों ने समाज में विख्यात अधोगामी निर्गलन सिद्धान्त या नीचे की ओर छनने के सिद्धान्त (Downword Fitration Theory) को मान्यता दी है। ऐसे लोगों का सुझाव है कि यदि कुछ थोड़े से ही लोग भलीभाँति संस्कृत का अध्ययन कर लें तो उनका ज्ञान छन करके क्षेत्रीय भाषाओं के स्रोत से जनसमुदाय तक पहुँच जायगा। इस प्रसंग में अनुभव तो यही कहता है कि यदि ऐसा किया जाता है तो जनसमुदाय संस्कृत से पृथक् हो जायगा। इस प्रकार समाज को एक विशेष प्रकार के ज्ञान के सीधे सम्पर्क से वञ्चित रखना ठीक नहीं। इससे लोगों में बहुधा अविश्वास की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। संस्कृत को जनसमाज के सीधे सम्पर्क से वञ्चित रखे जाने का अर्थ होता है उदारचेता सामाजिक विचारकों का स्वागत न करना। इसी प्रकार समाज के किसी एक वर्गविशेष या ज्ञानविशेष से संस्कृत को अभिन्न मान बैठना भी उसके अध्ययन की समुन्नति तथा उसके विस्तार को हानि पहुँचाना है। जनसाधारण के मस्तिष्क से जितनी जल्दी इस धारणा को समूल नष्ट कर दिया जाय, संस्कृत पठन-पाठन के भविष्य की दृष्टि से वह उतना ही अधिक कल्याणकारी होगा। इस सन्दर्भ में हम आधुनिक विद्यालयों तथा महाविद्यालयों को धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने सभी के लिए संस्कृत का द्वार खोल दिया है। इसका कोई भी कारण नहीं है कि संस्कृत किसी एक विशेष समुदाय या वर्ग तक ही सीमित रहे।

(१५) ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे पर्याप्त स्पष्ट है कि माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में संस्कृत को एक अनिवार्य विषय का स्थान देनेवाला पक्ष अत्यन्त प्रबल है। यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि माध्यमिक स्तर पर संस्कृत की अनिवार्यता में कुछ विशेष वर्ग के ऐसे छात्रों को छूट दी जा सकती है जो कि संस्कृत के वातावरण से बाहर हैं ऐसे छात्र, यदि वे चाहें तो, संस्कृत के बदले किसी अन्य प्राचीन साहित्यिक भाषा का अध्ययन कर सकते हैं। जैसे—जिन छात्रों की मातृभाषा तेलगू है वे संस्कृत के स्थान पर तेलगू ले सकते हैं। इसी प्रकार जिन बालकों की

मातृभाषा अंगरेजी है वे संस्कृत के स्थान पर लैटिन पढ़ सकते हैं तथा उर्दू के छात्र अरबी का अध्ययन कर सकते हैं। हमें यह न भूलना चाहिए कि हमारे इस प्रतिवेदन में जहाँ कहीं हमने संस्कृत की अनिवार्यता की चर्चा की है, वहाँ ऐसे अपवादों को मान कर ही हमने यह यह सुझाव दिया है, ऐसा समझा जाना चाहिए। इसलिए उपर्युक्त विशेष छात्रों को छोड़कर अन्य सभी छात्रों के लिए माध्यमिक स्तर पर संस्कृत को अनिवार्य किया जाना चाहिए।

(१६) अनिवार्यता के इस प्रसंग पर किसी को अविश्वास नहीं होना चाहिए। यह कहना गलत होगा कि यदि हम संस्कृत को माध्यमिक कक्षाओं के अध्ययन का एक अनिवार्य विषय बना देते हैं तो निश्चय ही हमारे समाज में अरुचि तथा अप्रियता उत्पन्न होगी। छात्रों के अपरिपक्व मस्तिष्क पर हम विषयों का चुनाव नहीं छोड़ सकते। इसलिए किसी न किसी विषय को हमें अनिवार्य तो रखना ही पड़ेगा। डाक्टर राधाकृष्णन् ने एक बार यह कहा था "जो कुछ बालक चाहता है केवल उसे ही पढ़ाना शिक्षा का लक्ष्य नहीं होना चाहिए; किन्तु जो कुछ हम उसे पढ़ाते हैं उसके प्रति उसकी रुचि को प्रेरित करना भी शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए।" यदि हम इस बात से सहमत हैं कि सामान्य विज्ञान तथा सामाजिक अध्ययन के समान संस्कृत को भी सामान्य शिक्षा का एक आवश्यक अंग चुना जाय तो हमें यह चाहिए कि इस सम्बन्ध में प्रचलित राग-द्वेष के सामने हम न झुकें। शिक्षाविशेषज्ञों का ऐसी दशा में यह कर्त्तव्य हो जाया करता है कि वे एक निश्चित नेतृत्व ग्रहण करें तथा शिक्षाजगत् को ठीक मार्ग पर ले चलें। अभी हाल ही में श्रीजवाहरलाल नेहरू ने कहा है कि—"मैं व्यक्तिगत रूप से यह चाहूँगा कि जितना सम्भव हो उतनी अधिक से अधिक संख्या में भारतवासी संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करें, क्योंकि यह भाषा निश्चय ही हमारी संस्कृति का मूल आधार है। इसमें मुझे कोई भी कठिनाई नहीं दिखायी पड़ती। जितनी अधिक भाषाओं का हम ज्ञान प्राप्त करेंगे उतना ही अधिक हमें अपनी भाषा का ज्ञान प्राप्त होगा। यहाँ दबाव या जबरदस्ती की बात कहाँ है? यदि हम बालक को अङ्कगणित या रेखागणित सीखने को कहते हैं तो क्या इसे जबरदस्ती कहा जायगा?"

(१७) जिस समय यह आयोग 'सामान्यशिक्षा में संस्कृत का क्या स्थान होना चाहिए' इस विषय पर विचार कर ही रहा था उसी समय भारत सरकार ने माध्यमिक विद्यालयों में भाषासम्बन्धी एक त्रिभाषा सूत्र की घोषणा की तथा उन्होंने प्रदेशों को यह आदेश दिया कि उसका कार्यान्वयन किया जाय। इस त्रिभाषा सूत्र के अनुसार माध्यमिक विद्यालयों के प्रत्येक छात्र को तीन भाषाओं का अध्ययन करना होगा—

(क) (i) मातृभाषा
(ii) क्षेत्रीयभाषा
(iii) मातृभाषा तथा क्षेत्रीयभाषा का मिश्रित पाठ्यक्रम

अथवा

(iv) मातृभाषा तथा प्राचीन साहित्यिक भाषा का मिश्रित पाठ्यक्रम

अथवा

(v) क्षेत्रीयभाषा अथवा प्राचीन साहित्यिक भाषा का मिश्रित पाठ्यक्रम

(ख) अंग्रेजी या एक आधुनिक क्षेत्रीयभाषा

तथा

(ग) हिन्दी (अहिन्दी भाषी छात्रों के लिए) अथवा कोई अन्य आधुनिक भारतीय भाषा (हिन्दीभाषी छात्रों के लिए)।

इस सन्दर्भ में विचारणीय है कि इस योजना में संस्कृत या प्राचीन साहित्यिक भाषा को कोई अनिवार्य स्थान नहीं दिया गया है।

(१८) सामान्यतः सभी प्रदेशों ने इस त्रिभाषासूत्र को पूर्णतः या कुछ संशोधन करके मान लिया है। ऐसी दशा में जब यह सुझाव दिया जाता है कि संस्कृत को भी पाठ्यक्रम के मुख्य अंश का अनिवार्य विषय बनाया जाय तब लोग यह भय दिखाते हैं कि यदि ऐसा किया गया तो हमारे पाठ्यक्रम में भाषाओं का भार निश्चय ही अधिक हो जायगा, जो कि बालकों के लिए कष्टदायक सिद्ध होगा। इस सन्दर्भ में हमने तथा हमसे पत्राचार करनेवाले अनेक व्यक्तियों तथा साक्ष्यों ने भी यह अनुभव किया है कि भाषाओं का अत्यधिक भार बतानेवाले व्यर्थ का कोलाहल करते हैं। हमें यह जानना चाहिए कि यूरोप के कुछ देशों में माध्यमिक स्तर पर चार भाषाओं की शिक्षा दी जाती है। श्रीजवाहरलाल नेहरू ने एक दूसरे प्रसंग में कहा है कि फिनलैंड में राष्ट्रभाषा फिनिश तथा स्वेडिश के अतिरिक्त माध्यमिक स्तर पर छात्रों को अंगरेजी, जर्मन, रूसी तथा फ्रांसीसी में से किन्हीं दो भाषाओं का अध्ययन करना होता है। भारतवर्ष भाषाओं का देश है तथा भारतवासी अच्छे भाषाविद् होते हैं। इस देश में दो भाषाएँ तथा कहीं-कहीं दो से भी अधिक भाषाएँ व्यवहार में लायी जाती हैं। इस सन्दर्भ में हमें यह भी विचार करना है कि शासन, शिक्षा, व्यापार, उद्योग तथा तीर्थयात्रा इत्यादि अनेक कारणों से अन्य देश के लोगों का भी हमारे देश में आवागमन निरन्तर होता रहा है। यही कारण है कि हमारे देश के लोगों में अनेक भाषाओं को जानने की प्रवृत्ति समुन्नत होने के लिए सदैव ही एक अनुकूल परिस्थिति बनी रही। इसलिए यदि हम यह प्रस्ताव करें कि हमारे देश में भी चार भाषाओं की शिक्षा दी जाय तो हमारा यह प्रस्ताव हमारे देश के बालकों के लिए कदापि कठिन नहीं माना जा सकता।

(१९) जहाँ तक भाषाओं के सीखने का प्रश्न है, इस प्रसंग में हम बालकों की क्षमता का एक अनावश्यक रूप से कम मूल्यांकन करते हैं। इस सन्दर्भ में प्रधानमंत्री ने डाक्टर पेनीफील्डके के विचारों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। कनाडा के इस सुविख्यात मस्तिष्क-विशेषज्ञ का कथन है कि दस वर्ष की अवस्था तक

बालकों के मस्तिष्क में भाषाओं के सीखने का एक विशेष क्षेत्र विद्यमान रहता है। ये विशेष क्षेत्र इस अवस्था में बालकों को अनेक भाषाओं के सीखने की क्षमता उत्पन्न करते हैं तथा उनकी सहायता भी करते हैं। बालक जिस सरलता तथा सुविधा से इस उम्र में अनेक भाषाओं को सीख सकते हैं, उतनी सरलता तथा सुविधा से वयस्क अनेक भाषाओं को नहीं सीख सकते। भाषा के उच्चारण तथा उसकी विशेषताओं के चित्रों को जितना ठीक-ठीक बालक अपने मस्तिष्क में धारण कर सकता है, उतना ठीक-ठीक वयस्क धारण नहीं कर सकता। डाक्टर पेनीफील्ड का मत है कि यह समझना गलत है कि अनेक भाषाओं के सीखने का भार बालक के कोमल मस्तिष्क पर नहीं लादना चाहिए। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि यदि बालक किसी भी भाषा के तीन चार सौ शब्दों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है तो आगे चलकर अपने इस पुष्ट आधार पर वह अपने इस ज्ञान को विकसित कर सकता है। यह भी सिद्ध किया जा चुका है कि अनेक भाषाओं को सीखने के अभ्यास से अन्य विषयों की प्रगति में भी किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित होती।

(२०) इसके अतिरिक्त मातृभाषा, संस्कृत, अंगरेजी तथा हिन्दी इन चार भाषाओं के तथाकथित बोझ को इन भाषाओं की मात्रा उनके पठन-पाठन के स्वरूप तथा पाठ्यक्रम में उचित ढंग से उन्हें स्थान देकर हल्का भी किया जा सकता है। कभी-कभी लोगों को यह देखकर आश्चर्य भी होता है कि आज-कल मातृभाषा के पठन-पाठन पर हम आवश्यकता से अधिक इतना समय क्यों बिता रहे हैं? आज की परिस्थिति तो यह है कि हमारे बच्चे प्रारम्भिक कक्षाओं से मातृभाषा से ही प्रारम्भ करते हैं तथा उनका यह अध्ययन उपाधिस्तर तक चलता रहता है। हम यह पूछना चाहते हैं कि क्या ऐसे बच्चे, जो कि मातृभाषा का कोई विशेष अध्ययन नहीं करना चाहते, उनके लिए क्या यह आवश्यक है कि वे इतने लम्बे समय तक मातृभाषा का अध्ययन करें? साधारणतः सभी बालक एक ऐसे वातावरण में विकसित होते हैं जिसमें मातृभाषा का ही साम्राज्य हुआ करता है। यदि हम इस दृष्टिकोण से विचार करें तो प्रत्यक्ष होगा कि इस समय उनकी शिक्षा तथा परीक्षा का माध्यम भी मातृभाषा ही हुआ करती है। ऐसी स्थिति में जब कि प्रारम्भिक शिक्षा में बालक पाँच या छः वर्ष मातृभाषा की शिक्षा में लगा देता है तब भी क्या मातृभाषा के पठन-पाठन में इससे भी अधिक समय बिताना आवश्यकता से अधिक नहीं माना जायगा? वास्तव में शिक्षा के कई विशेषज्ञों ने तथा हमारे साक्ष्यों ने भी यह सुझाव दिया है कि ऐसी स्थिति में मातृभाषा के शिक्षण को दृढतापूर्वक सीमित किया जाना ही उचित होगा।

वास्तव में एक ही भाषा के अध्ययन पर असंतुलित बल देने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए, क्योंकि साहित्य का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि नवीन सम्पर्कों से उत्पन्न मानसिक विस्तार के उपरान्त ही सृजनात्मक काल का उद्‌भव हुआ तथा दूसरे साहित्य के मन्द-मन्द पवन से तथा भावाभिव्यक्ति के नव-नव स्वरूपों से साहित्यकारों के मस्तिष्क को एवं उनकी कल्पनाओं को नवचेतना प्राप्त हुई है तथा वे एक नवीन पुष्पोत्पत्ति से प्रस्फुटित हुई हैं।

(२१) कुछ साक्ष्यों ने अपने इस सुझाव पर दृढ़तापूर्वक बल दिया कि अंगरेजी को तो विश्वविद्यालय स्तर पर ही प्रारम्भ किया जाना चाहिए तथा नौकरी पा जाने के पश्चात् किसी न किसी प्रकार की हिन्दी-परीक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। इस सन्दर्भ में हमें इतनी दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह हो जाना तो आवश्यक प्रतीत होता है कि जो लोग हिन्दी या अंगरेजी का कोई विशेष अध्ययन करने को उत्सुक नहीं हैं, उनको छोड़कर अन्य छात्रों के लिए हिन्दी या अङ्गरेजी को एक कौशल विषय के रूप में ही निर्धारित किया जाना चाहिए, आवश्यक विषय के रूप में नहीं। इस विचारदृष्टि के अनुसार इस व्यवहार्य उद्देश्य को सामने रखकर ही पाठ्यक्रम का निर्माण करना उचित होगा। ऐसा किया जाने पर चार विषयों की शिक्षा साध्य हो जायगी तथा अधिक भाषाओं का बोझ लेशमात्र भी न हो पायेगा। दो भाषाओं की शिक्षा यदि एक साथ प्रारम्भ न की जाय तथा तदनुसार पाठ्यक्रम का भी निर्माण किया जाय, तो यह स्थिति और भी सुगम बनायी जा सकती है।

(२२) इसके उपरान्त यदि हम संस्कृत तथा क्षेत्रीय भाषाओं के परस्पर सादृश्य पर विचार करें कि गणना की दृष्टि से संस्कृत, हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषाएँ तीन ज्ञात होती हैं, किन्तु सचमुच में वे दो ही हैं। विशेषतः जब कि हम देवनागरी लिपि में हिन्दी को विद्यालयों का एक अनिवार्य विषय निश्चित कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में देवनागरी लिपि न जाननेवाले क्षेत्रों को संस्कृत पढ़ने वालों में लिपि की समस्या भी बहुत कुछ हल हो जाती है। इस सन्दर्भ में जैसा हम कह भी चुके हैं, सर्वाधिक उत्तम बात तो यह होगी कि संस्कृत, हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषाओं का मेल इन तीनों भाषाओं के अध्ययन की दिशा में एक दूसरे का पूरक भी सिद्ध होगा, क्योंकि एक साथ पढ़ी जाने के कारण ये तीनों ही भाषाएँ परस्पर सहायक हो जायँगी।

(२३) हमने माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम का अध्ययन किया है। इस अध्ययन से हमें यह जानकर खेद हुआ कि इस पाठ्यक्रम में ज्ञानप्राप्ति की दृष्टि से जो भी आवश्यक विषय रखे गये हैं, उन सभी प्रमुख विषयों के अध्ययन में यह ध्यान में रखा गया है कि उनके आधारभूत अपेक्षित आधारों का भी पठन-पाठन अवश्य निर्धारित हो, किन्तु इस सन्दर्भ में प्राचीन साहित्यिक भाषाओं को छोड़ दिया गया है। हमारा यह सुझाव है कि इस स्थिति का अब अन्त हो जाना चाहिए। यदि यही स्थिति बनी रही तो हमें भय है कि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं का मूल स्रोत ही सूख जायगा। हमारे साक्ष्यों ने इस तथ्य पर पर्याप्त प्रकाश डाला है कि माध्यमिक स्तर पर संस्कृत के पठन-पाठन का जो स्वरूप आज निर्धारित किया गया है तथा जिस मात्रा में उसकी मात्रा का निश्चय किया गया है, उच्चस्तर पर उसका अवाञ्छनीय प्रभाव पड़ रहा है। कई एक शिक्षा-विशेषज्ञों ने यह सुझाव दिया है कि माध्यमिक शिक्षा के वर्तमान पाठ्यक्रम में अत्यधिक काट-छाँट सम्भव है। उनके इस विचार से यह आयोग सहमत है। माध्यमिक शिक्षा के प्रचलित पाठ्यक्रम में यदि

यह काट-छाँट की जाय तो उसके मुख्य अंश के कुछ विषयों को हटा कर संस्कृत ऐसे आवश्यक विषय के लिए स्थान बनाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में हमें इस तथ्य पर पूरी-पूरी सावधानी से अवश्य ही विचार करना चाहिए कि जिन विषयों को हम पाठ्यक्रम में रख रहे हैं, उनमें से कौन-कौन से विषय हमारे जीवन के लिए कितने कम तथा कितने अधिक उपयोगी हैं ? हम यह सुझाव दे चुके हैं कि अंगरेजी तथा हिन्दी को कौशल विषय ही माना जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में भी हमारे उक्त सुझाव पर ध्यान देना चाहिए कि ये विषय भी अब अपेक्षाकृत कितने महत्त्व के हैं। साथ ही साथ सबसे पहले हमें इस विषय पर भी अवश्य ही अपनी दृष्टि रखनी है कि भारतीय परम्पराओं तथा भारतीय मनोवृत्तियों के हित में कौन-कौन से विषयों का रखना अधिक वाञ्छनीय है ?

(२४) भारतवर्ष का निवासी चाहे वह जिस किसी व्यवसाय का क्यों न हो, अपने बुढ़ापे में गीता, उपनिषद्, महाभारत तथा रामायण के प्रति अवश्य ही आकृष्ट होता है। यही एक समय है जबकि बाल्यकाल में प्राप्त संस्कृत का ज्ञान उसके काम आता है। हमारे सामने ऐसे कई एक व्यक्तियों के उदाहरण विद्यमान हैं जो कि विशुद्ध वैज्ञानिक अध्ययन में लगे हुए हैं, किन्तु आनन्द एवं लाभ के लिए संस्कृत का गम्भीर अध्ययन करते हैं। ऐसा करने से संस्कृत के माध्यम से उन्हें विज्ञान तथा मानवीय शास्त्रों के बीच समुचित संतुलन स्थापित करने में अमूल्य सहायता प्राप्त होती है जो कि प्रत्येक शिक्षित मानव के मानसिक हित की दृष्टि से अत्यधिक आवश्यक है। यथार्थ में संस्कृत का ज्ञान भारत में रहने वालों के सांस्कृतिक जीवन के वस्त्रनिर्माण का मुख्य सूत्र है, जो कि पूरे वस्त्र में फैला रहा करता है। अतः जैसा कि काका साहब कालेलकर का मत है—एक सर्वथा उचित आधार पर हम यह कहने का दावा कर सकते हैं कि भारत की जन-शिक्षा-व्यवस्था के किसी भी पाठ्यक्रम में जो भी विषय रखे जायँ उसमें संस्कृत को आवश्यक समझकर अवश्य ही रखा जाय। अपने घर में हम जितना चाहें उतने अतिथियों को आमन्त्रित कर सकते हैं, पर हमें इस पर भी ध्यान रखना चाहिए कि अतिथियों की भीड़ इतनी अधिक न हो जाय कि वह गृहस्वामी को ही घर से निकाल बाहर कर दे।

(२५) माध्यमिक विद्यालयों में निम्नाङ्कित चार प्रकारों में से किसी एक प्रकार से संस्कृत को अनिवार्य किया जा सकता है :—

(१) आयोग के सामने एक साक्षी ने दृढतापूर्वक यह विचार प्रकट किया कि भारतसरकार द्वारा प्रचालित त्रिभाषा सूत्र में इस प्रकार का संशोधन किया जाय कि उसके अन्तर्गत केवल (i) मातृभाषा (या क्षेत्रीय भाषा), (ii) अंगरेजी तथा (iii) संस्कृत (या कोई प्राचीन साहित्यिक भाषा) का समावेश हो। इस विकल्प के समर्थकों का कहना है कि महाविद्यालय स्तर पर हिन्दी केवल उन छात्रों को ही पढ़ाई जाय जो कि अखिल भारतीय परीक्षाओं में सम्मिलित होना चाहते हों। इस सन्दर्भ में यह तर्क रखा गया कि महाविद्यालयीय स्तर पर प्राप्त संस्कृत का

ज्ञान हिन्दी की शिक्षा को सुगम बना देगा तथा बालकों का हिन्दी-ज्ञान अधिक परिपुष्ट भी हो जायगा। आयोग की राय में यह सुझाव अनुमोदन करने योग्य है। अतः आयोग का आग्रह है कि शासन इस सुझाव पर गम्भीरतापूर्वक विचार करे। इस प्रसंग में आयोग केवल एक ही सुझाव देना चाहता है कि आज हिन्दी के बढ़ते हुए महत्त्व को देखते हुए उसे अंगरेजी के विकल्प में रखा जा सकता है। जहाँ तक हिन्दीभाषी छात्रों की बात है वे अंगरेजी के बदले कोई आधुनिक भारतीय भाषा ले सकते हैं। अच्छा हो कि वे दक्षिण भारत की किसी भाषा को चुनें। इस प्रकार हमारी सर्वप्रथम वरीयता निम्नांकित भाषाओं को माध्यमिक स्तर पर पढ़ाये जाने के पक्ष में है—(i) मातृभाषा (ii) अंगरेजी (या हिन्दी या हिन्दीभाषी छात्रों के लिए कोई भी आधुनिक भारतीय भाषा, दक्षिण-भारतीय भाषा अधिक वाञ्छनीय; तथा (iii) संस्कृत या कोई प्राचीन साहित्यिक भाषा।

(२) हमारी दूसरी वरीयता यह होगी कि--शासनद्वारा संस्तुत वर्तमान त्रिभाषासूत्र—(i) मातृभाषा या (क्षेत्रीय भाषा); (ii) अंगरेजी तथा (iii) हिन्दी (या हिन्दीभाषी छात्रों के लिए कोई आधुनिक भारतीय भाषा) स्थित रखी जाती है तो उसमें पूर्णतः परीक्षाविषय के रूपमें संस्कृत को चतुर्थ भाषा का स्थान देना चाहिए। चार भाषाओं का अध्ययन, विशेषतः बहुभाषाभाषी भारतवर्ष के लिए, कदापि भारस्वरूप नहीं समझा जाना चाहिए।

(३) तीसरा विचारणीय विकल्प यह है कि संस्कृत को अनिवार्यतः पढ़ाया जाय, किन्तु इस विषय की कोई परीक्षा न ली जाय और यदि परीक्षा ली भी जाती है तो उत्तीर्णता के लिए उसके प्राप्ताङ्क न गिने जाँय। उसके अंक केवल योग्यता अंकन या छात्रवृत्ति के लिए ही जोड़े जाँय। इस सन्दर्भ में ध्यान देना चाहिए कि जब तक परीक्षा में उत्तीर्ण होना ही पाठ्यक्रम का चरम लक्ष्य माना जा रहा है, तब तक किसी भी विषय में परीक्षा का न लिया जाना या उसकी परीक्षा को वैकल्पिक रखा जाना उस विषय के गम्भीर अध्ययन पर विपरीत प्रभाव डालता है। जब तक उस विषय को अनिवार्यतः परीक्षा का विषय हम नहीं बनाते, विद्यार्थी निश्चय ही उस विषय के प्रति उपेक्षा की दृष्टि से देखने को प्रवृत्त रहेंगे। अतः यह आयोग इस विकल्प की संस्तुति नहीं करता।

(४) चौथा विकल्प यह है कि क्षेत्रीय भाषा (जो सभी प्रकार के व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए मातृभाषा के अनुरूप ही मानी जाती है) तथा हिन्दी या इन दोनों को संस्कृत के साथ मिलाकर एक सम्मिश्रित पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाय। कई व्यावहारिक शिक्षाविशेषज्ञों ने इस मत का इसलिए समर्थन किया है कि इस विधि से क्षेत्रीय भाषा, हिन्दी तथा अंगरेजी के अतिरिक्त चतुर्थ भाषा को भी रखे जाने का विरोध सरलतापूर्वक हटाया जा सकता है। हमारे विचार से इस सम्मिश्रित पाठ्यक्रम को प्रस्तावित करने का यही मन्तव्य प्रतीत होता है कि इस विधि से हम माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम के प्रधान भाग में अनिवार्य संस्कृत का स्थान सुरक्षित कर सकते हैं। इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि त्रिभाषासूत्र

का अभिप्राय भी इसी प्रकार के सम्मिश्रित पाठ्यक्रम को बनाने का है। अन्तर केवल इतना ही है कि त्रिभाषासूत्र में संस्कृत क्षेत्रीय भाषाओं के विकल्प के रूप में संस्तुत है। अतः यदि संस्कृत तथा क्षेत्रीय भाषाओं के सम्मिश्रित पाठ्यक्रम को अभिवाञ्छित अभिप्राय की पूर्ति करनी है तो—(क) इस पाठ्यक्रम को किसी न किसी स्तर पर क्षेत्रीय भाषाओं के स्थान पर अनिवार्य रखा जाय, (ख) यह पाठ्यक्रम पाँच वर्षों से कम का न हो, (ग) अध्ययन के प्रारम्भिक काल में इन दोनों भाषाओं का अनुपात समान होगा; उच्चस्तर पर संस्कृत पर अधिक बल तथा अल्पमिश्रित भाषाओं पर क्रमशः कम बल देना होगा तथा (घ) सम्मिश्रित पाठ्यक्रम के अन्तर्गत सभी भाषाओं में उत्तीर्ण होना अनिवार्य कर दिया जाय।

यदि इन प्रतिबन्धों की पूर्ति हो जाती है तो तृतीय वरीयता के रूप में यह पाठ्यक्रम संस्तुत किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में ज्ञात हुआ है कि माध्यमिक-विद्यालयों के पाठ्यक्रम में अस्सी प्रतिशत हिन्दी तथा बीस प्रतिशत संस्कृत प्रस्तावित है, किन्तु इस सम्मिश्रित पाठ्यक्रम में संस्कृत की मात्रा केवल नाममात्र की होने के कारण छात्र इसे रुचिपूर्वक नहीं पढ़ते। अतः यह अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति में सहायक नहीं हो सका)।

आयोग के समक्ष इस सन्दर्भ में कुछ और भी विकल्प प्रस्तुत किये गये। जैसे—(*i*) संस्कृत तथा क्षेत्रीय विषयों के विस्तृत अध्ययन में विकल्प रखा जाय; (*ii*) क्षेत्रीय भाषा, अंगरेजी, हिन्दी तथा संस्कृत में से किसी तीन को लेने की छात्र को छूट दी जाय; (*iii*) क्षेत्रीय भाषा तथा हिन्दी को ही अनिवार्य रखा जाय तथा अंगरेजी एवं संस्कृत को कक्षा आठ से प्रारम्भ करके एस्० एस्० सी० आनर्स तक ही प्रचलित रखा जाय; (iv) संस्कृत को पठन-पाठनेतर विषय के रूप में रखा जाय। यतः इनमें से कोई भी सुझाव माध्यमिक स्तर पर संस्कृत को अनिवार्य विषय के रूप में रखे जाने का विचार प्रस्तुत नहीं करता। हम यह अनुरोध करते हैं कि ये स्वीकार न किये जाँय।

(२६) ऊपर जो कुछ भी कहा गया है तथा विभिन्न शिक्षाविशेषज्ञों ने जो सुझाव दिए हैं उन सभी को दृष्टि में रखते हुए हम इस निश्चय पर पहुँचना चाहते हैं कि शिक्षा की एकीकृत प्रारम्भिक (बेसिक) स्तर (कक्षा १ से ८ तक) तथा माध्यमिक स्तर शिक्षा (कक्षा ९ से ११ तक) एवं (विश्वविद्यालयीय शिक्षा के पूर्व के त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम) का मोटे तौर पर निम्नाङ्कित रूप होना चाहिए—

(१) ऊपर कहे गये प्रथम वरीयता के अनुसार यदि माध्यमिक स्तर पर मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा, अंगरेजी या हिन्दी तथा संस्कृत में इन तीन विषयों को ही अनिवार्य रखा जाता है तो प्रथम पाँच वर्षों तक (वयःसमूह ६+से ११ के समवर्ती) हिन्दी या क्षेत्रीय भाषा की ही शिक्षा दी जाय। शिक्षा के छठे वर्ष के बाद अंगरेजी को अनिवार्य रखा जाय तथा सातवें वर्ष से संस्कृत का अध्यापन प्रारम्भ करके उसे बराबर प्रचलित रखा जाय। आयोग का यह निश्चित मत है कि आगे चलकर महाविद्यालय स्तर पर संस्कृत का पठन-पाठन पुष्ट करने के उद्देश्य से तथा

माध्यमिक स्तर पर उसकी जड़ को दृढ बनाने के लिए इस स्तर पर पाँच वर्षों से कम का पाठ्यक्रम वाञ्छनीय नहीं होगा। इसके अतिरिक्त प्रारम्भिक कक्षाओं में भी, जहाँ हमें संस्कृत को नहीं प्रारम्भ करना है, सुभाषितों तथा स्तोत्रों को कण्ठस्थ कराया जाय तथा प्रतिनिधि संस्कृतसाहित्य की कथाओं को क्षेत्रीय भाषाओं में रूपान्तरित करके बच्चों को पढ़ाया जाय, जिससे बच्चे संस्कृत साहित्य से पूर्ण परिचित हो जाँय। इस प्रयास का शुभारम्भ हमें कक्षा तीन या चार से ही करना उचित होगा। प्रारम्भ में ही इस रूपमें संस्कृत का श्रीगणेश किये जाने के स्पष्ट लाभ हैं। यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस स्तर पर यदि हम समुचित अध्यापन-विधियों द्वारा इस प्रकार संस्कृत का शुभारम्भ करें तो आगे चलकर बच्चों के मन में जो यह भय होता है कि संस्कृत एक नया विषय है या कठिन है वह भय भी निर्मूल हो जायगा। सामान्यतः वैसे ही बालकों में कण्ठस्थ करने की विलक्षण शक्ति हुआ करती है। फिर इस स्तर पर हम उन्हें जो कुछ भी कण्ठस्थ करा देंगे, उसे उनके मन में चिरस्थायी रखने की तो बात ही क्या? कविता पाठ करने से बालक का उच्चारण शुद्ध होगा, जो कि अन्य भाषाओं के अध्ययन में भी उनके काम आवेगा। इस सन्दर्भ में हमें ध्यान रखना चाहिए कि संस्कृत का यह प्रशिक्षण औपचारिक न होकर पठन-पाठनेतर क्रिया के रूप में सम्पन्न किया जाय। इसे प्रति सप्ताह केवल दो या तीन दिन ही रखा जाय। इसे सुगमतापूर्वक नैतिक शिक्षा के पाठ्यक्रम का एक अंश बनाया जा सकता है। जब तक अनिवार्य संस्कृत प्रारम्भ नहीं की जाती है इस व्यवस्था को किसी न किसी मात्रा में प्रचलित रखना चाहिए।

(२७) यदि संस्कृत को एक चतुर्थ अनिवार्य विषय के रूप में रखा जाता है तो हम निम्नाङ्कित योजना प्रस्तावित करते हैं :—प्रारम्भ के पाँच वर्षों में केवल मातृभाषा (या क्षेत्रिय भाषा) की ही अनिवार्य शिक्षा दी जानी चाहिए। जैसा कि ऊपर सुझाव दिया जा चुका है, सुभाषित इत्यादि की शिक्षा इस स्तर पर दी जाने वाली प्रारम्भिक शिक्षा-योजना में ही सम्मिलित की जानी चाहिए। छठी कक्षा में एक अनिवार्य विषय के रूप में अंगरेजी प्रारम्भ की जानी चाहिए। स्पष्टतः इस स्थिति में बालक को मातृभाषा (या क्षेत्रीय भाषा) तथा अंगरेजी इन दो की ही शिक्षा देनी होगी और संस्कृत सुभाषितों की शिक्षा भी पठन-पाठनसहगामिनी क्रिया के रूप में चलती ही रहेगी। कक्षा छः में भाषाशिक्षण के लिए निर्धारित समय का दो तिहाई भाग क्षेत्रीय भाषा के शिक्षण के लिए तथा एक तिहाई भाग अंगरेजी की शिक्षा के लिए नियत किया जाना चाहिए। कक्षा सात में संस्कृत को अनिवार्य रखा जाय। इस कक्षा में भाषा के शिक्षण के लिए निर्धारित समय को मातृभाषा (या क्षेत्रीय भाषा), अंगरेजी तथा संस्कृत इन तीन भाषाओं में बराबर बाँट देना चाहिए। कक्षा आठ में हिन्दी को भी ले आना चाहिए, ताकि पूर्व विश्वविद्यालयस्तर पर पहुँचने के पहले के चार वर्ष अंगरेजी, संस्कृत, मातृभाषा (या क्षेत्रीय भाषा) तथा हिन्दी इन चार भाषाओं की शिक्षा में लगाये जा सकें। इस स्तर के चारों वर्षों में भाषा के शिक्षण के लिए निर्धारित समय का एक तिहाई भाग अंगरेजी, एक तिहाई भाग संस्कृत, छठा भाग मातृभाषा (या क्षेत्रीय भाषा) तथा छठा भाग हिन्दी के शिक्षण के लिए

नियत किया जाना चाहिए। हिन्दी को कुछ और विलम्ब से उस समय भी प्रारम्भ किया जा सकता है ज़ब कि क्षेत्रीय भाषा तथा संस्कृत से प्राप्त ज्ञान की पृष्ठभूमि में भी हिन्दी के ज्ञान के लिए बालक और भी अच्छी तैयारी कर ले। इस प्रकार छात्र क्षेत्रीय भाषा का सात वर्षों तक अध्ययन कर चुकता है तथा हिन्दी का भी साहित्यिक भाषा के रूप में नहीं, किन्तु कौशल भाषा के रूप में ही पठन-पाठन चलाता है। ऐसी स्थिति में इन भाषाओं की उपर्युक्त योजना में इनके लिए कुछ कम घंटों का निर्धारण पर्याप्त होगा।

(२८) आवश्यक संशोधनों के साथ यही योजना उस स्थिति में भी लागू की जा सकेगी जब कि हम क्षेत्रीय भाषाओं के सम्मिश्रित पाठ्यक्रम को प्रारम्भ करने की बात पर विचार करेंगे।

(२९) माध्यमिक विद्यालयों में अनिवार्य संस्कृत के पाठ्यक्रम के स्वरूप तथा विस्तार के सन्दर्भ में, चाहे वह त्रिभाषा सूत्र के अनुसार हो या चतुर्भाषा योजना के अन्तर्गत, हमें मुख्यतः इन तथ्यों पर अवश्य ध्यान देना होगा। वह पाठ्यक्रम एक ओर स्वतः पर्याप्त हो, अर्थात् निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति करता हो तथा दूसरी ओर उसमें भावी विकास की क्षमता भी हो। आधारभूत व्याकरण, सरल रचना, चुने हुए अनुच्छेदों का कण्ठस्थीकरण, रामायण, महाभारत तथा संस्कृत साहित्य के कुछ अंशों को समझना तथा उनके आनन्द का अनुभव करना और उनमें संरक्षित सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का साधारण ज्ञान प्राप्त करना—इन सभी बातों का समुचित मात्रा में समावेश उक्त पाठ्यक्रम में यथोचित स्तर तक किया जाना चाहिए।

(३०) अपने यात्राक्रम में जब हम पाठ्यक्रमों की छानबीन कर रहे थे, उस समय हमने यह देखा कि कुछ प्रदेशों में पाली (विशेषतः बम्बई तथा पश्चिम बंगाल) या अर्धमागधी (प्राकृत) संस्कृत के विकल्प में माध्यमिक विद्यालय स्तर पर भी अध्ययन के लिए निर्धारित है। इस आयोग ने यह भी देखा कि संस्कृत की अपेक्षा पाली तथा अर्धमागधी (प्राकृत) के पाठ्यक्रम का स्तर अत्यन्त निम्नकोटि का था। ऐसा प्रतीत होता है कि सरलतापूर्वक उत्तीर्ण होने के उद्देश्य से ही पाली तथा अर्धमागधी का इस पाठ्यक्रम में निर्धारण किया गया हो। संस्कृत के काल्पनिक तथा अतिशयोक्तिपूर्ण तथाकथित कष्ट से बचने के लिए छात्र प्रायः इन विषयों को ले लिया करते थे। इस तथ्य को कई साक्ष्यों ने बलपूर्वक हमारे सामने रखा। यह स्थिति संस्कृत तथा पाली एवं प्राकृत सभी के अध्ययन में बाधक सिद्ध हो रही है। डाक्टर पी० एल० वैद्य, डा० नलिनाक्ष दत्त तथा डा० हीरालाल जैन जैसे पाली एवं प्राकृत के सुविख्यात विद्वानों ने आयोग के सामने साक्ष्य के रूप में एक स्वर से कहा कि इन भाषाओं के अध्ययन के लिए संस्कृत की पुष्ट नींव आवश्यक होती है। इसलिए इन भाषाओं को संस्कृत के विकल्प में नहीं रखा जाना चाहिए। साथ ही साथ उन्होंने यह भी सूचित किया कि प्राकृत के अच्छे ज्ञान के बिना संस्कृत के किसी भी उच्च अध्ययन को हम पूरा नहीं कह सकते। आयोग उनकी इस सम्मति से पूर्ण सहमत है। अतः हमारी संस्तुति है कि (i) विद्यालयीय

स्तर पर पाली तथा प्राकृत को संस्कृत के विकल्प में न रखा जाय, (ii) विश्वविद्यालयों के विशेष पाठ्यक्रम में तथा संस्कृत पाठशालाओं में प्राकृत का अध्ययन आवश्यक बना देना चाहिए, (iii) उपाधि तथा स्नातकोत्तर स्तर पर प्राकृत को विशेष विषय के रूप में रखने का प्राविधान होना चाहिए।

(३१) इस सन्दर्भ में हम एक बात की चर्चा करना चाहेंगे कि इसे एक अन्तरिम व्यवस्था के रूप में रखा जा सकता है। माध्यमिक स्तर पर संस्कृत को अनिवार्य बनाने के हमारे प्रस्ताव को सामान्यतः स्वीकार कर लिए जाने पर इस अन्तरिम व्यवस्था का कोई भी महत्त्व नहीं रहेगा। देश के अनेक भागों में हमारी दृष्टि में यह बात लायी गयी कि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में या माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में संस्कृत के विरुद्ध यद्यपि कुछ भी नहीं है, जिसकी इच्छा हो वह संस्कृत ले सकता है, किन्तु व्यवहार के क्षेत्र में यह देखा जाता है कि जो कोई छात्र संस्कृत पढ़ना चाहता है उसे ऐसा करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कई एक कारणों से विद्यालयों में संस्कृत पढ़ाने वाले अध्यापकों का प्राविधान नहीं रखा जाता। यह बात राजकीय विद्यालयों में भी देखी जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि संस्कृत पढ़ने के लिए इच्छुक छात्र भी वहाँ प्रवेश नहीं पा सकते। कुछ क्षेत्रों में कुछ ऐसे प्रतिबन्ध रख दिये जाते हैं जिससे छात्र संस्कृत पढ़ने से स्वतः वञ्चित हो जाया करते हैं। जैसे—संस्कृत लेने वाले छात्रों की संख्या कम से कम पैंतालीस होनी चाहिए तभी संस्कृत का पठन-पाठन चलेगा। इससे कम छात्र होने पर संस्कृत कक्षाओं को चलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे प्रतिबन्धों से संस्कृत के पठन-पाठन के मार्ग में एक अवाञ्छनीय रुकावट आ पड़ती है। जब तक इस प्रकार की रुकावटें समाप्त नहीं की जातीं छात्र संस्कृत लेने में असमर्थ बने रहेंगे। यह एक ऐसी स्थिति है जिसे सद्यः समाप्त करना परमावश्यक है। कोई भी विद्यालय चाहे वह राजकीय हो या अराजकीय, वहाँ संस्कृत पढ़ने पढ़ाने की सामान्य व्यवस्था होनी चाहिए। प्रायः लोग यह तर्क उपस्थित करते हैं कि कम छात्रों के लिए संस्कृत कक्षाओं को चलाना संस्था पर एक अनावश्यक आर्थिक बोझ का कारण बन जाया करता है। संस्कृत ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय के लिये विद्यालयों में पठन-पाठन की व्यवस्था अनिवार्य होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में यह भी उचित होगा कि एतदर्थ आर्थिक बोझ का प्रश्न न उठाया जाय। भारतवर्ष के किसी भी विद्यालय में अनिवार्य या वैकल्पिक किसी भी रूप में संस्कृत की व्यवस्था न करने की बात सोची भी नहीं जा सकती। इसके लिए किसी प्रकार का बहाना स्वीकार नहीं किया जा सकता। संस्कृत के प्रति ऐसी प्रवृत्ति स्पष्टतः उदासीनता तथा छिपी तौर पर लोगों की शत्रुता प्रकाशित करती है। उसे तत्काल रोका जाना चाहिए।

(३२) आयोग की दृष्टि में यह बात भी लायी गयी कि कुछ प्रदेशों में संस्कृत पठन-पाठन की व्यवस्था ही ऐसी की गयी है कि छात्रों को वैकल्पिक संस्कृत लेने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस व्यवस्था में किसी एक विशेष पाठ्यक्रम को या विषयसमूह को लेनेवाले छात्र को संस्कृत लेने के लिए आप से

आप रोक लग जाया करती है। हमारा यह अनुरोध है कि किसी भी कारण से किसी भी छात्र को संस्कृत लेने से न तो रोका जाय, न तो ऐसी स्थिति ही आने पावे कि वह संस्कृत पढ़ने की इच्छा रखते हुए भी उससे वञ्चित हो जाय।

२. संस्कृत-शिक्षा की दो व्यवस्थाएँ

(३३) आज भारत में संस्कृत-शिक्षा की स्पष्ट रूप से दो व्यवस्थाएँ चल रही हैं। इन दोनों ही में संस्कृत का विशेष पठन-पाठन प्रचलित है। प्रथमतः संस्कृत पाठशालाएँ—जिनमें अतीत से निरन्तर चली आती हुई प्राचीन परम्परा एवं पद्धति के अनुसार संस्कृत का पठन-पाठन होता है, दूसरी ओर हैं पाश्चात्त्य-प्रणाली के विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालय, जिनमें संस्कृत का विशेष पठन-पाठन आधुनिक पद्धति से प्रचलित है। प्राचीन साहित्य की यह उच्च शिक्षा-व्यवस्था हमारे देश की विशेषता है। पाश्चात्त्य देशों में प्राचीन साहित्य की शिक्षा केवल विश्वविद्यालयों में ही दी जाती है। विश्वविद्यालयों से बाहर इसका कोई स्थान नहीं है। भारतवर्ष की यह दोहरी शिक्षा-व्यवस्था एक प्रकार से ब्रिटिश शासन की ही देन है। जैसा कि हम अध्याय दो में कह चुके हैं, हमारे देश में संस्कृत की शिक्षा मूलतः संस्कृत पाठशालाओं ही में दी जाती रही है। जिन संस्थाओं को इस्ट इण्डिया कम्पनो ने चलाया, वे भी पाठशालाओं के ही समान थीं। इन संस्थाओं में भी पारम्परिक पद्धति से केवल संस्कृत की ही शिक्षा दी जाती थी। बाद में अंगरेजों के माध्यम से 'पाश्चात्त्य ज्ञान के नवीन आदर्श' की नीति अपनाने के लिए ब्रिटेन से कम्पनी को निर्देश प्राप्त हुए। तदनुसार उसकी शिक्षानीति में परिवर्त्तन हुआ। अंगरेजी विद्यालय तथा महाविद्यालय खोले गये एवं कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के विश्वविद्यालयों ने जन्म लिया। इसी समय से पठन-पाठन तथा परीक्षा के लिए निर्धारित होने वाले विषयों में संस्कृत को भी सम्मिलित किया जाने लगा। इन विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में संस्कृत के विशेष अध्ययन का प्राविधान अवश्य था, किन्तु यहाँ दी जाने वाली संस्कृत की शिक्षा उस पद्धति से ही दी जाती थी, जिस पद्धति से प्राचीन साहित्यिक भाषाओं की शिक्षा पाश्चात्त्य विश्वविद्यालयों में दी जातो थी। इस प्रकार प्राचीन पारम्परिक पद्धति के अनुसार केवल संस्कृत की ही शिक्षा देनेवाली संस्कृत पाठशालाएँ तथा आधुनिक पद्धति से संस्कृत के विशेष पठन-पाठन में तत्पर विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय ये दोनों ही प्रकार की संस्थाएँ एक साथ स्थित रहीं।

(३४) निःसन्देह इन दोनों संस्कृत शिक्षा-व्यवस्थाओं के अपने-अपने अलग-अलग गुण-दोष देखने में आते हैं। पारम्परिक संस्कृत शिक्षा-व्यवस्था ने प्राचीन भारत में प्रचलित प्रचीन संस्कृत शिक्षा-पद्धति के गुणों को सुरक्षित रखा है। प्राचीन शिक्षाप्रणाली के प्रधानतः तीन उद्देश्य थे—ज्ञानार्जन, भावी जीवन के सामाजिक उत्तरदायित्व को वहन करने की क्षमता उत्पन्न करना तथा सर्वोपरि चरित्र-निर्माण। यदि हम अन्तिम लक्ष्य से प्रारम्भ करें तो यह प्रत्यक्ष होगा कि प्राचीन भारतीय

शिक्षा मुख्यतः व्यक्तिगत तथा धार्मिक थी। प्राचीन भारतीय शिक्षा का विशेष स्वरूप था गुरु-शिष्य का घनिष्ठतम सम्बन्ध। पाठशालाओं में भी यह गुरु-शिष्य सम्बन्ध सुरक्षित रहा। इस गुरु-शिष्य सम्बन्ध के माध्यम से हमारी पारम्परिक शिक्षा-व्यवस्था में एक उच्चकोटि की नैतिक शिक्षा की परम्परा निरन्तर प्रवाहित होती रही। उस समय शिक्षा एक प्रकार की धार्मिक दीक्षा थी। बालक के मस्तिष्क को विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान से भर देने तक ही गुरु का कर्तव्य सीमित नहीं था। उसे शिष्य का यथार्थ आध्यात्मिक गुरु बनना होता था। गुरु अपने शिष्य का वास्तविक मार्गोपदेशक, मित्र तथा दार्शनिक प्रकाश-स्तम्भ हुआ करता था। मौखिक उपदेश की अपेक्षा अपने आचरण से शिष्य को समाज का योग्य सदस्य बनने की शिक्षा देना उसके लिए अधिक महत्त्व रखता था। यह ठीक ही कहा गया है कि प्राचीन शिक्षा-विधान में मनुष्य मनुष्य को शिक्षित किया करता था। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली एक समुदाय को शिक्षित करती है। आज-कल के छात्र-जीवन में एक संस्था के प्रति सामान्य भक्ति की भावना काम करती है। इसके विपरीत प्राचीन भारत का छात्र-जीवन एक विशेष गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति से ओत-प्रोत था। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन भारत का छात्र-जीवन वर्तमान समय के छात्र-जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली भावनाओं से अनुरञ्जित था। निश्चय ही गुरु-शिष्य-भाव ही प्राचीन संस्कृत पाठशालाओं का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व था। पाठशालाओं का वातावरण भी ज्ञानप्राप्ति के लिए सर्वथा सहायक हुआ करता था। प्राचीन काल की आदर्श पाठशालाओं में समयचक्र अथवा निर्धारित पाठ्यक्रम का कोई भी बन्धन नहीं था। किसी एक शास्त्र का तलस्पर्शी प्रौढ एवं व्यापक अध्ययन ही अध्ययन का परम लक्ष्य हुआ करता था। इस प्रकार की अध्ययनप्रणाली का मुख्यतम अङ्ग था किसी भी शास्त्र के आधारभूत ग्रन्थों को बुद्धिमत्ता पूर्वक भली-भाँति समझना। स्वभावतः इस अध्ययनक्रम में पल्लवग्राही लक्ष्यशून्य अध्यापनप्रणाली के लिए कोई स्थान नहीं था। इस प्रकार छात्र के सामने कुछ शास्त्रों का प्रायः सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए पर्याप्त क्षेत्र प्रस्तुत हो जाता था। वह अपने समस्त अर्जित ज्ञान को कण्ठस्थ कर लिया करता था। उसकी शास्त्रगत उपस्थिति इतनी उत्तम हुआ करती थी कि अवसर आने पर किसी ग्रंथ, टीका या टिप्पणी को देखे बिना ही उस ज्ञान के प्रयोग के लिए वह सदा तैय्यार रहता था।

(३५) पाठशालीय प्रशिक्षण को सफलता पूर्वक समाप्त करके प्राचीन गुरुकुल का स्नातक अध्यापक, उपदेष्टा या पुरोहित के रूप में समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य-पालन के लिए पूर्णतः सुसज्जित हो जाता था। इस सेवा तथा कर्त्तव्यनिष्ठा के बदले में वह समाज से अत्यधिक आदर प्राप्त करता था। इसके अतिरिक्त भूमि-दान तथा अनेक प्रकार की दान-दक्षिणाओं से उसे सदा ही इतनी मात्रा में धन प्राप्त हो जाया करता था कि सुविधापूर्वक जीवन-यापन के क्षेत्र में उसे कोई भी कठिनाई नहीं होती थी। इस प्रकार शिक्षा के दूसरे अर्थात् सामाजिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए भी पाठशालाओं की शिक्षा में किसी प्रकार की क़मी नहीं थी।

(३६) यह स्मरण रखना चाहिये कि जो कुछ हमने ऊपर कहा है वह आदर्श पाठशालाओं के विषय में ही है। इन आदर्श संस्थाओं का जीवन बहुत पहले ही समाप्त हो चुका है। आज-कल की पारम्परिक संस्कृत पाठशालाएँ उक्त आदर्शों से बहुत दूर होती जा रही हैं। हमारे देश की मूलतः सतत परिवर्तनशीलता की दृष्टि से इस स्थिति को टाला भी नहीं जा सकता था। वह अवश्यम्भावी थी ही, साथ ही साथ यह भी स्वाभाविक था कि ऐसी परिस्थिति में हमारी प्राचीन पाठशालाएँ वर्तमान जीवन के आदर्शों तथा मूल्यों के अनुरूप अपने आप को व्यवस्थित रखने में कठिनाई का अनुभव करें। ऐसी दशा में हमारी पारम्परिक शिक्षा वर्तमान समाज के लिए अनुपयुक्त सिद्ध होने लगी। इस सन्दर्भ में यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि इस प्रणाली के अपने कोई दोष नहीं थे। वास्तविकता तो यह थी कि प्राचीन परिस्थितियों के जो गुण थे, वे गुण नवीन परिस्थितियों में बदल जाने से दोष के रूप में देखे जाने लगे।

(३७) सम्भवतः पाठशालीय प्रणाली का प्रधान दोष था परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप अपने आप को ढाल सकने की क्षमता का अभाव। ऐसा प्रतीत होता है कि इस व्यवस्था के अनुगामी एक प्रकार के बौद्धिक अलगाव का जीवन व्यतीत कर रहे थे। हमारी पाठशालाएँ अन्य विषयों को छोड़कर केवल एक ही शास्त्र के विशेष अध्ययन की प्राचीन प्रणाली को ही प्रोत्साहित करतीं रहीं। इस प्रणाली के अनुसार प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले छात्रों को बिना किसी विवेक के आवश्यक या अनावश्यक सब कुछ रट लेना होता था। सम्भवतः सबसे बुरी बात तो यह थी कि छात्र एक ही विचारधारा का दृढतापूर्वक अनुसरण करता रहता था। फलतः इस प्रणाली से उसे जो भी ज्ञान प्राप्त होता था वह मन्त्रतुल्य एवं असंतुलित हुआ करता था।

(३८) इस पर भी एक ही शास्त्र का विशेष अध्ययन करनेवाला छात्र उस शास्त्र के समस्त ग्रन्थों को अपने अध्ययन का लक्ष्य बनाकर कुछ थोड़े से ग्रन्थों तक ही अपने अध्ययन को सीमित रखा करता था। इसका परिणाम यह होता था कि वह शास्त्र की सामग्री को बुद्धिमत्तापूर्वक समझने के स्थान पर उसकी वाक्य-रचना तथा पदावली पर ही अधिकार प्राप्त करता था। वह एक ही स्वीकृति की भावना से अपना अध्ययन प्रारम्भ करता था; न कि जिज्ञासा की दृष्टि से। किसी भी विषय पर समालोचनात्मक तथा तुलनात्मक दृष्टिकोण से विचार प्रारम्भ करने की उसे शिक्षा नहीं दी जाती थी। इसके विपरीत उसके मन पर यह प्रभाव डाला जाता था कि किसी एक विषय में जो कुछ जानने योग्य था, उसका प्राचीन ग्रन्थों में प्रतिपादन किया जा चुका है तथा अब उस सम्बन्ध में किसी भी नये ज्ञान का प्रकाश में आना सम्भव नहीं है। इसका सबसे हानिकर परिणाम यह हुआ कि पाठशालीय प्रणाली शीघ्र ही वन्ध्या हो गयी। शैक्षिक प्रगति के लिए सर्वाधिक आवश्यक वस्तु होती है विचारात्मक तथा भावात्मक प्रगति। इसे भी इस प्रणाली से कोई प्रोत्साहन नहीं प्राप्त हुआ। फलतः इन संस्थाओं में मौलिक कार्य दुर्लभ हो गये। कुछ अपवादों को

छोड़कर संस्कृत पण्डितों की रचनात्मक क्रियाएँ तो बहुत पूर्व हो बन्द हो चुकीं थीं। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि पाठशाला से निकले हुए छात्र में शैक्षिक संतुलन की कमी हो, उसका ज्ञान गम्भीर होते हुए भी व्यापक न हो तथा एक सीमित अर्थ में पूर्ण होते हुए भी समालोचनात्मक प्रवृत्ति से शून्य एवं असफल हो। प्राचीन मत कहता है कि ज्ञान एक निर्धारित परिधि के भीतर बन्द है। यदि हम उस पर अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं तो उसे हमें अपनी स्मृति का अङ्ग बना लेना चाहिए। इसके विपरीत आधुनिक मत के अनुसार ज्ञान एक सतत विकासशील एवं संवर्धनशील तत्त्व है। स्पष्ट है कि परम्परागत संस्कृत-शिक्षा ज्ञान के संरक्षण (क्षेम) का समर्थन करती है, जब कि वर्तमान शिक्षा नवीन उपलब्धियों (योग) को प्रोत्साहित करती है।

(३९) उपर्युक्त पृष्ठभूमि में पाठशालीय प्रणाली से प्रशिक्षित छात्रों के लिए यह कठिन हो गया कि वे समय के परिवर्तन के अनुसार अपने आप में भी परिवर्तन ला सकें। उनका पाठशालीय प्रशिक्षण भी कुछ इस प्रकार का था कि उनसे यह आशा करना भी व्यर्थ था कि वे जिन नवीन परिस्थितियों को अपने सामने देख रहे हैं, उनके अनुकूल अपने आप को सम्हाल कर तैयार कर सकेंगे या तदनुरूप अपने में परिवर्तन भी ला सकेंगे।

(४०) वर्तमान विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में जो संस्कृत का पठन-पाठन आज हम देख रहे हैं, उसमें भी अपने गुण-दोष विद्यमान हैं। निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि एक पाठशाला के छात्र की अपेक्षा विश्वविद्यालय के संस्कृत छात्र की दृष्टि या निरीक्षण क्षमता अधिक विस्तृत हुआ करती है। विश्वविद्यालय का छात्र प्राप्त ज्ञान के प्रयोग में भी अपेक्षाकृत अधिक तत्पर तथा सक्रिय हुआ करता है। नवीन विचारों का स्वागत करने के लिए तथा अपने से भिन्न विचारों तथा विचारधाराओं का परीक्षण करने के लिए भी वह सदा तैयार रहता है। समालोचनात्मक होने के अतिरिक्त उसका मस्तिष्क तुरन्त सावधान हो जाने-वाला तथा साहसी भी होता है। विश्वविद्यालयीय प्रणाली से प्रशिक्षित विद्वान् अपने पास सुलभ समस्त सामग्री से सुसज्जित होकर आधुनिक पद्धतियों के समाश्रयण द्वारा शोधकार्य में आज अत्यधिक प्रगतिशील होता जा रहा है। विशेष शास्त्रकारों तथा विचारसम्प्रदायों के मूलग्रन्थों तथा उनके अंशदान का वह दिशा तथा काल के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करता है। इससे उसमें यह शक्ति आ जाती है कि वह समस्त भारतीय विचारप्रक्रिया की प्राचीनता, उसकी विभिन्नता, उसका विस्तार तथा उसकी समृद्धि का पूरा-पूरा चित्र खींच सके। इस प्रकार के अपने सह-सम्बन्ध पर आधारित अध्ययन के द्वारा आधुनिक संस्कृत के विद्वान् ने संस्कृत के पठन-पाठन में एक नवीन शक्ति का आरोप किया है। उसकी इस अध्ययन-पद्धति का ही परिणाम है कि आज हम अपने देश में नवजागृति का सूर्योदय देखने का सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं। यह सर्वविदित है कि इस अध्ययन-प्रणाली के प्रति आकृष्ट होकर अच्छे मस्तिष्क के छात्र धीरे-धीरे विश्वविद्यालयों में आने लगे हैं। हम इस तथ्य को नहीं

भुला सकते कि संस्कृत तथा भारतीय विचार के क्षेत्र में जो कुछ भी प्रगति आज दृष्टिगोचर हो रही है वह सब विश्वविद्यालयों में प्रचलित संस्कृत के पठन-पाठन तथा शोधकार्य के द्वारा ही सम्भव हो सकी है। यही नहीं, अपितु संस्कृत को इन विश्वविद्यालयों ने सामान्य शिक्षा का अङ्ग बनाया है। उनकी इस भूमिका के फलस्वरूप विश्वविद्यालयों के संस्कृत विद्वान् आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र को संस्कृत-वाङ्मय की बहुमूल्य सामग्री से समृद्ध करने में समर्थ हो सके हैं। इन विद्वानों ने विशेषतः दर्शन तथा समाजशास्त्र के क्षेत्र में पाश्चात्त्य प्रगति के परिप्रेक्ष्य में भारतीय आदर्शों को समझने की चेष्टा की है। इस सन्दर्भ में विदेशों को समझने के लिए विश्वविद्यालयों के इन विद्वानों ने भारतीय अंशदान की व्याख्या करने की भी चेष्टा की है। साथ ही साथ आधुनिक तर्क तथा विज्ञान के प्रकाश से इन विद्वानों ने भारतीय धाराओं को प्रकाशित भी किया है। इससे भारतीय विचारधारा को और अधिक शक्तिशाली तथा गम्भीर बनाने में भी उन्हें सफलता प्राप्त हुई है। भारत के अतीत की खोज तथा उसके पुनःस्थापना के आधार पर भारतीय आत्मा के पुनः प्रकाशन या उसके अनुसंधान की जो आवाज स्वातंत्रता-संग्राम ने उठायी है, वह अधिकतर इन विद्वानों की ही उक्त चेष्टाओं का परिणाम है।

(४१) ऊपर हमने संस्कृत-शिक्षा की आधुनिक पद्धति के स्पष्ट गुणों का विवेचन किया है; किन्तु साथ ही साथ इस प्रणाली के दोष भी उतने ही स्पष्ट हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि संस्कृत की पारम्परिक शिक्षा में गुरु-शिष्य का आत्मीय तथा व्यक्तिगत सम्बन्ध आज भी बना हुआ है, किन्तु आधुनिक-पद्धति में इसके विपरीत स्थिति है। विश्वविद्यालयों की शिक्षा सांसारिक तथा आधुनिक वातावरण में दी जाती है। हमारी दृष्टि में विश्वविद्यालयों में चलने वाली संस्कृत-शिक्षा का सर्वप्रमुख दोष यह है कि उसमें संस्कृत का पठन-पाठन अन्य विषयों के साथ होता है। इसलिए उसमें ग्रन्थों का व्यापक अध्ययन नहीं हो पाता तथा छात्र संस्कृत का लगनपूर्वक अध्ययन भी नहीं कर पाते। विश्वविद्यालयों की संस्कृत-शिक्षा द्वारा समालोचनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन को प्रोत्साहन मिलता है। यह प्रशंसनीय है; किन्तु इस व्यवस्था में ग्रन्थ-सामग्री का जो ज्ञान होता है, उसे क्षीण, क्षणिक तथा परिस्थितिजन्य ही कहा जायगा। विश्वविद्यालयों में अध्ययन करनेवाले छात्रों में से अनेक छात्र ग्रन्थों का ज्ञान मूल स्रोतों से प्राप्त नहीं करते। उनका ज्ञान उच्छिष्ट हुआ करता है। ऐसी स्थिति के आ जाने पर धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन पुरातत्त्व-सामग्री के रूप में होने लग जाता है। धार्मिक तथा दार्शनिक के इस प्रकार के अध्ययन में यह सम्भावना भी बनी रहती है कि सत्य के आभ्यन्तरिक स्वरूप तथा विचारों एवं आदर्शों की शक्ति और उनकी प्रमाणिकता पर दृष्टि न दी जाय, जब कि यथार्थ में उनके ठीक-ठीक वास्तविक आभ्यन्तरिक मूल्यों को समझने तथा अपने जीवन में उन मूल्यों को उतारने के औचित्य के लक्ष्य से ही हम उन ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार विश्वविद्यालयों का संस्कृत-छात्र अपनी पितृ-सम्पत्ति के पूर्ण ज्ञान से विरहित होकर अपनी जन्मभूमि के संस्कृति-जगत् में ही एक रुचिविहीन अपरिचित यात्री के समान विचरण करता है।

(४२) अपने उपर्युक्त विवेचन में हमने अपने देश में प्रचलित दोनों प्रकार की संस्कृत-शिक्षा के गुणों तथा दोषों का कुछ विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया है। इस सन्दर्भ में हमें विश्वविद्यालयों की संस्कृत-शिक्षा की चिन्ता नहीं करनी है। वह तो आधुनिक जीवन के स्रोत का एक अवयव है। यह स्रोत उसके विकास के साथ स्वयं ही गतिशील रहा करता है। विशेष रूप से हमें पारम्परिक पाठशालीय प्रणाली की ही चिन्ता करनी है। एक लम्बे समय तक यह प्रणाली अनेक कारणों से प्रतिकूल परिस्थितियों में गुजरती हुई आज अस्वस्थता के कारण दुर्बल हो गयी है तथा कष्ट झेल रही है। यह स्थिति अवश्य ही चिन्तनीय है।

(४३) इस सन्दर्भ में यह पूछा जा सकता है कि क्या यह पारम्परिक शिक्षाप्रणाली वास्तव में संरक्षण के योग है? आज के युग में विश्वविद्यालय या अन्य संस्थाएँ इसकी कमी की पूर्ति नहीं कर सकतीं? या शोध-संस्थानों अथवा भारतीय-ज्ञान संस्थानों से इसका काम नहीं चलाया जा सकता? इन प्रश्नों के उत्तर में हम यह कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार एक ओर विश्वविद्यालयों तथा शोध-संस्थानों द्वारा संस्कृत-शिक्षा के क्षेत्र में किए गये कार्य को छोटा समझना या उनकी प्रणाली को छिछली तथा दुर्बल कहते हुए उस पर निन्दात्मक आक्षेप करना उचित नहीं है; ठीक उसी प्रकार दूसरी ओर संस्कृत-शिक्षा की पारम्परिक प्रणाली को निकम्मी, जीर्ण-शीर्ण, समालोचनात्मक प्रवृत्ति से शून्य, जागृति या सुधार-विरोधी या पीछे की ओर चलती हुई कहकर उसे बुरा बताना भी हमारे लिए कोई कम अनुचित नहीं है। यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि अतीत के प्रति स्नेह अथवा धार्मिक या राष्ट्रिय भावनाओं से प्रेरित होकर हम यहाँ संस्कृत की पारम्परिक शिक्षा के संरक्षण का समर्थन करना चाहते हैं। यदि हम इस प्रणाली को जीवित रखना चाहते हैं तथा यह भी चाहते हैं कि हमारे राष्ट्रिय जीवन में वह अपना अंशदान दे तो उसके संरक्षण के पक्ष में ऐसे कारण प्रस्तुत करना चाहिए जो कि इससे भी अधिक पुष्ट हों तथा इस शिक्षा के आभ्यन्तरिक गुणों को प्रकाश में लाते हों। आज के दिन हमारे लिए यह तो सम्भव नहीं है कि हम उन परिस्थितियों को मिटा दें, जिनके कारण संस्कृत पाठशालाओं तथा विश्वविद्यालयों में साथ-साथ चलनेवाली दोहरी शिक्षा-पद्धतियों ने जन्म लिया। इस दोहरी पद्धति को चलते सौ वर्ष बीत चुके। अब ये दोनों प्रणालियाँ एक दूसरे से भिन्न दो अलग-अलग पद्धतियों का रूप धारण कर चुकी हैं। अतः अब यह प्रश्न ही नहीं रह गया है कि इनमें किसी एक को सुधारा जाय या किसी एक को समाप्त किया जाय, या दोनों को एक में मिला दिया जाय। इन दोनों के अपने अपने गुण-दोष हैं। इसलिए अब तो हमें ऐतिहासिक सत्य के रूप में इन्हें दो अलग-अलग पद्धतियाँ स्वीकार कर ही लेनी चाहिए। इसलिए आज की स्थिति में हमें यह चाहिए कि इन दोनों प्रणालियों की आवश्यक विशेषताओं को समाप्त न करते हुए तथा इनके दोषों को हटाते हुए एवं गुणों का उपयोग करते हुए हम इनका पुनः संघटन करें।

(४४) कुछ साक्ष्यों ने स्पष्ट शब्दों में पाठशाला-पद्धति को प्रचलित रखने का विरोध किया है। कुछ ने उसके संरक्षण के औचित्य को तो समझा है, किन्तु आज के

प्रौद्यौगिक युग में यह प्रणाली क्या जीवित भी रह सकेगी ? इस पर उन्हें विश्वास नहीं है। तथापि हमारे साक्ष्यों का नब्बे प्रतिशत अंश इस पक्ष में हैं कि इस पद्धति का संरक्षण तथा संवर्धन निश्चित ही किया जाय। इन साक्ष्यों की यह धारणा है कि हमारे सांस्कृतिक तथा धार्मिक हित में यह अनिवार्य है कि हम इस पद्धति का संरक्षण तथा विकास करें। इस आयोग को यह कर्त्तव्य सौंपा गया है कि वह इस मार्मिक प्रश्न पर सम्भ्रान्त जनवर्ग का मतसंग्रह करके यह बताये कि इस सन्दर्भ में निश्चित रूप से भारतीय जनता का कितना भाग किस रूप में इस शिक्षा को चाहता है। इसलिए बहुमत का आदर करते हुए हम यह अनुरोध करते हैं कि पाठशाला-पद्धति को स्थित रखी जाय। हम यह भी कहना चाहेंगे कि जिस बहुमत ने एक स्वर से पाठशाला-पद्धति को बनाये रखने का पूर्ण समर्थन किया, उसमें से बहुत ही कम ने इस पक्ष का विरोध किया कि इस पद्धति में आवश्यक सुधार किए जाएँ। वे इस पद्धति में सुधार करने के समर्थक भी हैं।

(४५) हमने इस तथ्य की कई बार चर्चा की है कि भारतीय भाषाओं तथा भारतीय संस्कृति का संस्कृत से वह सम्बन्ध नहीं है जो कि प्राचीन के पूर्ववृत्तों का उसके पश्चात् आनेवाले वृत्तों से हुआ करता है। भारतीय संस्कृति का संस्कृत से वही सम्बन्ध है जो कि निरन्तर प्रवाहित होने वाले प्रधान प्रवाह का उसकी सहायक धाराओं से हुआ करता है। युग-युगान्तरों से संस्कृत हमारी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक आदर्शों की निरन्तर पूर्ति करती रही है। हमारी अतीत की उपलब्धियों के गौरव हैं हमारे विभिन्न दार्शनिक तथा धार्मिक सम्प्रदाय। इन्हें भली-भाँति समझने के लिए संस्कृत का उत्तम ज्ञान परमावश्यक है। हमें यह जान लेना चाहिए कि बहुत बड़ी संख्या में हमारे कई प्रकार के विद्वान् एकनिष्ठ होकर दर्शन तथा धर्म-सम्बन्धी संस्कृत साहित्य की शाखाओं के अध्ययन में यदि दत्तचित्त नहीं होंगे तो संस्कृत-वाङ्मय के अधिकांश ग्रन्थ, जिनमें मानवलोक की कुछ उदात्ततम विचारधाराएँ संरक्षित हैं, संसार की समझ के बाहर की वस्तुएँ हो जायेंगी।

(४६) विश्वविद्यालयों में संस्कृत का अध्ययन उतना प्रौढ तथा गम्भीर नहीं हो सकता, जितना कि वह संस्कृत पाठशालाओं में हो सकता है। इसके कई कारण हैं। महाविद्यालय या विश्वविद्यालय का छात्र संस्कृत के अतिरिक्त कई अन्य विषयों का भी अध्ययन करता है। अतः पाठशालाओं के छात्र की तुलना में उसका सामान्य-ज्ञान कहीं अधिक विस्तृत हुआ करता है, किन्तु पाठशालीय छात्रों की अपेक्षा वह संस्कृत-वाङ्मय के विशेष अंगों के पुष्ट अध्ययन में कम समय लगाता है। विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में अधिकतर ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा समालोचनात्मक पद्धतियों का अनुसरण किया जाता है। ये पद्धतियाँ दृष्टि-क्षेत्र के विस्तार में सहायक होती हैं तथा ठीक-ठीक निरीक्षण की भी क्षमता प्रदान करती हैं; तथापि वर्तमान पद्धतियाँ तथा शोधकार्य चाहे जितने भी महत्त्वशील क्यों न हों, हमारी स्मृति से वे इस मार्मिक तथ्य को कदापि नहीं हटा सकते कि पारम्परिक पद्धति से ग्रन्थों का जो साक्षात् गम्भीर अध्ययन हुआ करता है, वह उनके माध्यम से नहीं हो सकता। ऐसी

स्थिति में यह कदापि आशा नहीं की जा सकती कि विश्वविद्यालयों में प्रचलित संस्कृत का पठन-पाठन कम से कम अपने वर्तमान स्वरूप में पाठशालाओं में प्रचलित पारम्परिक पद्धति का स्थान ग्रहण कर सकता है।

(४७) दूसरा पक्ष भी उतना ही सत्य है। वर्तमान समय में ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा समालोचनात्मक पद्धतियों के गुण जो प्रकाश में आ रहे हैं, क्या उनकी उपेक्षा करना हमारे लिए आज सम्भव है? अथवा उन्होंने जिन नवीन तत्त्वों की खोज की है तथा प्राचीन तत्त्वों से इन नवीन तत्त्वों के सम्बन्धों का जो अनुसन्धान किया है, क्या उनपर विचार न करना हमारे लिए आज सम्भव है? विद्वत्ता चाहे वह आधुनिक हो या पारम्परिक, इनमें से किसी के मूल्य को कम आँकने की कोई आवश्यकता नहीं है। पारम्परिक पद्धति निश्चय ही हमारी अपनी पद्धति है, किन्तु हमारे लिए यह भी सम्भव नहीं है कि हम नवीन पद्धतियों को न मानें। शिक्षा के क्षेत्र में सभी के लिए स्थान बना हुआ है तथा सभी का अपना पृथक् मूल्य भी है। यदि ठीक-ठीक विचार करें तो प्रत्यक्ष होगा कि ये दोनों ही पद्धतियाँ एक दूसरे की पूरक हैं, न कि प्रतियोगी। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि एक ओर जब आधुनिक पद्धति तथा वर्तमान दृष्टिकोण अनिवार्य ही नहीं, अपितु शक्तिशाली संस्कृत पठन-पाठन के लिए परमावश्यक तथा वाञ्छनीय भी है, तब इसके साथ ही साथ दूसरी ओर अतीत की विशाल ज्ञानराशि जहाँ कहीं भी वह स्थित हो उसे हमें नष्ट भी नहीं होने देना है।

(४८) इस सन्दर्भ के विचार-विमर्श को पूरा करने के लिए हम कतिपय आधुनिक ढंग के लोगों की एक विशेष विचारधारा का विवेचन करना चाहेंगे। ये सज्जन प्रायः यह कहा करते हैं कि जब एक बार हमने संस्कृत-वाङ्मय के अनेक ग्रन्थों का आधुनिक भाषाओं में अनुवाद कर दिया है या अन्य प्रकार से भी अतीत के विचारों को वर्तमान साहित्य में उतारने की क्रिया में सफलता प्राप्त कर चुके हैं, तब पाठशालाओं या विश्वविद्यालयों में संस्कृत-शिक्षा के पोषण या प्रोन्नयन की अब सामान्यतः कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। पुरातत्त्व या ऐतिहासिक रुचि से कुछ विशेषज्ञ ऐसे अध्ययनों में लगाये जा सकते हैं। इस प्रकार के अविचारित छिछले तर्क को प्रस्तुत करने वालों ने विषय को गम्भीरतापूर्वक सोचने या समझने की चेष्टा नहीं की है। उनके इस थोथे तर्क में दो तथ्यों की उपेक्षा की गई है। प्रथमतः संस्कृत के अधिकांश ग्रन्थों को संस्कृत से विभिन्न आधुनिक भाषाओं में अनुवाद करने के लिए ठोस पाण्डित्य तथा कठोर श्रम अपेक्षित है। इसकी अपेक्षा संस्कृत का पोषण एवं प्रोन्नयन कहीं अधिक सुगम सिद्ध होगा। दूसरे ये अनुवाद कहाँ तक प्रामाणिक होंगे तथा बिना किसी तोड़-मरोड़ के मूल विचारों के तत्त्वों की अभिव्यक्ति में वे कहाँ तक समर्थ हो सकेंगे, इसका दायित्व नहीं लिया जा सकता। वास्तव में संस्कृत-वाङ्मय में न्याय जैसे कुछ ऐसे विषय विद्यमान हैं जिनका भली-भाँति अनुवाद किया ही नहीं जा सकता। इस प्रकार इन अनुवादों का समाश्रयण लिये जाने पर भी प्रेरणा प्राप्त करने के लिए मूलग्रन्थों को पुनः देखने की आवश्यकता बनी ही रहेगी।

यही कारण है कि हमारे आचार्यों द्वारा विरचित शास्त्रों की इतनी विभिन्न टीकाएँ तथा व्याख्याएँ की जा चुकी हैं, तथापि यह कौन कह सकता है कि उन आचार्यों ने हमारे हित के लिए जिन तत्त्वों का विवेचन किया है, उन्हें पूर्णतः अन्तिम रूप से प्रकाशित करने का कार्य हम समाप्त कर चुके हैं ?

(४९) क्या पाठशालाओं का संरक्षण किया जा सकता है ? यदि हाँ तो किस रूप में ? यद्यपि कुछ साक्ष्य पारम्परिक शिक्षा के आन्तरिक गुणों पर विश्वास रखते थे, तथापि वर्तमानयुग में उसके जीवित बने रहने पर आशंका प्रकट करते थे। इस प्रश्न पर हमें निष्कपटभाव से अवश्य विचार करना चाहिए। विगत कुछ शताब्दियों से पाठशालाओं की स्थिति अवनति की ओर गिरती जा रही है। यह अवश्य शोचनीय है। जिन कारणों से यह दुःखपूर्ण स्थिति उत्पन्न हुई, उन पर विचार करना इसलिए भी उपयोगी है कि इसके द्वारा हम यह भी जान सकेंगे कि इस स्थिति को किन उपायों से सुधारा जा सकता है। पाठशालाओं में प्रवेश लेने वाले छात्रों की संख्या प्रतिवर्ष बराबर कम होती जा रही है। उत्तरप्रदेश तथा उसके आस-पास के क्षेत्रों में संस्कृत पढ़नेवाले अनेक छात्रों को सामयिक ही कहा जायगा। ऐसे छात्र जब अपनी फसल के बोने तथा काटने के कार्य से अवकाश पाते हैं तो बचे हुए समय में कुछ मास या कुछ सप्ताह ही पाठशालाओं में अध्ययन करने को उपस्थित हो जाया करते हैं। इनमें से कई छात्र अंगरेजी विद्यालयों के भी छात्र हुआ करते हैं जो कि पाठशालाओं में सुलभ छात्रवृत्ति तथा निःशुल्क आवास का लाभ उठाने के उद्देश्य से इन संस्थाओं में भी प्रविष्ट हो जाया करते हैं। यदि ऐसे छात्रों की संख्या कम कर दी जाय तो शासकीय पंजिकाओं में दी गयी छात्र-संख्या का कुछ अंश ही इन पाठशालाओं की वास्तविक संख्या का द्योतक होगा। पश्चिम बंगाल का नवद्वीप ऐसा संस्कृत-शिक्षा का प्रमुख केन्द्र है, जो कि एक समय अपने नव्यन्याय के पठन-पाठन के लिए विख्यात था। वहाँ भी हमें यह देखकर कष्ट हुआ कि वहाँ नव्यन्याय का अध्ययन करनेवाले छात्रों की संख्या केवल दो या तीन ही रह गयी है। इस क्षेत्र में एक उच्चीकृत टोल भी शासन द्वारा चलाया जा रहा है। आदि शङ्कराचार्य की जन्मभूमि कालडी में, जैसा कि शृंगेरीमठ के शङ्कराचार्य ने दुःखपूर्ण शब्दों में हमें सूचित किया कि, ऐसे छात्रों की संख्या केवल एक ही थी तथा यह भी स्थिति साठ रुपये मासिक छात्रवृत्ति, निःशुल्क भोजन तथा आवास के दिये जाने पर ही प्राप्त थी। इस तथ्य को भी सभी जानते हैं कि कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर, अब पारम्परिक संस्कृत पण्डितों के पुत्र भी पाठशालाओं में अध्ययन नहीं किया करते। वे सामान्यतः अंगरेजी विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में भेजे जाते हैं ताकि वहाँ से निकलने पर वे अर्थकरी सेवाएँ प्राप्त कर सकें। इस प्रकार अधिकांश पारम्परिक पाठशालाएँ उपयुक्त छात्रों से वञ्चित हो रही हैं।

(५०) पाठशालाओं में गिरती हुई छात्र-संख्या से बढ़कर एक और भी अधिक शोचनीय स्थिति है। हमारी संस्कृत-पाठशालाओं में अब प्रायः ऐसे ही घटिया श्रेणी के छात्र आ रहे हैं जो कि धन की कमी से या अन्य किन्हीं कारणों से

अंगरेजी विद्यालयों में नहीं जा पाते। ऐसे छात्र पाठशालाओं में प्रविष्ट हो जाया करते हैं। पाठशालाओं में अच्छे तथा उत्साही छात्रों की कमी है। इन संस्थाओं में केवल छात्र-वृत्ति तथा निःशुल्क आवास एवं अन्य लाभों के कारण ही अधिकांश छात्र इनकी ओर झुकते हैं। इतना ही नहीं इन संस्थाओं में उत्तम तथा सच्चे उत्साही अध्यापक भी दिनों-दिन दुष्प्राप्य होते जा रहे हैं। यह बात नहीं है कि इन संस्थाओं में छात्रवृत्ति, निःशुल्क भोजन, आवास तथा अन्य सुविधाओं की पर्याप्त व्यवस्था की कमी है। हमने यह अनुभव किया कि दक्षिणी, पूर्वी तथा उत्तरी भागों में अनेक ऐसी संस्थाएँ विद्यमान हैं जहाँ कि इन सुविधाओं का उपयोग भी नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त पाठशालाओं के छात्रों तथा अध्यापकों दोनों ही में एक प्रकार की निराशा तथा आत्महीनता की भावना प्रत्यक्षतः देखी जाती है।

(५१) हमारे सभी साक्ष्यों ने एक स्वर से सबसे अधिक केवल एक ही तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि पाठशालीय स्नातकों के लिए कोई आकर्षक भविष्य नहीं है। एक शास्त्री, आचार्य या तीर्थ या शिरोमणि यदि वह बहुत ही सौभाग्यशाली हुआ तो कहीं किसी संस्कृत-पाठशाला में वह एक संदिग्ध, अनिश्चित, दयनीय तथा जीवनोपयोगी साधारण आवश्यकताओं के लिए भी कठिनाई से अपर्याप्त अल्प-वेतन पर नियुक्ति प्राप्त कर पाता है। अध्यापन तथा इस प्रकार की अन्य वृत्तियों को छोड़कर सेवा तथा आय के अन्य सभी मार्ग उसके लिए आज बन्द हैं।

(५२) संस्कृत पठन-पाठन के भाग्य में जिस विपत्तिपूर्ण परिवर्तन की स्थिति आज हम देख रहे हैं, उसका प्रमुख कारण है मेकाले के स्मृतिपत्र (१८३५) को स्वीकार करने के समय से सरकार की गलत तथा असंतुलित शिक्षानीति। इस शिक्षानीति के कारण ही परम्परागत संस्कृत-शिक्षा के प्रति उपेक्षा की भावना जागृत हुई और धीरे-धीरे उसका पतन होने लगा। यद्यपि अंगरेजी के माध्यम से पाश्चात्त्य शिक्षा के द्वारा हम आधुनिक यूरोपीय विचारधारा के सम्पर्क में आये तथा यह शिक्षा कतिपय वैज्ञानिक एवं औद्योगिक प्रगति में भी हमारे लिए सहायक सिद्ध हुई, किन्तु साथ ही साथ इस शिक्षा ने हमें अपने सांस्कृतिक आदर्शों तथा आध्यात्मिक मूल्यों से दूर भी हटा दिया। सांसारिक लाभ तथा समाज-कल्याण ही जीवन के एकमात्र मूल्य निश्चित हो गये। जो भी हो इसका कोई कारण नहीं दिखाई देता कि विशुद्ध सांस्कृतिक मूल्यों के प्राविधान से वैज्ञानिक या प्रौद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र में कोई विघ्न उपस्थित हो जायगा। शासन को इस बात के लिए कटिबद्ध होना चाहिए कि मानव की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह शिक्षा को सक्षम बनावे तथा उसे समुचित दिशा प्रदान करे। वास्तव में राष्ट्रिय शासन इस काल में अब वह समय आ गया है जब कि हम आज तक प्रचलित एकांगी शिक्षा-व्यवस्था को पुनः संघटित करें। इस पुनःसंघटन के कार्यक्रम में हमें अपनी उन गलतियों को सुधारना होगा, जिन्हें हमने पिछली शताब्दी में की है तथा जो गलतियाँ आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। एक शताब्दी पूर्व पाश्चात्त्य शिक्षा को अधिक प्रभावशाली

जानकर शासननीति ने ऐसी शिक्षा-योजना की परिकल्पना की थी तथा परिस्थिति-वश हमने उसे ग्रहण भी कर लिया था; किन्तु अब वह समय आ गया है जब कि हम उस शिक्षानीति का संशोधन करें। अब तो शासन की नीति में ऐसा परिवर्तन लाया जाना चाहिए, जिससे कि राष्ट्रिय चेतना की दृढतर आधारशिला पर नवीन तथा प्राचीन दोनों ही प्रकार की शिक्षापद्धतियों को समान सम्मान तथा महत्त्व का स्थान प्राप्त हो सके। ऐतिहासिक तथ्यों से यह प्रत्यक्ष हो गया है कि यदि हम संस्कृत को भारतीय शिक्षायोजना का एक अवयवभूत अंश बना देते हैं तो आज भी संस्कृत हमारी सामान्य संस्कृति की उन्नायक शक्ति का रूप धारण कर सकती है तथा उसे इस रूप में पुनः स्थापित करना भी हमारे लिए कोई असम्भव बात न होगी।

(५३) यदि शिक्षा-नीति को पुनः व्यवस्थापित करने का हमारा उपर्युक्त सुझाव मान लिया जाता है तो हमें अब यह बताना ही शेष रहता है कि वे कौन-कौन से ठोस उपाय हैं जिनके प्रयोग से यह पुनःस्थापन का कार्य किया जा सकता है ? इस प्रसङ्ग में यह भली-भाँति स्पष्टतः जान लेना चाहिए कि संस्कृत एक ऐसी शिक्षा है, जो परिस्थितिजन्य परिवर्तनों से प्रभावित नहीं हुआ करती। इस शिक्षा का एक स्वतः चिरस्थायी मूल्य है। इस समय आधुनिक जीवन की आवश्यक-ताओं के कारण तथा जीवन के मूल्यों में परिवर्त्तन हो जाने के कारण भी वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक शिक्षा की माँग का प्रबल होना प्रायः निश्चित है। ऐसी स्थिति में सच्चे हृदय से संस्कृत के विस्तृत अध्ययन में दत्त-चित्त व्यक्तियों की संख्या का भी कम हो जाना अनिवार्य है; किन्तु संस्कृत को अंगीकार करने वाले विद्वानों की संख्या कम हो जाने पर भी उनसे प्रवाहित होनेवाली कल्याणधारा समस्त राष्ट्र में व्याप्त तो हो ही सकती है।

(५४) उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करने का सर्वप्रथम साक्षात् परिणाम यह होना चाहिए कि हमारी केन्द्र सरकार तथा प्रदेशीय सरकारों को पाठशालाओं एवं संस्कृत की विशेष शिक्षा को परिपोषित करने की दिशा में हिचकिचाहट न हो। शासन अन्य शिक्षा-व्यवस्थाओं में जो व्यय आज कर रहा है, उसके अनुपात में संस्कृत-शिक्षा की योजनाओं में जो धन वह व्यय करेगा, वास्तव में वह कम ही होगा। आयोग का यह विचार है कि यदि संस्कृत-शिक्षा के लिए निर्धारित सभी प्राभृतों से प्राप्त आय का ठीक-ठीक विनियोग किया जाय तथा रजवाड़ों, जमीनदारों एवं अन्य संरक्षकों द्वारा संस्कृत संस्थाओं के लिए दिये गये वचनों का पूर्णतः सम्मान किया जाय, तथा मन्दिरों और अन्य दान-निधियों में लगे हुए धन को दूसरे मार्गों में न लगाया जाय तो पारम्परिक शिक्षा को अपनी स्थिति दृढ रखने में किसी भी कठिनाई का अनुभव न हो। हमने यह देखा कि इस प्रकार की शिक्षा को जनसाधारण में अत्यधिक सम्मान प्राप्त है। कई एक धनी-मानी तथा शिक्षितवर्ग इस शिक्षा के हित में सक्रिय सहायता कर रहा है। इससे हमारे लिए यह आशा करना उचित ही है कि भविष्य में भी संस्कृत-शिक्षा के लिए इस प्रकार के दानों तथा प्राभृतों की धारा प्रवाहित होती ही रहेगी। वास्तव में हमें कोई भी ऐसा ठोस कारण नहीं दिखायी देता

जिससे कि पाठशाला-पद्धति का अन्त हो जाय। अत्यन्त विपरीत परिस्थितियों में भी पारम्परिक शिक्षा निरन्तर बनी रही है। इससे इसकी जीवनी-शक्ति का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि उसका यदि ठीक-ठीक संघटन तथा सञ्चालन किया जाय तो यह सम्भव है कि वह अपने जीवन का एक ऐसा नवीन रूप धारण करे जो कि कुछ बातों में अतीत से भी अधिक सफल हो।

(५५) पाठशालाओं के पुनः संगठन के सम्बन्ध में हमारी संस्तुतियों के दो स्तम्भ होंगे—(i) शैक्षिक प्रसंगों से सम्बद्ध विचारणीय विषय, (ii) प्राशासनिक तथा आर्थिक पहलुओं से सम्बद्ध विषय।

(५६) हमारी सर्वप्रथम संस्तुति यह है कि पाठशालीय शिक्षा को माध्यमिक तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षा की समकक्षता प्रदान की जाय। आज-कल वैज्ञानिक तथा व्यावसायिक शिक्षा को प्रोत्साहन देने वाले अनेक विद्यालय तथा महाविद्यालय चल रहे हैं। विश्वविद्यालयों में अभियांत्रिक, खनन तथा धातुविज्ञान एवं अन्यान्य प्रौद्योगिक विषयों के बी० एस्० सी० पाठ्यक्रम प्रचलित हैं। हमें सोचना चाहिए कि किसी भी राष्ट्र को केवल वैज्ञानिकों, अभियन्ताओं तथा औद्योगिक विशेषज्ञों की ही आवश्यकता नहीं हुआ करती। उसे एक बड़ी संख्या में प्राचीन साहित्य तथा मानवशास्त्र के विशेषज्ञों की भी आवश्यकता हुआ करती है। चतुर्थ अध्याय में संस्कृत-शिक्षा की महान् औदार्य-प्रेरक शक्ति पर विचार किया जा चुका है। अतः संस्कृत को शिक्षा की एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में बनाये रखने की आवश्यकता स्पष्ट है। इसके कारण भी हैं। इसीलिए यह समुचित होगा कि पाठशालाओं को विद्यालय तथा महाविद्यालयों के रूप में पुनः संघटित किया जाय। इन्हें आधुनिक माध्यमिक विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के समानान्तर चलाने में कोई हानि नहीं होगी।

(५७) इस संस्तुति के अनुसार पाठशालीय पाठ्यक्रम के विभिन्न स्तरों की अवधि समानान्तर माध्यमिक विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के समानान्तर ही निर्धारित की जानी चाहिये। पूर्वविश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम के ग्यारह वर्षों को तीन स्तरों में विभाजित किया जाय। (i) प्रारम्भिक शिक्षा के प्रथम पाँच वर्ष सभी छात्रों के लिए, चाहे वे संस्कृत पाठशाला के हों, चाहे अंगरेजी विद्यालयों के, समान होंगे। (ii) प्रथमा के लिए तीन वर्ष। (iii) मध्यमा के लिए तीन वर्ष के उपरांत प्रवेशिका परीक्षा होगी। यह परीक्षा माध्यमिक विद्यालय प्रमाणपत्रीय परीक्षा के साथ उसके एक भाग के रूप में होगी। इसके उपरान्त पाँच वर्ष विश्वविद्यालय स्तर की उच्च संस्कृत शिक्षा के लिए निर्धारित होंगे। वह स्तर भी दो सोपानों में विभाजित होगा—(i) तीन वर्षों का उपाधि या शास्त्री-पाठ्यक्रम, जो कि उत्तरप्रदेश तथा पंजाब में है तथा मद्रास में प्राथमिक परीक्षा के रूप में प्रचलित है तथा (ii) स्नातकोत्तर अध्ययन, जिससे आचार्य या शिरोमणि की उपाधि प्राप्त होगी। वर्तमान विश्वविद्यालयों की डाक्टरेट की उपाधि के समान विद्यावाचस्पति जैसी आचार्योत्तर उपाधि की भी व्यवस्था की जानी चाहिए।

(५८) आयोग इसे अत्यन्त वाञ्छनीय समझता है कि समस्त भारत की पाठशालीय शिक्षा के विभिन्न स्तरों के द्योतक नामों में एकरूपता हो, जैसे प्रथमा (निम्न माध्यमिक), मध्यमा (उच्चतर माध्यमिक), शास्त्री (बी० ए०), तथा आचार्य (एम्० ए०)। इसी प्रकार इन सभी स्तरों की अध्ययन-अवधि भी सारे देश में समान हो जानी चाहिए। सारे भारत की पाठशाला शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर एक ही अध्ययन-अवधि तथा एक ही पाठ्यक्रम को प्रारम्भ किये जाने से आज विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित पाठशालीय परीक्षा की भिन्न-भिन्न भ्रामक पद्धतियाँ तथा उनके नामों को प्रमापित करने में अत्यधिक सहायता प्राप्त होगी। विभिन्न प्रदेशों की संस्कृत उपाधियों की समकक्षता के नियमों के अभाव में पण्डितों को आज जो कष्ट उठाना पड़ रहा है, इस व्यवस्था से वह भी दूर हो जायेगा। इसके अतिरिक्त इस एकरूपता का सबसे अधिक लाभ यह होगा कि समस्त देश में छात्रों तथा अध्यापकों के आदान-प्रदान में भी सुविधा प्राप्त हो जायगी। अध्ययन-अवधि, पाठ्यक्रम तथा परीक्षाओं एवं उपधियों के नामों की इस एकरूपता से भारतवर्ष की पाठशाला-शिक्षा को एक समान स्तर पर स्थापित करने में भी सहायता प्राप्त होगी।

(५९) जहाँ तक पाठशालीय पद्धति द्वारा दी जानेवाली संस्कृत-शिक्षा की पाठ्यक्रम सामग्री का प्रश्न है, यह आयोग उसकी व्यवस्था के लिए सामान्य रूपरेखा का ही निर्देश दे सकता है। यतः प्रथमा तथा मध्यमा स्तर वर्तमान अंगरेजी शिक्षा के क्रमशः निम्न तथा उच्च माध्यमिक स्तर के समवर्ती रहेंगे तथा उस आधार पर ही इनकी समकक्षता भी मानी जायगी। इन परीक्षाओं का पुनःसंघटन भी इस प्रकार किया जाना चाहिए कि केवल संस्कृत के विशेष तथा विस्तृत अध्ययन के अन्तर को छोड़ करके इन परीक्षाओं के विषय तथा उनका अध्ययनस्तर निम्न तथा उच्च माध्यमिक स्तर के ही हों।

(६०) उक्त प्रथमा तथा मध्यमा के पाठ्यक्रम में मातृभाषा या हिन्दी, सामान्य अंगरेजी, सामाजिक अध्ययन (जिसमें विशेषतः प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति का समावेश हो) तथा सामान्य विज्ञान (गणित के सहित) सामान्य विषय के रूप में निर्धारित होने चाहिए। एक सप्ताह में प्राप्त पैंतीस घण्टों (समयांश) में से सोलह घण्टे संस्कृत के लिए निश्चित किये जायँ तथा शेष घंटे अन्य विषयों के लिए। मध्यमा अन्तिम वर्ष के प्रश्नपत्र वही होने चाहिए जो कि मैट्रिक अथवा एस० एल० सी० परीक्षा के हों। वास्तव में जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इन दोनों प्रकार के विद्यालयों के लिए एक ही सामान्य अन्तिम परीक्षा होनी चाहिये। इस सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण बात है। दोनों श्रेणी की परीक्षाओं में न तो कोई अन्तर होना चाहिए और न तो उनके स्तरों में किसी प्रकार की निम्नता ही, अन्यथा संस्कृतविद्यालय में अध्ययन करनेवाले छात्र आत्महीनता तथा लघुता की भावना से पीड़ित रहेंगे।

(६१) उपर्युक्त पाठशालीय क्रम को सफलतापूर्वक समाप्त करने के उपरान्त छात्र या तो संस्कृतविद्यालयों (उच्चस्तरीय पाठशालाओं) में प्रवेश प्राप्त करें, जहाँ

कि वे उच्च उपाधि स्तर तक शास्त्रों का अध्ययन कर सकें, या उनकी इच्छा हो तो सामान्य आधुनिक महाविद्यालयों में चले जायँ। इनमें से कुछ छात्र समुचित व्यवसायों में भी लग सकते हैं। हमें अपनी संस्कृत-पाठशालाओं को इस प्रकार पुनः संघटित करना है कि वे उच्चस्तरीय संस्कृतविद्यालयों को अधिकाधिक संख्या में छात्र दे सकें। इस दृष्टिकोण से ही हमें इन पाठशालाओं का संवर्धन भी करना है। स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर पर छात्रों को अंगरेजी के साथ दो या अधिक शास्त्रीय विषयों का प्रौढ़ अध्ययन करना चाहिए। हमारे विचार से इस स्तर पर मातृभाषा का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। ऐसा करना छात्रों के ऊपर एक अनावश्यक बोझ होगा। संस्कृत विद्यालयों में हमें शास्त्रीय विषयों के पठन-पाठन में इन विषयों से सम्बद्ध आधुनिक विचारधाराओं तथा विकासक्रमों से भी छात्रों को अवगत कराना चाहिये।

(६२) पाठशालीय पाठ्यक्रम में आधुनिक विषयों का समावेश करने का क्या औचित्य है तथा क्या बुद्धिमानी है, इस विषय पर प्रश्न किया जा सकता है। इस कथन में कुछ न कुछ सत्य तो अवश्य ही है कि यदि पण्डित को आधुनिक बनाया जाय तो उसका पाण्डित्य जाता रहता है। ऐसी दशा में एक साधारण एम्० ए० से उसका भेद समझना कठिन हो जाया करता है। इसके विपरीत यदि हम संस्कृत के पण्डित को दूर रखकर उसे आधुनिक ज्ञान तथा पद्धतियों से वञ्चित रखते हैं तो हम उन त्रुटियों को बढ़ाने के ही दोषी ठहराये जायेंगे, जिसका वह आज तक दोषी ठहराया जा रहा था। यदि ऐसा किया जाता है तो प्रथमतः वह सुविज्ञात, प्रगतिशील, तथा समालोचनात्मक होने से अवरुद्ध रहता है तथा दूसरी ओर अनभिज्ञ, गतिविहीन एवं कट्टरपंथी होने का दोषी ठहराया जाता है। इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि हम पण्डितों को इन दोषों का दोषी उसी स्थिति में ठहरा सकते हैं, जबकि हमने निष्कपटभाव से लगनपूर्वक परम्परागत संस्कृत-शिक्षा में सुधार लाने की चेष्टा की हो तथा अपने प्रयत्नों में हम असफल हो चुके हों, किन्तु यह नहीं किया गया है।

(६३) हम दो विकल्पों के बीच किंकर्त्तव्यविमूढ हो रहे हैं। पहला विकल्प है कि यदि हम संस्कृत के पारम्परिक पण्डित को पूर्णतः आधुनिक बनाते हैं तो उसका पाण्डित्य समाप्त हो जाता है। दूसरा विकल्प है कि यदि हम उसे बिल्कुल सूखा छोड़ देते हैं तो हम राष्ट्र के एक बुद्धिजीवी वर्ग को अलग रख कर उसे प्रगति से वञ्चित रखते हैं। इस समस्या को हल करने के लिए एक मध्यम मार्ग भी है। विचार करने पर प्रत्यक्ष होगा कि ये दोनों ही विकल्प अपने पक्ष की चरम सीमा तक पहुँचे हुए हैं तथा सत्य के अर्द्धस्वरूप को ही प्रकाशित करते हैं। हमें पण्डितों को उस सीमा तक ही आधुनिक बनाना है जहाँ तक उनका व्यक्तित्व तथा उनकी विशेषताएँ बनी रहें, वे विनष्ट न हो जाँय। हो सकता है कि आगे चलकर भविष्य में हमें यह पता चले कि इस दिशा में हमारे अनुभव ठीक नहीं उतरे; लक्ष्य की प्राप्ति में हमारे प्रयोग सफल सिद्ध नहीं हुए; किन्तु इस दिशा में हमें एक खुले

मस्तिष्क से कार्य करना चाहिए तथा विनम्र होकर यह स्वीकार करना चाहिए कि शिक्षा के क्षेत्र का यह एक ऐसा प्रयोग है जिस पर कार्य करना सर्वथा उचित है।

(६४) पाठशालाओं तथा उनके पठन-पाठन में सुधार के विषय को आवश्यक समझ कर इस समय अनेक प्रदेशों (उत्तरप्रदेश, बिहार, मद्रास, आन्ध्र, तथा केरल) ने एक नवीन ढंग की पाठशाला खोलने की चेष्टा की है। ऐसी पुनःसंघटित पाठशालाएँ, आदर्श पाठशाला, संस्कृत-हाईस्कूल, प्राच्य-हाईस्कूल या प्राच्य महाविद्यालय के नाम से प्रचलित हैं। पाठशालाओं के पुनःसंघटन की यह चेष्टा प्रधानतः निम्नांकित दिशाओं में की गयी है :—

(१) अनिवार्य विषय के रूप में पाठ्यक्रम में गणित, इतिहास तथा भूगोल ऐसे आधुनिक विषयों के साथ अंगरेजी का भी समावेश किया जाना।

(२) क्रमबद्ध पाठ्यक्रम का प्रयोग।

(३) प्रवेश के समय छात्रों का समुचित परीक्षण तथा वर्गीकरण।

(४) पाठ्यक्रम के लिए अवधि-निर्धारण।

(५) एकनिष्ठ विशेषाध्ययन को रोकना।

(६) छात्रों के आर्थिक पहलू को सुधारने की दृष्टि से सम्पूर्ण व्यवस्था में ऐसे परिवर्तन लाना जिससे पाठशाला से निकलनेवाले छात्र और अधिक सेवाओं के योग्य बनाये जा सकें, तथा

(७) पाठशालीय प्रबन्ध को अधिक सफल निरीक्षण तथा शासकीय नियन्त्रण में लाना।

(६५) यह प्रयोग अपेक्षाकृत नया है। इसकी सफलता के विषय में कोई निश्चित निर्णय ले लेना अभी बहुत जल्दी कहा जायगा। अभी तक हमने इन पुनः-संघटित पाठशालाओं या संस्कृत महाविद्यालयों को अपनी क्रियाओं के लिए न तो पर्याप्त लम्बा समय दिया है, न तो समुचित न्यायपूर्ण परीक्षण का यथेष्ट अवसर ही दिया है। इन नवीन ढंग की पाठशालाओं के पूर्णतः प्रशिक्षित छात्र अपनी शिक्षा समाप्त कर अभी तक बाहर भी नहीं निकले हैं। जो भी हो, आयोग ने इन पाठशालाओं के निरीक्षण से यह अनुभव किया है कि इन संस्थाओं की गतिविधि कोई विशेष उत्साहवर्धक नहीं है।

(६६) पुनःसंघटन के आवश्यक प्राविधानों की व्यवस्था न करने का वास्तविक कारण यह है कि अधिकांश संस्थाएँ आधुनिक विषयों का अध्यापन करने के लिए योग्य अध्यापकों की नियुक्ति का व्यय-भार नहीं वहन कर सकतीं। अध्यापकों को वेतन देने में तथा उनके लिए अन्य सेवा-लाभों की व्यवस्था करने में धन की आवश्यकता हुआ करती है। उनके पास तो इतना भी धन नहीं हुआ करता कि वे पहले से नियुक्त अपने एक या दो पण्डितों को उनका अत्यल्प दयनीय वेतन दे सकें। इसका परिणाम यह होता है कि पुनःसंघटन के जिन प्राविधानों की व्यवस्था के लिए उनसे माँग की जाती है उसे टालने के लिए वे तरह-तरह के कुटिल उपायों

का प्रयोग करते हैं। उपस्थिति तथा परीक्षा के सन्दर्भ में भी अनेक अनियमित व्यवहार प्रयोग में लाये जाते हैं। इसलिए सरकार तथा प्रबन्धाधिकरण दोनों के मन में यह बात बैठा देनी चाहिए कि वे यदि पाठशालाओं में आधुनिक विषयों का पठन-पाठन वाञ्छनीय समझते हैं तो इस कार्य के लिए उन्हें अपेक्षित धन तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था भी करनी चाहिए तथा इस पद्धति को यथोचित ढंग से चलाना चाहिए।

(६७) अपनी यात्रा में हमने यह देखा कि इन पुनःसंघटित पाठशालाओं का निरीक्षण कई वर्षों के उपरान्त होता है। उत्तरप्रदेश ऐसे राज्य में जहाँ कि पाठ शालाओं की संख्या सबसे अधिक है, वहाँ भी निरीक्षण विभाग में निरीक्षकों की संख्या उपयुक्त नहीं है। फलतः अनेक पाठशालाओं का निरीक्षण कई एक वर्षों तक नहीं हो पाता। पञ्जाब ऐसे कुछ अन्य प्रदेशों में पाठशालाओं के निरीक्षण की कोई व्यवस्था नहीं की गयी है। आयोग यह उचित समझता है कि इन पाठशालाओं का प्रतिवर्ष कम से कम एक बार तो अवश्य ही निरीक्षण हो जाना चाहिए तथा निरीक्षण के समय इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए कि उस पाठशाला में पुनःसंघटन के अपेक्षित प्राविधानों की व्यवस्था की गयी है या नहीं।

(६८) कुछ साक्ष्यों ने हमें यह भी सुझाव दिया कि पाठशालाओं के इस आधुनिकीकरण को ठीक-ठीक सफल बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि इन संस्थाओं में पढ़ानेवाले अध्यापकों की भावना तथा उनके दृष्टिकोण में भी मौलिक परिवर्त्तन लाया जाय। जब तक यह कार्य नहीं हो जाता है तब तक अध्यापन की नवीन विधियों का प्रयोग या शोधकार्य की नवीन विधियों का कार्यान्वयन व्यर्थ होगा। ये पण्डित जिन संस्थाओं का पथप्रदर्शन करते हैं उनके आधुनिकीकरण के पूर्व यह परमावश्यक है कि इन पण्डितों की मनोवृत्तियों का ही सर्वप्रथम आधुनिकीकरण किया जाय। हमारे विचार से इसे घुमा-फिराकर तर्क करना ही कहा जायगा। स्पष्ट है कि पण्डितों के मस्तिष्क का आधुनिकीकरण संयोगवश तो हो नहीं सकता; उपयुक्त प्रशिक्षण तथा आधुनिक शोधविधियों के प्रयोग द्वारा ही यह कार्य सम्भव हो सकता है। इस घेरे को तो पाठशालाओं के अध्यापक तथा पण्डितों के सहयोग द्वारा आधुनिक पद्धतियों में प्रशिक्षित व्यक्ति ही तोड़ सकते हैं। जहाँ तक सहयोग का प्रश्न है इस कार्य में पण्डितों की अस्वीकृति का भय तो बना ही रहेगा तथा यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि सफलता हाथ आयेगी या नहीं! यदि उपयुक्त सुविधाएँ दी जायँ तथा प्राचीन गौरव के अनुरूप अध्ययन को समुचित ढंग से ऊँचा उठाया जाय तो कोई कारण नहीं है कि वे आधुनिक ज्ञान तथा नवीन शोध की भावना को ग्रहण नहीं कर पायेंगे।

(६९) कई एक साक्ष्यों ने, विशेषतः पण्डितों ने, यह स्पष्ट रूप से कहा कि आधुनिक विषयों को चलाने से उनके प्रौढ पाण्डित्य की उत्तमता तथा उसका गाम्भीर्य जो कि पूर्वापेक्षया अब वैसे ही क्षीण होता जा रहा है उसके और अधिक

निर्बल हो जाने का भय है। पाठ्यक्रम में आधुनिक विषयों के समावेश के सन्दर्भ में उनका यह विचार है कि एक ओर पार्थक्य तथा व्यवसायहीनता से यह भय है कि कहीं हम लुप्त न हो जायँ, तो दूसरी ओर यह भी सत्य है कि आधुनिक विषयों के आ जाने से विद्वत्ता का स्तर तो गिर जायगा, किन्तु नौकरी-चाकरी के अधिक अवसर प्राप्त हो सकेंगे। इन दो बुराइयों के बीच दूसरी बुराई अपेक्षाकृत कम हानिप्रद प्रतीत होती है। अतः उसे ही आपद्धर्म समझकर स्वीकार कर लेना चाहिए। कुछ भी हो हमें इस तथ्य को स्पष्टतः जान लेना चाहिए कि पाठ्यक्रम में आधुनिक विषयों का समावेश विशेषतः छात्रों के हित की दृष्टि से वाञ्छनीय है। इससे उनका विचारक्षेत्र व्यापक हो जायगा तथा उनका मस्तिष्क भी और अधिक उदार हो सकेगा। किन्तु नौकरी-चाकरी के क्षेत्र में भी आधुनिक विषयों का अध्ययन उन्हें कुछ सीमा तक अधिक अवसर प्रदान कर सकेगा, इसे एक संयोग का ही प्रसंग मानना चाहिए। संस्कृत पठन-पाठन में रत पुनःसंघटित पाठशालाओं का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए एक नवीन प्रकार के संस्कृत पण्डित का निर्माण, न कि संस्कृत जानने वाले लिपिकों की उत्पत्ति। संस्कृत के विद्वान् को विश्व की सांस्कृतिक प्रगति से भी परिचित होना आवश्यक है, ताकि वह एक नवीन विधि से चिन्तन के द्वारा नये-नये तत्त्वों के सृजन में अपने आपको समर्थ बना सके। प्राचीन परम्परा के नैरन्तर्य को स्थिर रखते हुए आज की स्थिति में आवश्यकता यह है कि संशोधित नवीन पाठ्यक्रम को हमें अब न तो विद्वत्ता से अलंकृत करना है न तो उसे वास्तविकता से विरहित या दूर ही रखना है।

(७०) यह हो सकता है कि पाठ्यक्रम में आधुनिक विषयों को रख देने से परम्परागत प्रौढ पाण्डित्य का स्तर कुछ झुक जाय, पर इसका अर्थ यह नहीं होता कि इस कमी की पूर्ति के लिए और कोई साधन है ही नहीं। इस सन्दर्भ में हमें इस तथ्य पर अवश्य ध्यान देना है कि पाठ्यक्रम में निर्धारित किये गये आधुनिक विषय अपनी प्रभुता तथा अपनी शक्ति से विशुद्ध पारम्परिक संस्कृततत्त्व को कहीं दबा न बैठे। पाठ्यक्रम के संस्कृत अंश से आधुनिक विषय न तो पृथक् रखे जायँ और न तो ऐसा जान पड़े कि वे उससे असम्बद्ध हैं। द्वितीयतः संस्कृत विद्यालयों की वर्तमान शिक्षण की स्थिति को और अधिक व्यवस्थित तथा नियमित मार्ग पर लाया जाय। अपनी यात्रा के समय हमने गम्भीरतापूर्वक यह देखा कि देश के अनेक भागों में संस्कृत का छात्र उतना परिपूर्ण एवं व्यवस्थित शिक्षा नहीं प्राप्त कर रहा है, जितना कि हम इस प्रसंग में आवश्यक समझते हैं। वह एक अनियमित ढंग से कार्य कर रहा है। उसका दैनिक अध्ययन कभी भी दो या तीन घंटों से अधिक नहीं हुआ करता। स्कूल के ग्यारह वर्षों (पांच वर्ष प्राइमरी तथा छः वर्ष संस्कृत) के तथा पांच वर्षों की महाविद्यालयीय शिक्षा के समस्त पाठ्यक्रम के अनुसार पूरे सोलहवर्ष तक उसकी नियमित शिक्षा नहीं चलती। यदि कोई ऐसी व्यवस्था की जाय कि छात्र इन सोलह वर्षों तक निरन्तर अध्ययन करता रहे तो पाठ्यक्रम में आधुनिक विषयों के आ जाने पर भी उसे इतना पर्याप्त समय अवश्य प्राप्त हो जायगा कि वह संस्कृतशास्त्रों का

गम्भीर तथा व्यापक अध्ययन कर सकता है। यदि हम यह चाहते हैं कि थोड़े ही समय में पाठशाला-पद्धति में स्पष्टतः शीघ्र प्रगति आ जाय तो हमारे लिए यह आवश्यक होगा कि हम ऐसे उपायों का प्रयोग करें जिससे कि पाठशालाओं के प्रति ठीक प्रकार के छात्र आकर्षित हों। सुप्रशिक्षित पण्डित ही अध्यापक के रूप में नियुक्त किये जायँ तथा जैसा कि आधुनिक विद्यालयों में होता है, दैनिक अध्यापन के घंटों को तथा वर्ष भर में कार्य के दिनों की संख्या भी निश्चित कर दी जाय। पाठशालाओं के पुनःसंघटन के कार्य को एक सुव्यवस्थित ढंग से सम्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि इन संस्थाओं को उपयुक्त साधनों से सुसज्जित किया जाय तथा प्रशिक्षित कार्य-कर्त्ताओं का सहयोग प्राप्त करने की भी चेष्टा की जाय।

(७१) उपर्युक्त पंक्तियों में दिये गये सुझावों का यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक पाठशाला को पुनःसंघटित करके उसे संस्कृत-हाईस्कूल या संस्कृत-कालेज का रूप दे दिया जाय। जो वस्तुस्थिति आज हमारे सामने है उस पर ध्यान देने से यह प्रत्यक्ष हो जायगा कि यह न तो सम्भव है, न तो वाञ्छनीय ही। हमें इस तथ्य पर भी दृष्टि रखनी होगी कि कला, विज्ञान, औद्योगिक तथा अन्य पाठ्यक्रमों की अपेक्षा संस्कृत-शिक्षा के इस विशेष पाठ्यक्रम के अनुसार अध्ययन करने वाले छात्रों की संख्या कम ही होगी। ऐसी स्थिति में जो भी अल्पसंख्यक छात्र इस प्रकार के संस्कृत-पाठ्यक्रम को स्वीकार करते हैं उनके लिये शासन तथा व्यक्तिगत संघटनों द्वारा पूरा-पूरा उपयुक्त प्राविधान अवश्य किया जाना चाहिए। ऐसी चेष्टा होनी चाहिये कि एक ही स्थान की कई एक पाठशालाएँ एक में मिल जायँ तथा अपने साधनों से प्राप्त आय को सामान्य निधि के रूप में एकत्रित करने को तत्पर हो जायँ। यह भी आवश्यक है कि अन्तर्विद्यालयीय तथा अन्तर्महाविद्यालयीय कक्षाओं की व्यवस्थित योजना तैयार की जाय। इस योजना के अन्तर्गत ऐसी व्यवस्था हो कि विभिन्न विषयों के लिये संस्कृतविद्यालयों में ऐसे अध्यापक नियुक्त किये जायँ जो कि एक से अधिक विद्यालयों में उन विषयों का अध्यापन किया करें।

(७२) इस सन्दर्भ में एक और उपाय प्रयोग में लाया जा सकता है। कई एक साक्ष्यों ने यह सुझाव दिया कि पुनःसंघटित संस्कृत-विद्यालयपाठ्यक्रम को सामान्यमाध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम का एक अंग बना दिया जाय। भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री एम्० पतञ्जलि शास्त्री का यह दृढ विश्वास था कि वर्तमान स्थिति में संस्कृत-शिक्षा एक अकेली क्रिया के रूप में पृथक् नहीं चल सकती। सामान्य शिक्षा के एक अवयव के रूप में ही उसका विकास सम्भव है। अतः आयोग की यह संस्तुति है कि जहाँ कहीं ऐसा करना साध्य हो वहाँ माध्यमिक विद्यालयों के साथ उसका एक संस्कृत विभाग भी जोड़ दिया जाना चाहिए। इस संस्कृत विभाग में पुनःसंघटित संस्कृत विद्यालयों का ही समस्त पाठ्यक्रम सञ्चालित होना चाहिए। संस्कृत अंग का छात्र अपने पाठ्यक्रम के समान विषयों को सामान्य शिक्षाविभाग में जाकर वहाँ के छात्रों के साथ पढ़ सकता है। माध्यमिक विद्यालय के संस्कृत अंग में केवल पारम्परिक शास्त्रों का पृथक् अध्ययन

किया जायगा। इस व्यवस्था से न केवल साज-सज्जा तथा कार्यकर्त्ताओं पर किये गये व्यय में ही कमी होगी, अपितु इससे भी अधिक महत्त्व का लाभ यह होगा कि संस्कृत-शिक्षा में पृथक् रहने की स्थिति भी जाती रहेगी।

(७३) संस्कृत-शिक्षा का सामान्य शिक्षा से पृथक् रहने का जो अवाञ्छनीय मनोवैज्ञानिक परिणाम हुआ करता है वह किसी से छिपा नहीं है, किन्तु एक ही संस्था में तथा एक ही भवन में अन्य विषय के छात्रों के साथ जब विशेष संस्कृत के छात्र भी अध्ययन करेंगे तो इन संस्कृत के छात्रों के मन से उस हीनता की भावना के समस्त चिह्न मिट जायेंगे, जिनसे कि संस्कृत पाठशालाओं का छात्र पीड़ित रहा करता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि सामान्य शिक्षा के सभी लाभ पारम्परिक शिक्षा-विभाग के छात्र को भी सुलभ होंगे। पाठशाला चाहे वह पुनःसंघटित प्रकार की हो, चाहे विशुद्ध प्राचीन पद्धति की, माध्यमिक विद्यालयों की अपेक्षा उसकी छात्र-संख्या अवश्य कम होगी। ऐसी स्थिति में उसमें सुसंघटित छात्र-जीवन के अवसर भी कम प्राप्त होंगे। इसी प्रकार संस्कृत-विद्यालयों में पठन-पाठन सहगामिनी क्रियाओं की यदि कोई व्यवस्था सम्भव भी हुई तो भी खेल-कूद, वाद-विवाद, नाट्याभिनय तथा अध्ययन-यात्राओं जैसी पठन-पाठन सहगामिनी क्रियाओं का जो प्राविधान माध्यमिक विद्यालयों में किया जा सकता है उसकी मात्रा इन प्राच्य-संस्थाओं में कम ही रहेगी। ऐसी स्थिति में यदि संस्कृत-शाखा माध्यमिक विद्यालय के एक अंग के रूप में कार्य करती है, तो इस संस्कृत-शाखा के विशेष संस्कृत के छात्र माध्यमिक विद्यालय की पठन-पाठन सहगामिनी क्रियाओं तथा उसके संघटित छात्रजीवन में भाग लेने के स्वतः अधिकारी हो जायेंगे। माध्यमिक कक्षाओं की अपेक्षाकृत बड़ी-बड़ी कक्षाओं में विशेष संस्कृत के बुद्धिमान् एवं कुशल बालक को उस कक्षा के बालकों से प्रतियोगिता के भी अधिक अवसर प्राप्त होंगे, जो कि उसके विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक सिद्ध होंगे। ये अवसर संस्कृत-पाठशाला के सीमित क्षेत्र में सुलभ नहीं हो सकते।

प्रायः यह भी देखा जाता है कि संस्कृत पाठशालाओं में प्रचलित निःशुल्क शिक्षा, निःशुल्क भोजन तथा निःशुल्क आवास इन संस्थाओं के लिए गौरव के विषय न होकर क्षति तथा बाधा के प्रसंग बन जाया करते हैं; क्योंकि परिस्थितिवश ऐसी संस्थाओं में छात्रगण संस्कृत के प्रति वास्तविक रुचि के कारण नहीं, किन्तु इन सुविधाओं के उपभोग के लिए ही प्रविष्ट हो जाया करते हैं। यही कारण है कि पाठशालीय छात्र का स्तर बहुत ऊँचा नहीं हुआ करता। कई संस्थानों ने यह भी सुझाव दिया कि संस्कृत-पाठशालाओं में जो आज उत्तम छात्रों का शोचनीय अभाव दिखाई दे रहा है तथा उपस्थिति के प्रति छात्रों की जो उदासीनता इन संस्थाओं में व्याप्त है, उसके मूल में इनकी निःशुल्क शिक्षा ही है। इसलिए इन संस्थाओं में शुल्क लगा देना चाहिए। उत्तर प्रदेश की कुछ पाठशालाओं में फीस ली जाती है। ऐसी संस्थाओं को वास्तव में अपेक्षाकृत उत्तम छात्र प्राप्त होते हैं।

(७४) पाठशालाओं के पुनःसंघटन के सन्दर्भ में हमारी संस्तुति के तीन सोपान हैं—सर्वप्रथम पाठशालीय शिक्षा के प्रथमा तथा मध्यमा स्तर के पुनःसंघटित संस्कृत-हाईस्कूल होंगे। अनिवार्यतः ये संस्थाएँ स्तूप की आधार-रेखा का कार्य करेंगी। इन संस्थाओं की संख्या संस्कृत महाविद्यालयों से अधिक ही होनी चाहिए। विभिन्न प्रदेशों की स्थिति इस प्रसंग में अधिकतर भिन्न-भिन्न होगी। स्पष्ट है कि किसी भी प्रदेश में संस्कृत विद्यालयों की संख्या वहाँ के स्थानीय मांग की स्थिति, लोकसमर्थन तथा प्रदेश के साधनों पर निर्भर रहेगी।

ऐसे विद्यालयों के पश्चात् संस्कृत-महाविद्यालयों का क्रम है। इस समय हमारे देश में अनेक संस्कृत महाविद्यालय विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत-शिक्षा के जाग्रत केन्द्रों में भी पारम्परिक शिक्षा सुरक्षित है। इन केन्द्रों की पाठशालाओं में भी शास्त्रों के पठन-पाठन के लिए स्नातक तथा स्नाकोत्तर पाठ्यक्रम का प्राविधान करके इन्हें महाविद्यालयों में परिणत किया जा सकता है। इस व्यवस्था से ये सस्थाएँ सशक्त तथा समुन्नत बनायी जा सकेंगी। अन्त में इस व्यवस्था को पूर्णता प्रदान करने के लिए स्तूप के शिखर पर संस्कृत विश्वविद्यालयों को स्थापित करना चाहिए, जिनसे कि उस क्षेत्र के संस्कृत विद्यालय तथा महाविद्यालय सम्बद्ध किये जा सकें।

(७५) संस्कृत विश्वविद्यालय को उच्च संस्कृत-शिक्षा तथा शोधकार्य के लिए एक केन्द्रीभूत संस्था के रूप में कार्य करना चाहिए। इस व्यवस्था के सम्यक् सञ्चालन के लिए यह समुचित होगा कि इन विश्वविद्यालयों में विभिन्न शास्त्रों के लिए कई अध्यापकों तथा विभागाध्यक्षों के पदों का प्राविधान किया जाय। इसके अतिरिक्त इनके प्रत्येक विभाग में रीडर तथा प्रवक्ता के स्थान भी होने चाहिए। इन शिक्षकों के संवर्ग का निर्धारण संस्था की आवश्यकताओं तथा उपलब्ध साधनों के आधार पर होना चाहिए। साथ ही साथ इन संस्थाओं में पुस्तकालय तथा प्रकाशन की भी समुचित व्यवस्था की जानी चाहिये। सम्बद्धकर्त्री संस्था के रूप में संस्कृत विश्वविद्यालय को परीक्षा लेने का तथा सम्बद्ध संस्थाओं की गति-विधि के पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण का भी कार्य करना चाहिए। परीक्षाफलों के आधार पर उसे उपाधि तथा प्रमाणपत्र प्रदान करना चाहिए। सम्बद्ध विद्यालयों, महा-विद्यालयों तथा अन्य संस्थाओं में उपयुक्त शिक्षा का स्तर लागू करना चाहिए तथा उसकी उत्तमता बनाये रहना चाहिए।

(७६) इस आयोग द्वारा विचारणीय विषयों में एक विशेष विषय है—"पारम्परिक शिक्षा के कौन-कौन से विशेष स्वरूपों को उपयोगिता की दृष्टि से आधुनिक व्यवस्था में स्थान दिया जाना साध्य है, इस दृष्टि से संस्कृत-शिक्षा की छान-बीन करना"। इसीलिए इस आयोग ने देश के विभिन्न भागों में दी जाने वाली संस्कृत-शिक्षा की भली-भाँति जाँच की है तथा इस अध्याय में और अगले अध्याय में भी पारम्परिक शिक्षा के उन स्वरूपों के विषय में ठोस सुझाव प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें विश्वविद्यालयों में स्थान दिया जा सकता है। साथ ही साथ विश्वविद्यालयों की शिक्षा के उन स्वरूपों पर भी हमने विचार किया है, जिनका

समावेश हम पारम्परिक शिक्षा व्यवस्था में कर सकते हैं। आयोग का यह विश्वास है कि उसके सुझाव के अनुसार इन दोनों पद्धतियों के अपेक्षित अंशों का यदि एक दूसरे में विवेकपूर्ण समावेश किया गया तो इन दोनों ही प्रणालियों को शक्ति तथा जीवन प्राप्त हो सकेगा।

(७७) इस सन्दर्भ में एक और भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमारे समक्ष प्रस्तुत हुआ। वह यह है कि दो समानान्तर प्रणालियों के रूप में बने रहने के स्थान पर यदि इन्हें मिला कर संस्कृत-शिक्षा तथा उच्च अध्ययन की एक प्रणाली का रूप दिया जाय, तो इस प्रक्रिया से क्या इन दोनों ही प्रणालियों में और अधिक अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव न होगा ?

(७८) इन दोनों प्रणालियों के एकीकरण का अर्थ है—दोनों ही एकीकृत प्रणालियाँ एक दूसरे में इस प्रकार घुल-मिल जायँ कि एकीकरण के उपरान्त दोनों के अपने-अपने पृथक् स्वरूप समाप्त तो हो जायँ, किन्तु यदि हम उन्हें एक दूसरे से अलग करें तो वे अपने मूल रूप में ही हमें दिखाई पड़ें। उनके स्वरूप एक दूसरे में न दिखाई पड़ें। यह कोई आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार के एकीकरण में इन दोनों के परस्पर अंशदान का आधार आधा-आधा ही हो।

प्रचलित सन्दर्भ में इन दोनों प्रणालियों के एकीकरण के तीन सम्भव मार्ग हमारे मस्तिष्क में आ रहे हैं—

(१) संस्कृत विश्वविद्यालयों के वर्तमान पठन-पाठन को संस्कृत-शिक्षा की एक आधारभूत नींव मान लिया जाय तथा पारम्परिक पाठशालाओं के विशेष स्वाभाविक स्वरूपों को संस्कृत विश्वविद्यालय में आरोपित कर दिया जाय। ऐसी स्थिति में पाठशालाओं को समाप्त कर देना होगा तथा संस्कृत विश्वविद्यालय ही संस्कृत पाठशालाओं के मिले हुए स्वरूपों के साथ निरन्तर कार्य करेगा।

(२) दूसरा मार्ग यह है कि पाठशालीय पद्धति को ही संस्कृत-शिक्षा की आधार-शिला मान लिया जाय तथा उसमें विश्वविद्यालयीय पद्धति के विशेष स्वाभाविक स्वरूपों का समावेश करके उसे पुष्ट बनाया जाय।

(३) तीसरा विकल्प यह होगा कि एक सर्वथा नवीन पद्धति का निर्माण किया जाय तथा उसे ऊपर उठाया जाय। इस नवीत पद्धति में उक्त दोनों पद्धतियों को मिलाकर एक कर दिया जायगा तथा इसमें विश्वविद्यालय तथा पाठशाला का अंशदान बराबर रहेगा। इस योजना में विश्वविद्यालयीय तथा पाठशालीय पद्धतियाँ एक दूसरे में पूर्णतः घुल-मिल जायँगी।

(७९) पाठशालीय तथा विश्वविद्यालयीय पद्धति के मिश्रण से तैयार की गयी तथा इन दोनों को निरस्त करती हुई एक सर्वथा नवीन पद्धति बनाने की जो कल्पना ऊपर की गयी है, वह इच्छित न होने के कारण विचारणीय नहीं है। दूसरे विकल्प पर भी कोई विचार नहीं किया जा सकता। यद्यपि इस आयोग ने स्वयं

संस्तुति की है कि उच्चस्तर पर संस्कृत पाठशालाओं में भी आधुनिक ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा समालोचनात्मक पद्धतियों का अनुसरण किया जाय, तथापि विश्वविद्यालयीय संस्कृत-शिक्षा को रोक देना कदापि वाञ्छनीय न होने से इस दूसरे विकल्प को भी हमें छोड़ देना होगा। अतः अब हमारे सामने केवल प्रथम विकल्प पर ही विचार करना शेष रहा है।

(८०) विश्वविद्यालयीय पद्धति में स्वभावतः कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं है जिसे हम असंगत या असम्भव कह सकें। ऐसी स्थिति में यदि हम उस पद्धति का अनुसरण करें तो पाठशालीय शिक्षा की गम्भीरता तथा व्यापकता के साथ आधुनिक प्रणाली की ऐतिहासिक एवं समालोचनात्मक प्रक्रिया के सफल मेल से संस्कृत-विद्वत्ता को एक नया रूप दिया जा सकता है। हो सकता है कि विश्वविद्यालयों के साधारण छात्र या अध्यापक को दृष्टि में रखते हुए वर्तमान संघटन के समय ऐसा करना हमें कठिन प्रतिभासित होता हो, किन्तु यह अवश्य ही सोचा जा सकता है कि अब वह समय दूर नहीं है जब कि हम देखेंगे कि आधुनिक पद्धति के साथ पाठशाला-प्रणाली को स्वीकार किये जाने पर ग्रन्थों के एक-एक वाक्य का सविस्तार विश्लेषणात्मक चिन्तन प्रारम्भ होगा तथा ऐसी स्थिति के आते ही पण्डित तथा प्रोफेसर में कोई अन्तर न रह पायेगा। हमें ऐसी स्थिति के आने की भी आशा करनी चाहिए। इस सन्दर्भ में कुछ साक्ष्यों—जिनमें से एक डाक्टर ए० लक्ष्मण शास्त्री मुदालियार भी हैं—के विचारों की भी चर्चा की जा सकती है। इनका सुझाव है कि संस्कृत-शिक्षा की इन दोनों प्रकार की पद्धतियों के एकीकरण तथा उनके ताल-मेल की चेष्टा सर्व-प्रथम उच्च स्तर पर करनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि संस्कृत में एम्० ए० का पाठ्यक्रम सफलतापूर्वक समाप्त कर लेने के उपरान्त छात्रों को पाठशालीय पद्धति में प्रशिक्षित किया जाना चाहिए तथा इसी प्रकार आचार्य उत्तीर्ण पाठशालीय छात्र को भी एम्० ए० पाठ्यक्रम के मार्ग द्वारा प्रशिक्षित करना अपेक्षित है। निम्न-स्तर या छोटी कक्षाओं में इस एकीकरण की चेष्टा से वर्णसंकरीकरण का भय है। जो भी हो, इस तथ्य को तो निश्चय ही स्वीकार करना पड़ेगा कि विश्वविद्यालयों की संस्कृत-शिक्षा, पाठशालाओं की संस्कृत-शिक्षा का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती।

(८१) उपर्युक्त दोनों ही प्रणालियों की अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् परम्पराएँ तथा अलग-अलग पृष्ठभूमियाँ हैं। अतः इन दोनों को एक में मिलाने के पूर्व यह आवश्यक है कि वे दोनों प्रणालियाँ अधिक से अधिक एक दूसरे के निकट लायी जायँ। विश्वविद्यालयों के संस्कृत-विभागों में तथा भारतीय ज्ञान के विभागों में एवं अन्यत्र भी इस कोटि की संस्थाओं के संस्कृत-विशेषज्ञों से पारम्परिक विद्वानों का पर्याप्त लम्बे समय तक व्यापकरूप में घनिष्ठ तथा निरन्तर सम्पर्क रहना चाहिए। ऐसी स्थिति में ही विश्वविद्यालयों के संस्कृत विद्वान् पारम्परिक वैदुष्य के द्वारा नवीन ज्ञानविस्तार की आशा कर सकते हैं। हमारे पण्डितों के निरन्तर निर्माण के प्रमुख स्रोत रहे हैं—हमारे संस्कृत-विद्यालय। इसलिए असमय में ही उन्हें बन्द कर देना हमारे अज्ञान की परा-काष्ठा ही कही जायगी। यदि हमने ऐसा किया तो हमारा यह कार्य उस व्यक्ति की अविवेकशीलता के समान होगा, जिसने अपना दीपक जलाने से पहले ही अपने

जलते हुए मशाल को बुझा दिया। शास्त्रीय वैदुष्य, जो कि अपना अवलम्ब पाठशालाओं से ही प्राप्त करता है, उससे निरन्तर सहयोग द्वारा ही पाठशालीय प्रणाली का विश्वविद्यालयीय प्रणाली से एकीकरण किया जा सकता है। यह सुदूर स्थित एकीकरण अभिवाञ्छित है, पर वह कब तक हो सकेगा इस विषय में इस समय किसी प्रकार की भविष्यवाणी करना व्यर्थ का खतरा मोल लेने से भी अधिक गम्भीर प्रसंग होगा। इस समय तो यही उचित है कि पाठशालाओं को सुरक्षित रखा जाय तथा उन्हें शक्तिशाली बनाया जाय, क्योंकि इन पाठशालाओं के माध्यम से ही हम पारम्परिक प्रणाली तथा विश्वविद्यालयीय प्रणाली को एक में मिला सकते हैं। अतः परस्पर सहयोग के उद्देश्य से संस्कृत-शिक्षा की इन दोनों प्रणालियों को इस समय समानान्तर बनाये रखना ही सर्वथा उचित है।

३. अन्य विषयों के उच्च-अध्ययन के लिए संस्कृत परिपूरक के रूप में

(क) भारतीय भाषाओं के अध्ययन में संस्कृत का परिपूरकत्व

(८२) यूरोप तथा अमेरिका के अनेक विश्वविद्यालयों में संस्कृत के लिए प्रोफेसर के विशिष्ट (चेयर) पदों का प्राविधान है। जहाँ कहीं ये पद नहीं हैं वहाँ भी संस्कृत का पठन-पाठन ग्रीक तथा लैटिन की उच्च शिक्षा का एक सामान्य अंग बना दिया गया है। कहीं-कहीं भारोपीय भाषाओं के व्याकरणसम्बन्धी तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययनक्रम में संस्कृत के पठन-पाठन का प्राविधान है। इस प्रकार भाषाओं के सामान्य अध्ययन में तथा विशेषतः यूरोप की प्राचीन साहित्यिक भाषाओं के अध्ययनक्षेत्र में भी संस्कृत का बौद्धिक एवं सांस्कृतिक मूल्य स्वीकार किया गया है तथा उसकी शक्तिसम्पन्न विपुल सहायता का वास्तविक लाभ उठाया गया है। भारतवर्ष में जो लोग संस्कृत के विशेष अध्ययन में लगे हुए हैं उनके लिए तो स्वाभाविक ही है कि वे संस्कृत का अध्ययन करें, किन्तु जो छात्र भारतीय भाषाओं का अध्ययन कर रहे हैं उनके लिए भी बी० ए० (आनर्स) या एम्० ए० स्तर पर संस्कृत का एक प्रश्नपत्र निर्धारित करना सर्वथा आवश्यक होगा। इसी प्रकार भारतवर्ष के जिन विश्वविद्यालयों में ग्रीक तथा लैटिन का पठन-पाठन चल रहा है वहाँ भी बी० ए० (आनर्स) तथा एम्० ए० के पाठ्यक्रम में संस्कृत का कुछ न कुछ प्राविधान किया जाना चाहिए। भाषाओं के अध्ययन-क्रम में भी संस्कृत का एक प्रश्नपत्र उसके आवश्यक अंग के रूप में निर्धारित किया जाना अत्यन्त अभिवाञ्छनीय है। एक ओर संस्कृत तथा दूसरी ओर अंगरेजी, फ्रेंच, जर्मन, इटली, रूसी जैसी भाषाओं का उद्‌गमसम्बन्ध सामान्यतः इतना सन्निकट है कि इन भाषाओं के पाठ्यक्रम में कुछ न कुछ संस्कृत का समावेश यदि साध्य न भी हो तो भी इन विषयों के छात्रों के लिए संस्कृत से परिचित होना सहायक ही सिद्ध होगा।

(ख) संस्कृत तथा अन्य विषय

(८३) भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व, भारतीय दर्शन के अध्यापक तथा प्रोफेसर भी इस तथ्य के समर्थक थे कि विश्वविद्यालयों में इन विषयों के उच्च

अध्ययन में रुचि लेने वाले छात्रों के लिए उनके प्रवेश के पूर्व संस्कृत का ज्ञान आवश्यक माना जाना चाहिए। अंगरेजी भाषा के अनेक प्राध्यापकों का यह विचार था कि अंगरेजी साहित्य तथा समालोचना के अध्ययन में यदि संस्कृत साहित्य एवं समालोचना के चुने अंश (अंगरेजी में) पढ़े जाएँ तो छात्र तुलनात्मक आधार पर विषय को और अधिक उत्तमता से समझ सकते हैं। जो कुछ भी हो, आयोग की यह सम्मत्ति है कि भारतीय दर्शन, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति (पुरातत्त्व, वास्तुविद्या, कला इत्यादि के सहित) के अध्ययन की इच्छा रखने वाले छात्रों के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक कर देना चाहिए। अंगरेजी तथा अन्य आधुनिक साहित्य के छात्रों को संस्कृत-ज्ञान के प्रति सदा ही प्रोत्साहित करते रहना चाहिए। यदि पाठ्यक्रम में तुलनात्मक साहित्य के एक प्रश्नपत्र का प्राविधान किया गया है तो इस पाठ्यक्रम में यथोचित संस्कृतग्रन्थों के अनुवादों का भी निर्धारण किया जाना चाहिए। इसी प्रकार चिकित्साशास्त्र, खगोल (नक्षत्र-शास्त्र) तथा गणित इत्यादि विभिन्न वैज्ञानिक विषयों के अध्ययनक्रम में संस्कृतवाङ्मय के सम्बद्ध ग्रन्थों में संरक्षित भारतीय अंशदान के अध्ययन पर भी दृष्टि रखनी चाहिए। इस विचार से इन विषयों के विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम में इनके ऐतिहासिक अंशों का भी समावेश किया जाना चाहिए।

(ग) विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में संस्कृत और संस्कृति का अध्ययन

यह वाञ्छनीय होगा कि समस्त छात्र वर्ग के लिए संस्कृत-वाङ्मय में संरक्षित संस्कृति की रूपरेखा का अध्ययन निर्धारित किया जाय। पाठ्यक्रम की अन्य सामग्री के साथ भारतीय संस्कृति, धर्म, कला तथा वास्तुविद्या सम्बन्धी आधारभूत तत्त्वों को सम्मिलित करते हुए हाईस्कूल तथा पूर्वस्नातक कक्षाओं के महाविद्यालयीय दोनों कोटि के छात्रों के लिए क्रमबद्ध ग्रन्थमालाएँ प्रकाशित की जानी चाहिए। ये पुस्तकें विभिन्न भारतीय भाषाओं में (अंगरेजी में भी) लिखी जायँ तथा इन्हें इतिहास और साहित्य के सामान्य पाठ्यक्रम में निर्धारित किया जाय। ये दोनों ही विषय हाईस्कूल स्तर पर सामान्यतः अनिवार्य विषय के रूप में निर्धारित हों। विश्वविद्यालयीय स्तर पर इन्टरमीडिएट तथा बी० ए० परीक्षाओं के लिए भारतीय संस्कृति को एक अतिरिक्त विषय के रूप में नियत किया जाना चाहिए तथा इसके लिए पचास अंकों के आधे प्रश्नपत्र का प्राविधान किया जाना चाहिए। इस प्रक्रिया से सभी छात्र तथा वे छात्र भी जो कि भारतीय संस्कृति की सीमा में नहीं आते तथा पाठ्यक्रम के प्राचीन साहित्यिक भाषा-खण्ड में निर्धारित भाषाओं में संस्कृत को नहीं चुनते, उन्हें भी एक सुनिश्चित प्रकार से सामान्यतः यह जानने का अवसर प्राप्त हो जाता है कि भारत तथा संस्कृत-पाण्डित्य किन-किन तत्त्वों का प्रातिनिध्य करता है।

—:०:—

षष्ठ अध्याय

संस्कृत-शिक्षण

(१) प्रस्तावना

(१) यह एक व्यापक सी धारणा वन गयी है कि संस्कृत भाषा का सीखना नितान्त कठिन है। इसकी पुष्टि अनेक साक्ष्यों से भी हुई है। यदि हम चाहें कि संस्कृत के प्रौढ़ ग्रंथों को स्वयं पढ़ने की क्षमता हममें अपने आप आ जाय तो इसके लिए हमें जी-तोड़ प्रयास करना पड़ेगा। वस्तुतः जनसाधारण के व्यावहारिक भाषा से भिन्न भाषा का सीखना सरल नहीं होता और गलत एवं अनुपयुक्त शिक्षण-पद्धतियों द्वारा उसे और भी कठिन बना दिया जाता है। इस सन्दर्भ में अनेक अनुभवी अध्यापकों, संस्कृत-शिक्षण के विशेषज्ञों ने हमारे समक्ष अपने विचार प्रकट किये हैं और हमने भी संस्कृत-शिक्षण की दृष्टि से अनेक पाठशालाओं, विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों का निरीक्षण किया। इन आधारों पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत-अध्यापन के क्षेत्र में उपयुक्त शिक्षण-विधियों को निश्चित करने के लिए एक विशाल क्षेत्र विद्यमान है। उन उपयुक्त शिक्षण-विधियों से ही संस्कृत सीखने के प्रति रुचि बढ़ाई जा सकती है और संस्कृत-अध्ययन की विभिन्न श्रेणियों में वैदुष्य का स्तर भी ऊँचा उठाया जा सकता है।

(२) संस्कृत-शिक्षण-पद्धति के प्रश्न पर जब हम विचार करते हैं तो यह प्रत्यक्ष होता है कि इस सन्दर्भ में छात्रों की मानसिक क्षमता तथा विभिन्न स्तरों पर उनकी योग्यता इन दो तथ्यों को विचार-कोटि में रखना आवश्यक है। संभव है कि जो शिक्षण-विधि महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय के छात्र के लिए ठीक है वह हाईस्कूल के छात्र के लिए ठीक न हो और जो विधि हाईस्कूल के स्तर पर अध्यापन के लिए उपयुक्त है वह विश्वविद्यालय के छात्रों के अध्यापन के लिए अनुकूल न प्रतीत हो। संस्कृत सीखने के लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी एक आश्चर्यजनक एवं समृद्ध साधन है, किन्तु लघुसिद्धान्तकौमुदी के रूप में जब हम इस ग्रंथ की कठिनाई को व्यक्त कर देते हैं तो भी यदि हम लघुसिद्धान्तकौमुदी के अध्यापन के लिए अष्टाध्यायी के अध्यापन-मार्ग का अनुसरण करें तो निश्चय ही प्रथम संस्कृत सीखने वाले के मन में संस्कृत के प्रति घृणा उत्पन्न हो जायगी। अतः हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम विभिन्न श्रेणियों के संस्कृत सीखने वालों के लिए उपयुक्त शिक्षण-विधियों की खोज करें। इस सन्दर्भ में हमें एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखना होगा, वह यह कि जिस शिक्षण-विधि की खोज में हम दत्तचित्त हैं वह ऐसी हो कि जिसके प्रयोग से संस्कृत भाषा के प्रति छात्रों की अभिरुचि बनी रहे तथा उत्साहपूर्वक संस्कृत के अध्ययन की ओर उन्हें अभिप्रेरित किया जा सके।

(३) संस्कृत-शिक्षण-सम्बन्धी प्रमुख प्रश्न का सम्बन्ध मुख्यतः दो विभिन्न शिक्षा-व्यवस्थाओं से है। वे हैं आधुनिक विद्यालय तथा पारम्परिक संस्कृत पाठशालाएँ अथवा टोल। क्या यह सम्भव है कि उनके गुणों को एक में मिला दिया जाय? यदि ऐसा करना सम्भव है तो इन गुणों को कैसे मिलाया जाय तथा किस अनुपात में मिलाया जाय? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर ही हमारे देश की संस्कृत-शिक्षा को गम्भीर रूप से प्रभावित कर सकता है। कोई भी शिक्षण-विधि चाहे वह प्रत्यक्ष विधि हो या अप्रत्यक्ष विधि या अन्य जो कोई भी विधि हो, यदि वह एक समुचित ढंग से विभिन्न स्तरों के लिए परिकल्पित तथा व्यवस्थित हो तो उसका कुछ न कुछ यथोचित उपयोग होता ही है। उच्चस्तर पर यह आवश्यक प्रतीत होता है कि पाठशालाओं की पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली तथा इस समय विश्वविद्यालयों में प्रचलित ऐतिहासिक तथा समालोचनात्मक आधुनिक शिक्षा-प्रणाली, इन दोनों को ही गतिशील बनाने के उद्देश्य से एक में मिला दिया जाय। छात्रों का वर्गीकरण निम्नांकित रूप से किया जा सकता है—

I. (क) उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों का साधारण छात्र जो कि संस्कृत को एकनिष्ठता से या विभिन्न भाषाओं के मिश्रित पाठ्यक्रम के अंश के रूप में एक अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ेगा।

(ख) उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों का वह छात्र जो कि संस्कृत को एक वैकल्पिक विषय के रूप में पढ़ेगा।

II. पाठशाला या टोल (प्राचीन प्रकार की या पुनःसंघटित)

(क) प्रथमा तथा मध्यमा श्रेणी का।
(ख) तीर्थ या शास्त्री तथा आचार्य या शिरोमणि उपाधि स्तर का।

(४) यतः छात्रों का एक बहुत बड़ा प्रतिशत विद्यालय स्तर पर ही अपनी शिक्षा समाप्त करके जीवन में प्रवेश करेगा या व्यावसायिक शिक्षा में जायेगा, यह देखना आवश्यक है कि इस स्तर पर जो कुछ संस्कृत उसे पढ़ाई जाय, उसकी सामग्री इतनी हो अथवा उस सामग्री पर उसका अधिकार भी इतना पर्याप्त हो जाय कि बाद में भी यदि वह व्यक्तिगत रूप से अपने संस्कृत के ज्ञान को बराबर बनाये रखना चाहे या उसे समुन्नत करना चाहे तो ऐसा करने में विद्यालय स्तर पर उसे दिया गया प्रशिक्षण उसका सहायक सिद्ध हो सके। विद्यालयीय स्तर पर संस्कृत-शिक्षण को यह तथ्य अवश्य ही अपनी दृष्टि में रखनी चाहिए कि वह महाविद्यालयों की संस्कृत-शिक्षा की ऊपरी मंजिल के निर्माणकार्य की आधारशिला है।

(५) माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों का दूसरा वर्ग ऐसे छात्रों का है जो कि आगे चलकर अन्य विषयों में से संस्कृत का विशेष अध्ययन करेंगे। वास्तव में इन छात्रों पर ही विश्वविद्यालयों की संस्कृत-शिक्षा निर्भर रहा करती है। ऐसे छात्रों के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक है। यह व्यवस्था इसलिए भी परमावश्यक है

कि विश्वविद्यालयों के केवल संस्कृत-विभाग ही नहीं, अपितु प्राचीन भारतीय-इतिहास तथा संस्कृति, भारतीय दर्शन तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के विभाग भी इन छात्रों को अपने भावी छात्रों के रूप में देखा करते हैं।

(ii) विद्यालय (The School)

(६) अपने साक्षात्कारों तथा निरीक्षणों के क्रम में आयोग के समक्ष संस्कृत-शिक्षा से सम्बद्ध अनेक प्रश्न उपस्थित थे। इन सभी में जिस प्रश्न पर मैंने अपना ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित किया था वह प्रश्न था शिक्षण-पद्धतियों का। संस्कृत-शिक्षण का प्रसंग चाहे वह कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो हमारे अधिकारियों तथा विद्वानों ने उस पर यथोचित ध्यान नहीं दिया है। कुछ थोड़े से स्थानों में जैसे बनारस संस्कृत कालेज, आन्ध्र प्रदेश, अन्नामलाई और पंजाब विश्वविद्यालय में संस्कृत पण्डितों के प्रशिक्षण के लिए अल्पकालीन पाठ्यक्रम चलाये जाते हैं। हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि पश्चिम के विद्वान् अपने देश की प्राचीन तथा अन्य देशों के भी प्राचीन साहित्य की भाषाओं के अध्यापन के लिए उपयुक्त शिक्षण-विधियों के प्रश्न पर दत्तचित्त हैं। इन भाषाओं को पढ़ाने के लिए किन विधियों का प्रयोग किया जाय, इस विषय पर वहाँ अनेक अध्ययनपूर्ण ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं, पर हमारे देश के विद्वान् यद्यपि उत्साही तो हैं, किन्तु इस विषय पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे रहे हैं।

(७) जहाँ तक हमें ज्ञात है, हमारे देश में भाषाशिक्षण सम्बन्धी जो भी लेख लिखे गये हैं उनमें संस्कृत-शिक्षण के विवेचन पर लेखों की संख्या बहुत कम है। हमारे देश में ऐसी पुस्तकें भी बहुत कम संख्या में हैं जिनमें संस्कृत-शिक्षण-विधियों का विस्तृत विवेचन यथोचित मात्रा में किया गया हो। क्रमबद्ध पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन बोकिल (Bokil) तथा पोरास्निस (Porasnis) की पुस्तक 'संस्कृत के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण' (A New Approach to Sanskrit) जी० एस्० दुपरिकर की पुस्तक 'संस्कृत-अनुशीलन-विवेक' जो कि संस्कृत तथा अंगरेजी दोनों ही भाषाओं में है, गौरीशंकर की पुस्तक 'संस्कृत शिक्षा-विधि' जैसी कुछ थोड़ी सी ही पुस्तकें संस्कृत-शिक्षणविधियों पर लिखी गयी हैं। दुपरिकर के ग्रन्थ में प्राचीन विद्वानों द्वारा विभिन्न शास्त्रों के विवेचन में प्रयुक्त पद, वाक्य, प्रमाण तथा वेदान्त-विधियों से संबद्ध सामग्री एकत्रित की गयी है। शिक्षणसिद्धान्तों के निर्धारण में इन विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। वे अनुरोध करते हैं कि प्राचीन पण्डितों की परम्परागत शिक्षणविधियों में पाश्चात्य शिक्षाविशेषज्ञों के आधुनिक विचारों को मिलाकर उपयुक्त पाठन-विधियों का निर्माण किया जाना चाहिए। यदि हम अपने प्राचीन साहित्य पर विहङ्गम दृष्टि डालें तो प्रत्यक्ष होगा कि भाष्य ऐसे महान् प्राचीन ग्रन्थों का पठन-पाठन व्याख्यान-प्रणाली से होता था। 'गुरुशिष्य-संवाद' के रूप में हमारे यहाँ जिस साहित्य की रचना की गयी, उससे स्पष्ट है कि शास्त्रों के विवेचन में हमारे यहाँ प्रश्नोत्तर-प्रणाली का भी प्रयोग किया जाता था। इस पद्धति से शास्त्रविवेचन में शिष्य सक्रिय भाग लेता था। शिष्य से

सर्वदा यह आग्रह किया जाता था कि वह परिप्रश्न करे। हमारा गुरुवर्ग अपनी समस्त चेष्टाओं को केवल पदार्थों के विधिवत् समझाने मात्र तक ही सीमित नहीं रखा करता था, बल्कि अपना यह भी कर्त्तव्य समझता था कि वह इस तथ्य का भी भली-भाँति निश्चय कर ले कि छात्र पाठ्य-विषय को हृदयङ्गम किया है या नहीं ? पाठ्य-विषय में उसका यथार्थ प्रवेश हुआ है कि नहीं ? उसमें प्रवेश करके तद्गत ज्ञान-प्रकाश का वह अनुभव कर रहा है या नहीं ? चीनी यात्री ह्वेनसांग के निम्नांकित वचनों से यह पाठन-प्रणाली प्रमाणित की जा सकती है—

"ये अध्यापक (अपने छात्रों के लिए) सामान्य अर्थ की व्याख्या करते हैं। और स्थूल-सूक्ष्म का विवेचन करते हैं। साथ ही साथ वे उनकी सक्रियता जागृत करते हैं तथा बुद्धिमानी से उन्हें अपने आप को विकसित होने की प्रेरणा देते हैं। वे आलसी को प्रबुद्ध करते हैं तथा जडबुद्धि को तीव्र बनाते हैं। जब बुद्धिमान् तथा तीव्रबुद्धि के छात्र भी आलस्यवश जी चुराते हैं तब अध्यापकवर्ग अध्यवसाय तथा आग्रहपूर्वक अपने शिक्षण को उस स्थिति तक निरन्तर बार-बार प्रचलित रखा करते हैं जब तक वे छात्र पूर्णतः प्रशिक्षित नहीं हो जाते"।

(८) अपने विद्यालयीय जीवन के प्रारम्भिक स्तरों पर भाषा तथा साहित्य की जो शिक्षा भारतीय बालक ग्रहण करता था उसकी विधि क्या थी तथा उस शिक्षा का विस्तार कहाँ तक था ? एतद्विषयक प्राचीनतम अभिलेख वास्तव में संस्कृत-वाङ्मय (विशेषतः बड़े बड़े प्रमुख महाकाव्यों) की टीकाओं में संरक्षित हैं। इन टीकाओं में वाक्य-रचना की विधि द्वारा अनुच्छेदों के विश्लेषण एवं व्याख्या की प्रणाली प्रकाशित की गयी है। ये टीकाएँ सर्वप्रथम कठिन शब्दों के अर्थ, तदनन्तर कठिन प्रयोगों की व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं का ज्ञान तथा अन्त में उस अनुच्छेद के आलंकारिक एवं साहित्यिक चमत्कार के प्रभाव-प्रकाशन से सुसंघटित की गई हैं। पाठशालाओं के प्रारम्भिक पाठ्यक्रम में निर्धारित इन ग्रन्थों की व्याख्या करने के लिए प्राचीनकाल का अध्यापक खण्डान्वय तथा दण्डान्वय के नाम से सुविख्यात दो प्रणालियों का अनुसरण किया करता था। पूरे अनुच्छेद की व्याख्या करने के लिए ये प्रणालियाँ विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक प्रणालियों के समान हैं, जिनमें एक सारभूत आन्तरिक भाग से (अर्थात् अनुच्छेद के मार्मिक एवं महत्त्वशील प्रधान अंश से) समस्त विश्लेषण तथा सहायक भागों को जोड़कर तथा उनके परस्पर सम्बन्धों को प्रकाश में लाते हुए समस्त अनुच्छेद की व्याख्या की जाती है। अधिकतर लोग खण्डान्वय प्रणाली को आकांक्षा प्रणाली भी कहा करते हैं। इस प्रणाली में सर्वप्रथम प्रधान क्रिया को पकड़ लिया जाता है तब उसके बाद में उसका कर्त्ता, उसके विशेषण, कर्म, क्रिया-विशेषण तथा अन्य अंश प्रश्नोत्तर-विधि द्वारा प्रकाश में लाये जाते हैं। तमिलनाडु के पण्डित आज भी इस प्रणाली का अनुसरण करते हैं। इस प्रश्नोत्तर प्रणाली से निश्चय ही छात्र शिक्षा-प्रक्रिया में सक्रिय भाग लेते हैं।

(९) कौन सी भाषा किस विधि से पढ़ाई जाय इस ओर हमारा ध्यान प्रायः उस दशा में ही जाया करता है जब कि वह भाषा किसी एक नवीन

परिस्थिति में हो अथवा जिन भाषाओं से पहले उसे सहायता प्राप्त होती रही है उस भाषा ने किसी दूसरी भाषा का रूप ले लिया हो और हमें एक नये प्रकार के विद्यार्थियों को पढ़ाने की स्थिति आ गयी हो। जब कोई भी भाषा अपनी उन्नति की दशा में होती है उस समय हम इस बात पर ध्यान नहीं देते कि वह किस विधि से पढ़ाई जाय। यही कारण है कि इतिहास के उत्तरकाल में तथा मुस्लिम युग में ही हमें कुछ इस प्रकार के संस्कृत लेखक मिलते हैं जिन्होंने संस्कृत-शिक्षण की सुगम विधियों पर ध्यान दिया है। उपयोगी हस्तलेखों के अनुसंधानकर्त्ताओं ने भी शिक्षण-कलासम्बन्धी पाण्डुलिपियों की पूरी खोज नहीं की है, तथापि कुछ प्रभावोत्पादक उदाहरण दृष्टि में आये हैं, जैसे रघुराम का "श्लोकयोजनिकोपाय" ओंकारदास का "अन्वय-प्रबोध" जिसमें दण्डान्वय तथा खण्डान्वय प्रणाली का प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त इस विषय से सम्बद्ध प्रमुख महाकाव्यों की कतिपय टीकाएँ भी हैं, जो कि अध्ययन प्रारम्भ करनेवालों की दृष्टि से लिखी गई हैं। इस सन्दर्भ में दामोदर पण्डित के "उक्तिव्यक्तिप्रकरण" की भी चर्चा की जा सकती है। इस ग्रन्थ में स्थानीय भाषा प्राचीन अवधी को संस्कृत पढ़ाने का माध्यम माना गया है। इसी प्रकार "मुग्धबोध औक्तिक" में प्राचीन गुजराती के माध्यम से संस्कृत-व्याकरण की अध्यापन-विधि दी गई है। सोलहवीं शताब्दी के अन्त तथा सत्तरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वरदराज ने "गीर्वाणपदमञ्जरी" नामक एक ग्रन्थ की रचना की है। यह एक आश्चर्य की बात है कि इस ग्रन्थ में शिक्षणसम्बन्धी आज-कल की अनेक विचार-धाराएँ विद्यमान हैं। प्रत्यक्षप्रणाली, प्रश्नोत्तरप्रणाली, सरलवार्तालापप्रणाली, जो कि ज्ञातवस्तुओं तथा दैनिकप्रयोग में आने वाले शब्दों एवं भावों पर आधारित हैं तथा कठिन धातुरूपों एवं कृदन्तों के परित्याग पर बल देती हैं, का इस ग्रथ में प्रतिपादन किया गया है।

(१०) जिस समय आधुनिक अंगरेजी विद्यालयों में संस्कृत का पठन-पाठन सर्वप्रथम प्रारम्भ हुआ, उस समय शिक्षण-विधिसम्बन्धी जो कुछ सामग्री हमारे शिक्षाविदों को पश्चिम से प्राप्त हुई उसी के आधार पर वे अपनी शिक्षण सामग्री तैयार करने में दत्तचित्त थे। निम्न माध्यमिक स्तर से लेकर आगे तक प्रारम्भ करने के क्षेत्र में व्यापक पठन-पाठन के लिए प्रारम्भिक व्याकरण तथा क्रमबद्ध पाठ्यपुस्तकों की रचना प्रारम्भ की गयी। इन पुस्तकों में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का "प्रारम्भिक व्याकरण" आर० जी० भण्डारकर की पाठ्यपुस्तक के प्रथम एवं द्वितीय भाग तथा विभिन्न श्रेणियों के लिए क्रमबद्ध पाठ्यपुस्तकें प्रमुख हैं। भण्डारकर ने अपनी पाठ्य-पुस्तकों में उस शिक्षण-योजना का ही अनुसरण किया है जो कि पश्चिम में ग्रीक तथा लैटिन के अध्यापन-क्षेत्र में निर्धारित की गयी है। इस पाश्चात्य शिक्षण-योजना के अनुसार ही भण्डारकर ने अपनी पाठ्यपुस्तक में व्याकरण, शब्दकोश तथा अनुवाद के कोटिबद्ध अभ्यासों का समावेश किया है। ये पाठ्यपुस्तकें पहले अङ्गरेजी भाषा में लिखी गयी थीं बाद में इनका हिन्दी रूपान्तर भी कर दिया गया। ये पुस्तकें व्यापकरूप में लोकप्रिय भी बनी रहीं। काले का "प्रारम्भिक व्याकरण" तथा

"उच्चतर व्याकरण" और आप्टे की "संस्कृतरचना पथप्रदर्शक" (Guide of Sanskrit Composition) ये सभी ग्रंथ प्रायः इसी आधार पर लिखे गये हैं। जैसे-जैसे समय बीतता गया, शिक्षाविदों ने यह अनुभव किया कि संस्कृत-शिक्षा प्रारम्भ करने के लिये इससे भी अधिक सरल प्रारम्भिक पाठ्यपुस्तकें तैयार की जा सकती हैं। फलतः अंगरेजो तथा स्थानीय भाषाओं की योजना बनी और तदनुसार संस्कृत की प्रारम्भिक पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित की गयीं। इन पुस्तकों के प्रारम्भिक भाग में कुछ सरल शब्द तथा उनके चित्र दिये गये। इन चित्रों के सहारे उन्हें पढ़ाने की सरल प्रणाली का अनुसरण किया गया है। प्रत्येक पाठ के अन्त में वाक्य-रचना की योजना है तथा छोटी-छोटी कहानियाँ भी जोड़ दी गयी हैं। साथ ही साथ विशेषतः शब्दरूप तथा धातुरूप की एक सरल व्याकरण की पुस्तक का भी प्रयोग किया जाता है।

(११) यहाँ कण्ठस्थीकरण के प्रसंग में भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। स्मृति-विषयक धारणा को हम ज्ञानविषयक धारणा से पृथक् नहीं कर सकते। विचारों को स्मृति में धारण करने की शक्ति, उनका यथासमय स्मरण तथा प्रयोग तक की विचार-प्रक्रिया स्मृति से सम्बन्ध रखती है। प्रारम्भिक स्तर पर वर्णमाला तथा गणित का ज्ञान प्राप्त करना, जोड़, घटाना, गुणा, शब्दों की वर्तनी ये सभी कण्ठस्थीकरण पर आधारित हैं। शिक्षाव्यवस्था में कण्ठस्थीकरण को बन्द कर देने से बालकों में ज्ञान-प्राप्ति की प्रेरणा शिथिल पड़ जाया करती है। जो भी हो, प्रारम्भिककाल में कण्ठस्थीकरण का विरोध करना ठीक नहीं है। उच्चस्तर पर बिना समझे यन्त्रवत् कण्ठस्थीकरण का विरोध ठीक माना जा सकता है। आज संस्कृत मातृभाषा के समान बोलचाल की भाषा नहीं है। संस्कृत की ध्वनि चारों ओर से हमारे कानों में नहीं पड़ा करती। ऐसी दशा में इस भाषा के व्याकरण सम्बन्धी शब्द-वर्ग (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण इत्यादि) पुस्तकों के माध्यम से अथवा विशेष प्रशिक्षण के मार्ग से ही सीखे जा सकते हैं। मातृभाषा तथा बोलचाल की अन्य भाषाओं को बालक बहुधा सुना करता है। बोलने वालों की वाणी से वह इन भाषाओं के बोल-चाल के विभिन्न स्वरूपों को सीखता है। इसके बाद उनकी रचना के सम्बन्ध में केवल वैज्ञानिक बोध के लिए ही उसे पुस्तकों का सहारा लेना पड़ता है। इसके विपरीत संस्कृत सीखने के लिए प्रारम्भ से ही उसे पुस्तक तथा अध्यापक का आश्रय लेना होता है। प्राचीन भारत में संस्कृत-शिक्षण की चाहे जो भी विधि प्रयोग में लायी जाती रही हो, उस समय संस्कृत सीखना आज की अपेक्षा कहीं सरल था, क्योंकि उस युग में घर तथा बाहर सभी स्थानों का वातावरण संस्कृतमय था। इसलिए बालक को आज की अपेक्षा संस्कृत सुनने के कहीं अधिक अवसर प्राप्त हुआ करते थे। आजकल के संस्कृत-छात्रों की स्थिति अधिक कठिन है। अतः बोलचाल की अन्य भाषाओं के छात्रों की अपेक्षा उसे कण्ठस्थीकरण की अधिक आवश्यकता है। अन्य प्राचीन शिक्षाप्रणाली के समान ही कण्ठस्थीकरण संस्कृत-शिक्षा का मेरुदण्ड है। वेदों के अधिकांश भाग तथा संस्कृतवाङ्मय के भी अधिकतर अंश यदि वे आज जीवित हैं, तो मौखिक परम्परा के कारण ही। यदि कोई विद्वान् ज्ञान की

किसी शाखा को अपने अस्तित्व का अंग बनाना चाहता था तथा यह चाहता था कि वह उस ज्ञान का पण्डित माना जाय, तो उसके लिए कण्ठस्थीकरण ही एक व्यावहारिक मार्ग था। लिखित पुस्तकों में संरक्षित ज्ञान उपयोगी नहीं माना जाता था। पुस्तक में पड़ी हुई विद्या का उपहास किया जाता था तथा कण्ठगता विद्या की प्रशंसा की जाती थी। प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था की सफलता विद्वान् के रूप में चलते-फिरते ज्ञानकोश के उत्पादन में ही निहित थी।

(१२) वर्तमान युग के शिक्षाविशेषज्ञ भी शिक्षा की कतिपय श्रेणियों में कण्ठस्थीकरण का समर्थन करते हैं। अतः हमारा सुझाव है कि कण्ठस्थीकरण के प्रति हमें क्रोध में आकर त्योरी नहीं चढ़ाना चाहिए तथा प्रारम्भिक शिक्षा की विभिन्न कक्षाओं में तथा उच्च कक्षाओं में भी विशेष प्रकार की सामग्री के लिए कण्ठस्थीकरण का प्रयोग करना चाहिए। संस्कृत के शब्दरूप तथा धातुरूप इस श्रेणी में आते हैं, किन्तु सावधानी यह रखनी है कि इन शब्दरूपों तथा धातुरूपों को कण्ठस्थ करने के समय ही बालक को ऐसा प्रशिक्षण दिया जाय कि वह अपनी अवस्था तथा ग्रहण करने की शक्ति के अनुसार बुद्धिमत्तापूर्वक उन मूलभूत सिद्धान्तों को भी हृदयङ्गम कर ले जिनसे कि ये शब्द या धातुरूप बना करते हैं। इससे समानवर्ग के अन्य शब्दों तथा धातुओं को व्यवहार में लाने की उनकी शक्ति विकसित होगी तथा एक लाभ यह भी होगा कि जिन शब्दरूपों या धातुरूपों को उन्होंने कण्ठस्थ नहीं किया है उनके समान वर्ग वाले शब्दों तथा धातुओं के जिन रूपों के प्रयोग की उन्हें आवश्यकता आ पड़ेगी उन्हें अपने आप बना लेने में उन्हें न तो कोई कठिनाई होगी न तो किसी प्रकार के भय का ही सामना करना पड़ेगा। एक प्रतिभासम्पन्न शिक्षा-विशेषज्ञ द्वारा भाषा या व्याकरण या शिक्षण-विधि को सरल बनाने के मार्ग में जो भी प्रणाली विकसित की जाय उसमें कुछ न कुछ कण्ठस्थीकरण की मात्रा का समावेश करना ही होगा। इस तथ्य पर हम इसलिए विशेष बल देना चाहते हैं कि कण्ठस्थीकरण के विरुद्ध आज झूठ-मूठ का एक ऐसा विवेकशून्य आक्षेप व्याप्त है जिसका कि आज-कल के बालक के बुद्धि-विकास एवं उसकी सीखने की आदतों पर विपरीत प्रभाव पड़ा करता है। इस प्रक्रिया के विरोधियों को यह ज्ञान भी होना चाहिए कि संस्कृत-शिक्षा में कण्ठस्थीकरण के विशिष्टलाभ भी विद्यमान हैं। यदि शब्दरूप तथा धातुरूप नीरस हैं तो बचपन में कण्ठस्थ किये गये सुभाषित बालक के आजीवन मित्र तथा उसके पथप्रदर्शक बने रहते हैं। यही नहीं, ये कण्ठगत सुभाषित जीवन एवं सार्वजनिक व्यवहार में उसे प्रत्युत्पन्नमति तथा बुद्धिमत्ता से भी सुसज्जित करते हैं। यदि कोई भी संस्कृतज्ञ वाल्मीकि तथा कालिदास के श्लोकों या बाण की विभिन्न स्वर-ध्वनियों के भ्रमणशील आरोहावरोह से परिपूर्ण व्यापक स्वरमेल को कण्ठस्थ करके अपनी स्मृति को समृद्ध बनाता है तो निश्चय ही ये तत्त्व उसके जीवन के लिए शान्ति एवं आनन्द के अमोघ साधन सिद्ध होंगे।

(१३) भाषाशिक्षण-सम्बन्धी विचारों का विशेष विवेचन 'संस्कृत के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण' (A New Approach to Sankrit) नामक पुस्तक में किया

गया है। संस्कृत-शिक्षण के लिए इस पुस्तक में आधुनिक प्रत्यक्ष प्रणाली, प्रश्नोत्तर प्रणाली, वार्त्तालाप प्रणाली एवं ज्ञात से अज्ञात शिक्षण-विधि का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही साथ इस पुस्तक में चित्र, प्रतिरूप एवं दृश्यों की रूपरेखाओं के प्रदर्शन द्वारा श्रव्य-दृश्य प्रभाव की व्यवस्था एवं संवाद तथा अभिनय जैसे शिक्षण मार्गों का भी निर्देश किया गया है। भाषा के शिक्षण में बालक को ज्ञात से अज्ञात की ओर ले जाने के सिद्धान्त का एकमात्र यही उद्देश्य नहीं हुआ करता कि शिक्षण में दैनिक क्रियाओं से सम्बद्ध घर तथा बाहर की परिचित वस्तुओं तथा परिचित विचारों का ही प्रयोग किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार बालक की मातृभाषा की शब्दावली के ही पूरे पूरे उपयोग पर बल दिया जाता है तथा उसे एक नये ढंग से बालक के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। साथ ही साथ बालक की आवश्यकता के अनुसार काटछांट कर उसे चमकाया भी जाता है जिससे कि वह सुन्दर बन जाय। आयोग इस बात को बार बार दुहराना चाहता है कि संस्कृत भाषा अँग्रेजी भाषा के समान भारतीय बालक के लिए सर्वथा भिन्न तथा अपरिचित भाषा कदापि नहीं है। वह उसकी मातृभाषा के मांस की मांस तथा हड्डियों की भी हड्डी है। जो भी व्यक्ति या बालक अपनी मातृभाषा का अध्ययन करता है, वास्तव में वह कुछ न कुछ संस्कृत का ही अध्ययन करता है।

(१४) भाषा के ज्ञान में अधिकाधिक शब्दों का ज्ञान ही सब कुछ नहीं हुआ करता। अतः भाषा के शिक्षकों को एकमात्र शब्दों के अध्यापन पर ही अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करना चाहिए। वाक्यरचना से शब्दों के सम्बन्ध इससे भी अधिक महत्त्व-पूर्ण हुआ करते हैं। इसलिए स्पष्ट है कि कुछ न कुछ व्याकरणज्ञान के विना शब्दों का ज्ञान कराना सम्भव नहीं है। शब्दों तथा धातुओं का मूलवर्ग, धातु तथा उसकी श्रेणी (गण) एवं अन्त्यवर्ण के प्रथम ज्ञान की अपेक्षा यह अधिक वाञ्छनीय होता है कि छात्र को पूर्णतः समुन्नत शब्द-खण्डों के रूप में उनका सर्वप्रथम ज्ञान कराया जाय।

शब्दरूपों तथा धातुरूपों के अध्यापनक्रम में सर्वप्रथम सरल प्रयोगों को लेना चाहिए। प्रारम्भिक अवस्था में विशुद्ध व्याकरण की शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए। इससे भाषा के अलग अलग टुकड़ों का ही ज्ञान होता है। इस अवस्था में आवश्यक तो यह है कि सर्वप्रथम भाषा का सजीव एवं विकसित स्वरूप बालक के समक्ष प्रकाशित किया जाय तथा उसे उसके अनुभव का विषय बनाया जाय। इस स्थिति में व्याकरण की शिक्षा केवल एक पूरकतत्त्व के रूप में ही दी जानी चाहिए। सांयोगिक तथा व्यावहारिक व्याकरणबोध की इस नीति का प्रयोग उस स्थिति तक करना चाहिए जब तक कि बालक को भाषा का प्रर्याप्त ज्ञान न हो जाय, जब तक कि वह स्वतः समान तथा असमान शब्द तथा धातुरूपों को पहचानने के योग्य न हो जाय तथा उन मूल सिद्धान्तों को जानने की जिज्ञासा उसमें जागृत न हो जाय जिनसे शब्दों एवं धातुओं में इस प्रकार की समानता या असामनता लायी जाती है।

(१५) संस्कृत के अध्यापकों को चाहिए कि जब वे संस्कृत भाषा या व्याकरण जिसका भी अध्यापन करते हैं, वे अपने कार्य में वास्तविक रुचि एवं उल्लास

उत्पन्न करें तथा अंग्रेजी एवं अन्य भाषाओं में प्रयुक्त आधुनिक विषयों तथा शिक्षण-सामग्रियों के प्रयोग द्वारा उसे आकर्षक बनावें। आधुनिक रीति से तैयार किये गये अभ्यास, गद्य-पद्य के संवादात्मक अंशों का भावाभिव्यक्तिपूर्वक मौखिक पाठ, इन पर प्रतियोगिताएँ, मानचित्र तथा प्रदर्शन सामग्रियों को बालकों द्वारा तैयार कराया जाना इत्यादि ऐसी शिक्षण-युक्तियाँ हैं जो कि शिक्षा तथा मनोरञ्जन दोनों का ही कार्य कर सकती हैं। प्रचलित अनुवाद तथा रचना के अभ्यासों के साथ इन विधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए। पठन-पाठन की सहगामिनी क्रियाओं को कक्षाकार्य का पूरक बनाना चाहिए। यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि नाटक तथा उनके पूर्वाभ्यास से बालकों को बोलचाल की संस्कृत सीखने का, संस्कृत बोलने की क्षमता प्राप्त करने का तथा उसमें रुचि विकसित करने का एक उत्तम अवसर प्राप्त होता है।

(१६) हमारे साक्ष्यों ने विशेषतः इस तथ्य पर बल दिया कि संस्कृत-शिक्षण के क्षेत्र में आज जिन विधियों का हम प्रयोग कर रहे हैं उन्हें परिवर्तित करना ही वर्तमान संस्कृत पठन-पाठन की सर्वप्रमुख आवश्यकता है। ऐसा होने पर हम संस्कृत को उसके कठिन होने के चिरकाल से प्रचलित कलङ्क से मुक्त कर सकेंगे, साथ ही साथ उसका पठन-पाठन सरल तथा रोचक भी हो जायगा। इस सन्दर्भ में आयोग की यह सम्मति है कि पाठशालाओं में अध्यापन करने वाले पण्डित तथा अंगरेजी विद्यालयों में पढ़ाने वाले संस्कृत उपाधिधारी अध्यापक दोनों को संस्कृत-शिक्षणसम्बन्धी अध्यापनकला में प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। हमारा अनुरोध है कि इस पाठ्यक्रम को किसी एक व्यवस्थित प्रशिक्षण विद्यालय में पूरे वर्ष तक चलाया जाय। संस्कृत-शिक्षणकला के अध्ययन तथा उसके शोध का एक विशेष विषय मानते हुए यदि इस विषय पर विशेष ध्यान दिया जाय तो अनेक नये नये तथ्य प्रकाश में आयेंगे, जिनके आधार पर आधुनिक शोधप्रणाली के अनुसार प्रयोग भी प्रारम्भ किये जा सकेंगे।

(१७) शिक्षा का माध्यम क्या हो, इस विषय पर भी आयोग ने व्यापक विचार किया है। इस सन्दर्भ में सबसे अधिक साक्ष्य इस पक्ष के समर्थक थे कि संस्कृत के पठन-पाठन का माध्यम अंग्रेजी रखने की अब आवश्यकता नहीं है। सभी साक्ष्यों ने एक स्वर से यही कहा कि माध्यम के रूप में मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा का ही प्रयोग किया जाना चाहिए। इसमें दो राय नहीं है कि यदि मातृभाषा के माध्यम से संस्कृत का ज्ञान कराया जाय तो बालक उसे सरलतापूर्वक कम समय में तथा एक स्वाभाविक ढंग से सीख सकेंगे। कुछ साक्ष्यों ने यह भी सुझाव दिया कि आंशिक रूप से प्रत्यक्ष प्रणाली के साथ वार्त्तालाप प्रणाली के प्रयोग में कभी-कभी संस्कृत का भी प्रयोग किया जाय। आयोग इस सुझाव का समर्थन करता है।

(iii) कालेजों में संस्कृत-शिक्षण

(१८) आधुनिक कालेजों के संस्कृत-शिक्षण की प्रमुख विशेषता है उसकी ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक प्रक्रिया। उसकी इस प्रक्रिया का यह अर्थ नहीं है कि

इस व्यवस्था में कठिन शास्त्रों को हटा कर केवल सुगम पाठ्यक्रम का ही प्राविधान किया जाय। यद्यपि कालेज के छात्रों द्वारा एक सीमित समय में अनेक विषयों का अध्ययन किये जाने के कारण उनके पाठ्यक्रम में स्वभावतः शास्त्रीय विषयों का पर्याप्त समावेश नहीं किया जा सकता। आज-कल एक व्यापक धारणा सी बन गयी है कि संस्कृत के बी० ए० या एम्० ए० को संस्कृत भाषा तथा साहित्य का केवल एक छिछला परिचयमात्र हुआ करता है। यह धारणा पूर्णतः सत्य नहीं है। संस्कृत के अनेक ऐसे भी आधुनिक प्रणाली के विद्वान् विद्यमान हैं जिनका संस्कृत का ज्ञान किसी भी शिरोमणि, शास्त्री या आचार्य से कम नहीं है। पर इसे तो सत्य मानना ही पड़ेगा कि विश्वविद्यालय का एक मध्यम कोटि का छात्र न तो संस्कृत भाषा पर अधिकार प्राप्त कर सकता है और न तो उसके लिए यह सम्भव ही होता है कि वह शास्त्रों का भी गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर ले। वस्तुतः यह भी सन्देहास्पद है कि वह किसी भी उच्चकोटि के शास्त्रीय ग्रंथ को पढ़कर अपने आप उसे समझ भी सकता है।

(१९) इस स्थिति को लानेवाले मूलभूत कारणों के कतिपय सहयोगी कारण भी हैं। सर्वप्रथम कारण यह है कि आधुनिक कालेजों में संस्कृत का एकनिष्ठ अध्ययन नहीं किया जाता। इन संस्थाओं में अन्य विषयों के साथ ही संस्कृत का अध्ययन होता है। दूसरा कारण यह है कि अच्छे मस्तिष्क के छात्र साहित्य-कला सम्बन्धी विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होते। तीसरा कारण यह है कि माध्यमिक स्तर पर संस्कृत की जो शिक्षा प्रारम्भ में बालकों को दी जाती है वह पूर्ण तथा पर्याप्त न होकर क्षीण तथा शिथिल हुआ करती है। इस प्रकार के जीर्ण शिलाधार पर एक अच्छी मंजिल का निर्माण कदापि नहीं किया जा सकता। माध्यमिक विद्यालयों में संस्कृत-शिक्षणसम्बन्धी यदि हमारी संस्तुतियाँ स्वीकार कर ली जाती हैं तो विश्वविद्यालयों में संस्कृत का स्तर अत्यधिक समुन्नत हो जायगा।

(२०) यह भी आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों के उच्चस्तरीय पाठ्यक्रम में केवल सामान्य साहित्य का ही समावेश न किया जाय, बल्कि उसमें शास्त्रीय ग्रन्थों का भी प्राविधान किया जाय। कुछ विश्वविद्यालयों के एम्० ए० के पाठ्यक्रम में कुछ शास्त्रीय ग्रन्थ रखे गये हैं, किन्तु अधिकारियों को यह भी देखना चाहिए कि इन शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्यापन सुयोग्य अध्यापकों द्वारा किये जाने की व्यवस्था है या नहीं ? क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था से ही अभीप्सित लक्ष्य की पूर्ति की जा सकती है। अपने यात्राक्रम में आयोग ने यह देखा कि कहीं-कहीं एम्० ए० के पाठ्यक्रम में प्रौढ़ शास्त्रीय ग्रन्थों का निर्धारण तो किया गया है, किन्तु वहाँ के संस्कृत विभागों को इन ग्रन्थों के समुचित पठन-पाठन की व्यवस्था करने के लिए किसी प्रकार की सहायता का प्राविधान नहीं है।

(२१) प्रायः यह देखा जाता है कि परीक्षा में उत्तीर्णाङ्क प्राप्त करने के लिए छात्रसमुदाय अनुवादों, कुञ्जियों, संक्षिप्त पुस्तिकाओं तथा रूपान्तरित सहायक पुस्तकों पर निर्भर रहा करता है। मूल पाठ्यपुस्तकों का क्षीण तथा अपूर्ण ज्ञान होने पर भी इन कुञ्जियों की अधिकाधिक सहायता से छात्र परीक्षा में अधिक अङ्क

पा जाया करते हैं। संस्कृत का पठन-पाठन संस्कृत के माध्यम से नहीं होता, सामान्यतः अंगरेजी के माध्यम से होता है। इस प्रकार की व्यवस्था से मध्यम कोटि का विरला ही छात्र धाराप्रवाह संस्कृत-भाषण या लेखन में समर्थ होता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि पाठ्यक्रम या अध्यापन-विधि किसी में भी धाराप्रवाह संस्कृतभाषण अथवा लेखन को हम अपना लक्ष्य बनाते ही नहीं। छात्र को भाषा पर कुछ न कुछ अधिकार प्राप्त करना नितान्त आवश्यक होता है। विश्वविद्यालयों के उपाधिधारी व्यक्तियों से तो हमें कम से कम इतनी आशा रखनी ही चाहिए कि वे संस्कृत के लेखन या भाषण में समर्थ हों। शास्त्रीय प्रयोग तथा निबन्धप्रतियोगिता, वाद-विवाद-प्रतियोगिता, संस्कृत के नाटकों का अभिनय इत्यादि पठन-पाठन सहगामिनी क्रियाओं के संघटन द्वारा इस लक्ष्य की पूर्ति में सहायता प्राप्त की जा सकती है।

(२२) संस्कृत साहित्य के समालोचनात्मक मूल्याङ्कन तथा उसके अंशदान पर बल देना, आजकल के कालेजों में संस्कृत के पठन-पाठन का एक विशेष अङ्ग है। वास्तव में इस प्रकार के ऐतिहासिक तथा समालोचनात्मक अध्ययन का यह अर्थ नहीं है कि मूलग्रन्थों के वास्तविक अध्ययन को कम महत्त्व दिया जाय। कुछ भी हो, यह तो सत्य ही है कि विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली संस्कृत की शिक्षा विषयों अथवा ग्रन्थों के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा उसके विषय में विद्वानों की विचार-धाराओं की जानकारी प्राप्त कराने की ओर विशेष तथा ग्रन्थगत ज्ञान के विषय में कम ध्यान देने की ओर प्रवृत्त हुआ करती है। फलतः इस प्रकार के पठन-पाठन से छात्र द्वारा जो बाह्य ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह न तो सीधे मूलग्रन्थों से प्राप्त होता है और न तो उसे उच्चकोटि का ही कहा जा सकता है। इसके प्रतिकार का एकमात्र उपाय यही है कि साहित्य तथा दर्शन के ग्रन्थों की एक-एक पंक्ति का विस्तृत अध्ययन किया जाय। इस प्रकार का अध्ययन सभी स्तरों पर जितना अधिक सम्भव हो उतना अधिक विस्तृत किया जाना चाहिए। मूलग्रन्थों के चुने हुए अंशों के पारम्परिक शास्त्रीय-विधि से अध्यापन की योजना विश्वविद्यालयों में संस्कृत के पठन-पाठन को एक नये तत्त्व से समृद्ध बनायेगी। यह भी सम्भव है कि मूलग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन एवं चिन्तन के साथ-साथ समालोचनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन से विश्वविद्यालय का छात्र अन्ततोगत्वा अपने क्षेत्र में एक निरे पण्डित की तुलना में कहीं अधिक श्रेष्ठ विद्वान् सिद्ध हो जाय।

(२३) कई एक विश्वविद्यालयों के संस्कृत, दर्शन तथा प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभागों में शास्त्रीय पाठ्यग्रन्थों के व्यापक पठन-पाठन पर ध्यान दिया जाता है तथा इनके संस्कृत विभागों में पण्डितों की नियुक्ति भी की जाती है। ऐसी व्यवस्था मद्रास, बनारस तथा कलकत्ता के विश्वविद्यालयों में की गयी है। देश के सभी विश्वविद्यालयों में इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए। ऐसा हो जाने पर ग्रन्थों के अध्ययन का क्षेत्र अधिकाधिक व्यापक हो जायगा। इस प्रथा से इन संस्कृत विभागों में नियुक्त किये गये पण्डितों को भी एक विस्तृत दृष्टिकोण तथा समालोचनात्मक विश्लेषण के अभ्यास का लाभ प्राप्त होगा। यतः एम० ए० स्तर

पर भी विश्वविद्यालय के छात्रों को एक सीमित समय में ही अपना अध्ययन समाप्त कर देना होता है, अतः मेधावी छात्रों को एम्० ए० के अनन्तर दो या अधिक वर्षों तक किसी विशेष शास्त्र के विशेष अध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। जहाँ कहीं साध्य हो वहाँ बी० ए० तथा एम्० ए० के पाठ्यक्रम के साथ या उसके अनन्तर विशुद्ध पारम्परिक पाठशालीय पाठ्यक्रम में निर्धारित शास्त्रों के अध्ययन की सुविधा दी जानी चाहिए।

आयोग ने यह देखा कि कुछ संस्कृत महाविद्यालयों की कक्षाओं में, विशेषतः बनारस, कलकत्ता, गुजरात तथा राजस्थान में, आधुनिक विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के छात्रों को भी बैठने तथा पाठों के सुनने की अनुमति दे दी जाती है। कलकत्ता में अब विश्वविद्यालय तथा संस्कृत महाविद्यालयों के छात्रों के परस्पर सम्पर्क की व्यवस्था की जा चुकी है। अन्य केन्द्रों में भी इस आयोग का अनुसरण किया जाना चाहिए। लक्ष्य यही होना चाहिए कि हम एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करें कि चिरकाल से समानान्तर रूप से चलने वाली पारम्परिक पाठशालापद्धति तथा विश्वविद्यालय-पद्धति एक स्वाभाविक गति से धीरे-धीरे एक में मिल जायँ। इन दोनों प्रणालियों का सुविचारित तथा समुचित ढंग से सुपरिवर्तित एकीकरण एक प्रकार के सर्वथा नवीन संस्कृत पाण्डित्य को जन्म देगा, जो कि प्रौढ़ एवं गम्भीर होने के साथ-साथ समालोचनात्मक तथा रचनात्मक भी होगा।

(iv) पाठशाला तथा पारम्परिक प्रणाली

(२४) आज कल संस्कृत पाठशालाओं या टोलों में पठन-पाठन की जो पारम्परिक प्रणाली चल रही है उसे ठीक-ठीक अर्थ में प्राचीन पारम्परिक प्रणाली नहीं कहा जा सकता। प्राचीन पारम्परिक प्रणाली मुख्यतः गुरुकुल पद्धति की थी, जहाँ छात्र एक सामाजिक जीवन व्यतीत करते थे तथा जिसका केन्द्रबिन्दु आचार्य हुआ करता था। आचार्य के सान्निध्य में अनेक वर्षों तक निवास करता हुआ छात्र-वर्ग एकाग्रचित्त से अध्ययनरत रहा करता था जिससे एक विशेष प्रकार के विचार-सम्प्रदाय का निर्माण होता था। ये विचार-सम्प्रदाय (चरण या शाखा) जो वैदिक समय से चले आते थे, उन अध्ययनमण्डलों की अपनी-अपनी पृथक् विशिष्टता हुआ करती थी तथा इन मण्डलों के कारण ही वेदों के समय से ही शास्त्रों के अनुशीलन की परम्परा आज तक संरक्षित बनी हुई है। किन्तु पाण्डित्य का यह व्यापक प्रवाह अनेकानेक ऐतिहासिक कारणों से धीरे-धीरे क्षीण होता गया और विगत शताब्दी के प्रारम्भ में कुछ विख्यात केन्द्रों को छोड़कर सूखने की स्थिति में आ पड़ा है। इस प्रकार शिक्षा के अभ्यास की सामग्री के कम होने का क्रम धीरे-धीरे चलता ही रहा। हम देखते हैं कि विगत शताब्दी के प्रारम्भ में जयनारायण तर्करत्न ने अपने "सर्वदर्शनसंग्रह" की भूमिका में इस तथ्य पर शोक प्रकट किया है कि उनके समय के पण्डित केवल चार ग्रन्थों का ही अध्ययन करते हैं।

(२५) आज कल की पाठशालाएँ प्राचीन गुरुकुलों के घनिष्ठ सामाजिक जीवन से शून्य हैं तथा उनको दृढ़ता से सुसंघटित रखनेवाला बन्धन भी शिथिल है। यद्यपि

इन पाठशालाओं की छात्रसंख्या आधुनिक विद्यालयों एवं महाविद्यालयों की छात्र संख्या से कम है, तथापि इनमें से अधिकांश विद्यालयों तथा कालेजों के ढंग से ही चलायी जा रही हैं। पाठशालीय प्रणाली में भी अब पाठ्यग्रन्थों का निर्धारण, पाठ्यक्रम के निर्वाह के लिए तथा छात्रों की योग्यता निर्धारित करने के लिए परीक्षाओं को चलाना, ये क्रियाएँ सर्वत्र व्याप्त हो चुकी हैं। इससे एक प्रकार की एकरूपता का सञ्चार हुआ है तथा विद्वत्ता की उपलब्धियों का स्तर जानने के लिए औपचारिक मापदण्ड भी सुलभ हो चुका है, किन्तु पाठ्यपुस्तकों के निश्चित किए जाने से तथा विशेषतः परीक्षाप्रणाली से हानि भी हुई है। इससे पाण्डित्य में ह्रास प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। यह एक रोचक प्रसंग है कि जब परीक्षाओं का श्रीगणेश हुआ उस समय बनारस में इन परीक्षाओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। पारम्परिक शिक्षा के अन्य केन्द्रों में भी यही भावना व्याप्त थी। जो भी हो, वर्तमान परीक्षाप्रणाली के कारण पाण्डित्य में जो ह्रास हुआ है उसका हमें निराकरण करना चाहिये।

(२६) पारम्परिक रीति से पाठशालीय पद्धति द्वारा शिक्षण का अर्थ है शास्त्रों तथा उनकी टीकाओं का गहन अध्ययन। इस प्रणाली में समस्त अर्थों तथा तात्पर्यों का निचोड़ निकालते हुए प्रत्येक वाक्य की शब्दशः व्याख्या की जाती है तथा इस प्रकार शास्त्रग्रन्थों के एक-एक वाक्य का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के अध्यापन-क्रम में यद्यपि अध्ययन का विस्तार कोई विशेष प्रभावजनक न भी हो, किन्तु अध्ययन की गम्भीरता तथा पूर्णता विलक्षण हुआ करती है। एक पण्डित जो कि किसी एक शास्त्र या उससे सम्बद्ध विषय-समूह के अध्ययन में पन्द्रह या बीस वर्षों तक लगा रहता है वह यथार्थ में उस विषय का अधिकारी विद्वान् हो जाता है, उसका ज्ञान यथार्थ तथा व्यावहारिक हुआ करता है तथा उसमें किसी प्रकार की अश्लीलता, अनिश्चितता या सन्देह का स्थान नहीं होता।

(२७) यह उपलब्धि सावधानी से दृढतापूर्वक स्मृति के निरन्तर प्रशिक्षण पर आधारित होती है तथा मस्तिष्क की धारणा-शक्ति एवं ज्ञान को सञ्चित रखने की प्रक्रिया इसके आश्रय का कार्य करती है। इसे हमें बुरी दृष्टि से नहीं देखना चाहिये और न तो इससे घृणा ही करनी चाहिए, जैसा कि कुछ लोग किया करते हैं, क्योंकि विद्वत्ता स्मृति पर ही अवलम्बित रहा करती है। जो कुछ हम सीखते हैं, यदि उसे हम स्मृति में धारण न कर लें तो उसी वस्तु को हमें बार-बार दुहराना होगा। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि धारणा-शक्ति के अभाव में नींव के सदा खिसकते रहने के कारण सीखने की प्रक्रिया में कोई भी प्रगति सम्भव नहीं होगी। सीखी हुई वस्तु को सरलता से स्मरण कर लेने के कारण आगे सीखने की क्रिया निश्चय ही सुगम बनती है। स्मरणशक्ति से सीखने का क्रम अधिक शक्ति प्राप्त करता है तथा उसकी नींव सुदृढ़ होती है। स्मृति का परिमाण भारी तथा उसका क्षेत्र बृहत् हुआ करता है। अतः उस पर अत्यधिक विश्वास करना भी प्रगति में बाधक सिद्ध होता है।

इससे मस्तिष्क का लचीलापन तथा कार्यारम्भ की उसकी प्रेरक शक्ति नष्ट हो सकती है। स्मृति पर आवश्यकता से अधिक आश्रित रहने से बुद्धि अपने विश्रामस्थल पर इतना स्थिर हो जाया करती है कि उसे स्वतन्त्र विचरण से वञ्चित रह जाना पड़ता है। ऐसी दशा में बुद्धि का क्षितिज भी सकरा एवं जकड़ा हुआ (सीमित) बन जाया करता है।

(२८) हमारा सुझाव है कि पाठशालाओं में प्रचलित पठन-पाठन की आधारशिला को यदि चौड़ी बना दिया जाय तो उनकी वर्तमान पाठन-विधियों में सुधार लाया जा सकता है। अतिसंकुचित तथा असामयिक विशिष्टीकरण का परित्याग किया जा सकता है। यद्यपि मध्यमा तथा शास्त्री स्तर पर थोड़ी बहुत विशिष्टीकरण की चेष्टा की जा सकती है, किन्तु उसे भी अत्यधिक गहन नहीं होना चाहिए। छात्र जिस शास्त्र का अध्ययन करता है उसके सामान्य साहित्य तथा उससे सम्बद्ध अनेक शास्त्रों के समानान्तर सिद्धान्तों की ठोस ज्ञानप्राप्ति पर अधिकाधिक बल देना चाहिए। इस सन्दर्भ में अन्य प्रदेशों को पञ्जाब की शास्त्री तथा मद्रास की शिरोमणि परीक्षाओं के पाठ्यक्रम को अपनाना चाहिए। सामान्यतः यह देखा जाता है कि अनेक शास्त्री तथा आचार्यों को सम्पूर्ण "तत्त्वचिन्तामणि" का ज्ञान नहीं हुआ करता। उन्हें केवल अनुमान खण्ड के कुछ विशेष अंशों का ही ज्ञान हुआ करता है। न्याय तथा व्याकरण के अध्ययन में पाठशालाओं से छात्र सामान्यतः परिभाषाओं के परिष्कार पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखा करते हैं। इससे सफलता तो शीघ्र हाथ में आ जाती है, पर शास्त्र का ज्ञान नहीं हो पाता। एक उपाधिधारी स्नातक को प्रारम्भ में ही व्याकरण, साहित्य तथा वेद के ज्ञान के साथ अनेक सम्बद्ध आधारभूत शास्त्रों का उत्तम ज्ञान हो जाना चाहिए। वेदान्ती प्रायः न्याय में दुर्बल होते हैं। साधारणतः उन्हें साहित्य तथा व्याकरण का भी बोध नहीं होता। वे इसी प्रकार के अन्यान्य असंतुलित तत्त्वों से कष्ट पाते रहते हैं। इस प्रकार के असंतुलित शास्त्र-ज्ञान का प्रतीकार अवश्य हो जाना चाहिए। अच्छा तो यह होगा कि छात्र किसी एक या एक से अधिक शास्त्र का विशिष्टीकरण उच्चस्तर पर आचार्य श्रेणी में करे। नीचे के स्तर पर पाठ्यक्रम की नींव चौड़ी बनायी जाय। इससे मानसिक क्षितिज का अच्छा विस्तार हो सकेगा, व्यापक नियम-निर्माण की शक्ति पुष्ट होगी तथा परस्पर विरोधी तत्त्वों के समुपस्थित हो जाने पर ठीक विकल्प के निर्देश की क्षमता भी उनमें विकसित होगी।

(२९) हमारे शास्त्रों का इतिहास बहुत ही समृद्ध तथा लम्बा है। इसके अनुशीलन से यह प्रत्यक्ष होगा कि सभी शास्त्रों के विकास के दो समय हुआ करते हैं—प्रारम्भिक निर्माणकाल तथा विकास का उत्तर युग। प्रत्येक शास्त्र के विकास के सन्दर्भ में उनके ये प्राचीन तथा नवीन दो रूप सर्वसम्मत हैं। पर इनके वर्तनान अध्ययन की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि संस्कृत पठन-पाठन के सभी केन्द्रों में सर्वदा इन शास्त्रों के प्राचीन स्वरूप के अध्ययन पर उपयुक्त ध्यान नहीं दिया जाता। उत्तरकाल के कुछ ग्रन्थों तथा वादग्रन्थों का ही अध्ययन किया जाता है। हमें उन शोधकार्यों, हस्तलिखित ग्रन्थों के खोजकार्यों

तथा दुर्लभ प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशनों का आभारी होना चाहिए, जिनके कारण आज प्राचीन न्याय, वेदान्त एवं पूर्वमीमांसा आदि के उत्कृष्ट दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन सम्भव हो सका है। आज ऐसे भी ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके हैं जिनमें ज्ञान-सम्बन्धी विभिन्न विशेष-विशेष सम्प्रदायों की विचारधाराओं का विवेचन विद्यमान है तथा जिन कृतियों के नाम चिरकाल से पण्डितों द्वारा केवल सुने ही जाते थे। पण्डित-छात्र को शास्त्रों के क्षेत्र तथा उसके विकासक्रम को अधिक विस्तारपूर्वक समझाने के लिए यह उचित प्रतीत होता है कि यह समस्त प्राचीन साहित्य हमारे पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाय। जबकि इस प्रकार की प्राचीन तथा आदर्श कृतियाँ सुलभ हैं तब भी एक प्रकार के परम्पराप्राप्त पठन-पाठनक्रम का अनुसरण किये जाने के कारण देश के कुछ भागों में इन महत्त्वपूर्ण साहित्य-सम्प्रदायों तथा ग्रन्थों की उपेक्षा की जा रही है। जैसे—बंगाल तथा समस्त पूर्वी भारत में व्याकरण का पाणिनि-सम्प्रदाय प्रायः उपेक्षित है। देश के सभी स्थानों में, यहाँ तक कि जम्मू तथा काश्मीर के साहित्य के पाठ्यक्रम में भी ध्वन्यालोक का अध्ययन नहीं किया जाता। यह स्थिति निश्चय ही चिन्तनीय है।

(३०) हमने यह भी देखा कि भारत के अनेक प्रदेशों में वेद के विशेष अध्ययन की कोई व्यवस्था नहीं है। कुछ क्षेत्रों में पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में वैदिक साहित्य के कुछ अंशों का पठन-पाठन देखा गया है। वेदों की मौलिक महत्ता की दृष्टि से यह प्राविधान पूर्णतः अनुपयुक्त है। आयोग का विचार है कि पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में मीमांसा, व्याकरण तथा साहित्य जैसे परीक्षा के लिए निर्धारित अन्य विषयों के साथ वैदिक साहित्य को भी एक विशेष विषयसमूह के रूप में सम्मिलित किया जाना चाहिए। इस वेदखंड में भाषासहित चारों वेदों के केवल चुने हुए अंशों को ही न नियत किया जाना चाहिए, अपितु वेद के अंगोभूत वेदसाहित्य के ग्रन्थों को भी निर्धारित करना चाहिए। आयोग की संस्तुति है कि पाठशालाओं के सामान्य पाठ्य-क्रम में वेद के कुछ न कुछ अध्ययन करने का प्राविधान अनिवार्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त हमारी यह भी संस्तुति है कि पाठशालाओं के सामान्य पाठ्यक्रम में वेद के कुछ न कुछ अध्ययन करने का प्राविधान अनिवार्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त हमारी यह भी संस्तुति है कि पाठशालाओं में वेद तथा उसके अन्तर्गत आने वाले अन्य वैदिक ग्रन्थों के पठन-पाठन की व्यवस्था का भी प्राविधान किया जाना चाहिए।

(३१) आयोग ने यह भी देखा कि पारम्परिक पण्डितों में बौद्धदर्शन तथा बहुत कुछ जैन ग्रन्थों के प्रति भी पूर्ण उपेक्षा की भावना व्याप्त है। कुछ थोड़े से उदाहरणों की ही यदि चर्चा की जाय तो हमें मानना पड़ेगा कि कुमारिल की 'न्यायमञ्जरी' का ठीक-ठीक बोध करने के लिए बौद्ध तर्कशास्त्र तथा बौद्धदर्शन के ग्रन्थों का मौलिक अध्ययन आवश्यक होता है। बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों का यह अध्ययन केवल स्वतः ही बहुमूल्य नहीं सिद्ध होगा, बल्कि इस अध्ययन से आस्तिक दर्शनों की विशेषताओं तथा उनके विकासक्रम का ज्ञान प्राप्त करने में भी सहायता प्राप्त हो सकेगी।

(३२) कुछ साक्ष्यों ने हमारे समक्ष यह विचार भी अभिव्यक्त किया है कि संस्कृत की उच्च कक्षाओं में अध्ययन करने वाले छात्रों को गङ्गेश उपाध्याय तथा उनके अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित नव्यन्याय का अस्थायी ज्ञान अवश्य प्राप्त होना चाहिए। नव्यन्याय ज्ञानप्राप्ति का एक निश्चित तथा सफल उपकरण है तथा उसमें बुद्धि को तीक्ष्ण तथा तीव्र बनाने की जो क्षमता विद्यमान है, उसका निषेध नहीं किया जा सकता। यदि हम एकनिष्ठता या केवल उसे ही अपने अध्ययन का विषय बनायें, तभी उसकी औपचारिकता मानसिक ओज को कुण्ठित किया करती है। न्यायशास्त्र की महत्ता है उसका नियमबद्ध कठिन परिश्रम। इसके अतिरिक्त अनेक शास्त्रों के उत्तर विकासक्रम का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी इस शास्त्र का अनुशीलन परमावश्यक होता है। वेदान्त का तर्कगर्भित अंश व्याकरण एवं साहित्य में प्रयुक्त व्याख्या की परिष्कारपद्धति इस तथ्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

(३३) अधिकांश संस्कृत महाविद्यालयों में इस समय जिन शास्त्रों के पठन-पाठन का प्राविधान किया गया है उनका अनुसन्धान करने से यह प्रत्यक्ष होता है कि इन संस्थाओं में सामान्यतः षड्दर्शन, व्याकरण तथा साहित्य की शिक्षा दी जाती है। प्राचीन शास्त्रों के विकासक्रम के अनुशीलन-क्षेत्र में प्राचीन भारत में व्याप्त विचार-मन्थन क्रिया का भी छात्रों को यथासम्भव सम्पूर्ण चित्र प्रदर्शित करना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि उन्हें आज तक उपेक्षित शैवसम्प्रदाय, प्रत्यभिज्ञातन्त्र तथा विचार-परम्पराओं के अन्य स्वरूपों की भी शिक्षा दी जाय।

(३४) इसके वाद हमारा यह भी सुझाव है कि संस्कृत महाविद्यालयों की स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं के छात्र जिन शास्त्रों का अध्ययन कर रहे हैं उन शास्त्रों के सम्बन्ध में जो प्रशिक्षण पाश्चात्त्य देशों में चल रहे हैं, उनके विकास का भी छात्रों को ठीक-ठीक ज्ञान कराया जाय। उदाहरणार्थ दर्शन के छात्र को यूरोपीय दर्शन तथा तर्कशास्त्र का उत्तम ज्ञान होना चाहिए। पण्डित-मस्तिष्क जो शताब्दियों से पार्थक्य का अनुभव करता आ रहा है तथा निद्रावस्था से आच्छन्न-सा बना रहा है, यदि उसे सजीव विचारों तथा भावों के नूतन स्रोत, उद्बोधक विचारों के सम्पर्क में लाया जाय तो निश्चय ही उसमें प्रतिक्रिया जाग उठेगी तथा उसका विकास भी हो सकेगा। यह आशा की जाती है कि जब यह ऐतिहासिक तथा समालोचनात्मक प्रणाली पाठशालाओं में जड़ जमा लेगी तब हमारे शास्त्र एक नये ढंग से व्यवस्थापित होकर समृद्ध हो सकेंगे।

(३५) जो शिक्षण-पद्धति आज संस्कृत पाठशालाओं में प्रयुक्त हो रही है, उसमें कुछ सुधार की भी आवश्यकता अपेक्षित है। इन संस्थाओं में सामान्यतः जो विधि प्रयोग में लायी जाती है कि अध्यापक ग्रन्थों की वाक्यशः तथा शब्दशः व्याख्या करता चलता है। अध्यापन के समय यह निश्चित करने की चेष्टा नहीं की जाती है कि जिन अनुच्छेदों की इस प्रकार व्याख्या हो रही है, उसके अर्थ तथा भाव को छात्रों ने ग्रहण किया है या नहीं? जिन पाठशालाओं का हमने निरीक्षण किया वहाँ हमने कक्षाओं में अध्यापित विभिन्न विषयों पर प्रश्न पूछे। बहुधा देखा गया है कि उनके

उत्तरों से या उत्तर देने की उनकी असमर्थता से हमें घोर निराशा हुई। इस सन्दर्भ में हमारे दो सुझाव हैं। प्रचलित अध्यापन-प्रणाली में बहुधा यह होता है कि अध्यापक पाठ्यक्रम को स्वयं पढ़ता है। इसके बदले पाठ्यांश को छात्र द्वारा पढ़ाया जाय। इससे विषय पर अधिक ध्यान देने को वह बाध्य हो जायगा। दूसरे, जैसा कि हमारे एक साक्ष्य ने, जो स्वयं भी पण्डित था, सुझाव दिया था कि अध्यापक सर्वप्रथम पाठ्यांश के सारांश छात्रों को समझा दे। तदन्तर पाठ्यपुस्तक कक्षा में छात्र द्वारा पढ़ी जाय। तीसरे, यह निश्चय करने के लिए कि छात्र ने विषय को भली-भाँति समझा है या नहीं, या अध्यापक द्वारा की गई व्याख्या को ठीक-ठीक हृदयंगम किया है या नहीं ? अध्यापनक्रम से ही अध्यापक द्वारा उससे ज्ञानपरीक्षात्मक प्रश्न बार-बार पूछे जाने चाहिए। छात्रों को एक निष्क्रिय श्रोता के रूप में बनाये रखने के स्थान पर उसे पाठ का एक सक्रिय भागी बनाया जाय तथा ऐसी प्रणाली अपनाई जाय कि वह स्वतः ज्ञानानुसन्धान में प्रवृत्त हो जाय। अनेक विषयों में जहाँ प्रक्रियाओं का ज्ञान कराया जाता है, वहाँ श्यामपट, मानचित्र, रूपरेखा, विवरणसारिणी आदि दृश्य सहायक सामग्री से भी बालक को ज्ञानप्राप्ति में अत्यधिक सहायता प्राप्त होगी। शास्त्रों के पठन-पाठन को रोचक तथा प्रभावपूर्ण बनाने के लिए इन आधुनिक विधियों का पूरा पूरा प्रयोग किया जाना चाहिए।

(३६) यह आवश्यक है कि पाठशालाओं में संस्कृत माध्यम से ही अध्यापन किया जाय। आयोग ने यह देखा कि पाठशालाओं में मातृभाषा के माध्यम से ही अध्यापन होता है। इस सन्दर्भ में हमारा अनुरोध है कि पाठशालाओं में सामान्यतः संस्कृत के माध्यम से ही पठन-पाठन चलना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो छोटी कक्षाओं से ही मातृभाषा का प्रयोग किया जाय।

(३७) यह नहीं समझना चाहिए कि शिक्षा को सबल बनाने के लिए आधुनिक स्कूलों तथा कालेजों में ही पठन-पाठन-सहगामिनी क्रियायों का सफल प्रयोग किया जा सकता है। संस्कृत पाठशालाओं में भी सभाएँ, वाद-विवाद प्रतियोगिताएँ, विद्यालय-पत्रिकाओं का सञ्चालन, नाटकों का अभिनय, साहित्यिक पर्वों तथा प्रसिद्ध शास्त्रकारों तथा लेखकों की स्मृति में जयन्तियों आदि का आयोजन तथा छात्रों द्वारा उनका सम्पन्न किया जाना, उनकी ज्ञानवृद्धि तथा उनके उत्साह को सजीव तथा पुष्ट रखने में सहायक सिद्ध हो सकता है। कुछ शास्त्रों के अध्ययनक्रम में यदि छात्र उन शास्त्रों से सम्बद्ध क्रियाओं से सम्पर्क रखें तो यह भी उनके लिए बहुत उपयोगी होगा। उदाहरणार्थ मीमांसा के छात्र इस विषय से सम्बद्ध धार्मिक पूजा-पाठ, कर्मकाण्ड तथा यज्ञों में उपस्थित हो सकते हैं या इन कृत्यों के क्रियात्मक पाठों का आयोजन अपने विद्यालय में भी कर सकते हैं, ताकि उनका अर्जित ज्ञान केवल पाठ्यपुस्तकों तक ही सीमित न रह जाय। इस सन्दर्भ में हमारे एक सुप्रतिष्ठित साक्ष्य ने यह भी सुझाव दिया कि ऐसे विषयों के पठन-पाठन के लिए एक उपयुक्त श्रौत-संग्रहालय के निर्माण की भी आवश्यकता है, क्योंकि धार्मिक पूजा-पाठ के प्रति आज अधिक रुचि तथा तत्परता का तीव्रता से लोप होता जा रहा है। इसके

अतिरिक्त पूर्वमीमांसा की सामग्री तथा उसके वातावरण का ज्ञान करने के लिए उक्त प्रायोगिक पाठ तथा संग्रहालय को छोड़ अन्य कोइ मार्ग भी दृष्टि में नहीं आता। इसी प्रकार योगशास्त्र के पठनपाठनक्रम में छात्रों को प्राणायाम तथा योगासनों की प्रायोगिक शिक्षा भी परमावश्यक है। वास्तव में यदि पाठशालाओं में यौगिक व्यायामों का प्राविधान किया जाय तो यह व्यवस्था छात्रों को समुन्नत बनाने की दृष्टि से अत्यन्त हितकारी सिद्ध होगी। यही नहीं, भारतीय आध्यात्मिक जीवन के एक आधारभूत तथा नितान्त विशिष्ट स्वरूप के माध्यम से छात्र जीवन की प्रारम्भिक अवस्था को सुदृढ़ बनाने में भी यह व्यवस्था उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

(३८) शास्त्रीय-ग्रंथों की एक-एक पंक्ति की व्याख्या करते हुए अध्यापन का एक दोष यह हुआ करता है कि छात्र सम्पूर्ण विषय का कभी ज्ञान नहीं कर पाते। यहाँ तक कि शास्त्र के विशेष आलोच्य अंशों का भी उन्हें ज्ञान नहीं हो पाता। इस विधि से पढ़ाये जाने पर यह अधिक सन्देहास्पद होता है कि छात्र अपने शब्दों में या किसी दूसरे प्रकार से पठित विषय की व्याख्या करने में समर्थ होंगे या नहीं। हमें यह सन्देह है कि ऐसे विद्वान्, जो कि अपने शास्त्र के अधिकारी पण्डित हैं, शास्त्र के विभिन्न स्थलों की स्वतन्त्र व्याख्या कर सकते हैं या उन पर भाषण दे सकते हैं। इससे भी कम ऐसे पण्डित मिलेंगे जिन्होंने लेख या निबन्ध लिखने की कला अर्जित की है या उसका अभ्यास किया है। पण्डित अपनी लेखनी का प्रयोग नहीं करता। वह केवल अपनी वाणी का ही प्रयोग करता है।

(३९) हमें इस तथ्य पर ध्यान देना है कि जहाँ एक ओर शास्त्रों के गहन एवं प्रौढ़ अध्ययन की आवश्यकता है, वहाँ दूसरी ओर यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उनकी समस्त सामग्री के सामान्य अर्थ तथा अभिप्राय को भी समझा जाय। यह सत्य है कि शिरोमणि, शास्त्री तथा आचार्य इत्यादि कुछ परीक्षाओं में एक सामान्य निबन्ध का प्रश्न-पत्र निर्धारित किया गया है, जिसमें किसी शास्त्रीय विषय पर छात्र को संस्कृत में एक व्याख्यात्मक निबन्ध लिखना होता है, किन्तु जिन पाठशालाओं का हमने निरीक्षण किया वहाँ कहीं भी हमने यह नहीं देखा कि ऐसे निबन्धों को लिखने के लिए छात्रों को अभ्यस्त करने की दिशा में किसी भी निश्चित उपाय का प्रयोग किया जाता हो। अतः हमारा यह सुझाव है कि पाठशालाओं के वरिष्ठ अध्यापक तथा पण्डित इस सन्दर्भ में कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में प्रचलित प्रयोगों को अपनायें। किसी भी नवीन विषय को प्रारम्भ करने के समय या उसके अध्यापन के अन्त में उन्हें उस विषय पर व्याख्यान देना चाहिए, जिसमें उस विषय की सामान्य विशेषताएँ तथा उसकी ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक व्याख्या भी सम्मिलित की जाय। ऐसे व्याख्यानों से ग्रन्थ-सामग्री प्रकाशित हो उठेगी तथा उसके जटिल स्थलों को समझने के लिए मार्गदर्शक सूत्र भी मिल जायेंगे। इस मार्ग को यदि अपनाया जाय तो पाठशालाओं की प्रचलित अध्यापन-प्रणाली को निश्चय ही एक सर्वथा नवीन दिशा मिल सकेगी। इस विधि से अध्यापन में पण्डितों को कुछ अधिक श्रम आवश्यक हो जायगा, क्योंकि ऐसी स्थिति में उन्हें अपने

व्याख्यानों के लिए पहले से टिप्पणी तैयार करनी होगी, तथापि पाठशालाओं में यह प्रयोग करने योग्य है। अब यह प्रश्न उठता है कि उपलब्ध समय का कितना अंश ग्रन्थ के विश्लेषणात्मक अध्ययन में तथा कितना अंश साधारण व्याख्यानों के लिए रखा जाय ? यह विषय विस्तृत कार्यक्रम का है जिसका स्वरूप हम अपने अनुभव के आधार पर निर्धारित कर सकते हैं। इन व्याख्यानों के अतिरिक्त समय-समय पर मौखिक तथा लिखित परीक्षाओं की भी व्यवस्था की जानी चाहिए। समय-समय पर छात्रों को निबन्ध लेखन में भी प्रोत्साहित करना चाहिए तथा उनके इन कार्यों का संशोधन एवं मूल्याङ्कन भी किया जाना चाहिए। इस व्यवस्था की सरलता के लिए यह आवश्यक है कि विद्यालय के समयचक्र में निबन्ध लेखन के लिये घण्टा नियत किया जाय। व्यवस्था को सफल बनाने के लिए तथा उसे पूर्णता प्रदान करने के लिए यह भी आवश्यक है कि उच्च कक्षाओं में विचार-गोष्ठियों का आयोजन किया जाय तथा वाद-विवादसभाएँ संयोजित की जायँ। शास्त्रार्थ तथा वाक्यार्थ हमारी प्राचीन पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली नितान्त प्रतिष्ठित अङ्ग थे। इन्हें भी पुनरुज्जीवित तथा प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है।

(४०) सत्र के अन्त में लिखित परीक्षा ली जाती है और परीक्षाफलों के आधार पर उपाधियों का प्राविधान किया गया है। यह परीक्षा-प्रणाली व्यापकरूप से पाठशालाओं में प्रायः सर्वत्र ही अपना ली गयी है। पारम्परिक प्रणाली के लिए इस प्रकार का परिवर्तन नया ही कहा जायगा। हमारे कई साक्ष्यों ने, जिन्हें परीक्षा प्रणाली का निकटतम अनुभव था, पूर्णरूप से दृढ़तापूर्वक यह स्वीकार किया कि इन परीक्षाओं से शास्त्रीय पाण्डित्य का अत्यधिक ह्रास हुआ है। आधुनिक पाठशालाओं से निकले विद्वानों की तुलना प्राचीन पारम्परिक विद्वत्ता के प्रकाण्ड धुरन्धरों से नहीं की जा सकती। विगत चार या पाँच दशकों तक हमारे देश के अधिकांश भाग में शास्त्रों के प्रौढ़ एवं गम्भीर ज्ञान के साथ साथ शास्त्रार्थों तथा पण्डितसभाओं में पाण्डित्य-प्रकाशन की शक्ति को समुन्नत करना एक साधारण सी बात थी। इसके कुछ इने-गिने प्रतिनिधि प्राचीन परम्परा के अवशेष के रूप में यत्र-तत्र दुर्लभ नमूने के समान आज भी पाये जाते हैं।

(४१) विद्वत्ता में इस प्रकार का जो ह्रास दिखायी दे रहा है उसका मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि लिखित परीक्षा-व्यवस्था में पाठशालीय प्रणाली की प्रारम्भिक परीक्षा से लेकर उच्चतम उपाधि परीक्षा तक पाठ्यग्रन्थों के थोड़े-थोड़े अंश ही निर्धारित किये जाते हैं। परिस्थितिवश यह आवश्यक भी हो गया है। न्यूनतम तैंतीस प्रतिशत अङ्क प्राप्त करके छात्र उत्तीर्ण हो सकते हैं। परीक्षा के समय जो कुछ भी थोड़ा-सा ज्ञान वे प्राप्त करते हैं, उसे भी बाद में वे शीघ्र ही भूल जाया करते हैं। परीक्षा-प्रणाली में कई एक कमियाँ हैं। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यदि किसी छात्र ने किसी विषय में उच्चतम अंक प्राप्त किये हैं तो वह उस विषय का पूर्ण अधिकारी विद्वान् हो गया है। परीक्षा को योग्यता का विश्वसनीय मापदण्ड नहीं कहा जा सकता। हमारा अनुरोध है कि इस परीक्षा-

व्यवस्था में कम से कम पचास प्रतिशत अंक मौखिक परीक्षा के लिए निर्धारित किये जायँ। यह आवश्यक नहीं है कि इस मौखिक परीक्षा में जो प्रश्न पूछे जायँ वे निर्धारित पाठ्यग्रन्थों तक ही सीमित हों। ये मौखिक परीक्षाएँ पण्डितों के एक बड़े समुदाय की मध्यस्थता में पारम्परिक शास्त्रार्थसभा के रूप में आयोजित की जानी चाहिए। इस प्रकार इनका एक व्यापक क्षेत्र होना चाहिए। यहाँ हम यह भी अवश्य सूचित करना चाहेंगे कि पेरिस में उच्च शोध-उपाधि के लिए अभ्यर्थी को इस प्रकार की सार्वजनिक परीक्षा का सामना करना पड़ता है।

(४२) इस सन्दर्भ में हम बनारस के साङ्गवेद विद्यालय द्वारा अपनायी गयी व्यवस्था की प्रशंसा करेंगे। कुछ बातों में यह एक अद्वितीय विद्यालय है। परीक्षा-प्रणाली के दोषों का पूरा-पूरा अनुभव करते हुए यह संस्था खुली सभा में विभिन्न विषयों के विख्यात विद्वानों द्वारा सञ्चालित मौखिक परीक्षा तथा शास्त्रार्थों के आधार पर अपनी स्वतंत्र उपाधियाँ प्रदान करती है। ऐसी परीक्षा-व्यवस्था प्राचीन-परम्परा के मुख्य सिद्धान्तों के अनुकूल है तथा इस प्रणाली से विद्वानों को यह अवसर भी प्राप्त होता है कि वे अपने पाण्डित्य के सर्वोत्कृष्ट अंश को प्रकाशित कर सकें।

(४३) दक्षिण भारत में तथा उत्तर भारत के कुछ केन्द्रों में कुछ व्यक्तिगत प्राभूतों तथा कुछ समय पूर्व तक कुछ रजवाड़ों द्वारा भी पण्डितों की ऐसी सभा आयोजित की जाती थी। परिवर्तित परिस्थिति के कारण अब यह व्यवस्था या तो समाप्त हो चुकी है या तो उसे समाप्त किया जा रहा है। दक्षिण भारत के कुछ धार्मिक नेता प्रतिवर्ष अब भी इस प्रकार विद्वत्सभा का आयोजन करते हैं। इन्हें हमें और अधिक लोकप्रिय बनाना है। हमारा सुझाव है कि एतदर्थ क्षेत्रीय समितियों की स्थापना की जानी चाहिए। इन क्षेत्रीय समितियों का संघटन सरकारी तथा गैरसरकारी ढंग पर किया जाय, जिसमें संस्कृत के विद्वान् तथा संरक्षक सम्मिलित किये जाँय। ये क्षेत्रोय समितियाँ समय-समय पर विभिन्न शास्त्रों से सम्बद्ध इस प्रकार के खुले वाद-विवादों एवं शास्त्रार्थों का आयोजन करेंगी। इन आयोजनों में भाग लेने वाले विद्वानों में जो विद्वान् प्रशंसनीय माने जायँ, उन्हें पुरस्कार के रूप में धन या अन्य पारितोषिक देकर प्रोत्साहित किया जाय। इस सन्दर्भ में गैरसरकारी संघटन तथा संस्कृत के संरक्षक और अधिक कार्य कर सकते हैं। हमारा यह विश्वास है कि उच्च संस्कृत की परीक्षाओं में शास्त्रार्थ-प्रणाली के पुनरुत्थान एवं संयोजन के द्वारा शास्त्रीय पाण्डित्य को अत्यधिक शक्ति प्राप्त होगी।

—:o:—

सप्तम अध्याय

संस्कृत-शोधकार्य

प्रस्तावना

(१) तत्त्वतः शोधकार्य का अर्थ है आलोचनात्मक एवं वैज्ञानिक अन्वेषण तथा उन सभी प्रमाणों की खोज जो किसी ग्रन्थ, तथ्य, धारणा तथा विचार-सम्प्रदाय आदि के अभिप्राय, भाव, तात्पर्य एवं मत पर प्रकाश डालते हैं। यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि प्राचीन समय के प्रकाण्ड विद्वानों तथा रचनाशक्तिसम्पन्न ग्रन्थ-कारों ने अपनी आलोचनात्मक शक्ति एवं मौलिक अनुसन्धान के प्रति उत्साह के प्रयोग बिना ही अपने व्याख्यानों तथा शास्त्रविवेचनों को रचना की है तथा अपने सम्प्रदायों के निर्माण में वे समर्थ हुए हैं। अपने प्राचीनतम स्वरूप में संस्कृतवाङ्मय वैदिक मंत्रों के ऋषियों, छन्दों तथा वैदिक स्तुतियों के विषयवस्तु से सम्बद्ध अभिलेख प्रकाशित करता है। साथ ही साथ इस वैदिक साहित्य के अन्तर्गत उन विभिन्न अनुक्रमणियों का भी संकलन किया गया है, जिन्हें कि आज शोधकार्य का एक उपयोगी साधन माना जा रहा है। उत्तरकाल में भी उस समय के महान् भाष्यकारों ने विवादग्रस्त शास्त्रीय प्रश्नों के जो विवेचन प्रस्तुत किये हैं, उन समीक्षाओं तथा विवेचनों से भी इन प्रकाण्ड व्याख्याताओं की तीक्ष्ण आलोचनात्मक बुद्धि की सूक्ष्मता प्रमाणित होती है। अभिनवगुप्त, जयरथ तथा आनन्दानुभव जैसे उदाहरणों से यह जाना जा सकता है कि अपने समय में इन विद्वानों ने भी पाण्डुलिपियों की खोज की थी, उनके अनुच्छेदों का मिलान किया था। प्रक्षिप्तांशों, पाठभेदों तथा प्रक्षेपों की खोज करना या उन्हें मूल ग्रन्थ में लिखना भारतवर्ष की अपनी प्रक्रियाएँ हैं। जब से पाश्चात्य देशों के प्राच्यविद्या के विद्वानों ने इनकी चर्चा प्रारम्भ की है, उससे बहुत पूर्व हमारे देश के विद्वानों को ये ज्ञात थे।

(२) अपने मूलरूप में शोध का स्वरूपार्थ है पुनर्लब्धि या प्रत्युद्धार की प्रक्रिया। सांस्कृतिक सम्पत्ति के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग किये जाने पर यह शब्द किसी देश के इतिहास में उस समय नव जागृति से जुड़ जाया करता है, जब वह देश सृजनात्मक क्रियाओं के किसी नवीन युग में प्रवेश करता है। नवजागृति की यह तीव्रता केवल अतीत से ही प्रेरणा नहीं प्राप्त करती, बल्कि अपने देश के राजनीतिक तथा सार्वजनिक घटनाओं के नवीन उत्तेजक जीवन के वातावरण में भी वह सक्रिय रहा करती है। इस प्रकार की जीवनोत्तेजक प्रक्रिया के निरन्तर प्रवाह के कारण ही हमारे देश के विभिन्न भागों में जब कभी किसी वंश का आधिपत्य स्थापित हुआ तथा शान्ति एवं अभ्युदय का साम्राज्य सुनिश्चित हुआ, ठीक उसी समय विभिन्न केन्द्रों में कला तथा साहित्य समुन्नत हुए, जिससे कि बौद्धिक सक्रियता एवं साहित्यिक समृद्धि को नवजीवन प्राप्त करने में सहायता प्राप्त हुई।

(३) पाश्चात्त्य देशों के सम्पर्क में आने पर हमारे राष्ट्र में एक प्रकार की बौद्धिक गति जागृत हुई। पश्चिम के देशों ने सर विलियम जोन्स के माध्यम से संस्कृत का जो आविष्कार किया था, वह केवल यूरोप के लिए ही नहीं; बल्कि भारतवर्ष के लिए भी था। अपनी चेतना की जिन लहरों से भारत अपनी आत्मा, अपने आध्यात्मिक विश्रामस्थल तथा परम्पराओं की खोज में लगा हुआ था, उन लहरों में एक और लहर जोड़ देने में यूरोप का यह आविष्कार सहायक सिद्ध हुआ है। भारत में यूरोपियनों के आने के पूर्व हमारे देश में दीर्घकाल से विदेशी शासन चला आ रहा था। इस शासन के मूर्त्तिभञ्जक प्रदर्शनों ने हमारे राष्ट्र के सांस्कृतिक क्रियाकलापों की जड़ को निष्ठुरतापूर्वक हिला दिया। संकीर्ण मार्गों तथा लीकों में विचरण करता हुआ हमारा संस्कृत साहित्य उस समय एक उच्च विशेषाध्ययन के मार्ग के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों को विकसित करने में संलग्न था। औपचारिक तर्कशास्त्र तथा परिभाषाओं के परिष्कार आदि उस समय में प्रचलित साक्षात् बुद्धिवक्रता को ही प्रकाशित करते हैं। उस समय हमारे विद्वानों को मौलिक तत्त्व तथा विचारात्मक धाराएँ नहीं दिखायी देती थीं। प्राचीन मूलग्रन्थों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। नवीन पुस्तकों की मृगतृष्णा व्याप्त थी। कृत्रिमता, अतिशयोक्ति, अतिरेक तथा सत्यपथ से हट जाना उस समय के विचार एवं भावप्रकाशन के सामान्य प्रयोग बन गये थे। उच्चकोटि के मस्तिष्क तथा सृजनात्मक बुद्धिसम्पन्न विद्वान् दृढ़तापूर्वक स्थानीय भाषाओं की ओर चले जा रहे थे। संस्कृत की लहराती हुई धारा क्षीण होते-होते धीरे-धीरे बूंद-बूंद टपकने वाली धारा में परिणत हो गयी थी, या कट-कट कर प्रवाहविहीन छोटे-छोटे जलाशयों के रूप में ही शेष रह गयी थी।

(४) भारत के कुछ भागों तथा केन्द्रों को छोड़, जहाँ परम्परा की जड़ सुदृढ़ थी, क्लान्त स्थिति में चलती हुई पाठशालाओं, पण्डितों तथा अध्यापकों ने थोड़ी सी छोटी-छोटी पाठ्यपुस्तकों के पठन-पाठन तक ही अपने आप को सीमित रखा था। ठीक इसी संकटापन्न स्थिति में ब्रिटिश सम्पर्क की उत्पत्ति के रूप में तथा उसकी शासन-परिचालन की आवश्यकता के कारण कतिपय पाश्चात्त्य पण्डितों ने संस्कृत का 'आविष्कार' किया। उनके इस प्रयास से उद्‌बुद्ध होकर यूरोप एवं अमेरिका के अन्य प्राच्य-साहित्य के विद्वानों ने तथा उनके द्वारा जगाये जाने पर हमारे देश के विद्वानों ने भी संस्कृत तथा भारत के अतीत की खोज करना प्रारम्भ किया। भारत के अतीत के आविष्कार की कथा, स्मारकों की खोज करना, हस्तलेखों में गड़े हुए प्राचीन दुर्लभ ग्रंथों को प्रकाश में लाना, सिक्कों, धातु-पत्रों तथा शिलाओं पर खुदी हुई प्राचीन लिपियों को पढ़कर उनके रहस्यों का ज्ञान करना, ऐतिहासिक कालक्रम का निर्णय, तथा भारतीय इतिहास को विश्व इतिहास के ढाँचे में बैठाना, भारत के अन्तर्महाद्वीपीय सम्पर्क तथा प्रभाव का अन्वेषण—ये सभी, जो कि आज अत्यन्त परिचित जान पड़ते हैं, यदि उनका सविस्तार चित्रण किया जाय तो हमें एक उपन्यास का भान होगा। मध्यपूर्वी देशों की लिपियों तथा सभ्यताओं का प्रकाशन भी निश्चय ही एक विचारोद्‌बोधक प्रसंग है, किन्तु वह भारतीय पुरातत्त्व के उद्‌घाटन के सन्दर्भों के समान विचारोद्दीपक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वहाँ

प्राचीन स्मारकों तथा प्राचीन साहित्यिक सम्पत्ति के अवशेषों तथा जीवित परम्पराओं की राशि इतनी बृहत् नहीं है, जितनी कि वह हमारे देश में उपलब्ध है। भारत के अतीत का प्रकाशन समस्त विश्व के लिए एक ऐसी प्राचीनतम तथा समृद्ध सभ्यता के विषय में ज्ञान-प्राप्ति का साधन बन चुका है, जिससे कि एक समय लौकिक श्रेय की उपेक्षा न करते हुए भी आत्मा की गहराई नापने की चेष्टा की गयी थी। इस विशेषता ने ही भारतीय जीवन में एक अनोखे उल्लास का सञ्चार किया था। इस प्रकार की खोज तथा उपलब्धि में हमारे देश के संस्कृत के विद्वानों ने पाश्चात्त्य संस्कृत के पण्डितों से हाथ में हाथ मिलाकर कार्य किया। सच पूछा जाय तो पारम्परिक संस्कृत के विद्वानों की सहायता से ही पाश्चात्त्य संस्कृत के पण्डितों ने पाण्डुलिपियों की खोज, उन्हें पढ़े जाने का कार्य तथा संस्कृतवाङ्मय के उच्चकोटि के ग्रंथों का सम्पादन एवं उनके अनुवाद का कार्य प्रारम्भ किया। हमारे देश में तीन आधुनिक विश्वविद्यालयों (बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास) की स्थापना के अनन्तर वर्तमान स्कूलों तथा कालेजों में संस्कृत के अध्ययन का प्राविधान किया गया, साथ ही शासन ने भी पुरातत्त्व, पाण्डुलिपि-संग्रह इत्यादि में रुचि लेना प्रारम्भ किया। इन सभी के कारण भारतीय शोधकार्य भी तीव्रता से उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ है। इस सन्दर्भ का संक्षिप्त पर्यवेक्षण द्वितीय अध्याय में प्रस्तुत किया जा चुका है तथा तृतीय अध्याय में शोध की स्थिति पर भी 'वर्तमान स्थिति का सिंहावलोकन' शीर्षक के अन्तर्गत प्रसङ्गवश कुछ कहा जा चुका है। शोध के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए यहाँ इस तथ्य पर प्रकाश डालना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है कि संस्कृत के पठन-पाठन को गहन तथा प्रौढ़ बनाने से शोधकार्य का प्राणभूत सम्बन्ध किस प्रकार का है। शोध-सम्बन्धी जो विवेचन अब हम यहाँ करने जा रहे हैं, वह विशेषतः इस धारणा को दूर करने के लिए भी आवश्यक है कि शोधकार्य पूर्णतः एक पाश्चात्त्य वस्तु है तथा वह अध्ययन एवं पाण्डित्य सम्बन्धी भारतीय विचारधारा के विरुद्ध है।

(५) उपर्युक्त अन्तिम धारणा पण्डितों तथा अन्य लोगों की भी है। आधुनिक शिक्षा-दीक्षित व्यक्तियों में से भी कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो कि अत्यधिक कट्टरपंथी भावना से प्रेरित होकर शोधकार्य को एक अनावश्यक व्यसन तथा विच्छेदात्मक तत्त्व के रूप में देखा करते हैं। यद्यपि शोध के लाभों का आदर किया जाता है तथा ग्रन्थों के उत्कृष्ट संस्करणों से होने वाले हितों का स्वागत भी किया जाता है और उनका प्रयोग भी प्रचलित है, तथापि शोध के प्रति उपहास की भावना भी व्याप्त है—मानो शोधकार्य में संलग्न व्यक्ति विद्वानों की कोटि में आते ही नहीं। यहाँ यह बता देना हम आवश्यक समझते हैं कि यह सम्पूर्ण भावना, जो कि पण्डितों तथा शोधविद्वानों के बीच कलह एवं विवाद के लिए उत्तरदायी है, आज की स्थिति में संस्कृत के पठन-पाठन के सम्यक् पोषण और संवर्धन के लिए अत्यन्त हानिकारक है। वास्तव में वर्तमान शोधप्रणाली तथा पारम्परिक शिक्षाप्रणाली के उत्कृष्टतम स्वरूपों को हमें समान भाव से देखना चाहिए। जिस प्रकार ग्रन्थ के सम्पूर्ण ज्ञान के बिना किसी प्रकार का साहित्यिक शोधकार्य सम्भव नहीं है, ठीक उसी प्रकार ग्रन्थ की पृष्ठभूमि के समालोचनात्मक बोध के बिना, उसमें जिन विचारों का खण्डन

एवं समर्थन किया गया हो उनके ज्ञान के बिना एवं विशेषरूप से उस ग्रन्थ का अपने संप्रदाय के लिए तथा साधारण रूप से भारतीय विचारधारा के लिए क्या योगदान है, इसके आलोचनात्मक चिन्तन के बिना किसी भी ग्रन्थ का पूरा-पूरा ज्ञान सम्भव नहीं हुआ करता। शोधकार्य के प्रसंग में जब हम किसी भी प्रत्यक्ष विचारधारा के उद्गम की खोज करते हैं, या उससे सम्बद्ध किसी मूलग्रन्थ का अध्ययन करते हैं, या किसी ग्रन्थकार का खण्डन अथवा समर्थन की दृष्टि से उसका अध्ययन करते हैं, या उस लेखक की वास्तविकता का निर्धारण करने को तत्पर होते हैं, या उसको विचार-धारा को समझने की चेष्टा करते हैं तो क्या हमारी ये समस्त क्रियाएँ किसी ग्रन्थ-विशेष पर अधिकार प्राप्त करने के अन्तर्गत नहीं आतीं ? यदि किसी भी ग्रन्ध के पाठ को शुद्ध करके तथा उसके पाठभेदों को दूर करके हम उस ग्रन्थ को अपने ठीक-ठीक यथार्थ रूप में सर्वप्रथम प्रतिष्ठापित करते हैं, तो हम अपनी इस समस्त क्रिया को उस ग्रन्थ की अध्ययन-सामग्री के अध्ययन का एक अभिन्न अंश क्यों नहीं मान सकते ? स्पष्ट है कि किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन तथा उससे सम्बद्ध शोधकार्य दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। ये दोनों एक ही ज्ञान के दो स्वरूप हैं। इनमें से एक उसका आधारभूत स्वरूप है, जो कि संरक्षणात्मक तथा स्थिर है। दूसरा स्वरूप विश्लेषणात्मक तथा गतिशील हुआ करता है, जो कि सर्जनात्मक है। प्रथम प्रकाश है तो दूसरा विमर्श। ज्ञान के दृढीकरण तथा उसके विकास के लिए दोनों ही आवश्यक होते हैं।

(६) यह भी आलोचना होती है कि अपने निम्न स्तर पर शोधकार्य समय निर्धारण के नीरस विचार-विमर्शों में अथवा व्यक्तियों एवं ग्रन्थों की प्रामाणिकता की छान-बीन करने में या अनुक्रमणिकाओं के निर्माण आदि अन्य यन्त्रवत् क्रियाओं में उतर आता है। इस सन्दर्भ में हमें ध्यान देना है कि प्रत्येक व्यवस्था के अपने विशेष नियम होते हैं तथा अपनी-अपनी विशेष पद्धतियाँ भी हुआ करती हैं। साथ ही साथ किसी भी व्यवस्था के अन्तर्गत जो भी कार्य किया जाता है उसे अपने प्रत्येक स्तर पर पूर्ण तथा सुदृढ़ भी होना चाहिए। ऐसे कार्य का मूल्यांकन उसकी श्रेष्ठता के आधार पर किया जाना चाहिए तथा जिस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह कार्य किया जा रहा है, उसमें वह कहाँ तक सफलता प्राप्त कर रहा है, इस पर भी दृष्टि रखनी चाहिए। यदि हम इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं तो आलोचकों से हम यह प्रश्न भी पूछ सकते हैं कि क्या ये अनुक्रमणिकाएँ आदि व्यर्थ हैं ? जिन लोगों ने ग्रन्थों पर अधिकार प्राप्त कर लिया है, क्या उन्हें इन अनुक्रमणिकाओं की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी ? सम्भव है कि जिन ग्रन्थों के वे अधिकारी विद्वान् हैं, उनके सम्बन्ध में उन्हें इन अनुक्रमणिकाओं की आवश्यकता न हो; किन्तु हो सकता है कि वे अन्य ग्रन्थों का भी अध्ययन करें। यदि ग्रन्थों के पारम्परिक अध्ययन में ह्रास की कोई नैसर्गिक प्रवृत्ति नहीं होती तो यह भी कहा जा सकता है कि शोधकार्य में भी इस प्रकार की कोई प्रवृत्ति कार्य नहीं करती।

(७) प्रत्येक देश किसी अन्य देश की संस्कृति का अध्ययन अपनी मानसिक पृष्ठ-भूमि तथा बौद्धिक परम्परा के अनुसार ही करता है। इस क्षेत्र में भी भारतीय विद्वान्

वही बात कहेंगे जो कि ब्रिटिश तथा यूरोपीय विद्वान् कहा करते थे। भारतीयों के लिए उनके शोध का विषय एक ऐसी जीवित संस्कृति का अंश होता है, इस प्रकार की भारतीय दृष्टि से भी भारत के ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन तथा हमारा शोधकार्य राष्ट्रिय पाण्डित्य जीवन के सर्जनात्मक अंश के रूप में कार्य कर सकता है। सौभाग्य-वश स्वयं पश्चिम के देशों में भी भारतीय विचार-धाराओं को समझने की प्रवृत्ति में स्पष्ट परिवर्तन दिखायी पड़ रहे हैं। जैसे कि प्रोफेसर रेनो ने हाल ही में अपने भारतीय अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहा है—"भारतीय ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों के लिए यह आवश्यक है कि वे अरस्तू के उन विचारों का परित्याग कर दें जो कि उनके स्वभाव में ऐसे घुल-मिल गये हैं कि उन्हें यह विश्वास करना कठिन हो गया है कि वे सभी देशों तथा सभी राष्ट्रों के लिए फलप्रद नहीं हैं। भूमध्यसागरीय संसार की परम्परा से प्राप्त यूरोपीय साहित्य एवं कलाशास्त्र के कुछ अंशों को उन्हें दृढतापूर्वक भूल जाना चाहिए, जिन्हें कि एक मिथ्या अभिमान से वे समस्त विश्व के लिए सार्थक समझते हैं"।

(८) उपर्युक्त विवेचन से पर्याप्त स्पष्ट है कि संस्कृत का यह नवीन रचनात्मक अध्ययन शोध की भावना से बँधा हुआ है। इस अध्ययन में पारम्परिक तथा आधुनिक दोनों ही कोटि के विद्वानों को अपना-अपना योगदान करना चाहिए। इस आयोग की यह अभिलाषा है कि पारम्परिक पण्डितों को कुछ विशेष ग्रन्थों के अध्ययनमात्र से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। पारम्परिक पण्डितों की कुशाग्रवुद्धि आधुनिक समालोचनात्मक तथा तुलनात्मक प्रणाली को आत्मसात् करने में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं करेगी। उन्हें इससे भी अधिक गतिशील होकर शोधकार्य में अपना मौलिक योगदान करना चाहिए। हम देखते हैं कि प्रथम पीढ़ी के यूरोपीय विद्वान् के समीप सदैव कोई न कोई पण्डित उपस्थित रहा करता था। प्रारम्भ के अनेक भारतीय शोध-विद्वान् पारम्परिक पण्डित ही थे। आज भी उत्तर भारत में गङ्गानाथ झा तथा दक्षिण में प्रो० कुप्पू स्वामी जैसे विद्वान् विद्यमान हैं, जिनमें पारम्परिक तथा आधुनिक पाण्डित्य एकत्रीभूत है।

(९) पारम्परिक पद्धति से प्रशिक्षित विद्वानों के लिए कुछ विश्वविद्यालयों में शोध का प्राविधान किया जा चुका है। मद्रास में पण्डितों को शोध उपाधियों के लिए कार्य करने की सुविधा दी गयी है और इस कार्य के लिए विश्वविद्यालय तथा शासन दोनों ही उन्हें छात्रवृत्ति देते हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में वाचस्पति तथा चक्रवर्ती नाम की आचार्योत्तर उपाधियों की व्यवस्था की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त मद्रास तथा अन्य विश्वविद्यालयों में भी ऐसे विशेष शोध-विभाग कार्य कर रहे हैं। इन शोध-विभागों में पारम्परिक पण्डितों की नियुक्ति की गयी है। देश के अनेक शोध-संस्थानों में भी शोध-कर्मचारी के रूप में पारम्परिक पण्डित नियुक्त किए गये हैं। दक्षिण कालेज (डेक्कन कालेज), शोध-संस्थान की नवीन संस्कृत-शब्दकोश की योजना में तथा अन्यत्र भी इस प्रकार की योजना में बड़ी संख्या में पण्डितों का चुनाव किया गया

है। सभी व्यवस्थाओं से पारम्परिक विद्वानों को आधुनिक शोध-पद्धति का पर्याप्त परिचय प्राप्त हो जाना चाहिए। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने भी सम्बद्ध महाविद्यालयों को शोधकार्य में मान्यता दिये जाने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। यह सुविधा विश्वविद्यालयों की परीक्षा के लिए सम्बद्ध प्राच्य महाविद्यालयों तक बढ़ा दी जानी चाहिए, ताकि संस्कृत महाविद्यालयों के अध्यापक तथा उनके मेधावी छात्र दोनों मिलकर अपनी संस्था को एक समुन्नत केन्द्र का रूप दे सकें। इसके अतिरिक्त पण्डितों द्वारा भी समुन्नत शोधकार्य के लिए केन्द्र स्थल बनाने के उद्देश्य से तथा इस कार्य में उन्हें सुविधा प्रदान करने के लक्ष्य से ही हम संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की संस्तुति करते हैं। एक संस्कृत पत्रिका की भी व्यवस्था की जानी चाहिए, जिसमें पण्डितों के अपने लेखों के अतिरिक्त जो कुछ वे शोधकार्य कर रहे हों उसका अंगरेजी एवं अन्य भाषाओं में प्रकाशन किया जा सके। इस सन्दर्भ में हमारे सामने एक और सुझाव रखा गया। उसकी भी हम यहाँ चर्चा करना चाहते हैं। वह यह है कि यतः संस्कृत विषयों में कार्य करने वाले समस्त विद्वान् संस्कृत समझते हैं, समस्त शोधककार्य तथा ग्रन्थ-सम्पादन की समालोचनात्मक सामग्री, भूमिका आदि संस्कृत में लिखी जानी चाहिए, अथवा कम से कम सम्बद्ध संस्कृत-सारांशों को तो इन ग्रन्थों में अवश्य ही सम्मिलित करना चाहिए ताकि पण्डित भी उस सूचना से लाभान्वित हो सकें।

(१०) यहाँ हम इस बात की विशेष चर्चा करना चाहेंगे कि कुछ-कुछ पारम्परिक संस्कृत पाठशालाओं (जैसे मद्रास संस्कृत कालेज) की स्थापना के अवसर पर उनके संस्थापकों की दृष्टि में पण्डितों को आधुनिक ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन एवं मूल्यांकन से परिचित कराने का लक्ष्य विद्यमान था। ऐसी संस्थाओं के प्रारम्भिक काल में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्याख्यानों की भी व्यवस्था की गयी थी, जबकि पश्चिम बंगाल सरकार ने टोल (पारम्परिक शिक्षा विद्यालय) प्रणाली के पुनःसंगठन के प्रश्न पर विचार प्रारम्भ किया, उस समय उन्होंने राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में एक बड़े स्नातकोत्तर शोध-विभाग को स्थापित करने का भी प्राविधान किया। इस विभाग के माध्यम से ही पण्डित तथा प्रोफेसर एक साथ कार्य करने में समर्थ बनाये गये। इस व्यवस्था से पारम्परिक पण्डितों को समालोचनात्मक शोधकार्य तथा उसके प्रकाशन का सुअवसर प्राप्त हुआ है। वास्तव में शोधकार्य के कतिपय ऐसे भी स्वरूप, जिनका कि शास्त्रों तथा शास्त्र के ग्रन्थों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस क्षेत्र में पारम्परिक पण्डित ही उत्कृष्ट कार्य कर सकते हैं तथा शोध-कार्य में लगे हुए अन्य आधुनिक विद्वानों के कार्य में पायी जाने वाली कमी की पूर्ति भी कर सकते हैं। समालोचनात्मक प्रणाली से अत्यन्त गूढ़ संस्कृत-ग्रन्थों का प्रकाशन तथा पाण्डुलिपियों का व्यापक रूप से मिलान करना इस सन्दर्भ का सर्वप्रथम कार्य है। दूसरा कार्य है शास्त्रीय व्याख्याओं तथा भाष्यों की विवेचन-पद्धति तथा पारिभाषिक शब्दावली के सरल भाष्यों को तैयार करना। आज के युग में इसकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। शास्त्रों की पारिभाषिक शब्दावली की अनुक्रमणिका तैयार करना और उन पर टीकाओं का लिखा जाना भी एक अत्यन्त उपयोगी कार्य है। यह

कार्य उन लोगों के लिए एक वरदान सिद्ध होगा जो शास्त्रीय ग्रन्थों को अपने आप पढ़ना चाहते हैं।

(११) इस सन्दर्भ में मैंने यह अनुभव किया है कि अनुमानतः अधिकांश पारम्परिक पण्डित वैज्ञानिक पद्धति के कठोर परिश्रम को सरलता से स्वीकार नहीं करते। उनके इस प्रकार के व्यवहार से शोध का स्तर क्षीण होकर वास्तविकता से शून्य बन जाया करता है। यदि इन पारम्परिक विद्वानों को शोध के कठोर मार्ग पर अग्रसर करने का आग्रह भी किया जाय तो झूठे वैज्ञानिक कार्यकर्त्ता तथा विद्वानों का समूह उत्पन्न हो जाया करता है। शोध-प्रणाली का केवल नाममात्र का प्रयोग तथा स्वभावतः अवैज्ञानिक एवं निराधार धारणाओं को प्रश्रय देने के लिए शोध-साधनों का प्रयोग वास्तविक शोध का दुरुपयोग करना या उसे धोखा देना ही कहा जायेगा। जबकि हम यह प्रेरणा देते हैं कि भारतीय पद्धति से भारतीय ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन अपने पाश्चात्त्य प्रतिरूप का अन्धभक्त न बने, तो यह आवश्यक है कि हमारा शोधकार्य समालोचनात्मक बुद्धि-सूक्ष्मता से प्रतिष्ठित हो। शोधकर्त्ता को सम्यक्त्व या उपयुक्तता की चिन्ता हो। वह धैर्य तथा श्रम से विभूषित हो। जिन पूर्व निश्चित सिद्धान्तों पर अन्य सिद्धान्तों की कल्पना करनी है, उनका भली-भाँति परीक्षण किया जाय। परीक्षण के बिना ही किसी तत्त्व को सुनिश्चित समझ लेने की पूर्वानुमान की प्रवृत्ति का परित्याग किया जाय तथा जो भी निर्णय किये जायँ वे गम्भीर, स्थिर, बुद्धिमत्तापूर्ण, आकर्षक तथा न्यायसंगति से भरपूर हों। शोधकार्य के इन प्रमुख तत्त्वों को पारम्परिक आत्मतोष, उग्र राष्ट्रियतावाद तथा भावनात्मक उल्लासपूर्ण चेष्टाएँ यदि मलिन कर देती हैं तथा बहुधा पाये जानेवाले अत्यधिक दार्शनिक विस्तार तथा धारा-प्रवाह अव्यावहारिक सामान्य नियमों की कल्पना में व्यस्त रहने की प्रक्रिया को हम प्रचलित रखते हैं तो हमारा यह समस्त कार्यव्यापार वास्तविक शोध-कार्य के लक्ष्यों का प्रत्याख्यान अथवा निषेध ही कहा जायगा।

विश्वविद्यालय

(१२) आज की स्थिति में केवल विश्वविद्यालय ही ऐसी संस्थाएँ हैं, जिनकी ओर अच्छे मस्तिष्क के छात्र आकृष्ट होते हैं। इसलिए संस्कृत तथा भारतीय दर्शन जैसे विषयों के प्रौढ़ अध्ययन के लिए इन संस्थाओं में पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए। इस समय विश्वविद्यालयों में शोध-व्यवस्था के दो स्वरूप हैं—एक का संस्कृत विभाग अध्यापन तथा शोध दोनों कार्य करता है तथा दूसरे के संस्कृत विभाग में मुख्यतः शोधकार्य ही होता है, अध्यापन की मात्रा थोड़ी हुआ करती है। इन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं में संस्कृत के अध्यापक का पद हुआ करता है, किन्तु कुछ विश्वविद्यालयों में पूर्णतः समुन्नत विभाग का प्राविधान आज तक नहीं हो पाया है। अध्यापन तथा शोध का साथ-साथ चलना वाञ्छनीय होता है, इसलिए इन संस्कृत के शोधविभागों में अध्यापन को तो स्थान देना ही होगा, किन्तु यह अध्यापन केवल स्नातकोत्तर कक्षा का ही हो, जिससे कि शोध-कार्य के लिए अधिकाधिक समय मिल

सके। यदि अध्यापन की मात्रा अधिक होगी तो शोधकार्य के लिए आवश्यक समय सुलभ होना सम्भव नहीं होगा। ऐसी स्थिति में हमारी संस्तुति है कि सभी विश्वविद्यालयों की बी० ए० तथा एम्० ए० की कक्षाओं में संस्कृत के पठन-पाठन का प्राविधान अवश्य किया जाना चाहिए तथा सभी विश्वविद्यालयों में संस्कृत के प्राध्यापक का भी पद होना चाहिए, जिसके संरक्षण में छात्र अपना शोधकार्य सम्पन्न कर सकें। इस व्यवस्था में अन्य अध्यापक भी अपना शोधकार्य कर सकते हैं।

आवश्यकताएँ तथा सुविधाएँ

(१३) शोधकार्य को पूर्णतः समुन्नत करने के लिए एकमात्र केवल यही पर्याप्त नहीं होगा कि प्रत्येक विश्वविद्यालय में संस्कृत के विभाग खोले जाँय तथा संस्कृत के प्राध्यापक नियुक्त किये जायँ। एतदर्थ कुछ और भी व्यवस्थाएँ अपेक्षित हैं। जिन लोगों पर इन विभागों के सञ्चालन का भार है, उन्हें भी लब्धप्रतिष्ठ शोध-विद्वान् होना चाहिए, शोध-प्रणाली में निष्णात होना चाहिए तथा अपनी प्रणाली में नव-युवकों को प्रशिक्षित करने के लिए उन्हें समर्थ तथा उत्साहपूर्ण भी होना आवश्यक है। शोधकार्य की पात्रता अथवा शोधकार्य की यथार्थ मानसिक शक्ति के गुण सभी लोगों में नहीं पाये जाते। केवल शोध-सञ्चालक में ही इन गुणों का होना अपेक्षित नहीं है, इन गुणों से युक्त छात्रों को खोज निकालने में भी उसे पटु होना चाहिए। यदि स्वयं सञ्चालक में ही शोध की आन्तरिक प्रेरणा की कमी है तो उसका सञ्चालन-कार्य नाममात्र का तथा रुचिविहीन बना रहेगा।

(१४) शोध का अर्थ है वर्तमान ज्ञान की शुद्धि। किसी ऐसे तत्त्व को खोज निकालना जो कि आज तक अज्ञात रहा हो। शोध अज्ञात का ज्ञापक होता है, इस आदर्श को ध्यान में रखकर ही हमें शोध के विषयों को चुनना चाहिए। नीचे हमने कई एक ऐसे विषयों की चर्चा की है जो कि आज के पठन-पाठन में उपेक्षित-से हैं। इसी प्रकार प्रख्यात क्षेत्रों में भी उनके ऐसे अनेक पहलू विद्यमान हैं, जिनमें ज्ञान के सम्बर्धन की आवश्यकता है। केवल इसी प्रकार का शोधकार्य किया जाना चाहिए, जिसके पूर्ण होने पर यह जान पड़े कि उस शोधकार्य के द्वारा किसी ज्ञान की विशेष शाखा को कोई निश्चित सहायता मिली है। इसके लिए सर्वप्रथम विषय पर या उससे सम्बद्ध अन्य प्रश्नों पर जो भी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं या जो कुछ भी कार्य हो चुका है उसकी पूरी सूची तैयार करना आवश्यक होता है। इस विभाग का पुस्तकालय भी शोधकार्य के लिए भली-भाँति होना चाहिए तथा वहाँ प्रायः सभी शोध-पत्रिकाओं को प्राप्त करने की भी व्यवस्था होनी चाहिए। ज्ञान के क्षेत्र में जो-जो विकास समय-समय पर होते रहते हैं, उनसे परिचय प्राप्त करने के लिए केवल ये पत्रिकाएँ ही एक मात्र साधन होती हैं। ऐसा हो नहीं सकता कि कोई भी शोध-विद्वान् इनके सम्पर्क के बिना अपना काम चला सके। पुस्तकालय में अनुक्रमणिकाओं, सूचियों तथा विभिन्न शास्त्रों की शाखाओं के इतिहास आदि सूचनात्मक महत्त्व ग्रन्थों के अनेक प्रकाशनों के संग्रह होने चाहिए। ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में जो नये नये कार्य हो रहे हैं उनके नवीनतम शोध-प्रकाशनों को प्राप्त करने की भी व्यवस्था

की जानी चाहिए तथा इस कार्य के लिए अपेक्षित धन का भी प्राविधान होना चाहिए। इस सन्दर्भ में हमारे पुस्तकालयों के पुस्तकसंग्रह अपने को आधुनिकतम बनाने में सफल नहीं हो रहे हैं। जहाँ कहीं पास-पड़ोस में कोई पाण्डुलिपि-पुस्तकालय विद्यमान है, वहाँ विश्वविद्यालयों तथा भाषा-विभागों में पाण्डुलिपि-संग्रहों की व्यवस्था आवश्यक नहीं है, जैसा कि पाण्डुलिपियों के अध्याय में कहा गया है कि अच्छा होता कि भारतवर्ष के सभी विश्वविद्यालयों के पुस्तकालय फोटो खींचने वाले यन्त्रों तथा पढ़ने के यन्त्रों से सुसज्जित किये जाते, क्योंकि अब अधिकांश विदेशी पुस्तकालय अपनी सामग्री फिल्मों पर ही भेजा करते हैं तथा चाहते हैं कि भारतीय संग्रह भी उन्हें अपनी सामग्री फिल्मों पर ही भेजा करें।

(१५) विचारों को एक नियमित ढंग से क्रमबद्ध करना शोध का एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है। यह उचित नहीं प्रतीत होता कि किसी प्रकार के सम्मिश्रण द्वारा इसकी शक्ति क्षीण कर दी जाय। इस मार्ग पर निरन्तर कार्य करने से स्वभावतः गम्भीर तथा मर्यादित निर्णय लेने की क्षमता स्वतः विकसित हो जाया करती है। गम्भीर निर्णय तथा यथोचित मात्रा का ज्ञान ये दोनों ही महान् गुण हैं। इन्हें यदि हम विद्वानों के लिए वरदान मान लें तो कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं होगी। शोध-कार्य में यद्यपि अत्यधिक सावधानी अनुचित न भी हो, किन्तु किसी बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहना तथा निराधार कल्पनाओं एवं अप्रमाणित तत्त्वों को उसमें स्थान देना निश्चय ही शोध के महत्त्व को कम कर देते हैं। स्वमताभिमानी कट्टर तर्क, तीव्रता से सामान्य नियमों की कल्पना तथा विवेकशून्य निष्कर्ष—इन सभी का परित्याग किया जाना चाहिए। शोध एक प्रकार की नियमबद्ध अनुशासित क्रिया है, जिसके पाण्डित्य-सम्बन्धी मूल्य, ख्याति तथा उससे प्राप्त उपाधि की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हुआ करते हैं। शोधकार्य में श्रम प्रशंसनीय होता है तथा अधिकाधिक कार्यसम्पादन भी अभिमत है, किन्तु मात्रा तथा मूल्य के बीच मूल्य को ही सदा आदर्श बनाना चाहिए।

(१६) इन सभी बातों पर हमें यहाँ बल देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है, क्योंकि हम देख रहे हैं कि आज के शोधविद्वान् से जिस उच्चस्तर के कार्य या कार्य-प्रणाली की आशा की जाती थी; उसके मूल्य को न तो दुर्भाग्यवश पूर्णतः समझा जा रहा है और न ही दृढतापूर्वक उसका पालन ही किया जा रहा है। जो अधिकारी सेवाओं में विभिन्न नियुक्तियाँ भी किया करते हैं उनका झुकाव शोधकार्य सम्बन्धी अभिलेखों को अधिक महत्त्व देने की ओर हुआ करता है। इसके अतिरिक्त लेखक तथा शोध-विद्वान् बन जाने से लोगों की सामान्य ख्याति भी बढ़ जाया करती है। इन सभी कारणों से नवयुवक छात्रों में छोटे-छोटे कई एक लेख लिखने की या प्रायः एक ही टिप्पणी लिख देने की अथवा यदा-कदा पाण्डुलिपियों में से कुछ उद्धरणों को केवल एकत्रित कर देने की, अथवा यत्र तत्र उदधृत ग्रन्थकारों एवं ग्रन्थों की सूची बना देने की एक प्रवृत्ति सी चल पड़ी है। अपने इस व्यवहार से वे अपने आपको एक शोधकार्यकर्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा किया करते हैं। दूसरों के ग्रन्थों

एवं विचारों की चोरी भी प्रचलित है, जो कि एक घातक पापकर्म है। निश्चय रूप से इसे समूल नष्ट कर देना चाहिए। शोध-निबन्ध तथा विस्तृत आलोचनाओं एवं समालोचनाओं का कड़ाई से मूल्याङ्कन करना शोधकार्य का स्तर ऊँचा उठाने में सहायक सिद्ध हुआ करता है। कुछ शोध-पत्रिकाएँ भी ऐसी हैं जो कि दुर्भाग्यवश लेखों के प्रकाशन तथा प्रकाशनार्थ उन्हें स्वीकार कर लेने में पर्याप्त जागरूक नहीं हैं। यदि वे कड़ी पड़ जाँय तो शोधकार्य का स्तर ऊँचा उठाने की दिशा में निश्चय ही लाभ दिखाई देगा। जहाँ कहीं सर्वसाधनसम्पन्न शोध-विभाग कार्य कर रहे हैं वहाँ शोधात्मक लेखों के लिखे जाने पर बल देना चाहिए। नये-नये तत्त्वों को एकत्रित कराया जाना चाहिये। जो पुस्तक तैयार की जाती हो, उस पर नियमित रूप से वार्ता तथा विचार-विमर्श की व्यवस्था की जानी चाहिये। शोधकार्य का स्तर ऊँचा करने के लिये इन सभी विधियों का प्रयोग लाभप्रद सिद्ध होगा।

शोध-छात्रवृत्तियाँ तथा शोध-सदस्यता

(१७) अधिकांश विश्वविद्यालयों में अधिक भविष्णु स्नातकों के लिए शोध-छात्रवृत्तियों का प्राविधान किया गया है। इन छात्रवृत्तियों की सहायता से कुछ वर्षों तक छात्र समुन्नत शोधकार्य करते हैं तथा उन्हें स्नातकोत्तर उपाधि भी प्रदान की जाती है। स्थान-स्थान पर इन छात्रवृत्तियों की अवधि, धनराशि तथा संख्या भिन्न-भिन्न है। केन्द्रीय शासन के द्वारा भी अखिल भारतीय स्तर पर चुने गये छात्रों को साहित्य तथा कला सम्बन्धी विषयों में शोधकार्य के लिए कुछ छात्रवृत्तियों का प्राविधान किया गया है। ऐसे छात्रों को विभिन्न विश्वविद्यालयों में तथा उनके अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों के शोध-संस्थानों या विभागों में शोधकार्य करने की स्वीकृति दी जाती है। इस वर्ष से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के द्वारा भी इस प्रकार की शोध-छात्रवृत्तियाँ दी जा रही हैं। इस सन्दर्भ में हम यह कहना चाहते हैं कि प्रत्येक विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग में छात्रों को प्रतिवर्ष छात्रवृत्तियाँ प्राप्त होनी चाहिएँ। इस समय प्रत्येक विश्वविद्यालय में केवल पचास-साठ रुपये की मासिक छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं। यह संख्या बहुत ही कम है। हम यह भी देखते हैं कि विश्वविद्यालयों में दी जानेवाली शोध-छात्रवृत्तियों में तथा मानवशास्त्रों के लिए प्रदत्त राजकीय छात्रवृत्तियों में अत्यधिक अन्तर हुआ करता है। इस विषमता का भी विश्वविद्यालय में एक साथ कार्य करने वाले नवयुवकों पर प्रायः विपरीत प्रभाव पड़ा करता है। कुछ विश्वविद्यालयों में जहाँ कि संस्कृत-सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण कार्य चल रहा है, वहाँ पर मानवीयशास्त्र-छात्रवृत्ति योजना के प्रारम्भ काल से ही यह राजकीय छात्रवृत्ति नहीं दी गई है। इस योजना में चुनाव सम्बन्धी जो पद्धति प्रयोग में लायी जा रही है, उसमें अभी अधिक सुधार अपेक्षित है।

(१८) राजकीय मानवीयशास्त्र-छात्रवृत्तियाँ तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की नवीन छात्रवृत्तियाँ केवल नये स्नातकों को ही दी जाती हैं। वास्तव में उन लोगों के लिए इन शोध-छात्रवृत्तियों की आवश्यकता अधिक है, जो कि कुछ न

कुछ शोधकार्य कर चुके हैं या प्रथम शोध-उपाधि के लिए अपना शोधप्रबन्ध लिख चुके हैं तथा शोध के प्रति अपनी अभिरुचि बनाये रखने के लिये उन्हें साधन उपलब्ध नहीं हैं। उपाधिस्तर पर छात्र को किसी ठोस कार्य के लिए पर्याप्त पृष्ठभूमि सुलभ नहीं हो पाती। अधिकतर वह उन ग्रन्थों पर ही अधिकार प्राप्त करता है, जो कि उसके पाठ्यक्रम में निर्धारित हुआ करते हैं। अपने स्नातकोत्तर अध्ययन के प्रथम दो या तीन वर्षों में उसे शोधकार्य की प्रथम दीक्षा दी जाती है तथा उसकी प्रथम स्नातकोत्तर शोध-उपाधि इस तथ्य की द्योतक है कि वह समुन्नत शोधकार्य की योग्यता प्रायः प्राप्त कर चुका है। यदि उसे इस स्तर पर आगे भी उच्चतर शोधकार्य को निरन्तर प्रचलित रखने के लिए सुविधाएँ नहीं सुलभ होती हैं तो उदासीनतावश वह अपने कार्य में दत्तचित्त नहीं हो पाता। वह नियमित अध्यापन का मार्ग अङ्गीकार कर लेता है। यहाँ तक कि कभी-कभी शोध कार्य के प्रति उसकी रुचि भी जाती रही है। यह सम्भव है कि सभी छात्र अपना शोधकार्य चलाते रहने को इच्छुक न भी हों, किन्तु छात्रों में यह प्रवृत्ति विद्यमान रहती ही है। ऐसे ही उत्साही छात्र दूसरी पीढ़ी के शोध-कार्यकर्ताओं के लिए प्रोत्साहक सिद्ध हुआ करते है। अतः यह आवश्यक है कि ऐसे शोधछात्र एकत्रित किये जायँ तथा उन्हें अपना शोधकार्य प्रचलित रखने के लिए छात्रवृत्तियाँ दी जायँ। इस सन्दर्भ में हमारा यह सुझाव है कि प्रारम्भिक स्नातकोत्तर छात्रवृत्ति प्रत्येक विश्वविद्यालय द्वारा दी जानी चाहिए। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की छात्रवृत्तियाँ, जो कि अधिक मूल्य की होती हैं, नैरन्तर्य छात्रवृत्ति के रूप में उन छात्रों को प्रदान करनी चाहिएँ जो कि दो या तीन वर्षों तक शोध-छात्रवृत्ति में कार्य कर चुके हों। केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय की मानवीयशास्त्र की छात्रवृत्तियाँ, जो कि और अधिक मूल्य की हुआ करती हैं उन्हें प्रौढ़ शोधविद्वानों के लिए या सम्बद्ध महाविद्यालयों के लिए सुरक्षित रखनी चाहिए, जो कि शोध-अवकाश लेना चाहते हैं। यह वृत्ति उन अवकाश-प्राप्त व्यक्तियों के लिए भी संरक्षित रखी जा सकती है, जो कि किसी शोधप्रकरण या शोधसामग्री पर कार्यरत हों तथा समुचित सहायता के अभाव में अपने कार्य को आगे बढ़ाने में असमर्थता का अनुभव करते हों।

स्नातकोत्तर शोध-कार्य

(१९) जैसा कि हम कह चुके हैं, एक नये अधिकारी को किसी शोधकार्य में लगाने के पूर्व उसे बहुत कुछ सीखना आवश्यक हुआ करता है। जैसे कि उसे ग्रन्थ-समालोचना के मूल तत्त्वों की शिक्षा दी जानी चाहिए। शोध-क्षेत्र के समस्त तत्त्वों का उसे कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ करता। किसी विशेष क्षेत्र में जो भी कार्य पहले किया जा चुका है, उसे वह नहीं जानता। उसे यह भी विदित नहीं हुआ करता कि उस क्षेत्र में जो कार्य किया जा चुका है उसमें कहाँ-कहाँ कौन-कौन से अंश ऐसे अधूरे पड़े हुए हैं, जिनकी उसे पूर्ति करनी है। उन दरारों को भरने के लिए उसे कौन-कौन सी मौलिक सामग्रियाँ उपलब्ध हैं। किन-किन विषयों पर उसे शोध करना चाहिए, उन पर उसकी दृष्टि अब तक कभी नहीं गयी है। यहाँ तक कि उसे किसी शास्त्र तथा

अन्य अधिक सामान्य विषयों तक का भी ज्ञान नहीं हुआ करता। अतः अधिक वाञ्छनीय यह होगा कि शोध के प्रथम चरण में, जबकि उसे शोध की प्रथम स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करनी है, संस्कृत के छात्रों को किसी महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित ग्रंथ के समालोचनात्मक सम्पादन का कार्य दिया जाना चाहिए। उनका यह सम्पादन कार्य उस ग्रन्थ की कई एक सुलभ पाण्डुलिपियों के व्यापक परीक्षण तथा मिलान पर आधारित होना चाहिए। इस कार्य के साथ ही साथ उस ग्रंथ-विशेष का समालोचनात्मक अध्ययन तथा उसके मूल्याङ्कन की प्रक्रिया भी प्रचलित रखनी चाहिए। इस प्रकार के कार्यक्रम द्वारा एक नवयुवक छात्र उक्त ग्रंथ की विभिन्न साहित्यिक समस्याओं से तथा उनके अध्ययन एवं विवेचन के लिए प्रयोग में लाने योग्य शोध की उपयुक्त वैज्ञानिक पद्धतियों से भी परिचित हो जाया करता है। इस सम्पादनकार्य की भूमिका तैयार करने के लिए छात्र को तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित समालोचनात्मक मूल्याङ्कन की भी शिक्षा प्राप्त हो जाती है। इस कार्य के माध्यम से वह व्याख्यात्मक विवेचन जैसे कठिन कार्य की ओर भी जा सकता है, जिससे कि वह उन्नतर शोध-उपाधि प्राप्त कर सकेगा तथा जिस पर सफलता पूर्वक कार्य करने के लिए उसे कुछ न कुछ परिपकता की आवश्यकता होगी। ऐसे व्याख्यात्मक विवेचन कार्य के लिए वह किसी विशेष विचार, सम्प्रदाय अथवा साहित्यिक विकास की शाखा का चुनाव कर सकता है। उन छात्रों के सम्बन्ध में भी, जो कि किसी विशेष दार्शनिक सम्प्रदाय के अध्ययन में अभिरुचि रखते हैं, शोध-कार्य का प्रारम्भिक अंश किसी ऐसे शास्त्रग्रन्थ पर आधारित होना चाहिए, जिसका प्रकाशन न हुआ हो, या जिसका विश्लेषण उपर्युक्त वैज्ञानिक शोध-विधि की प्रक्रिया द्वारा न हुआ हो। अपनी सामग्री तथा अपने सम्प्रदाय एवं अन्य सम्प्रदायों से उसके सम्बन्ध के विषय को भी दृष्टिपथ में रखते हुए उस ग्रंथ का अध्ययन किया जाना चाहिए। द्वितीय चरण में अधिक बड़े शोध-प्रबन्धों तक पहुँचा जा सकता है।

उपाधियों का निर्णय तथा उनकी स्वीकृति

(२०) आज कल विभिन्न विश्वविद्यालयों में भिन्न-भिन्न शोध उपाधियाँ प्रचलित हैं। उनकी श्रेणियाँ भिन्न-भिन्न हैं तथा उनकी रूढ़ियों में अन्तर है। इसके अतिरिक्त उनके शोधप्रबन्धों में अन्तर है। इसके अतिरिक्त उनमें भी मूल्याङ्कन सम्बन्धी तरह-तरह की प्रक्रियाएँ प्रचलित हैं। कुछ विश्वविद्यालयों में केवल एक ही शोध-उपाधि पी-एच्०डी० या डी० लिट्० ही है। कुछ अन्य विश्वविद्यालयों में, जैसे कि मद्रास विश्वविद्यालय में क्रमशः तीन शोध-उपाधियाँ हैं—एम्० लिट्०, पी-एच्० डी० तथा डी० लिट्०। इन उपाधियों की परीक्षा के सम्बन्ध में कहीं केवल शोधप्रबन्ध ही पर्याप्त होता है, पर कहीं-कहीं तीन भागों में कठिन परीक्षा ली जाती है—शोध-प्रबन्ध, दो प्रश्नपत्र तथा मौखिक परीक्षा। कहीं-कहीं अतिरिक्त परीक्षण के रूप में केवल मौखिक परीक्षा ही रखी गयी है। परीक्षकों तथा निर्णायकों के सन्दर्भ में भी भिन्न-भिन्न रीतियाँ प्रचलित हैं। कुछ विश्वविद्यालयों में आन्तरिक निर्णायक के रूप में निर्देशक प्राध्यापक नियुक्त किया जाता है, तो कहीं-कहीं आन्तरिक निर्णायक नहीं

होता। आन्तरिक निर्णायक, जो कि अभ्यर्थी का मार्ग-निर्देशन करता है, उसे लेकर कुछ विश्वविद्यालयों में दो ही निर्णायक रखे जाते हैं। कुछ विश्वविद्यालयों में सर्वसम्मत आख्या को ही मान्यता दी जाती है, तो कुछ में उपाधि की स्वीकृति के लिए केवल बहुमत की ही आवश्यकता होती है। इन सब असंगतियों को सद्यः दूर करना चाहिए तथा विश्वविद्यालयों के शोध-उपाधि स्तर में एकरूपता लानी चाहिए। आदर्श यही होना चाहिए कि ऊँचे स्तर को लक्ष्य बनाते हुए ऐसी व्यवस्था की जाय जिससे न तो किसी अनुचित साधन का प्रयोग सम्भव हो, न तो सस्ती उपाधि का मार्ग खुल जाय। साथ ही साथ अपराधी पर किसी प्रकार की अनावश्यक कठोरता भी न लद जाय। हमें यह ज्ञात हुआ है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के एक निर्णय के अनुसार अब समस्त देश में एक ही प्रकार की शोध-उपाधि रहेगी। जो भी हो, हमने जो कुछ ऊपर कहा है उससे पर्याप्त स्पष्ट है कि एक छोटे स्तर की शोध-उपाधि के प्रसङ्ग पर अवश्य ही विचार किया जाना चाहिए। इस शोध-उपाधि को 'डाक्टरेट' की संज्ञा न दी जाय। 'डाक्टर' शब्द केवल एक प्रकार के विद्वान् के लिए ही प्रयोग में लाया जाय। हमारा सुझाव है कि प्रथम शोध-उपाधि के रूप में 'एम्० लिट्०' को अपनाया जाना चाहिए। मौखिक परीक्षा तथा शोध-प्रबन्ध का प्राविधान इस परीक्षा के लिए तथा इससे उच्चतर शोध-उपाधि डी० लिट्० के लिए भी किया जाना चाहिए। कहीं-कहीं जो दो प्रश्नपत्रों की अतिरिक्त परीक्षा ली जाती है उसे हटा दिया जाना चाहिए तथा ऐसी चेष्टा की जानी चाहिए कि मौखिक परीक्षा का स्वरूप पर्याप्त विस्तृत हो जाय।

विदेशी परीक्षक तथा विदेशी उपाधियाँ

(२१) कुछ विश्वविद्यालयों में उच्चतर शोध-उपाधि के लिए दूसरे देशों के निर्णायकों की नियुक्ति की जाती है। भारतीय शोधकार्य विश्व-शोधकार्य का एक अंग है। इसलिए यह समुचित ही है कि वह विश्वस्तर की सहकार्यता एवं संरक्षण के समस्त साधनों की खोज करे तथा उसका नैरन्तर्य न टूटने दे। किन्तु विदेशी निर्णायकों की नियुक्ति कठोर तथा असंगत दोनों ही है। कुछ विश्वविद्यालयों ने देश के बाहर के विद्वानों को निर्णायक रखना बन्द कर दिया है। अतः यह अनुचित सा प्रतीत होता है कि कुछ विश्वविद्यालयों में विदेशी निर्णायकों द्वारा परीक्षा ली जाय। यद्यपि हम अपने विदेगी मित्रों के प्रति सम्मानपूर्ण भावना रखते हैं, जिन में से कुछ हमसे व्यक्तिगत रूप से परिचित भी हैं, तथापि इस संदर्भ में हम कुछ मौलिक तत्त्व प्रस्तुत करना चाहेंगे जिनके परिप्रेक्ष्य में विश्वविद्यालयों की सन्दर्भित नीति में संशोधन किया जा सकता है। कोई भी विदेशी विश्वविद्यालय अपने तत्त्वावधान में तैयार किये गये शोध-प्रबन्ध का मूल्याङ्कन करने के लिए किसी भी भारतीय विद्वान् को नहीं नियुक्त करता; यद्यपि उस क्षेत्र में हमारे देश में भी विख्यात विद्वान् सुलभ होते हैं। जिस समय हमारे यहाँ विदेशी निर्णायकों को नियुक्त किये जाने का नियम था, उस समय से आज हमारा शोधकार्य कहीं बहुत अधिक आगे बढ़ गया है। प्रत्येक क्षेत्र में अब हमारे यहाँ ऐसे अनेक सुविख्यात विशेषज्ञ विद्यमान हैं, जिनकी नियुक्ति की जा सकती है। भारतीय विद्वानों को क्यों नियुक्त किया जाय, इसका एक और

तर्क है। कई एक बातों में, विशेषतः विशुद्ध संस्कृत के अध्ययन क्षेत्र में, भारतीय विद्वत्ता एक ऐसे व्यापक क्षेत्र तथा एक ऐसी अनेकता एवं बहुमुखी योग्यता को प्रदर्शित करती है, जिससे कि एक पाश्चात्त्य पण्डित अधिक परिचित नहीं हुआ करता। हमारे देश में जिस प्रकार की सामग्री अपेक्षित है तथा जिस ढंग से उसे प्रस्तुत किये जाने की आवश्यकता होती है, उसके मूल्यांकन में हम समर्थ हैं। एक विदेशी इनसे प्रायः परिचित नहीं हुआ करता। हमारे देश के गौरव तथा सम्मान का परिपाक इस रूप में सामने आना समुचित नहीं प्रतीत होता कि हमारी ही भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र के शोध-प्रबन्ध प्रत्येक प्रसंग में विदेशी निर्णायकों के पास निर्णय के लिए भेजे जायँ। निःसन्देह कुछ ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें भारतीय विशेषज्ञों की संख्या पर्याप्त नहीं है। ऐसे सन्दर्भों में विदेशी निर्णायकों की नियुक्ति अवश्य की जानी चाहिए। हमारा सुझाव है कि जिस विश्वविद्यालय से अभ्यर्थी परीक्षा दे रहा है, उससे इतर विश्वविद्यालयों के दो भारतीय विशेषज्ञों के साथ सामान्यतः एक विदेशी निर्णायक की नियुक्ति की जानी चाहिए। अभ्यर्थी का निर्देशक निर्णायक के रूप में नियुक्त किया जाय या नहीं, यह एक विवादास्पद प्रसंग है। हमारा यह विचार है कि आन्तरिक निर्णायकों की व्यवस्था समाप्त कर देने से स्तर को ऊँचा उठाने में सहायता प्राप्त होगी तथा इस व्यवस्था को कठोर भी नहीं कहा जा सकता।

(२२) उपर्युक्त प्रसंग हमें विदेशी उपाधियों तथा आगे के अध्ययन के लिए हमारे स्नातकों की विदेश यात्रा की प्रथा के प्रश्न पर ले आता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम अब स्वतंत्र हैं, किन्तु इस स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं है कि हम विदेशी विश्वविद्यालयों में प्रचलित उच्च शैक्षिक स्तरों के महत्त्व को समझने की अपनी मनोवृत्ति का अन्त कर दें। साथ ही साथ इस तथ्य पर भी तर्क किया जा सकता है कि हमें अपने स्तर को ऊँचा उठाने की दृष्टि से भी अपने छात्रों को विदेश भेजने के प्रसङ्ग में कोई नयी नीति अपनानी चाहिए। वास्तव में कुछ ऐसे विषय भी हैं जिनका विशेष अध्ययन विदेशों में ही सम्भव है। भारतीय ज्ञान के क्षेत्र में भी कुछ ऐसे विषय हैं, जैसे कि तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, जिनमें और अच्छी पृष्ठभूमि के लिए किसी को विदेश जाना पड़ सकता है, किन्तु विशुद्ध संस्कृत के ही अध्ययन के लिए विदेश जाना अनावश्यक प्रतीत होता है। इस सन्दर्भ में एक ओर भारतीय जनता संस्कृत में विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए विदेश जानेवालों के प्रति अत्यधिक आलोचनात्मक होती जा रही है तथा दूसरी ओर विदेशी प्रोफेसर स्वयं भी इस बात से सहमत हैं कि जो छात्र उनके पास आते हैं उन्हें कोई ऐसा क्षेत्र चुनना चाहिए जिसमें कोई नवीन या अतिरिक्त प्रकाश प्राप्त हो सके, जिसे कि वे सम्भवतः भारत में नहीं प्राप्त कर सकते। अधिकारियों ने विदेशी प्रशिक्षण तथा विदेशी उपाधियों के महत्त्व को अत्यधिक बढ़ा दिया है। इसका कभी-कभी संस्कृत के ऐसे प्रकाण्ड विद्वानों पर कष्टप्रद एवं विपरीत प्रभाव पड़ता है, जिन्हें कि विदेशी उपाधि प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं प्राप्त होता।

(२३) अपने उपर्युक्त कथन से हम विदेशी विद्वानों से अपने सम्पर्क की आवश्यकता को कम करने पर बल नहीं दे रहे हैं। हमें केवल यही कहना है कि

भारतीय संस्कृतज्ञों को विदेशों में विद्वान् के रूप में जाना चाहिए, न कि उपाधि-लोलुप छात्रों के रूप में। यहाँ से शोध-उपाधि प्राप्त करके विदेशी केन्द्रों के निरीक्षण तथा वहाँ के विद्वानों से सम्पर्क एवं विचार-विनिमय द्वारा अनुभव अर्जन के लक्ष्य से हमारे विद्वान् विदेशों की यात्रा करें या वे वहाँ विनिमय प्राध्यापक के रूप में कुछ लेने या कुछ देने के उद्देश्य से जाँय या सामग्री-संग्रह के मन्तव्य से वहाँ जायँ तथा भारत लौटकर अपने विश्वविद्यालय में उस सामग्री पर कार्य करें और उपाधि के लिए शोधप्रबन्ध तैयार करें। इस अन्तिम प्रयोग को प्रायः वे विदेशी छात्र स्वीकार किया करते हैं जो कि अपने यहाँ से छात्रवृत्ति या अनुदान पर भारत आते हैं। इस सन्दर्भ में हम प्रथम व्यवस्था के लाभों पर बल देना चाहते हैं कि भारतवर्ष के उच्च-स्तरीय विशेषज्ञों को अपने देश की विद्वत्ता के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में समान स्तर पर ज्ञान-विनिमय के किसी कार्यक्रम में भाग लेने के लिए विदेश जाना चाहिए।

शोध के विषय

(२४) शोध के लिए चुने जाने वाले विषयों में भी पर्याप्त सुधार की आवश्यकता है। अपनी यात्रा के क्रम में तथा प्रश्नावलियों के उत्तरों द्वारा आयोग ने यह अनुभव किया कि इस सन्दर्भ में हमारे छात्र सरल विषयों के चयन तथा परिचित क्षेत्रों की पुनरावृत्ति की ओर अधिक प्रवृत्त हैं। अनेक शास्त्रों में से केवल वेदान्त या अलंकार ही बहुधा बार-बार चुने जाते हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य देशों के संस्कृत के विद्वान् किसी ऐसे क्षेत्र पर श्रम करते हैं, जिस पर कभी भी शोध-कार्य न किया गया हो। इसी से उनका कार्य अधिक मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण हुआ करता है। वेद का शोधकार्य हमारे यहाँ प्रायः उपेक्षित सा है। विशेषतः जब कि हम पाश्चात्य देशों में इस क्षेत्र में किये गये कार्य पर दृष्टिपात करते हैं। वैदिक संस्कार, कर्मकाण्ड एवं कल्पसूत्रों पर भारतीय विद्वानों ने बहुत ही कम कार्य किया है। भारोपीय भाषाओं का सांगोपांग अध्ययन भी एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें कि हमारे देश का पाण्डित्य पश्चिम के देशों की तुलना में यूरोपीय पाण्डित्य के बहुत पीछे है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययनक्षेत्र में भी अत्यन्त रोचक सामग्री पड़ी हुई है, किन्तु हमें भय है कि भारोपीय तथा प्राचीन आर्यभाषाओं के अध्यापकवर्ग अब यथेष्ठ संख्या में प्रशिक्षित नहीं किये जा रहे हैं। पुराणों की विपुल सामग्री का पूर्ण अनुसन्धान होना अब तक शेष है। अधिकांश पुराणग्रन्थों की विभिन्न सामग्रियों के विषय में अब भी अत्यधिक भ्रम व्याप्त है। उनकी पाण्डुलिपियों तथा उनके पाठभेदों के पूर्ण सर्वेक्षण के उपरान्त समालोचनात्मक पद्धति से उनके सांगोपांग नवीन संस्करणों की आवश्यकता आज तक बनी हुई है। पुराणों के समान आगम, तंत्र तथा संहिता-साहित्य की एक विशाल राशि अज्ञात पड़ी हुई है। जैसा कि हमने अन्यत्र भी कहा है। नव्यन्याय तथा व्याकरण शास्त्र के भी कुछ ऐसे स्थल हैं, जहाँ कि शब्दार्थ-विज्ञान एवं प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र के रोचक विषय विद्यमान हैं। पश्चिम में इनके अध्ययन में नये-नये महत्त्वपूर्ण विकास हुए हैं। भारतीय मनोविज्ञान तथा आचारशास्त्र भी ऐसे विशेषक्षेत्र हैं, जिन पर और अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

(२५) जो नवीन सामग्रियाँ बौद्ध एवं जैन मत के सन्दर्भ में आज प्रकाश में लायी जा रही हैं उनसे प्रत्यक्ष है कि जा कुछ भी ज्ञान वे प्रस्तुत कर रहीं हैं, उनसे साहित्यिक समस्याओं का पूरा-पूरा समाधान नहीं हो रहा है। उन समस्याओं को हमें पुनः हाथ में लेना है। भारतीय समाजशास्त्र की हमें पुनः व्याख्या करनी है, ताकि इस समय जब कि हमारा राष्ट्र महान् परिवर्तनों के बीच पैर बढ़ा रहा है, लोगों को हमारे पारम्परिक आदर्शों में निहित विचारधारा तथा आदर्शवाद का श्रेष्ठतर ज्ञान प्राप्त हो सके। संस्कृत-साहित्य में प्रतिविम्बित लोक-संस्कृति एक दूसरा आकर्षक विषय है। अलंकारशास्त्र तथा सामान्य सौन्दर्यशास्त्र में भी और आगे अनुसन्धान करना आवश्यक है। विशुद्ध साहित्य के क्षेत्र में भी एक अत्यन्त अभीष्ट कार्य करना है—वह है 'संस्कृतसाहित्यकोश' का अभाव। व्याकरण, वाक्य-विन्यास, मुहाविरा एवं शब्दावली आदि के दृष्टिकोण से हमें संस्कृत-भावप्रकाशन के विभिन्न प्रकारों तथा स्वरूपों का (जैसे कि वैदिक, महाकाव्य विषयक, विवरणात्मक, कथात्मक, चरित्रात्मक, चित्रात्मक, शिलालेख सम्बन्धी, बौद्ध —जैन मत सम्बन्धी, साहित्यिक, दार्शनिक तथा औद्योगिक) परीक्षण करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार आधुनिक भारोपीय, द्राविड़ी तथा पूर्वद्राविड़ी भाषाओं का संस्कृत से क्या सम्बन्ध है? शोध का यह मार्ग भी और अधिक ध्यान देने योग्य है। इस सन्दर्भ में एक साक्ष्य ने यह भी सुझाव दिया कि विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं में संस्कृत के जो शब्द प्रयुक्त हो रहे हैं, उन संस्कृतशब्दों के स्वरूप तथा उनके अर्थों का भी अध्ययन किया जाना चाहिए।

(२६) कला के क्षेत्र में नाट्यशास्त्र, संगीत, वास्तुविज्ञान, चित्रकला, मूर्तिविद्या तथा शिल्प प्रायः उपेक्षित ही बने हुए हैं। विशेषतः समुन्नत छात्रों द्वारा जिन्हें कि समवर्ती आधुनिक विज्ञान की शिक्षा प्रारम्भ से ही प्राप्त है। आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित तथा अन्य वैज्ञानिक विषयों पर शोधकार्य किया जाना चाहिए। व्यावहारिक विज्ञानों के सन्दर्भ में यह सुझाव दिया जा सकता है कि भारतीय वनस्पतिशास्त्र एवं आभियान्त्रिकी पर भी कार्य किया जाना चाहिए, ताकि प्राचीन भारतीय विज्ञान तथा शिल्पशास्त्र के इतिहास का सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया जा सके। ज्योतिषशास्त्र के प्रति जनसाधारण की अभिरुचि स्पष्टतः देखी जा रही है। इस शास्त्र की संहिता-शाखा की विचार-पद्धति अद्भुत है। इस शाखा की कार्यप्रणाली का भी हमें ठीक-ठीक परीक्षण करना आवश्यक है। संस्कृत के शिलालेखशास्त्र, भूगोल, नीति तथा अर्थशास्त्र, भारतीय खेल, व्यायाम तथा मनोरंजन, प्राचीन पर्व एवं व्रतोत्सव ऐसे विषय हैं, जिनमें जनता की व्यापक रुचि देखी जाती है। इन पर तथा ऐसे ही अन्य शास्त्रों पर भी शोधकार्य अवश्य सम्पन्न किये जाने चाहिए।

(२७) साथ ही साथ भारतीय शोध-कार्य में कुछ ऐसी गम्भीर त्रुटियाँ भी विद्यमान हैं जिनका दूर किया जाना आवश्यक है। भारत के अन्तर्देशीय सम्पर्क के सन्दर्भ में हमारा शोधकार्य नितान्त अपूर्ण है। इस क्षेत्र में जो कुछ कार्य हुआ है वह अपना नहीं है। फ्रांसीसी तथा डच विद्वानों के एतत्सम्बन्धी कार्य पर आधारित होने

के कारण हम उसे नवीन अथवा मौलिक नहीं कह सकते। भारत अब एक स्वतंत्र राष्ट्र है। अन्य राष्ट्रों तथा देशों से उसके राजनीतिक सम्बन्ध भी स्थापित हो चुके हैं। हमारे विद्वानों का कर्तव्य है कि वे अब निःसंकोच होकर मिस्र, मध्य पूर्व, मध्य एसिया, तिब्बत, चीन तथा जापान से भारत के सम्पर्क पर मौलिक शोधकार्य की ओर अग्रसर हों। इन देशों के सुलभ शिलालेखों तथा पाण्डुलिपियों में ग्रन्थविषयक, साहित्यिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक तथा भाष्यकार्य पर शोध का एक व्यापक तथा बृहत् क्षेत्र विद्यमान है। अवेस्ता तथा प्राचीन फारसी वेद के अति सन्निकट हैं, किन्तु वेदों के पठन-पाठन में एक पूरक अध्ययन के रूप में इन विषयों को हमारे देश में पढ़ाया भी नहीं जाता। इसी प्रकार तिब्बती तथा चीनी बौद्ध-साहित्य के अध्ययन के लिए परमावश्यक है कि भारतवर्ष के समुन्नत छात्रों का एक ऐसा समूह प्रशिक्षित किया जाना चाहिए जो कि इन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करके उनके संस्कृत ग्रन्थों को पुनः तैयार करें। वैदिक कथा, पुरातत्त्व, कालक्रमनिर्धारण तथा पुराणों की प्राचीन कथाओं का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए मिस्र, मेसोपोटामिया तथा एसियाई सूचक की पुरातत्त्व सामग्री का पुष्ट अध्ययन भी परमावश्यक है। उत्तर सीरिया की हिट्टाइट भाषा का भी सम्बन्ध संस्कृत से है। बहुभाषा अध्ययन, इतिहास एवं संस्कृति पर चिन्तन की दृष्टि से संस्कृत के समुन्नत छात्रों को इस भाषा का भी अध्ययन करना चाहिए।

(२८) यह एक दयनीय स्थिति है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण अध्ययन क्षेत्र में हमारे देश के समुन्नत छात्र पाश्चात्त्य पण्डितों द्वारा किये गये कार्य का अवलम्ब लेकर संतुष्ट हो जाया करते हैं। भारतीय शोधकार्य का मूल आधार और अधिक व्यापक होना चाहिए। अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन (All India oriental conference) को चाहिए कि वह इन विषयों के नियमित विभाग बनावे तथा इस दिशा में हमारे समुन्नत छात्रों का नेतृत्व ग्रहण करे। इसके अतिरिक्त हमारा यह भी सुझाव है कि सुदूर एसियाई तथा दक्षिण-पूर्वी भाषाओं में छात्रों को प्रशिक्षित करने के लिए एसियाई भाषाओं का एक अध्ययन केन्द्र स्थापित किया जाय। इससे नवीन मार्ग पर शोधकार्य करने की दिशा में छात्रों को सहायता प्राप्त होगी। कुछ विश्वविद्यालयों को भी प्रोत्साहित किया जाय कि वे अपने यहाँ इन एसियाई भाषाओं के पठन-पाठन तथा भारतेतर भाषाओं की शोध-परम्परा स्थापित करने का प्राविधान करें। भारतीय छात्रों तथा अनुसन्धान दलों को इन देशों की यात्रा करने की सुविधा प्रदान करनी चाहिए, ताकि वे इन देशों से साक्षात् सम्पर्क करके नवीन-नवीन सामग्रियों का संग्रह कर सकें। उनके इस कार्य से अध्ययन के इस क्षेत्र को उनके अंशदान का एक अच्छा अवसर प्राप्त हो सकेगा। उन देशों से पाण्डुलिपियों तथा पुरातत्त्वसामग्रियों को अपने देश में ले आने के मार्ग में उन्हें कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है, किन्तु हमारे देश में एक विपुल सामग्री की दो-दो या तीन-तीन प्रतियाँ भी हैं। इनके विनिमय की हम व्यवस्था कर सकते हैं। इस प्रक्रिया से इन निकट सम्पर्क के देशों की संस्कृति के अध्ययन के लिए हम अपने यहाँ संग्रहालय तथा पुस्तकालय सामग्री एकत्रित कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी होना चाहिए कि सुलभ सामग्री का

उस स्थल पर ही अध्ययन करने की दृष्टि से अभिरुचिपूर्ण विद्वान् कुछ समय तक उन देशों में निवास करने को प्रोत्साहित किये जायँ। इस दिशा में सर्वप्रथम कार्य तो यह होगा कि कुछ भविष्णु नवयुवक संस्कृत के विद्वानों का चयन किया जाय तथा उन्हें यूरोप के कुछ ऐसे देशों में भेजा जाय जहाँ के संग्रहालय विभिन्न देशों के प्राचीन भारतीय सम्पर्क सम्बन्धी पुरातत्त्वसामग्री से भरे पड़े हैं। कहना न होगा कि उन देशों में इस विषय के प्राच्य-विद्वान् तथा भारतीय ज्ञान-विज्ञान के विशेषज्ञ भी उपलब्ध हैं।

विश्वविद्यालय में अतिरिक्त व्याख्यान-व्यवस्था

(२९) किसी प्राभृत के अन्तर्गत विश्वविद्यालयों में विशेष व्याख्यानमालाओं की या रीडर के पदों की अथवा प्रसार व्याख्यानों की संस्थाएँ स्थापित की जा चुकी हैं। इस व्यवस्था से विशेष-विशेष समस्याओं तथा प्रमुख विषयों के शोधकार्य को पर्याप्त उद्बोधन प्राप्त हुआ है। इन व्याख्यानों के ही कारण हमारे अनेक विश्व-विद्यालयों से महत्त्वपूर्ण संस्कृत-प्रकाशन निकल चुके हैं। कारणवश ऐसे प्राभृत तथा ऐसी व्याख्यानमालाएँ इस समय एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में पड़ी हुई हैं, जिससे हमारे विद्वानों को अपने शोध-विषयों को इन व्याख्यानों के माध्यम से विकसित करने में तथा उनसे लाभ उठाने में जो सहायता प्राप्त होती थी, वह उन्हें विगत दशकों से बहुत ही कम सुलभ हो रही है। हमारा विचार है कि बाहरी विद्वानों की नियुक्ति द्वारा इस व्याख्यान-व्यवस्था को यदि पुनः पुनः जागृत किया जाय तथा यदि विभागीय सदस्य सम्मानित प्राध्यापकों की व्याख्यानमाला की प्रथा पुनः प्रचलित करें तो विश्वविद्यालयों का शोधकार्य अधिकाधिक शक्ति प्राप्त कर सकेगा।

विचारगोष्ठियाँ तथा अन्तर्विश्वविद्यालयीय प्रशिक्षण अध्ययन

(३०) द्वितीय महायुद्ध के बाद हम एक प्रकार के विचार-विमर्श की अधिकता देख रहे हैं, जिसे कि विचारगोष्ठी (Seminar) कहा जाता है। विचारगोष्ठी सम्मेलन से छोटे आकार की होती है। इसमें एक ही विषय होता है तथा कुछ चुने हुए विद्वान् भाग लेते हैं, इसलिए सम्मेलन की अपेक्षा इसमें किये गये विचार-विमर्श में चित्त की एकाग्रता अधिक हुआ करती है। हमारे विचार से इन विचारगोष्ठियों अथवा सुसंघटित अध्ययनसमूहों को यदि विश्वविद्यालय के विभागों या शोध-संस्थानों का नियमित अंग बना दिया जाय तो शोधकार्य में अत्यधिक वृद्धि हो सकती है।

(३१) इस सन्दर्भ में अमेरिका की एक प्रणाली को हम प्रयोग में ला सकते हैं। इस प्रणाली के अनुसार विश्वविद्यालयों के विभिन्न प्रशिक्षणों के समुन्नत विद्वानों तथा छात्रों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों से किसी एक विशेष विषय, जैसे भाषा, धर्म, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि पर अध्ययन तथा विचार-विमर्श किया जाता है। इस प्रणाली से किसी एक विषय के समस्त क्षेत्र को समुन्नत करने में प्रचुर सहायता प्राप्त होती है। संस्कृत में भी ऐसे विषय हैं जिनका विवेचन कई एक शास्त्रों

के दृष्टिकोण से इस प्रकार किया जा सकता है। यह तो हुआ विशेष प्रश्नों का सन्दर्भ। भारतीय संस्कृति, यहाँ के शास्त्रीय मत-मतान्तरों के विभिन्न सम्प्रदाय, तथा शास्त्रीय विचारों के स्वरूप आदि से सम्बद्ध अधिक सामान्य प्रश्नों के सन्दर्भ में भी ये अन्तर्विश्वविद्यालयीय प्रशिक्षण-संगोष्ठियाँ संस्कृतवाङ्मय में संरक्षित आदर्श तथा विचारधाराओं से अधिकाधिक प्रकाश प्राप्त कर सकती हैं।

प्रकाशन

(३२) आज जो भी शोधकार्य किये जा रहे हैं, उनके परिणामों के प्रकाशन की कोई समुचित व्यवस्था नहीं है। इस स्थिति से शोधकर्त्ताओं का उत्साह पूर्णतः भंग हो रहा है तथा शोधकार्य में बाधा भी उपस्थित हो रही है। इस सर्वव्यापी जीर्ण रोग पर हमारे साक्षात्कार के समय अनेक शोधछात्र शोकातुर देखे गये। उन्होंने स्वयं किये गये अथवा अपने परिचितों द्वारा किये गये शोधकार्यों, सम्पादनों, व्याख्याओं तथा समालोचनात्मक निबन्धों की एक सूची हमें दी है, जो निम्नप्रकार है—

(१) मन्त्रब्राह्मण—सायण तथा गुणविष्णु की टीका सहित, (२) मुरारीकृत पारस्करगृह्य-सूत्र—दोनों दुर्गामोहन भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, (३) उपपुराणों का अध्ययन—दो जिल्दों में—आर० सी० हाजरा, कलकत्ता, (४-५) भृगुसंहिता तथा रावणसंहिता, (६) नाट्यशास्त्र का एक संस्करण, (७) हस्ताभिनय पर एक ग्रन्थ, (८) मेघदूत-व्याख्या—नरहरि पण्डित कृत, (९) वादसेल तामिल वीरिवू—के० एस० सुब्बाराय अय्यर—येरियाकुलम्, (१०) व्याकरण पारिभाषिक शब्दसाम्य-के० व्ही० अभ्यङ्कर, (११) (मूल में अङ्कित नहीं है), (१२) लघुपरिभाषा—एक न्यायग्रन्थ, (१३) हिन्दू-विधि (कानून) के इतिहास का एक सर्वेक्षण (एल्० एल्० डी० का एक शोध-प्रबन्ध, (१४) संस्कृत के लिए बंगाल का योगदान, (१५) शाङ्करभाष्य-कारिका, (१६) गीता की विषयानुक्रमणिका—पी० सी० दीवान जी, (१७) व्यासशिक्षा; (१८) भविष्यपुराण, (१९) मिताक्षरा-पद्धति (आगे की जिल्दें), (२०) धनुर्वेद-ईश्वरविरचित (२१), (२२), (२३) सुलोचनमाधवचम्पू, तात्पर्यतत्त्वावलोक धर्मदत्त झा वैष्णव-सम्प्रदाय का विकास—गोस्वामी, (२४) बृहच्छब्दरत्न-प्रौढमनोरमा की टीका, (२५) श्रौतसूत्रों पर स्व० डाक्टर बी० के० घोष के कार्य, (२६) भागवतपुराण का समालोचनात्मक संस्करण, (२७) शब्दार्थसर्वस्व—एक शब्दकोश है, (२८) कालिदास के ग्रन्थों की शब्दानुक्रमणिका, (२९) कालिदास सम्बन्धी ग्रन्थसूची तथा (३०) कौटल्य के अर्थशास्त्र पर अध्ययन।

प्रकाशन की सुविधाओं के अभाव में ये ग्रन्थ विभिन्न केन्द्रों में अप्रकाशित पड़े हुए हैं। अनेक कोटि के ग्रंथों की एक विपुल सम्पत्ति आज किस प्रकार अन्धकार में पड़ी हुई है। कई विश्वविद्यालयों के स्वीकृत शोध-प्रबन्धों का अब तक प्रकाशन नहीं हुआ है। यह एक सन्तोष का विषय है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग इस प्रकार के शोध-प्रबन्धों के प्रकाशन में स्पष्ट रुचि ले रहा है तथा कुछ चुने हुए शोध-प्रबन्धों के प्रकाशनार्थ उन्होंने अनुदान भी स्वीकृत किये हैं। प्राचीन शोध-प्रबन्धों को

प्रकाशित करने के लिए भी इस प्रकार की सहायता दी जानी चाहिए। यदि हमारे विश्वविद्यालय अपने तत्त्वावधान में सम्पादित शोधकार्य को विज्ञापित करने की चेष्टा नहीं करते तो उनका यह कार्य उनकी अपनी ही ख्याति के लिए हानिप्रद सिद्ध होगा। यूरोप के विद्वानों को अपनी रचनाओं के प्रकाशन की बहुत कुछ सुविधा रहती है तथा वहाँ प्राच्य-प्रकाशन-सदनों से उनके लिए नियमित व्यवस्था की जाती है। ये व्यावसायिक संस्थाएँ केवल मुद्रण तथा प्रकाशन का ही कार्य नहीं करतीं, बल्कि विज्ञापनों द्वारा समय-समय पर अपने कार्यों का नियमित प्रचार भी करती हैं। भारतीय विश्वविद्यालय तथा पुस्तकालय इनके ग्रंथों को मंगाते हैं तथा इस प्रकार विदेशी विद्वानों की रचनाएँ भारत में प्रसिद्धि प्राप्त करती हैं। जहाँ तक भारतीय विद्वानों की रचनाओं के प्रकाशन का सम्बन्ध है, स्थिति सर्वथा भिन्न है। ऐसे विश्वविद्यालय जो कि शोध-प्रबन्धों का प्रकाशन भी करते हैं, वे उनके विज्ञापन या प्रचार की चेष्टा नहीं किया करते। यह एक शोचनीय स्थिति है कि भारतवर्ष में ही एक क्षेत्र का प्रकाशन दूसरे क्षेत्र को न तो ज्ञात हो पाता है, न तो सुलभ ही होता है। हमने स्वयं भी अनुभव किया है कि भारतीय विद्वानों के महत्त्वशील काय भी अनेक विदेशी विश्वविद्यालयों में उपलब्ध नहीं हुआ करते।

(३३) ऐसी स्थिति में हमारे देश की कीर्ति तथा उसके धन दोनों की हानि हो रही है। जब भारतीय रचनाओं की विक्री भारत तथा बाहर नहीं होती तब विश्वविद्यालय तथा शासन दोनों की ही इन प्रकाशनों के सम्बन्ध में प्रतिकूल धारणा बन जाया करती है। अन्यत्र हमने यह सुझाव दिया है कि इस सन्दर्भ में विदेशों में स्थित भारतीय दूतावास तथा वाणिज्य दूतवर्ग सहायक सिद्ध हो सकते हैं। इन साधनों से इस दिशा में सहायता प्राप्त की जा सकती है। यें अधिकारी शोध तथा साहित्यिक मूल्य के भारतीय ग्रंथों की प्रदर्शनी आयोजित कर सकते हैं तथा उन देशों की समाचार विज्ञप्तियों में भी अपने देश के विश्वविद्यालयों तथा प्राच्य-पुस्तक-भाण्डारों द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों की विज्ञप्ति कर सकते हैं।

(३४) भारतवर्ष में कुछ थोड़े से ही ऐसे अच्छ मुद्रक तथा प्रकाशक हैं जो कि यहाँ के भारतीय ज्ञान-विज्ञानवेत्ताओं की सहायता में रुचि लेते हों। प्रकाशन की सुविधाएँ, व्यावसायिक व्यवस्थाएँ तथा मुद्रण एवं उत्पादन का स्तर भी सन्तोषप्रद नहीं है। भारत के कुछ प्रमुख लेखक भी अपनी रचनाओं के प्रकाशन के लिए विदेशी मुद्रकों तथा प्रकाशकों की खोज में रहते हैं। हमारी समझ में जब तक ये शीर्षस्थ लेखक दृढ़तापूर्वक यह निश्चय नहीं कर लेंगे कि उनकी रचनाओं का प्रकाशन उनके देश में ही हो, भारतीय पुस्तक-व्यवसाय के स्तर में न तो सुधार सम्भव है, न तो उसकी ख्याति ही समुन्नत हो सकती है। आज कई एक मुद्रणालयों में वैतनिक प्रूफ पढ़ने वाले भी नहीं नियुक्त हैं तथा इस कार्य के लिए उन्हें लेखकों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। लाखों पाठ्यपुस्तकों के मुद्रण का कार्य इतना अधिक बढ़ गया है कि मुद्रक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों के मुद्रण के प्रति अनिच्छुक रहा करते हैं। संस्कृत तथा रोमन मुद्रण में वर्णों की विभिन्न ध्वनियों, उच्चारणों आदि में भेद बतानेवाले

विशेष चिह्नों को टाइप में बैठाने की (कम्पोज) कठिनाई का भी सामना करना पड़ता है। कागज, सुन्दर छपाई तथा बनावट आदि में हमारे प्रकाशनों में और अधिक सुधार लाने की आवश्यकता है। प्रतिष्ठित तथा प्रामाणिक शोध-प्रकाशनों का स्थायी महत्त्व हुआ करता है। इनका अधिकाधिक प्रयोग भी किया जाता है। यदि ऐसे प्रकाशन रद्दी कागज पर छापे जायँ तो इससे बढ़कर दयनीय बात और हो ही क्या सकती है।

(३५) सरकारी व्यवस्था से सम्बद्ध प्रकाशन लालफीतेशाही के कारण प्रायः कई वर्षों तक रुके पड़े रहते हैं। पुरातत्त्व, शिलालेख, राजकीय पाण्डुलिपि पुस्तकालय, संस्कृत महाविद्यालय आदि विभाग, यदि वे चाहते हैं कि उनके प्रकाशन शीघ्र हो जायँ, तो उन्हें अपने लेखकों को अनुमति देनी होती है कि वे व्यक्तिगत रूप से मुद्रण व्यवस्था करें। ग्रन्थ तथा ग्रन्थसूची आदि यदि छपकर तैयार भी हो जाँय तो कई एक शासकीय व्यवस्थाओं जैसे—मूल्य-निर्धारण तथा विभिन्न समयों में विभिन्न विभागों के व्यक्तियों द्वारा अनेक विभागों तथा अनुभागों में देखे जाने के कारण वे मुद्रणालय से मुक्त ही नहीं हो पाते।

(३६) मद्रास, बम्बई तथा बनारस में हमने संस्कृत तथा भारतीय ज्ञान-विज्ञान साहित्य के कतिपय इस प्रकार के प्रमुख प्रकाशकों तथा पुस्तक विक्रेताओं से साक्षात्कार किया। इनमें से कुछ व्यवस्थित रूप से कार्य भी कर रहे हैं। हमने उनसे जो कुछ भी सुना उससे हमें यही जान पड़ा कि हमारे देश के पुस्तकालय उनकी पुस्तकों को यथेष्ट मात्रा में नहीं खरीद रहे हैं। विशेषतः संस्कृत-ग्रन्थों को प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। दक्षिण भारत के एक साद्दय ने हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि उनके प्रदेश में परिषदों तथा शिक्षा-विभाग द्वारा सहायताप्राप्त अनेक सार्वजनिक तथा अन्य पुस्तकालय हैं, किन्तु उनका अधिकारीवर्ग उनमें से कोई भी संस्कृत की पुस्तकें नहीं खरीदता। मद्रास के एक उच्चकोटि के प्रकाशक ने हमें लज्जापूर्वक सूचित किया कि उसके व्यापार का भारतीय ग्राहकों की अपेक्षा विदेशी ग्राहक ही कहीं अधिक पोषण कर रहे हैं। कलकत्ता के राष्ट्रिय-पुस्तकालय में तथा एक विशेष पुस्तकालय में भी एक वैधानिक प्राविधान के अनुसार उस प्रदेश में छपी संस्कृत की समस्त पुस्तकें प्राप्त होती हैं। इसके बदले इन राजकीय पुस्तकालयों से भी यह आशा करना सर्वथा उचित ही प्रतीत होता है कि उस क्षेत्र के प्रकाशकों तथा लेखकों को इन पुस्तकों की सूचना देकर उनकी सेवा करें। इस सन्दर्भ में हम केन्द्रीय सरकार का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

(३७) इस समय भारतवर्ष में लिखी गयी पुस्तकों की माँग बहुत बढ़ती जा रही है। इसलिए अनेक जनप्रिय प्रकाशकों ने पश्चिम के प्राच्य-विद्वानों की प्राचीन कृतियों को पुनः छापना प्रारम्भ कर दिया है। इनमें से कई एक प्रकाशन नवीन शीर्षकों को देते हुए प्राचीन लेखों के केवल संग्रहमात्र हैं। इनमें से अनेक लेख अब प्राचीन भी हो चुके हैं। इस सन्दर्भ में ध्यान देने की बात है कि हमारे देश में संस्कृत-साहित्य तथा भारतीय संस्कृति आदि पर नये सिरे से ग्रन्थ लिखने

में समर्थ विद्वानों की अब कोई कमी नहीं है। इन क्षेत्रों से सम्बद्ध अपने नवीन प्रकाशनों के लिए हमारे प्रकाशक अनेक सुयोग्य भारतीय लेखक प्राप्त कर सकते हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रत्येक प्राचीन साहित्यिक विषय प्रत्येक युग में एक नवीन महत्त्व प्राप्त करते हैं तथा उन पर लिखे गए नवीन ग्रन्थ उस युग के लिए नये-नये विचार क्षेत्र प्रकाशित करते हैं। ऐसी दशा में प्रकाशकों को चाहिए कि नयी लिखी हुई पुस्तकों से ही वे वर्तमान माँग की पूर्ति किया करें न कि प्राचीन पुस्तकों की नवीन प्रतियाँ छाप कर, क्योंकि ये प्राचीन-ग्रन्थ शोधकार्य की शैशवावस्था में लिखे गये थे तथा उस समय विभिन्न तथ्य प्रकाश में नहीं आ सके थे। भारत में थोड़े समय के लिए यात्रा करनेवाले विदेशी हमारे यहाँ की पुस्तकों की दुकानों में भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के विषय में ऐसी पुस्तकों की खोज में रहते हैं जो कि भारतवासियों के द्वारा लिखी गई हों तथा जिनमें भारतीय राष्ट्रिय जीवन का ठीक-ठीक चित्रण किया गया हो।

(३८) तथापि प्राचीन ग्रन्थों के पुनः मुद्रण के सन्दर्भ में हमें कुछ अपवादों को ध्यान में रखना आवश्यक है। जैसा कि हमने एक दूसरे अध्याय में भी कहा है कि प्राचीन प्रतिष्ठित संस्कृतग्रन्थों तथा शोधप्रकाशनों में से कुछ ऐसे ग्रन्थ तथा शोध-प्रकाशन भी हैं जो कि आज बिलकुल ही अप्राप्त हैं। इन ग्रन्थों, अनुवादों, व्याख्याओं, सूचियों तथा अनुक्रमणियों आदि शोध के उपकरणों का पुनः मुद्रण तो होना ही चाहिए। जैसे **'एपिग्राफिका इण्डिका'** की पिछली जिल्दों के पुनः मुद्रण के लिए कुछ विद्वान् मांग कर रहे हैं। हम लोगों की इसमें अत्यधिक रुचि इसलिए है कि सच पूछा जाय तो भारतीय शिलालेख या मुद्रालेख अधिकतर संस्कृत शिलालेख या मुद्रालेख हैं। फोटो प्रक्रिया से अब ऐसे ग्रन्थों का पुनः उत्पादन सरल हो गया है तथा कुछ प्रकाशक इस प्रक्रिया द्वारा कुछ उपयोगी ग्रन्थों का पुनः मुद्रण या पुनः नवीनीकरण भी कर चुके हैं। इसी प्रकार संस्कृत के ग्रन्थों की एक विशाल राशि जो कि विदेशी संस्करणों में या रोमन लिपि में ही अब सुलभ है, उनके पुनः मुद्रण की भी आवश्यकता है। इस सन्दर्भ में वैदिक ग्रन्थों की एक बड़ी संख्या सम्मिलित की जा सकती है। इन ग्रन्थों के देवनागरी संस्करणों को भी अब प्रकाशित करना चाहिए तथा भारतीय विद्वानों (विशेषतः पण्डितवर्ग) को इन ग्रन्थों से अधिक परिचित होना चाहिए।

समालोचनात्मक संस्करण

(३९) विगत शताब्दी के अन्तिम पचास वर्षों में भारतीय शोधकार्य ने जो प्रगति की है उसका अधिकांश श्रेय रजवाड़ों, संस्थानों, हस्तलेख-संग्रहालयों तथा विश्वविद्यालयों द्वारा प्रकाशित बृहद् ग्रन्थमालाओं को है। जैसे—काव्यमाला ग्रन्थ-माला, चौखम्भा ग्रन्थमाला, प्रिन्सेज आफ वेल्स सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, पंजाब ओरिएन्टल ग्रन्थमाला, द बिब्लियोथिका इण्डिका, गायकवाड़ ओरिएन्टल सिरीज़, बम्बई संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थमाला, द सिन्धी जैन सिरीज़, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान ग्रन्थमाला, काश्मीर सिरीज़ आफ टेक्स ऐन्ड सिरीज़ (काश्मीर ग्रन्थ

तथा अध्ययन ग्रन्थमाला), आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला, वाणीविलास प्रेस ग्रन्थमाला, बिब्लियोथिका संस्कृत मैसूर, आड्यार लाइब्रेरी सिरीज़, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज़ तथा कुछ विश्वविद्यालयों द्वारा प्रकाशित संस्कृत ग्रन्थमालाएँ। निकट भूतकाल में कुछ शोध-संस्थानों, शोध-पत्रिकाओं तथा संस्कृत परिषदों ने भी संस्कृत-ग्रन्थों का क्रमबद्ध प्रकाशन प्रारम्भ किया है। पाण्डुलिपि-पुस्तकालयों ने भी छोटे-छोटे विवरणों का प्रकाशन प्रारम्भ किया है, जिनमें अपेक्षाकृत लघुतर ग्रन्थों के सम्पादन प्रकाशित किये जाते हैं। स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् कुछ केन्द्रों को उनके द्वारा किये गये पाण्डुलिपिग्रन्थों के सम्पादनकार्य को प्रकाशित करने के लिए धन की व्यवस्था भी की गयी है।

(४०) संस्कृत-ग्रन्थों के सम्पादन क्षेत्र में इस विकसित प्रगति का स्वागत करना चाहिए, किन्तु साथ ही साथ हमें यह कहने को भी विवश होना पड़ता है कि इस प्रकार जिन ग्रन्थों का सम्पादन किया जाता है, उनमें से कुछ अनुपयोगी तथा मध्यमकोटि के हुआ करते हैं तथा उनका सम्पादन भी वैज्ञानिक समालोचनात्मक पद्धति से नहीं किया जाता। कभी-कभी उन ग्रन्थों को भी पुनः प्रकाशित कर दिया जाता है जो कि पहले प्रकाशित किये जा चुके हैं। यह जानने की चेष्टा नहीं की जाती कि ये एक बार छप भी चुके हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि कभी-कभी स्थानीय पाण्डुलिपियों के उपलब्ध होने पर भी उनके संग्रह तथा मिलान की चेष्टा नहीं की जाती, ताकि अधिक उत्तम ग्रन्थों का सम्पादन किया जा सके। ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार के सन्दर्भ में यद्यपि उसी स्थान पर प्रमाण उपलब्ध होते हैं तथा उस ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार के प्रसङ्ग में पूर्व मुद्रित सामग्री सुलभ हुआ करती है, तथापि इस समस्त सामग्री से अनभिज्ञ होने के कारण सम्पादकगण एवं प्रकाशन से सम्बद्ध अन्य व्यक्ति सन्दर्भित ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार के सम्बन्ध में समालोचनात्मक विवेचन नहीं प्रस्तुत करते। यह आवश्यक है कि सम्पादन के लिए जिस ग्रन्थ का चयन किया जाय, ज्ञान के क्षेत्र में उसका कुछ न कुछ नवीन अंशदान प्रकाश में आये तथा ग्रन्थकार, सामग्री एवं जिस सम्प्रदाय का वह प्रतिनिधि ग्रन्थ हो उसके दृष्टिकोण से वह सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण हो। पाण्डुलिपियों के ढेर के ढेर प्रतीक्षा कर रहे हैं कि उन पर कार्य किया जाय। ऐसी दशा में जब कि उनमें से अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व के ग्रन्थ खोजे जा सकते हैं, तब कम महत्त्व के ग्रन्थों का बारम्बार प्रकाशन निष्प्रयोजन तथा निरर्थक ही कहा जायगा। यह आवश्यक है कि यह सम्पादन कार्य समुचित परीक्षण के अनन्तर विद्वानों की सम्मति प्राप्त कर के सुयोग्य व्यक्तियों द्वारा ही हाथ में लिया जाय। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि एक शोधछात्र द्वारा किए गये ग्रन्थ का सम्पादन जब एक बार प्रकाशित हो जाता है तब वह चाहे कितना भी असन्तोषप्रद क्यों न हो कोई भी अन्य विद्वान् या संस्थान उस पर पुनः कार्य करने में प्रवृत्त नहीं होगा।

(४१) संस्कृत-ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों की जो विपुल राशि उपलब्ध है उसके सन्दर्भ में यह समस्या उठ खड़ी हुई है कि इनमें से महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियों का

अधिक से अधिक संख्या में मुद्रण कैसे कराया जाय? आज कल जो अनेक ग्रन्थ-मालाएँ निकल रही हैं तथा विश्वविद्यालयों के विभाग एवं शोध-संस्थान जो कि इस प्रकार के प्रकाशन में लगे हुए हैं वे सभी यदि एक साथ मिलकर इस कार्य में लग जायँ तो भी इस महती समस्या का सामना नहीं कर सकते। अतः हमारा सुझाव है कि पुस्तकालयों में पड़ी हुई पाण्डुलिपियों में से अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की एक विवरणात्मक सूची तैयार की जानी चाहिए। इस सूची को विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा शोध-संस्थानों को इस अनुरोध से प्रेषित किया जाना चाहिए कि उसमें जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है, उन्हें वे अपनी प्रकाशन योजना में प्राथमिकता दें। कांग्रेस के शासनारूढ़ होने के अनन्तर मद्रास सरकार ने बड़ी संख्या में संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशनार्थं धन निर्धारित किया है। अन्य सरकारों को भी चाहिए कि अपने प्रदेश के हस्तलेख-संग्रहालयों, शोध-संस्थानों तथा विश्वविद्यालयीय विभागों को विशेष ग्रन्थमालाओं के सम्पादन एवं प्रकाशन कार्य के लिए विशेष धनराशि निश्चित करें। केन्द्रीय शिक्षामंत्रालय ने अपने कार्यक्रम में प्राचीन ग्रन्थों के मुद्रण तथा प्रकाशन का प्राविधान निर्धारित किया है। देश के विभिन्न भागों के विद्वानों ने इस मन्त्रालय को एतत्सम्बन्धी अपने-अपने सुझाव भी भेजे हैं। ऐसी आशा की जानी चाहिए कि यह मंत्रालय अपने प्रस्ताव का कार्यान्वियन करेगा तथा जिन ग्रन्थों के प्रकाशन सम्बन्धी उसे सुझाव दिये गये हैं उनमें से कम से कम विशिष्ट ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य तो वह प्रारम्भ ही कर देगा।

पत्रिकाएँ तथा शोध सारांश (डाइजेस्ट)

(४२) संस्कृत के अध्ययन तथा भारतीय ज्ञान सम्बन्धी ऐसी शोध-पत्रिकाओं की संख्या यद्यपि बहुत ही कम है, जिन्होंने काल की गतिविधि का साहसपूर्वक सामना किया हो तथा शोध के क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त की हो, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे देश में इस प्रकार की शोध-पत्रिकाओं की संख्या पर्याप्त है जो कि विभिन्न केन्द्रों में प्रचलित शोधकार्य का निरन्तर प्रकाशन किया करती हैं। इनमें से कुछ तो निम्न स्तर की हैं तथा कुछ को अपनी स्थिति के लिए संग्राम करना पड़ रहा है। अनेक की छपायी तथा बनावट भी दयनीय है। ऐसी दशा में जब कि वर्तमान पत्रिकाओं को उच्च स्तर के लेख पर्याप्त संख्या में सुलभ नहीं हो रहे हैं तथा उनका यथेष्ट प्रचार तथा प्रसार भी नहीं है, पत्रिकाओं की संख्या में वृद्धि करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त अधिकांश विश्वविद्यालय तथा पाण्डुलिपि-संग्रहालय अपनी-अपनी पत्रिकाएँ, वार्षिक वृत्तान्त तथा विवरणपत्र भी प्रकाशित करते हैं।

(४३) इस सन्दर्भ में हमारा सुझाव है कि इन संस्थाओं की शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशन के लिए जो लेख प्राप्त होते हैं उनकी, छान-बीन और अधिक कठोरतापूर्वक की जानी चाहिए, ताकि इन शोध-पत्रिकाओं का स्तर उन्नत हो जाय। इन पत्रिकाओं में पुनःनिरीक्षण तथा गुणदोष-निरूपण के लिए नियत समीक्षा खण्ड को भी सुधारने की दिशा में अब भी बहुत कुछ करना है। इस समीक्षा खण्ड के द्वारा वह पत्रिका

अपने एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य का पालन करती है। अत्यन्त संक्षिप्त तथा कोमल समीक्षाएँ उतनी ही अवाञ्छनीय हुआ करती हैं जितनी की कठोर समीक्षाएँ। निर्माणात्मक एवं रचनात्मक समीक्षाएँ शोध को समुन्नत करती हैं। समीक्षाओं को लिखते समय हमें इसी तथ्य को अपना मार्गदर्शक बनाना चाहिए।

(४४) प्राच्य-विद्या के कार्य में लगी हुई भारतीय तथा विदेशी पत्रिकाओं की संख्या अब इतनी बढ़ गयी है कि जो सामग्री उनके द्वारा प्रकाशित की जाती है, वह वास्तव में इतनी व्यापक तथा भिन्न हुआ करती है कि उनका समुचित रूप में आत्मसात् करना कठिन हो जाता है। इस सन्दर्भ में हम रामकृष्णमठ के मद्रास केन्द्र तथा 'वेदान्तकेशरी' पत्रिका के सम्पादक द्वारा प्रस्तुत किये गये इस सुझाव का समर्थन करते हैं कि एक ऐसे शोध-सारांश संग्रह का प्रकाशन किया जाना चाहिए, जिसमें कि समय-समय पर शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित शोधकार्यों के सारांश दिये गये हों। यह प्रयोग उक्त कठिनाई को दूर करने में उपयोगी सिद्ध हो सकेगा। कुछ पत्रिकाएँ जिनका विनिमय क्षेत्र व्यापक है 'अन्य पत्रिकाओं की चुनी हुई उत्कृष्ट सामग्री' शीर्षक एक विशेष खण्ड प्रकाशित करती हैं, किन्तु विशेष "शोधकार्य-सारांश संग्रह" प्रकाशन का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह विभिन्न देशों से निकलने वाली विभिन्न पाण्डित्यपूर्ण पत्रिकाओं में प्रकाशित सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शोधलेखों के सारांश को शिष्ट शोध में रुचि लेने वाले जनवर्ग के समक्ष प्रस्तुत करें। इन शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित शोध-लेखों का पूर्ण ज्ञान उन पुस्तकसूचियों से भी किया जा सकता है, जिनकी चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं। ग्रन्थसूची तैयार करने की दिशा में भी छिट-फुट प्रयत्न किये जा रहे हैं, पर अब वह समय आ गया है जब कि इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तथा कुछ विशेष केन्द्रों में वार्षिक ग्रन्थसूची संकलित करने की व्यवस्था स्थापित की जाय।

शोध-योजनाएँ

(४५) शोधकार्य का विषय हमें स्वभावतः शोध-योजनाओं की ओर ले चलता है। आज हम योजनाओं तथा आयोजनाओं के युग में जीवन बिता रहे हैं तथा भय है कि उनके कार्यान्वयन के मार्ग की कठिनाइयों को यथोचित ढंग से समझे बिना कहीं हम उनके जंजाल न में फँस जायँ। विद्वत्-परिषदों, विद्वानों तथा प्रकाशन संस्थाओं की सहकार्यता से पश्चिम के देशों ने प्राच्य-शोध के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों में सफलता प्राप्त की है। इन देशों के प्राच्यविद्या-संस्थानों तथा प्रतिनिधि-संस्थाओं ने बड़ी-बड़ी योजनाओं को चलाया, जिससे प्रेरित होकर हमारे विद्वानों तथा हमारे देश की समितियों एवं संस्थाओं ने भी कतिपय योजनाओं पर कार्य करना प्रारम्भ किया। ऐसी योजनाओं में प्राच्य-शोधसंस्थान, पूना द्वारा सम्पन्न की जानेवाली "महाभारत का समालोचनात्मक संस्करण" योजना विशेष उल्लेखनीय है। इस योजना का कार्य प्रायः पूरा हो चुका है। विश्वेश्वरानन्द शोधसंस्थान, होशियारपुर द्वारा सञ्चालित "वैदिक साहित्य की शाब्दिक अनुक्रमणिका" तैयार करने की योजना भी इसी महत्त्व की है। दक्षिण भारत में मद्रास विश्वविद्यालय में

"संस्कृत तथा तत्सम्बन्धी ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों की बृहत् सूची", दक्षिण कालेज (डेक्कन कालेज) पूना में, "ऐतिहासिक सिद्धान्तों पर नवीन संस्कृत शब्दकोश तथा ज्ञानकोश" पर कार्य चल रहा है। भण्डारकर शोध-संस्थान, पूना के महाभारत संस्करण से प्रेरणा प्राप्त कर प्राच्य संस्थान, बड़ौदा, जो कि अब एम्० एस्० विश्व-विद्यालय, पूना का एक अङ्ग है, ने उक्त महाभारत संस्करण की योजना पर आधारित "रामायण का समालोचनात्मक अध्ययन" रामायण का संस्करण तैयार करने की योजना पर कार्य आरम्भ किया है। गुजरात विद्यासभा तथा बी० जे० शोध-संस्थान, अहमदाबाद में भी इसी तरह भागवतपुराण के समालोचनात्मक संस्करण पर भी कार्य चल रहा है। महाराजा बनारस द्वारा संस्थापित काशिराज न्यास भी पुराणों के समालोचनात्मक संस्करण के प्रकाशन की एक आकांक्षापूर्ण योजना का सञ्चालन कर रहा है। कुप्पूस्वामी शास्त्री शोध-संस्थान, मद्रास द्वारा संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थकारों की "साहित्यकार ग्रन्थमाला" तैयार करने की योजना बनायी गयी है। वैदिक संशोधन मण्डल, पूना की भी धर्मकोश तथा श्रौतकोश तैयार करने की योजनाएँ हैं। के० पी० जायसवाल शोध संस्थान पटना तिब्बती पाण्डुलिपियों पर आधारित एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमाला का प्रकाशन कर रहा है। भारतीय विद्याभवन, बम्बई द्वारा प्रचालित "भारतवासियों का इतिहास तथा उनका साहित्य" योजना भी उत्तम प्रगति पर है।

(४६) विभिन्न स्थानों से भी एक-एक छोटे-छोटे ग्रंथों तक सीमित तथा अपेक्षाकृत कम विस्तार की अन्य योजनाओं की सूचनाएँ प्रसारित की गयी हैं तथा एतत्सम्बन्धी कुछ प्रारम्भिक व्यवस्थाएँ भी प्रारम्भ हो चुकी हैं। जैसे हरिवंश के समालोचनात्मक संस्करण भण्डारकर शोध संस्थान, पूना, विष्णुपुराण मिथिला संस्थान, दरभंगा। अनेक केन्द्रों में यह जानकर कि केन्द्रीय शासन विशिष्ट योजनाओं के लिए ही वित्तीय सहायता देगा, कुछ संस्थाएँ विभिन्न दीर्घकालीन योजनाओं पर विचार कर रही हैं।

(४७) ऐसी स्थिति में अब यह आवश्यक हो गया है कि हम अपने देश की विभिन्न शोध संस्थाओं में इस समय प्रचलित विभिन्न विस्तृत योजनाओं पर विचार करें। ऐसी योजनाओं को चलाने के लिए यह आवश्यक है कि कर्मचारियों तथा कार्यालय की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए। एक अच्छी संख्या में भारत के सुदूर भागों के तथा विदेशों के सहकारी विद्वानों का सहयोग प्राप्त होना चाहिए तथा जिन अन्य पूरक व्यवस्थाओं की हमने ऊपर चर्चा की है; उन सभी पर किये जाने वाले ऊँचे व्यय का सामना करने के लिए एक बहुत बड़ा वित्तीय साधन अपेक्षित होगा। यूरोप तथा अमेरिका में भी प्राच्य-शोध के क्षेत्र में कोई नवीन योजना नहीं ली गयी है। अधूरे "पालीकोश" की अधूरी योजना क्षीण दशा में ही पड़ी हुई है। इस प्रकार की अनेक बृहद् योजनाओं को चलाने के लिए हमारे देश में पर्याप्त वित्तीय साधन प्राप्त करना सम्भव नहीं है। विशेषतः ऐसी स्थिति में जब कि आज हम उच्च तथा निम्न दोनों ही स्तर पर संस्कृत-शिक्षा की अन्य सामान्य क्रियाओं के पोषण के लिए आर्थिक

सहायता के सन्दर्भ में शासन का मुँह देख रहे हैं। उपयुक्त कर्मचारियों का चुनाव भी कोई सरल कार्य नहीं है। देश के विद्वान् अपने-अपने कार्य में पहले से ही लगे हुए हैं। अतः इस सन्दर्भ में यदि हम विभिन्न प्रदेशों के सुयोग्य विद्वानों की कोई सूची बनाने को बैठें तो हमारी यह योजना सफल नहीं हो पायेगी। इस कार्य में प्रायः जटिलता तथा कठिनाई का ही अनुभव करना पड़ेगा। कुछ समितियों ने कतिपय विशेष योजनाओं को अपनाया, जैसे—भारतीय इतिहास तैयार करने की योजना तैयार की। जब उसने इस योजना को चलाना प्रारम्भ किया तब उसे इसकी कठिनाइयों तथा जटिलताओं का ज्ञान हुआ। यही कारण है कि आज ये योजनाएँ प्रायः ठप सी पड़ी हुई हैं।

(४८) रामायण, महाभारत तथा पुराण ऐसे बृहत् ग्रन्थों की अनेक पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हैं। इन विभिन्न पाण्डुलिपियों के पाठभेदों में इतना व्यापक अन्तर है कि इन ग्रन्थों के समालोचनात्मक सम्पादन की योजनाएँ अत्यन्त लम्बी चौड़ी हो जाया करती हैं तथा समुचित साधनों के अभाव में सफल नहीं हो पातीं। यद्यपि इस प्रकार के सम्पादन-कार्य के शैक्षिक मूल्य पर दो मत नहीं हो सकते, तथापि इस सन्दर्भ में कई विद्वानों ने यह शंका व्यक्त की है कि क्या इस कार्य के लिए किया गया इतना श्रम तथा व्यय वास्तव में उपयुक्त है? इस पद्धति से भारतीय ग्रन्थों का क्या सफलतापूर्वक सम्पादन कार्य किया भी जा सकता है? इस प्रकार के सम्पादन कार्य से जो भी प्रकाशन होगा क्या वह विद्वत्समुदाय एवं साधारण शिक्षित वर्ग को गुण की दृष्टि से यथार्थ में मान्य एवं उपयोगी सिद्ध हो सकेगा? संस्कृत साहित्य में उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या वास्तव में इतनी अधिक है कि इतने बड़े समूचे क्षेत्र का इतने अधिक परिमाण में सम्पादन करने का विचार त्याग देने की प्रवृत्ति जाग उठती है। अतः उचित तो यही है कि धन तथा कार्यकर्त्ताओं दोनों ही के रूप में इस समय जो भी साधन उपलब्ध हैं उन्हें बचाकर रखा जाय तथा जब तक कि बड़ी-बड़ी योजनाओं में लगे हुए विद्वान् तथा उनमें कार्यरत संस्थाएँ जब तक अपनी एक योजना को पूरी न कर लें, तब तक लम्बी चौड़ी कोई नवीन योजना हाथ में न ली जाय। इसके अतिरिक्त वर्तमान दशा में इतने अधिक विद्वान् उपलब्ध नहीं हैं, जिनके पास इतना समय भी हो कि वे समालोचनात्मक योजना तथा अन्य सामग्री पर अधिकारपूर्ण निपुणता प्राप्त कर सकें तथा एक केन्द्र में बैठ कर कोई भी निर्धारित कार्य कर सकें। जो थोड़े से विद्वान् निपुण हैं भी तो उनकी एक से अधिक योजनाओं के लिए एक से अधिक स्थानों पर माँग है। हम जानते ही हैं कि सभी योजनात्मक कार्यों में एक स्वाभाविक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। जितने अधिक कर्मचारी होंगे उतनी ही अधिक चिन्ता बढ़ेगी कि सभी लोग सावधानी से कार्य कर रहे हैं या नहीं? यह बात अध्यक्ष की शक्ति के बाहर की है कि वह प्रामाणिक विषयों का मिलान स्वयं कर ले तथा उसे प्रमाणित कर दे। इसके अतिरिक्त हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जहाँ इस प्रकार की लम्बी-चौड़ी योजनाएँ चला करती हैं, वहाँ का कर्मचारीवर्ग संघटनात्मक कार्य में अधिक तथा अध्ययनात्मक कार्य में कम संलग्न रहा करता है। एक प्रकार से यह भारतीय विद्वत्ता की हानि ही कही जायगी।

(४९) हमारे विचार में यदि किसी एक बड़ी योजना को सीमित विषयों की कई एक इकाइयों में तोड़कर व्यक्तिगत रूप से अनेक विद्वानों को अपने अपने ढंग से उन पर अपनी शक्ति तथा पाण्डित्यपूर्ण तैयारी से कार्य करने के लिए सहायता दी जाय तो विभिन्न योजनाओं में परिनियोजित शोध-क्षेत्र का उत्पादन अपेक्षाकृत अधिक बढ़ जायगा। आज की आवश्यकता यही है कि हम व्यक्तिगत शोधकार्य को प्रोत्साहित करें तथा योजनाबद्ध शोधकार्य से दूर रहें। विभिन्न बड़ी-बड़ी योजनाएँ, जो कि अपना कार्य प्रारम्भ कर चुकी हैं या जिनके प्रारम्भ किए जाने पर विचार चल रहा है, उनके लिए यदि पर्याप्त धन की व्यवस्था कर दी जाय तथा उन्हें चलाने के लिए यथेष्ट संख्या में कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति कर दी जाय तो विद्वानों की एक बहुत बड़ी संख्या इन योजनाओं में खप जायगी; किन्तु एक बड़ी योजना के आवश्यक अङ्ग के रूप में ही उनका प्रयोग होता रहेगा। यहाँ इस बात का भय है कि इस व्यवस्था से उनके पाण्डित्य तथा उनकी मौलिकता का गला न घोंट दिया जाय। शोध के अन्य क्षेत्र इन विद्वानों से वञ्चित रह जायेंगे तथा भारतीय शोध की विभिन्नता पर भी इसका विपरीत प्रभाव पड़ेगा। एक बात और भी है। ऐसी योजनाओं में कई एक विद्वानों का सहयोग चलता रहता है तथा विभिन्न स्रोतों से उन्हें सहायता प्राप्त होती रहती है, जिसके कारण अनेक समितियों तथा उनकी बैठकों की स्थिति स्वाभाविक हो जाया करती है, जिससे केवल धन का ही अपव्यय नहीं हुआ करता, अपितु विद्वानों के समय तथा उनकी शक्ति का भी व्यर्थ ही शोषण होता है।

इसलिए हम यह सुझाव देना चाहेंगे कि एक ओर जब कि शासन तथा अन्य संघटनों के लिए यह उचित है कि वे शोधकार्य के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करें, तब दूसरी ओर साथ ही साथ यह भी होना चाहिए कि विभिन्न केन्द्रों में जो बड़ी-बड़ी योजनाएँ चल रही हैं, उन्हें हम शीघ्र पूरा करें तथा आने वाले कुछ वर्षों तक किसी बड़ी योजना, जिसके संस्थापन में एक बड़ी व्यवस्था अपेक्षित होती है, उसे न चलाया जाय।

देश के शोध-संस्थान

(५०) संस्कृत तथा भारतीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में सरकार तथा विश्वविद्यालयों के विभागों द्वारा जो कार्य किये जा रहे हैं, उसके अतिरिक्त हमारे देश में व्यक्तिगत रूप से चलायी जाने वाली कुछ ऐसी भी संस्थाएँ हैं, जो कि इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य कर रही हैं। नीचे हम इस प्रकार की कुछ संस्थाओं का उल्लेख करते हैं—

(१) कामरूप अनुसन्धान-समिति, गौहाटी
(२) एसियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता
(३) संस्कृत साहित्य-परिषद्, कलकत्ता
(४) बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना
(५) के० पी० जायसवाल शोधसंस्थान, पटना

(६) गङ्गानाथ झा शोध-संस्थान, इलाहाबाद
(७) सरस्वती भवन, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, बनारस
(८) विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर
(९) गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद
(१०) बी० जे० शोध-संस्थान, अहमदाबाद
(११) एसियाटिक सोसाइटी, बम्बई
(१२) भारतीय विद्याभवन, बम्बई
(१३) भण्डारकर प्राच्य शोध-संस्थान, पूना
(१४) वैदिक संशोधन मण्डल, पूना
(१५) भारतीय इतिहास संशोधन मण्डल, पूना
(१६) भारतीय-संस्कृति अन्ताराष्ट्रिय संस्थान, नागपुर (जो कि अब दिल्ली में है)।
(१७) उड़ीसा ऐतिहासिक शोध-समिति, भुवनेश्वर
(१८) आन्ध्र ऐतिहासिक शोध-समिति, राजमहेन्द्री
(१९) कुप्पूस्वामी शास्त्री शोध-संस्थान, मद्रास
(२०) आड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, आड्यार
(२१) मिथिक (पौराणिक) सोसाइटी, बंगलोर
(२२) सरस्वती महल पुस्तकालय, तंजोर
(२३) रामवर्मा शोध-संस्थान, त्रिचूर
(२४) राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
(२५) ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा (जो कि इस समय एम्० एस्० विश्वविद्यालय के अन्तर्गत है)
(२६) सिंधिया प्राच्य शोध-संस्थान, उज्जैन
(२७) दक्षिण कालेज (डेक्कन कालेज) शोध-संस्थान, पूना
(२८) कन्नड़ शोध-संस्थान, धारवाड़
(२९) ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, मैसूर

इनके अतिरिक्त कई प्रादेशिक शासनों ने ऐसी शोधसस्थाओं की स्थापना की है, जैसे विहार शासन द्वारा मिथिला में संस्कृत तथा नालन्दा में पालि एवं वैशाली में प्राकृत शोध-संस्थान संचालित किये जा रहे हैं।

(५१) राजकीय संस्थानों की स्थिति गैरसरकारी संस्थानों की अपेक्षा अच्छी है। अराजकीय संस्थानों में से कई को नियमित रूप से राज्य-सहायता प्राप्त

होती है, किन्तु कुछ ऐसे भी अराजकीय संस्थान हैं, जिन्हें अर्थ-संकट के कारण कार्यावरोध का सामना करना पड़ता है। यथोचित सहायता के अभाव में इस प्रकार की अनेक संस्थाओं का यथोचित विकास नहीं हो पाया है। उनकी विभिन्न योजनाएँ, उनकी पुस्तकसूचियाँ तथा उनके प्रकाशन धनाभाव के कारण अनिश्चय की स्थिति में पड़े हुए हैं। उनकी पत्रिकाएँ विलम्ब से प्रकाशित होती हैं तथा इन पत्रिकाओं में अत्यधिक सुधार करना है। इन संस्थानों में कर्मचारियों की कमी है। कहीं-कहीं तो अत्यन्त दयनीय वेतन पर कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं। कहना न होगा कि कुछ इने-गिने त्यागी व्यक्ति ही बिना किसी वेतन के इन संस्थाओं को वीरतापूर्वक चला रहे हैं। इन अराजकीय संस्थाओं में से कुछ संस्थाओं की प्रवृत्ति संस्कृत की ओर तथा कुछ की इतिहास की ओर है। इनमें से बंगाल तथा वम्वई की एसियाटिक सोसाइटी तथा वनारस का सरस्वती भवन जैसे कतिपय शोध-संस्थान भारत में शोधकार्य के प्रारम्भिक काल से ही कार्य कर रहे हैं।

(५२) अतः देश के विभिन्न भागों में प्रतिनिधिभूत अनेक शोध-संस्थान कार्य कर रहे हैं। हमारे विचार से अब किसी नये भारतीय ज्ञान-शोधसंस्थान की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। नये शोध-संस्थानों को खोलने की अपेक्षा उत्तम तो यह होगा कि सरकारें देश के विभिन्न भागों में कार्यरत अशासकीय शोध-संस्थानों को राजकीय सहायता दी जाने की एक व्यापक नीति बनायें। इस प्रकार की राज्य-सहायता केन्द्रीय शासन द्वारा संघटित भारतीय ज्ञानसमिति (Indological Instituts) या प्रस्तावित केन्द्रीय संस्कृतपरिषद् (Central Sanskrit Board) के माध्यम से दी जा सकती है। यह आर्थिक सहायता केवल विशेष योजनाओं को चलाने के लिए ही नहीं, वल्कि उनकी कुछ अन्य आवश्यकताओं के लिए भी स्वीकृत की जानी चाहिए। इन आवश्यकताओं के अन्तर्गत पुस्तकालय-भवन, साज-सज्जा तथा सूक्ष्म दर्शक चित्र-यन्त्र (Micro-film Apparatus) इत्यादि अनावर्तक विषय आते हैं। यह भी उचित प्रतीत होता है कि इन व्यक्तिगत शोध-संस्थानों से उनके कार्यविवरण नियमित रूप से माँगे जायँ तथा उन्होंने राज्यानुदान का समुचित सदुपयोग किया है या नहीं इसकी जानकारी के लिए उपयुक्त छान-बीन की जाय, किन्तु इस सन्दर्भ में यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी प्रकार की शासकीय प्रक्रिया से इन शोध-संस्थानों के स्वतः शासन में कोई विघ्न न पड़े। हमें इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि इन संस्थाओं की प्रगति लालफीताशाही के कारण न रुकने पावे। ये तो वैसे ही मन्थरगति से आगे बढ़ रही हैं। हमने जो कुछ देखा उससे हमें यह जान पड़ा कि इन शोध-संस्थानों को समुन्नत करने के लिए तथा इनके पोषण की दिशा में भी जनसाधारण बहुत कुछ कर सकता है।

(५३) इन व्यक्तिगत शोध-संस्थानों को दी जाने वाली राज्य-सहायता के सन्दर्भ में हम एक और बात पर बल देना चाहेंगे। वह यह है कि भारत के सभी भागों में भारतीय ज्ञानसम्बन्धी जो कार्य चल रहा है, उसके विकास में शासन को विशेष रुचि लेनी चाहिए। हमने देखा कि प्रत्येक प्रदेश की सम्भ्रान्त जनता देश की

ऐसी क्रियाओं में अपने अंशदान के लिए उत्सुक है, जिनका सम्बन्ध हमारी संस्कृति से है। उनकी इस इच्छा की पूर्ति इन शोध-संस्थानों के माध्यम से ही की जा सकती है। ऐसी स्थिति में शासन का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह इस बात पर ध्यान दे कि देश के विभिन्न भागों में बिखरे हुए इन शोध-संस्थानों को अपने विकास के लिए यथोचित सहायता प्राप्त हो रही है या नहीं ? इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि संस्कृत के किसी एक विशेष प्रदेश को चुनकर केवल उस क्षेत्र की शोध-संस्थाओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखना सम्पूर्ण राष्ट्र में संस्कृत शोध-कार्य के लिए बाधक सिद्ध होगा। देश के सुदूर भागों में स्थित शोध-संस्थानों तथा विद्वानों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे सरकार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सकें। इसलिए शासन को चाहिए कि वह देश के विभिन्न भागों में कार्य करने वाली इन संस्थाओं की खोज करके उनके कार्य का मूल्याङ्कन करे तथा उन्हें सहायता प्रदान करने के सन्दर्भ में एक समान नीति भी अपनावे।

(५४) केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय की वर्तमान भारतीय ज्ञान-समिति (Indology committee) इस दिशा में तदर्थ (Ad hoc) रूप में कार्य कर रही है। शोधकार्य में रुचि लेने वाले अनेक लोगों को इस समिति का ज्ञान भी नहीं है। कुछ थोड़े से ही संघटन, जो इस समिति को जानते हैं, वे ही उसमें सहायता का निवेदन करते हैं। इन संस्थाओं के आवेदन पत्रों पर वही विचार भी करती है। जहाँ तक हम जानते हैं यह समिति केवल योजनाओं पर ही राज्यानुदान की नीति का अनुसरण करती है। किन्तु यह ठीक-ठीक निर्णय करना कठिन हुआ करता है कि कौन-कौन सी कार्यप्रणालियाँ योजना के अन्तर्गत आती हैं तथा किन-किन कार्य-प्रणालियों को हम योजना के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं कर सकते। क्योंकि किसी भी शोध-संस्थान के साधारण कार्य को भी योजना की परिधि में रखा जा सकता है। इस तथ्य के अतिरिक्त इस प्रकार की नीति से देश के पूर्णतः उपेक्षित क्षेत्रों की समस्याएँ नहीं सुलझायी जा सकतीं। इन उपेक्षित क्षेत्रों का हमने स्वयं निरीक्षण किया है। इन क्षेत्रों के उत्साही कार्यकर्त्ता नितान्त निराश तथा हताश दिखायी पड़ते हैं। अंग्रेजों के शासनकाल में इन संस्थाओं को कुछ थोड़ी सी ही राज्य-सहायता प्राप्त होती थी, किन्तु इन कार्यकर्त्ताओं ने अदम्य उत्साह तथा परिश्रम से अपने-अपने क्षेत्र में सांस्कृतिक इकाइयों के रूप में इन शोध-संस्थानों का जाल बिछा दिया। स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त जिस राष्ट्रिय नवनिर्माण का बीड़ा हमने उठाया है, उसमें भी यदि ये संस्थाएँ पहले की ही तरह शोचनीय निराशा की स्थिति में पड़ी रहें तो इससे बढ़कर परम कष्ट का प्रसङ्ग और हो ही क्या सकता है। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हाल में राज्यानुदान की कमी के कारण संस्कृत तथा भारतीय ज्ञानसम्बन्धी शोधकार्य को जो धक्का लगा है उसके मूल में शासन की कृपणता ही है। विभिन्न क्षेत्र में जो कुछ शोधकार्य किया गया है उसका समुचित मूल्याङ्कन नहीं हुआ है। समितियों की संस्थापना, स्मारक पत्रों की माँग, समितियों की बैठकें, ये सब काम होते ही रहे हैं, किन्तु इन सबका परिणाम क्या हुआ है ? कोई उल्लेखनीय विकास कार्य तो हुआ नहीं, न तो कोई विकास ही दिखाई पड़ा।

केवल पण्डितों की निराशा ही बढ़ी। इसलिए यह आवश्यक है कि इस सन्दर्भ में शासन एक उदारनीति अंगीकार करे तथा तदनुसार सहानुभूतिपूर्वक कदम बढ़ाये। इन व्यक्तिगत शोध-संस्थानों तथा विद्वत् परिषदों की ओर से इस आयोग का प्रबल अनुरोध है कि शासन इन संस्थाओं को दी जाने वाली अपनी राज्य-सहायता के सन्दर्भ में कोई उदार तथा युक्तियुक्त व्यवस्था प्रचलित करे।

केन्द्रीय भारतीय विद्या तथा ज्ञान-संस्थान

(५५) अभी हाल ही में हम एक केन्द्रीय भारतीय विद्या तथा ज्ञान-संस्थान की चर्चा बहुधा सुनते रहे हैं। अखिल भारतीय प्राच्य-सम्मेलन (All-India Oriental conference) ने कई वर्ष पूर्व इस प्रकार के केन्द्रीय संस्थान की स्थापना का प्रस्ताव किया था। देश के स्वतंत्र होने के बाद शासन ने विभिन्न केन्द्रों में वैज्ञानिक तथा प्राविधिक ढंग के राष्ट्रिय संस्थानों का शुभारम्भ किया है। इस सन्दर्भ में विद्वानों तथा सम्मेलनों द्वारा शासन से आग्रह किया जा चुका है कि भारतीय मानवशास्त्रों (भारतीय साहित्य, दर्शन तथा कला आदि से सम्बद्ध) विशेषत: प्राचीन भारतीय इतिहास, दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति के अध्ययन के लिए राष्ट्रिय संस्थानों की स्थापना की जाय, किन्तु इस प्रकार के किसी भी संस्थान की स्थापना आज तक नहीं की गयी। ऐसे केन्द्रीय संस्थान की योजना शासन को प्रस्तुत भी की जा चुकी है। हमारा अनुरोध है कि शीघ्रातिशीघ्र इस केन्द्रीय संस्थान की स्थापना की जानी चाहिए। इस केन्द्रीय संस्थान को चाहिए कि वह देश में प्रचलित विश्वविद्यालयीय शोध-विभागों तथा अन्य शोध-संस्थानों के कार्य में हस्तक्षेप न करे, किन्तु यह भी न हो कि वह एक समन्वयन कार्यालय ही बना रहे। वास्तव में उसे देश में प्रचलित विभिन्न शोध-संघटनों का पूरक होना चाहिए। उसके लिए समुचित तो यही होगा कि वह ऐसे विषयों पर शोधकार्य हाथ में ले जो कि आज तक उपेक्षित रहे हों तथा प्रशासकीय एवं इस कोटि की अन्य सहायता के बिना उन पर शोधकार्य न किया गया हो। इस श्रेणी के विषयों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, जैसे—उन देशों की संस्कृति का अध्ययन, जिनसे अतीतकाल में भारतवर्ष का सम्पर्क रहा है। संस्कृत भाषा, वैदिक साहित्य, भारोपीय अध्ययन तथा भारतीय दर्शन एवं धर्म के अध्ययन विभाग इस केन्द्रीय संस्थान के प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण अङ्ग होने चाहिए। साथ ही साथ इस संस्थान में मुण्डा, द्राविडी, चीनी, तिब्बती एवं संस्कृति से उसके सम्बन्ध पर भी एक पृथक् विभाग नियत होना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक तीसरा विभाग भी हो जिसमें मिस्र तथा पार्श्ववर्ती (हिट्टाइट तथा ईरानी) भाषाओं का विशेष अध्ययन किया जा सके। एक चौथे विभाग में मध्य-एसिया, नेपाल, तिब्बत तथा चीन का अध्ययन होना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस केन्द्रीय संस्थान में एक पाँचवें विभाग का होना भी आवश्यक है, जिसमें कि इण्डोनेसिया तथा दक्षिणपूर्वी एसियाई देशों का अध्ययन किया जा सके। केन्द्रीय पाण्डुलिपि सर्वेक्षण की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। यह विभाग संस्थान के संस्कृत-विभाग के साथ काम कर सकता है।

(५६) इसके अतिरिक्त इस केन्द्रीय संस्थान के दो और उपयोगी कार्य हो सकते हैं। वह भारतीय ज्ञान की वार्षिक ग्रन्थ सूची तैयार कर सकता है तथा सूचनात्मक प्रसंगों, सूचनाओं, सम्पर्कों एवं पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपियों को देश के विभिन्न भागों तथा विदेशों से प्राप्त करके देश के विभिन्न केन्द्रों में शोधकार्य में लगे हुए विद्वानों तथा संस्थानों की सहायता द्वारा एक विनिमय तथा निस्तार केन्द्र का भी कार्य कर सकता है। इस कार्य के विधिवत् सम्पादन के लिए अपने कर्मचारियों में प्राध्यापकों तथा अन्य कोटि के शोध-विद्वानों की नियुक्ति करनी होगी। साथ ही साथ संस्थान को नवयुवकों के लिए एक शोध-प्रशिक्षण पाठ्यक्रम के चलाये जाने पर तथा उन छात्रों को छात्रवृत्ति की व्यवस्था पर भी विशेष ध्यान देना होगा। कुछ शोध-छात्रों को विदेशों में भेजने की भी आवश्यकता होगी तथा इसी प्रकार विदेशी विद्वानों को भी अपने यहाँ आमन्त्रित करना आवश्यक होगा। ये व्यवस्थाएँ भी केन्द्रीय संस्थान को करनी होंगी। ऊपर हम पुरातत्त्व-नियोग (Missions) की चर्चा कर चुके हैं। इस नियोग का भी प्रबन्ध इस केन्द्रीय संस्थान के अधीन रहेगा। इस नियोग में केवल पुरातत्त्ववेत्ता ही सम्मिलित नहीं किये जायेंगे, बल्कि भाषाविदों, साहित्यिकों, लोकसाहित्यकारों तथा कला के विद्वानों का यह एक सम्मिलित नियोग होगा। जिससे जिस सामग्री का वे अध्ययन करें या जिन्हें कि वे विदेशों से लायें, वह उन देशों की संस्कृति के सभी पहलुओं का द्योतक हो। जहाँ तक इस केन्द्रीय भारतीय ज्ञान-संस्थान की प्राशासनिक व्यवस्था का प्रश्न है, इस सन्दर्भ में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। आवश्यक परामर्श, प्राशासनिक व्यवस्था एवं सञ्चालन-कार्य के लिए इस संस्थान में विशेषज्ञों की एक समिति का संघटन किया जायगा।

(५७) हम एक तथ्य पर पुनः बल देना चाहेंगे। वह यह है कि एक परिपुष्ट संस्कृति-विभाग के बिना इस केन्द्रीय संस्थान का कार्यारम्भ नहीं किया जा सकता। न तो ऐसा किया ही जाना चाहिए। यह अत्यन्त आवश्यक होगा कि संस्कृत को इस संस्थान का एक महत्त्वपूर्ण विषय बनाये जाने पर विशेष ध्यान दिया जाय। इस व्यवस्था पर हम विशेष बल इसलिए देना चाहते हैं कि हमें भय है कि पुरातत्त्व, इतिहास तथा अन्य सम्बद्ध विषयों का भार इस संस्थान में कहीं इतना अधिक न बढ़ जाय कि वे संस्कृत का गला दबा बैठें, जिससे कि अन्ततोगत्वा वह संस्थान से बाहर ढकेल दी जाय।

समन्वयीकरण

(५८) उच्चकोटि के शोध स्तरों तथा प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में विभिन्न विश्वविद्यालयों के बीच एकरूपता की आवश्यकता पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। विश्वविद्यालयों, व्यक्तियों तथा व्यक्तिगत संस्थाओं में जो शोधकार्य चल रहे हैं, उन सभी के लिए सुधार के कुछ मार्ग बताये जा सकते हैं। यह तथ्य किसी विज्ञ से छिपा नहीं है कि उपयोगी विषयों का एक विशाल समूह शोध की प्रतीक्षा कर रहा है।

शोध का क्षेत्र यथार्थ में अत्यन्त व्यापक है, किन्तु इतना होने पर भी हम देखते हैं कि हमारे शोधछात्र इस विपुल शोध-सामग्री से नये-नये ऐसे उपयोगी विषयों का चयन नहीं किया करते, जिनपर शोधकार्य कभी न किया गया हो। एक ही विषय की पुनरावृत्ति अथवा एक या एक से अधिक केन्द्रों में एक ही विषय पर किये जाने वाले शोधकार्य सम्बन्धी व्यर्थ श्रम के अवाञ्छनीय उदाहरण सामने आते हैं। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत के विद्वानों तथा भारतीय विद्या-विशेषज्ञों के मध्य अधिक से अधिक समन्वयीकरण तथा सुव्यवस्थित कार्य पद्धति की प्रवृत्ति बढ़ाने से ही पुनरावृत्ति की सम्भावना कम की जा सकती है। अन्तर्विश्वविद्यालयीय परिषद् (Inter-University Board) विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्रचलित शोध-विषयों की सूची प्रकाशित किया करता है, किन्तु अध्यापकों तथा छात्रों को उनके इस प्रकाशन का पर्याप्त ज्ञान नहीं हो पाता। अतः यह आवश्यक है कि संस्कृत तथा भारतीय ज्ञान से सम्बद्ध जिन विषयों पर विभिन्न विश्वविद्यालयों में जो भी यथार्थ शोधकार्य उत्साहपूर्वक किये जा रहे हैं, उनकी विवरणात्मक सूची प्रतिवर्ष प्रकाशित होनी चाहिए तथा प्रत्येक विश्वविद्यालय में उसे प्रसारित करना चाहिए। केन्द्रीय संस्थान का यह कर्त्तव्य होगा कि वह इस सन्दर्भ में स्वतः छान-बीन करे तथा यह विवरणात्मक सूची तैयार करे। यह सम्भव है कि कुछ ऐसे शोधछात्र, जिन्हें पाण्डुलिपि इत्यादि मूल्यवान् सामग्री प्राप्त करने की सुविधा थी, वे उन्हीं विषयों पर कार्य करनेवाले अन्य शोधछात्रों की क्रियाओं में अवरोध उत्पन्न करने की चेष्टा करें या उन्हें आगे न बढ़ने देने की प्रवृत्ति में रुचि लें, क्योंकि इन छात्रों के पास शोधकार्य प्रचलित रखने के लिए समय है तथा उस कार्य को शीघ्रता से उत्साहपूर्वक सम्पन्न करने में वे समर्थ भी हैं। कुछ शोध-छात्र जिन विषयों पर अनुसन्धान कार्य कर रहे हैं अथवा जिन विषयों पर कार्य करने का उन्होंने कार्यक्रम बना लिया है उसके सम्बन्ध में वे बहुधा मौन इसलिए रहा करते हैं कि कोई अन्य छात्र उनके कार्य का अनुमान लगा कर उनके उन विषयों पर कुछ कच्चा-पक्का काम न कर डालें, जिस पर वे ठोस कार्य कर रहे हैं या ठोस कार्य करने की आशा रखते हैं। यदि विशुद्ध सहयोग का वातावरण उत्पन्न किया जाय तो ये दोनों ही शोधछात्र एक साथ काम करके पुनरावृत्ति तथा स्पर्धा का बहुत कुछ निराकरण कर सकते हैं।

सम्मेलन

(५९) उपर्युक्त समन्वयन की दिशा में समय-समय पर भारतीय ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी सम्मेलनों के आयोजन भी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इस प्रकार के सम्मेलनों के अवसर पर देश के विभिन्न भागों के विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों के विद्वान् आपस में मिलते हैं तथा उनके इस सम्पर्क से सहयोग एवं सहकारिता की भावना जागृत होती है। इस सन्दर्भ में अखिल भारतीय प्राच्य-सम्मेलन (All-India Oriental Conference) संस्कृत से सम्बद्ध विषयों का सर्वप्रमुख सम्मेलन है। यह सम्मेलन विभिन्न केन्द्रों में दो वर्षों में एक बार होता है। भारतवर्ष में आयोजित सम्मेलनों में केवल यही सम्मेलन है, जिसमें किसी भी क्षेत्र पर अपेक्षाकृत अधिक

व्यापक विचार विमर्श किया जाता है। इसके अतिरिक्त इन सम्मेलनों में विभिन्न विभागों की संख्या भी अन्य सम्मेलनों से अधिक होती है। उक्त अखिल भारतीय प्राच्य-सम्मेलन से दो और सम्मेलनों का जन्म हुआ है—भारतीय इतिहास कांग्रेस तथा भारतीय दर्शन कांग्रेस। एक वर्ष में इन दोनों की एक ही बैठक हुआ करती है। भारतीय भाषा-समिति (Linguistic Society of India), मुद्रासमिति (Numismatic Society) तथा संग्रहालय सभा की भी वर्ष में एक बार ही बैठक हुआ करती है। इन सभी सम्मेलनों में अखिल भारतीय प्राच्य-सम्मेलन समस्त भारतीय ज्ञान-विशेषज्ञों का सबसे बड़ा सम्मेलन केन्द्र है। इतिहास तथा दर्शन कांग्रेस दोनों के ही विषयों का समावेश इस सम्मेलन के एतत्सम्बन्धी दो पृथक् भागों में हो जाता है। मानवशास्त्रों से सम्बन्ध रखनेवाले देशों की यह सर्वप्रमुख परिषद् यद्यपि भारतीय विज्ञान कांग्रेस के समकक्ष है, तथापि उसे आज वह प्रश्रय तथा प्रोत्साहन नहीं प्राप्त है जो कि भारतीय विज्ञान कांग्रेस को सुलभ है। हमारी संस्तुति है कि इस प्राच्य-समिति को एक स्थायी रूप दिया जाय तथा उसे इतनी पर्याप्त राज्य-सहायता उपलब्ध हो कि वह एक पृथक् कार्यालय स्थापित कर सके तथा पूरे वर्ष अपना कुछ न कुछ कार्य प्रस्तुत करती रहे।

(६०) उपर्युक्त प्राच्य-सम्मेलन के विस्तार के लिए अब भी एक विस्तृत क्षेत्र विद्यमान है, जैसे अपने प्रचलित विभागों में वह बृहत्तर भारत तथा विदेशों से भारत के सांस्कृतिक सम्पर्क पर एक उपयोगी विभाग जोड़ सकता है। शासन को चाहिए कि वह इन विभागों के कार्यों में तथा इस प्रकार के अपने अन्य विभागों के कार्यों में भी हाथ बँटाने के लिए विदेशी विद्वानों को आमंत्रित करने के मार्ग में वह इस संस्था को आर्थिक सहायता स्वीकृत करे। इसके अतिरिक्त सम्मेलन के इन अधिवेशनों में आयोजित पण्डित-परिषद् की व्यवस्था को उसका एक नियमित अंग बना दिया जाना चाहिए। सम्प्रति इस सम्मेलन का अधिवेशन तीन दिनों का होता है। इसे पाँच दिनों का कर देना चाहिए। पाँच दिनों की बैठक से अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों पर साङ्गोपाङ्ग विचार विमर्श किया जा सकेगा तथा विभिन्न विभागों को अपेक्षाकृत अधिक कार्य करने का अवसर सुलभ हो सकेगा। इस सम्मेलन में देश-विदेश के विद्वान् तथा संस्कृत-स्नेही जन भी भाग लेते हैं। अतः इसके सञ्चालकों को हमारा सुझाव है कि इस सम्मेलन की लोकप्रियता को कम न करते हुए यह उचित है कि लेखों के चयन में अधिक कठोर स्तर की प्रक्रिया अपनायी जाय। सम्मेलन के लिए जो लेख स्वीकृत किए जायँ उनके सारांशों को बहुत पहले ही तैयार करा लेना चाहिए, जिससे उनपर और गम्भीर विचार-विमर्श किया जा सके। यतः यह अखिल-भारतीय प्राच्य-सम्मेलन (All-India Oriental Conference) ही केवल एक ऐसा केन्द्र है जहाँ कि भारत के नये तथा पुराने सभी भारतीय ज्ञान विशेषज्ञ एकत्रित होकर अपने कार्य की मान्यता बढ़ाना चाहते हैं। यह संस्था भारतीय ज्ञान से सम्बद्ध शोध-क्षेत्र के लिए एक प्रभावशाली प्रेरकतत्त्व का कार्य करती है। यही नहीं बल्कि यह सम्मेलन विद्वानों के समक्ष शोध के नये नये क्षेत्र प्रकाशित करता है तथा विभिन्न क्षेत्रों के शोध-कार्य में संलग्न विद्वानों को अपने साथियों से सम्पर्क स्थापित करने का अवसर प्रदान करता है। इसलिए स्पष्ट है कि यह सम्मेलन शोधकार्य के समुन्नयन तथा

नवयुवक शोधछात्रों में उत्साह भरने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। अतः हमारा सुझाव है कि विश्वविद्यालय तथा समान संस्थाएँ अपने छात्रों को अधिक से अधिक संख्या में इन सम्मेलनों में भाग लेने की सभी सुविधाएँ प्रदान करें।

(६१) उक्त अखिल-भारतीय प्राच्य-सम्मेलन (All-India Oriental Conference) को एसियाई देशों तथा संस्कृतियों से सम्बद्ध नये विभाग विकसित करने के लिए शासन जो आर्थिक सहायता प्रदान करेगा, उससे केवल शैक्षिक लाभों से कहीं अधिक अन्यान्य लाभ भी होंगे। महायुद्ध के उपरान्त एसिया महाद्वीप के देश अपेक्षाकृत एक दूसरे के अधिक समीप आ गये हैं तथा आवागमन के साधन भी सुगम हो गये हैं। अब यह अनुभव किया जा रहा है कि भारत तथा एसिया महाद्वीप के अन्य देशों के बीच अपने अपने अतीत के सम्बन्धों को पुनः जागृत किया जाय। इस लक्ष्य की बहुत कुछ पूर्ति एसियाई प्राच्य-विद्या-विशारदों के सामयिक सम्मेलनों के माध्यम से की जा सकती है। इसलिए यह वाञ्छनीय होगा कि अखिल-एसियाई प्राचीन संस्कृतियों के सम्मेलन स्थल के रूप में भारत सबसे पहले आगे बढ़े। अध्ययन तथा विद्वत्ता के बन्धन विश्वव्यापी हुआ करते हैं, अतः एक सर्वसामान्य सम्मेलन में एसिया के विभिन्न देशों के विद्वानों को एकत्रित करने का कार्य सद्भावना तथा भाईचारे की भावना उत्पन्न करने के मार्ग में बहुत कुछ सहायक सिद्ध होगा। मानव इतिहास के विभिन्न युगों में मानवलोक ने अपनी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों का परस्पर विनिमय किया है। मानव समाज द्वारा प्राप्त ज्ञान के जिस स्वरूप को आज हम देख रहे हैं, वह किसी एक राष्ट्र की उपलब्धि नहीं है। वह तो बड़े तथा छोटे, मृत तथा जीवित सभी राष्ट्रों के पुञ्जीभूत अंशदान का प्रतिनिधित्व करता है। मानव ज्ञान के इस पुञ्जीभूत स्वरूप की रचना में पूर्वी देशों का, विशेषतः भारतवर्ष का, अत्यधिक योगदान रहा है। अतीतकाल में हमारे देश की धार्मिक संस्थाओं तथा व्यापारिक अभियानों ने सुदूर देशों की यात्रा के माध्यम से उन देशों से सांस्कृतिक सम्बन्ध जोड़ने में जो सफलता प्राप्त की थी वह आज किसी विज्ञ जन से तिरोहित नहीं है। हमारे शैक्षिक अभियान भी आज वही कार्य सम्पन्न कर रहे हैं। एसिया के देशों को एक दूसरे का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है। प्रत्यक्ष है कि विद्वानों की इस सर्वसामान्य सभा से बढ़कर इस प्रकार के ज्ञानार्जन को विकसित करने के लिए किसी अन्य केन्द्र की कल्पना नहीं की जा सकती। प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्धों के प्रकाश में इस सम्मेलन के द्वारा नवीन सहकारिता संवर्धित की जा सकती है। निःसन्देह ही यह एक महत्त्वाकांक्षी योजना है, पर इस सन्दर्भ में हम यह सुझाव देना चाहते हैं कि केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासनों से यदि सक्रिय सहायता सुलभ हो जाय तो यह अखिल-भारतीय प्राच्य-सम्मेलन एसिया के प्राच्य-विद्या विशेषज्ञों के बीच एक व्यापक मित्रता स्थापित करने की सम्भावनाओं पर भली-भाँति अन्वेषण करने में समर्थ हो सकता है।

पारितोषिक

(६२) न्यासों तथा प्राभूतों द्वारा स्थापित किये गये व्याख्यातापदों के समान पारितोषिक प्रदान करनेवाली संस्थाएँ भी ठोस शोधक्षेत्र के समुन्नयन में

प्रभावी प्रेरणा जागृत कर सकती हैं। यह एक सन्तोष का प्रसंग है कि साहित्य संस्थान (अकादमी) संस्कृत के सर्वोत्कृष्ट व्याख्यात्मक ग्रन्थ के लिए पाँच हजार रूपयों का पुरस्कार प्रदान करता है। अखिल भारतीय प्राच्य-सम्मेलन (All-India Oriental conference) को भी चाहिए कि वह अपने अधिवेशन के पूर्व दो वर्षों में किये गये भारतीय ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विशिष्ट ग्रन्थ के लिए एक आकर्षक पुरस्कार की व्यावस्था करे।

स्थायी पूँजी तथा न्यास (Foundations and Trusts)

(६३) शोध-संस्थानों तथा विश्वविद्यालयों को समय-समय पर सर्वसाधारण धर्मादों से भी कुछ धन प्राप्त होता रहता है। विद्वत्ता के कुछ ऐसे भी पोषक विद्यमान हैं जो कि व्यक्तिगत रूप से विद्वानों को आश्रय देते हैं। कुछ दार्शनिक विद्वानों तथा संस्कृत-पण्डितों को भी संस्कृति सम्बन्धी कार्यों के लिए विदेश-यात्रा के निमित्त आर्थिक सहायता प्राप्त होती है, किन्तु अमेरिका की बड़ी-बड़ी दान-पूँजियों तथा भारत में टाटा तथा कतिपय अन्य दान-पूँजियों, जो कि केवल वैज्ञानिक कार्य के लिए ही सहायता देती हैं, की तुलना में हमारे देश में संस्कृत, पुरातत्त्व, भारतीय दर्शन इत्यादि में प्रौढ़ अध्ययन एवं शोध-कार्य के लिए विशेष दान-पूँजियों की व्यवस्था नहीं है। आयोग की यह इच्छा है कि संस्कृति के लोकहितैषी भारतीय समाश्रयदाता एक साथ मिलकर संस्कृत तथा सम्बद्ध विषयों पर समुन्नत अध्ययन के लिए इस देश में एक अखिल भारतीय स्थायी पूँजी प्रतिष्ठापित करें।

(६४) प्रारम्भ में ही इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि हमारे साहित्य, हमारी विचारधाराओं एवं हमारे इतिहास से सम्बद्ध शोध या उनके समालोचनात्मक अध्ययन का कार्य हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों की भावनाओं के लिए कोई अज्ञात वस्तु नहीं थी। यदि हम चाहते हैं कि हम अपनी सांस्कृतिक पैतृक सम्पत्ति को समुन्नत तथा शक्तिशाली बनायें तो हमारे लिए यह परमावश्यक होगा कि हम अपने देश के शोधकार्य को एक सुव्यवस्थित मार्ग पर ले चलें; क्योंकि सांस्कृतिक रिक्थ का विकास एवं उसका दृढ़ीकरण सुव्यवस्थित शोधकार्य पर ही निर्भर रहा करता है। वह भी एक समय था कि अन्य देशों के विद्वान् तथा तीर्थयात्री हमारे देश में अध्ययन के लिए आया करते थे। कहना न होगा कि अब वह समय आ चुका है जब कि हम अपते अध्ययन तथा पाण्डित्य का स्तर इस प्रकार ऊँचा उठावें कि ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य से भारत में आये हुए विदेशी बन्धुओं के आतिथ्य का गौरव हमें पुनः प्राप्त हो सके। इसके अतिरिक्त हम एक और कारण का उल्लेख करना चाहते हैं, जिससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि प्राच्य-शोधकार्य पर हमें विशेष तत्परतापूर्वक अब क्यों ध्यान देना है। यूरोप तथा अमेरिका में अब वह बात नहीं है, जो कि वहाँ एक शताब्दी पूर्व थी। आज इन महाद्वीपों में संस्कृत एवं प्राच्य विषयों का पाण्डित्य गिरती दशा में है। अब वे दिन गये जब कि इन देशों में संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित हुआ करते थे तथा संस्कृत के बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचना हुआ करती थी। इसके ठीक विपरीत हमारे देश में संस्कृत के क्षेत्र में दिनों-दिन

अभिरुचि बढ़ती ही जा रही है। अतः अब यह परम आवश्यक हो गया है कि हम अपने देश के विद्वानों को शोध-सम्बन्धी ऊपर बतायी गयी सुविधाएँ उपलब्ध करायें ताकि वे भारतीय विद्या तथा ज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में विश्व को एक नयी दिशा देने योग्य बन सकें; क्योंकि शोध एवं अध्ययन प्रक्रिया उनकी अपनी है।

(६५) यह सत्य है कि इस युग में वैज्ञानिक तथा प्राविधिक अध्ययन अधिक से अधिक राज्यप्रश्रय प्राप्त करें, किन्तु इसका कोई कारण नहीं दिखायी पड़ता कि मानवशास्त्रीय (साहित्य, कला, दर्शन, इतिहास आदि) अध्ययन हमारी उदासीनता एवं उपेक्षा के पात्र बनें। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि आजकल हमारे विद्यालयों में वैज्ञानिक एवं प्राविधिक शिक्षा की ओर तीव्र झुकाव है तथा बिना कुछ सोचे विचारे हमारा छात्रवर्ग इन विषयों के पाठ्यक्रम में भीड़ लगाये रहता है। इनमें से अनेक ऐसे भी छात्र हुआ करते हैं जो कि वैज्ञानिक अथवा प्राविधिक शिक्षा के लिए उपयुक्त नहीं हुआ करते। ऐसी स्थिति में ऐसे छात्रों को मानवीय शास्त्रों के अध्ययन की ओर प्रोत्साहित न करना एक आश्चर्यजनक प्रसङ्ग ही कहा जायगा।

(६६) संस्कृत का अध्ययन मानवशास्त्रों के अध्ययन का एक अङ्ग है। भारतीय दर्शन आदि मानवविद्या के अन्य अंगों के समान एक अस्वास्थ्यकर जलवायु में वह नहीं पनप सकता। ऐसी दशा में जब तक कि हम अपनी शिक्षानीति का विचारपूर्वक निर्धारण नहीं करते तथा मानवविद्या सम्बन्धी विषयों का अपने शिक्षा के पाठ्यक्रम में यथोचित चयन द्वारा उसे सुदृढ़ नहीं बनाते तथा जब-तक कि हमारा छात्रप्रवाह समुचित स्रोत से प्रवाहित नहीं होता तब-तक कभी यहाँ तथा कभी वहाँ केवल घण्टी बजाकर यह बहाना करना कि हम संस्कृत या अन्य सम्बद्ध भाषा, साहित्य अथवा दर्शन को सहायता कर रहे हैं, कोई संगति नहीं रखता। हम पश्चिम की नकल करते तो हैं पर पूर्णतः या उसके उत्कृष्ट अंशो की नहीं। मेजाच्यूज़ेट्स प्राविधिक संस्थान में सम्भवतः मानवीय विद्याओं का एक सुदृढ़ पाठ्यक्रम है। इस पाठ्यक्रम की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता तो यह है कि इसमें पश्चिमेतर साहित्य (पूर्वी देशों का साहित्य) का अध्ययन अनिवार्य रखा गया है। इस पाठ्यक्रम के अवलोकन से प्रत्यक्ष होता है कि इसमें पचास-साठ प्रतिशत प्राविधिक विषय, चालीस से पचास प्रतिशत तक सामान्य शिक्षा का अंश भी जुड़ा हुआ है, जिसमें प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान तथा मानवीय विद्याओं का समावेश है। अमेरिका की प्राविधिक शिक्षा में तो सामान्य शिक्षा का सम्पूर्ण भाग निर्धारित किया गया है। इसलिए हम यह सुझाव देना चाहेंगे कि हमारे देश के विश्वविद्यालयों में वैज्ञानिक तथा प्राविधिक पाठ्यक्रम में मानवीय शास्त्रों (विशेषतः संस्कृत तथा भारतीय दर्शन, इतिहास तथा संस्कृति) के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। साथ ही साथ विश्वविद्यालयों एवं शोध-संस्थानों को संस्कृत तथा समान सम्बद्ध शोधकार्य के लिए इस अध्याय में जिन मार्गों का हमने सुझाव दिया है उनके अनुसार सुविधाओं में ठोस वृद्धि की जानी चाहिए।

—:o:—

अष्टम अध्याय

पाण्डुलिपियाँ

(१) इतिहास के चार हजार वर्षों से भी अधिक समय में संस्कृत ने एक विलक्षण साहित्यराशि का सृजन किया है। इस दीर्घकाल में संस्कृत के क्षेत्र में, ज्ञान के क्षेत्र में तथा ज्ञान के अनेकानेक अंगों तथा शाखा-प्रशाखाओं का ही विकास नहीं हुआ और गम्भीर विचारों की भावाभिव्यक्ति मात्र ने ही संस्कृत वाङ्मय को समृद्ध नहीं बनाया, बल्कि ज्ञान की जिन-जिन शाखाओं ने इस समय जन्म लिया, उनसे सम्बद्ध एक अद्भुत साहित्य-सरिता निरन्तर प्रवाहित होती रही है। यह कहना लेशमात्र अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि जिन ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों ने शताब्दियों से इस भाषा को समृद्ध बनाया है, यदि केवल उनकी संख्यामात्र पर ही दृष्टि डाली जाय तो यह स्पष्ट है कि संस्कृत विश्व की समस्त भाषाओं में श्रेष्ठ भाषा है। संस्कृतवाङ्मय की यह समस्त साहित्यसामग्री मौखिक तथा लिखित रूप में परम्परा से प्राप्त होती चली आ रही है। लिखित रूप में इस विशाल साहित्यसामग्री को कई एक लिपियों में तथा भोजपत्र, ताड़पत्र, कागज तथा कभी-कभी कपड़े, लकड़ी एवं पत्थर जैसी वस्तुओं पर भी अङ्कित करके सुरक्षित रखा गया है। इस लिखित सामग्री का अपार समूह केवल अपनी लेखन सामग्री या लिपियों की दृष्टि से ही रोचक नहीं है, बल्कि लेखनकला के सौन्दर्य तथा उसकी सजावट ऐसी सहायक कलाओं की दृष्टि से भी उसमें एक अद्भुत आकर्षण विद्यमान है। वस्तुतः इस लिखित समाग्री की महत्ता का जितना भी चित्रण किया जाय वह अपर्याप्त ही बना रहेगा। संस्कृत साहित्य तथा पाण्डित्य एवं उसके विभिन्न अंगों की समुन्नति तथा उसके विकास को सुरक्षित रखने के माध्यम के रूप में इस सामग्री ने एक अद्वितीय भूमिका का निर्वाह किया है।

(२) संस्कृत के अध्ययन से इन पाण्डुलिपियों का सदैव से निकटतम सम्बन्ध रहा है, क्योंकि इस भाषा के ग्रन्थ इन पाण्डुलिपियों में ही सुरक्षित रखे गये हैं। इस सन्दर्भ में हमें एक प्रसिद्ध लोकोक्ति याद आती है कि—"कोशवान् आचार्यः" अर्थात् जिस विद्वान् के पास प्रतिनिधिभूत पाण्डुलिपियों का जितना ही बड़ा संग्रह होगा तथा उनका पाण्डुलिपि-पुस्तकालय जितना बृहद् होगा, वह उतना ही बड़ा विद्वान् भी होगा। अधिक से अधिक पाण्डुलिपियों के संग्रह का अर्थ है अध्ययन के प्रत्येक विशेष अङ्ग से सम्बद्ध दुर्लभ एवं उन्चकोटि के योगदानों का ज्ञान। किसी एक ग्रन्थ के विषय में भी यही तथ्य चरितार्थ होता है। जिस ग्रन्थ की जितनी अधिक पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होंगी, उनके कठिन एवं विवादग्रस्त स्थलों के विभिन्न पाठभेदों का मिलान करके ठीक-ठीक शुद्धपाठ को निश्चित करने की उतनी

ही अधिक सुविधा भी प्राप्त होगी। इस प्रकार प्राचीन भारत में प्रत्येक अध्यापक के पास उसके घर में या पाठशाला में या उससे सम्बद्ध मन्दिर, मठ या किसी अन्य धार्मिक संस्था में उसका अपना पाण्डुलिपि संग्रह हुआ करता था। इसके अतिरिक्त सार्वजनिकरूप में शिक्षासंस्थाओं, मठों, मन्दिरों, महाविद्यालयों तथा राजमहलों में भी पाण्डुलिपि संग्रहालय हुआ करते थे, जहाँ कि उस समय के अग्रगण्य विद्वानों को आश्रय दिया जाता था, शास्त्रार्थ आयोजित किए जाते थे तथा साहित्यिक कार्यों के समुन्नयन की भी व्यवस्था की जाती थी। इस प्रकार उस समय हमारे विशाल देश के विभिन्न सुदूर स्थानों तक इन पाण्डुलिपियों को सुरक्षित रखे जाने के अनेक केन्द्र फैले हुए थे।

(३) जब हमारे बुद्धिजीवियों की क्रियाओं तथा आध्यात्मिक संस्कृति के विकास के क्षेत्र में हमारे देश को एक अद्वितीय स्थान प्राप्त करने का गौरव प्राप्त था तथा भारत इन क्षेत्रों में विश्व का मार्गदर्शक था। उस समय इन पाण्डुलिपियों में संरक्षित हमारा साहित्य संरक्षण के लिए, आवश्यकतानुसार लिप्यन्तरण के लिए (दूसरी भाषा की लिपि में लिखने के लिए) एवं स्थानीय भाषाओं में अनुवाद के लिए धर्मोपदेशकों तथा विद्वानों के द्वारा भारतीय सीमा से बाहर दूसरे देशों को भी ले जाया जाता था। यह बात किसी विज्ञ से छिपी नहीं है कि मध्य एसिया की खुदाई में संस्कृतसाहित्य के प्रारम्भिक विकासकाल से सम्बद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साहित्य प्रकाश में आया है। इसे कौन विद्वान् नहीं जानता कि मध्यपूर्वी देशों की भाषाओं में प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य, गणित तथा चिकित्साशास्त्र के ग्रन्थों का अनुवाद किया गया था। यह एक सुविख्यात तथ्य है कि हमारे प्राचीन भारतीय साहित्य की एक बहुत बड़ी राशि दक्षिणपूर्व एसिया ले जायी गयी तथा वहाँ उसका स्थानीय भाषाओं में अनुवाद किया गया। विद्वानों को यह भी भली-भाँति ज्ञात है कि बौद्धधर्म तथा भारतीय दर्शन एवं उनकी शाखाओं के रूप में सुलभ साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश तिब्बती तथा चीनी अनुवादों में अब तक सुलभ है, यद्यपि इनमें से कई एक के मूलग्रन्थ भारत में आज उपलब्ध नहीं हैं।

(४) भारत के अतीत की खोज केवल स्मारकचिह्नों, प्रस्तराभिलेखों (पत्थर पर अंकित अभिलेखों), शिल्प के स्वरूपों, मूर्तिकला के निर्माणों तथा शिलालेखों पर ही एकमात्र अवलम्बित नहीं है। खोज के इस महान् कार्य का एक बहुत बड़ा भाग इन पाण्डुलिपियों पर भी आश्रित है। पाण्डुलिपियों के इस महत्त्व का अनुभव करके ही इस देश के तथा विदेशों के भी भारतीय अध्ययन में तत्पर प्रमुख विद्वानों ने अपने अध्ययन की प्रारम्भिक अवस्था में ही देश के विभिन्न भागों में बिखरे इन पाण्डुलिपियों के संग्रह तथा संरक्षण का कार्य प्रारम्भ किया। इन पाण्डुलिपियों की प्राप्ति तथा उनका अध्ययन एवं अनुवाद का कार्य भी फाह्यान, ह्वेन्त्सांग तथा इत्सिंग जैसे बौद्ध चीनी यात्रियों की भारतयात्रा के उद्देश्यों में से एक प्रमुख उद्देश्य था। ईरान, ईराक तथा सीरिया के प्रदेशों में सासानीकाल तथा प्रारम्भिक इस्लामी शताब्दियों में तर्कशास्त्र, अध्यात्मविद्या, चिकित्सा, सिद्धान्त ज्योतिष, गल्प तथा कथा-साहित्य

एवं तंत्रशास्त्र सम्बन्धी संस्कृत पाण्डुलिपियों की बड़ी माँग थी। प्राचीनकाल से आज तक भारतवर्ष के राजा-महाराजा, यहाँ का धनी-मानी समाज तथा विद्वद्वर्ग अपने अपने पाण्डुलिपि संग्रह के निर्माण में तत्पर रहा है। बौद्ध मठों में तथा नालन्दा एवं विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों में एवं जैन भाण्डारों तथा पुस्तकालयों में भी पाण्डुलिपि संग्रहों की सूचना हमें प्राप्त हुई है। मुगलसम्राट् शाहजहाँ द्वारा आश्रयप्राप्त एक सुविख्यात सन्यासी विद्वान् कवीन्द्राचार्य का बनारस में एक समृद्ध पुस्तकालय था। इस पुस्तकालय की पुस्तकसूची आज भी उपलब्ध है तथा स्वामी जी के नाम सहित इसकी पाण्डुलिपियाँ समस्त विश्व में अब भी बिखरी पड़ी हैं।

(५) वर्तमान युग में पाण्डुलिपि संग्रह का सर्वप्रथम कार्य यूरोपीय तत्त्वावधान में सन् १७७४-७९ में किया गया। इस समय चेम्बर संग्रह, जो कि आगे चलकर बर्लिन संग्रह का साधक बना, की स्थापना की गयी। सन् १७९६ से १८०६ तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इञ्जीनियर तथा सर्वेक्षक कर्नल मैकेञ्जी ने मद्रास तथा दक्षिण भारत में पाण्डुलिपियों, शिलालेखों, स्थानीय उपाख्यानों (कथाओं) इतिहास तथा मानचित्र इत्यादि का एक विशाल संग्रह किया। मैकेञ्जी के इस संग्रह को कम्पनी ने खरीद लिया तथा सन् १८२८ में इसकी वर्णक्रमानुसार सूची एच्० एच्० विल्सन द्वारा तैयार की गयी। यूरोप के विद्वानों द्वारा संस्कृत की खोज तथा संस्कृत के अध्ययन एवं शोधकार्य में लग जाने के परिणामस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी में संस्कृत के कुछ हस्तलेख एकत्रित किये गये तथा उन्हें यूरोप के विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा ग्रन्थालयों में ले जाया गया। इन हस्तलेखों में से कई एक के विवरण यूरोपीय विद्वानों द्वारा पुस्तकसूचियों में अंकित किये गये हैं। विदेशियों के इस कार्य की प्रतिक्रिया स्वयं भारत में भी हुई तथा यहाँ भी व्यक्तियों तथा पुस्तकालयों ने पाण्डुलिपियों की खोज तथा उनके सर्वेक्षण का कार्य प्रारम्भ किया। सन् १८३८ में फोर्टविलियम कालेज कलकत्ता में स्थित पाण्डुलिपियों की सूची तैयार की गयी तथा सन् १८५९ में मुख्यतः बनारस में प्राप्त पाण्डुलिपियों की सामग्री के आधार पर एफ्० हाल ने संस्कृत दार्शनिक ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों की पुस्तक सूची तथा अनुक्रमणिका का निर्माण किया। बनारस संस्कृत कालेज में संगृहीत पाण्डुलिपियों का क्रमिक विवरण "पण्डित-पत्रिका" में प्रकाशित किया जाता था। सन् १८५८ से भारत के पश्चिमी, उत्तरी, पूर्वी तथा दक्षिणी भागों में तथा इनः प्रदेशों के भीतरी भागों में भी पाण्डुलिपि सर्वेक्षण का कार्य किया जाने लगा तथा व्यक्तियों एवं ग्रन्थालयों के पास सुलभ पाण्डुलिपियों की खोज के फलस्वरूप इनकी वास्तविक सूची तैयार करने के उद्देश्य से सूचनाएँ प्रस्तुत की गयीं। इस अभियान में सीमा स्थित नेपाल तथा श्रीलङ्का का भी सर्वेक्षण किया गया। महायान बौद्धधर्म तथा उससे सम्बद्ध विषयों पर नेपाल में प्राप्त पाण्डुलिपियों पर कलकत्ता के राजेन्द्रलाल मित्र तथा हरप्रसाद शास्त्री जैसे भारतीय विद्वानों के लेख प्रकाशित हुए। कीलहार्न, बूलर तथा पिटर्सन जैसे भारत में कार्य करने वाले पाश्चात्य पण्डित तथा राधाकृष्ण एवं राजेन्द्रमित्र, भगवान् लाल इन्द्रजी, आर० जी० भण्डारकर

तथा हरप्रसाद शास्त्री जैसे भारतीय पण्डितों ने विभिन्न प्रदेशों के शासकों को अपने-अपने क्षेत्र में प्राप्त पाण्डुलिपि सामग्री के सर्वेक्षण संग्रहों के लिए सुव्यवस्थित ग्रन्थालयों की स्थापना तथा इन संग्रहों की सूची तैयार करके तत्सम्बन्धी आख्याओं के प्रकाशन की दिशा में अभिरुचि उत्पन्न किया। इसी समय पाण्डुलिपियों की एक बहुत बड़ी संख्या देश से बाहर यूरोप को चली जा रही थी। अतः विदेशों में जाने-वाली पाण्डुलिपियों की सूची बनाने का कार्य भी प्रारम्भ किया गया। विद्वानों की दृष्टि में आये हुए हस्तलिखित ग्रन्थों की राशि इतनी अधिक बढ़ गयी थी तथा उन्नीसवीं शताव्दी के अन्त में उनके संग्रह-केन्द्रों की संख्या भी इतनी अधिक हो गयी थी तथा वे इतने दूर-दूर तक फैले हुए थे कि पाण्डुलिपियों की खोज तथा उनकी सूची बनाने के कार्य में अनुरक्त जर्मनी के एक प्रमुख प्राच्य विद्वान् थियोडोर आफ्रेख्ट ने उस समय तक ज्ञात समस्त संस्कृत पाण्डुलिपियों का उल्लेख करते हुए उनकी तथा उनके लेखकों की वर्णक्रमानुसार एक उपयोगी संग्रह सूची तैयार की थी। इस संग्रह सूची का उन्होंने "कैटेलागस् कैटालागोरम्" नाम रखा। इस चिरस्मरणीय ग्रन्थ की तीन जिल्दों को उन्होंने सन् १८९१ से १९०३ तक प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या ११९५ है तथा इसमें उन्हें ज्ञात पाण्डुलिपियों की अट्ठानबे सूचियों तथा वर्ण-क्रमानुसार ग्रन्थसूची दी गयी है। संस्कृत पाण्डुलिपियों के इतिहास में आफ्रेक्ल्ट का 'कैटेलागस् कैटालागोरम्" अपना एक विशेष महत्त्व रखता है।

(६) हमने "ऐतिहासिक सिंहावलोकन" वाले अध्याय में इस बात की चर्चा की है कि भारतवर्ष में शोधचेतना के जागृत हो जाने के कारण हमारे देश में शोध-संस्थान स्थापित किये गये। विश्वविद्यालयों की अभिरुचि भी शोध-कार्य की ओर बढ़ी। रजवाड़ों में संस्कृतमहाविद्यालय स्थापित किये गये तथा इन सभी स्थानों में नये-नये पाण्डुलिपि संग्रहालय खोले गये। कुछ प्रादेशिक सरकारों ने भी पाण्डुलिपियों की खोज करने के लिए विद्वानों का एक जङ्गमदल संघटित किया। इस जङ्गमदल का यह कर्त्तव्य था कि वह संस्कृत-शिक्षा के विभिन्न केन्द्रों की यात्रा करे तथा हस्त-लिखित ग्रन्थों को खोजे। इस प्रकार प्रोफेसर आफ्रेक्खट के ग्रन्थ प्रकाशन के दशकों बाद पाण्डुलिपि सामग्री की राशि इतनी बृहत् हो गयी कि संस्कृत-पाण्डुलिपियों के व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक संग्रहालयों की वर्तमान स्थिति का पुनः पर्यालोचन आव-श्यक हो गया। यह आवश्यक समझा गया कि आफ्रेक्खट का पुनः निरीक्षण करके उसे आधुनिक बनाया जाय। सन् १९३४-३५ में पंजाब विश्वविद्यालय के स्व० डा० वूलर के सुझाव पर अन्त में मद्रास ने सन् १९३५ के अन्त में इस ग्रन्थ के पुनः निरीक्षण तथा उसे अद्यावधिक बनाने की योजना को अपने हाथ में लिया। 'इस संशोधित संस्करण की निर्माण योजना नवीन (न्यू) कैटेलागस् कैटेलागोरम्' रचना की संज्ञा दी गयी। मूल्यवान् संग्रह दक्षिण भारत में ही विशेषतः सुलभ हैं। इस तथ्य को दृष्टिगत करते हुए डाक्टर वूलर ने स्वयं यह प्रेरणा दी थी कि मद्रास विश्व-विद्यालय के द्वारा ही यह योजना चलायी जाय।

(७) "नवीन कैटेलागस् कैटेलागोरम्" पर जब कार्य प्रारम्भ किया गया तब यह तथ्य प्रकाश में आया कि आफ्रेक्खट के समय से जो ग्रन्थसूचियाँ प्रकाशित

हुई हैं उनके अतिरिक्त भी व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक दोनों ही प्रकार के संग्रहों की एक ऐसी विशाल ग्रन्थराशि पड़ी हुई है। इस समस्या का सामना करने के लिए विशेष कर्मचारियों की व्यवस्था करनी पड़ी। ग्रन्थ को तैयार करने के प्रारम्भिक समय में यह बात भी ध्यान में आयी की पाण्डुलिपियों के सार्वजनिक संग्रहों के अतिरिक्त प्राचीन पंडितों के व्यक्तिगत संग्रहों में भी जो हस्तलिखित पुस्तकें एकत्रित की गयी हैं उनकी भी इसी प्रकार की कोई भी सूची नहीं छपी है। ये ग्रन्थ सामान्यतः उन विद्वानों के उत्तराधिकारियों के पास पड़े हुए हैं। इस प्रकार यह अनुभव किया गया कि जिस सामग्री को आफ्रेक्ख्ट ने अपने 'कैटेलागस् कैटेलागोरम्' में सम्मिलित किया था, इस नवीन ग्रन्थ में सम्मिलित की जाने वाली सामग्री की मात्रा उससे अनुमानतः अठगुनी होगी। इसके अतिरिक्त प्राकृत, बौद्धधर्म तथा जैनधर्म सम्बन्धी समस्त पाण्डुलिपि सामग्री को आफ्रेक्ख्ट ने अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया था। भारतीय अध्ययन के इतिहास में आज की स्थिति में 'न्यू कैटेलागस् कैटेलागोरम्' के निर्माण के अवसर पर इनको छोड़ देने का हम कोई भी बहाना नहीं कर सकते। ये सभी क्षेत्र संस्कृत के अध्ययन से घनिष्ठतया सम्बद्ध हैं तथा संस्कृतभाषा एवं साहित्य के अध्ययन के साथ ही साथ इनका भी अध्ययन चलता है। इस कमी को पूरा करने के लिए जब "नवीन कैटेलागस् कैटेलागोरम्" के लिए बौद्ध तथा जैन पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण किया गया तथा इस सन्दर्भ में भण्डारकर प्राच्यशोध-संस्थान, पूना, द्वारा किये गये सर्वेक्षण ग्रन्थ "जैनरत्नकोष' का अवलोकन किया गया तो यह जान पड़ा कि अभी भी एक वृहत् पाडुलिपि सामग्री बची हुई है, जिसका भी इस ग्रन्थ में समावेश किया जाना परमावश्यक है। यह आवश्यक है कि जैनमठों में उपलब्ध सूची की भली-भाँति छान-बीन की जाय, क्योंकि उसमें सामान्य संस्कृत-साहित्य तथा जैनेतर विचारसम्प्रदाय के दुर्लभ तथा अमूल्य ग्रन्थों के नाम भी दिये गये हैं।

(८) पाण्डुलिपियों की खोज तथा उनका संग्रह तो निरन्तर बढ़ता ही रहेगा। ऐसी दशा में "नवीन केटेलागस् कैटेलागोरम्" के निर्माण कार्य के लिए यह निश्चित करना आवश्यक हो गया कि अमुक समय तक अमुक संख्या की पाण्डुलिपियों को सूचीबद्ध किया जायगा, किन्तु इस ग्रंथ की प्रथम जिल्द के प्रकाशन के उपरान्त सूचना संग्रह का कार्य बराबर चलता रहा तथा अनेक अन्यान्य संग्रहों की हस्तलिखित या मुद्रित सूचियाँ भी एकत्रित होती रहीं। इस नवीन "कैटेलागस् कैटेलागोरम्" के संकलनकर्त्ता डाक्टर वी० राघवन् ने पत्राचार तथा समय-समय पर पर्यवेक्षण द्वारा देश में उपलब्ध समस्त पाण्डुलिपि-सामग्री को इस ग्रन्थ में संकलित किया। सन् १९५३-५४ में यूरोप में संगृहीत पाण्डुलिपि सामग्री के सर्वेक्षण के लिए मद्रास विश्वविद्यालय ने डाक्टर राघवन् को विदेश भेजा। अपने पर्यवेक्षणक्रम में डाक्टर राघवन् ने यह देखा कि यूरोप के विद्वान् जिन बीस हजार पाण्डुलिपियों की सूची तैयार कर चुके थे, उनके अतिरिक्त भी यूरोप के ग्रन्थालयों में बीस हजार और भी इस प्रकार की पाण्डुलिपियाँ रखी हुई हैं, जिनकी मुद्रित सूची नहीं बनी है। यहाँ तक कि यूरोप के समीपस्थ तथा दूरस्थ किसी भी विद्वान् को यह नहीं ज्ञात था कि

उनके देश के पुस्तकालयों में ये ग्रन्थ उपलब्ध हैं। ऐसी स्थिति में डाक्टर राघवन् ने इन बीस हजार पाण्डुलिपियों की सूची स्वयं तैयार की।

(९) अपनी देशव्यापी यात्रा में इस आयोग के सदस्यों को इन पाण्डुलिपियों के सन्दर्भ में और अधिक जाँच करने का अवसर प्राप्त हुआ। "नवीन कैटेलागस् कैटेलागोरम्" के सन्दर्भ में अध्ययन करने से सदस्यों को यह प्रत्यक्ष हुआ कि इस ग्रन्थ को तैयार करने में जो सूचनाएँ संकलित की गयी हैं तथा जो भी सामग्री प्रकाश में लायी गयी है, उसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी केन्द्र तथा ग्रन्थालय हमारे देश में विद्यमान हैं, जिनका कि विद्वानों को आज तक कोई पता भी नहीं था। अपने यात्राक्रम में इस आयोग ने इस प्रकार के पचास संग्रहों का अवलोकन किया है तथा उनकी सूची भी बनाई है। यह तथ्य भी हमारे सामने आया कि पहले जिन पाण्डुलिपियों की सूची बन चुकी थी, बाद में और भी अधिक विपुल पाण्डुलिपि सामग्री उनमें अङ्कित की गयी।

(१०) देश के कुछ क्षेत्र अब भी ऐसे हैं जहाँ कि राजकीय साधनों, स्थानीय संस्थाओं अथवा पाण्डुलिपियों के सर्वेक्षण का कार्य गम्भीरतापूर्वक नहीं किया गया है। राजस्थान, गुजरात तथा काठियावाड़ में जैन-सम्प्रदाय की पाण्डुलिपियाँ भरी पड़ी हैं। इन संग्रहों का विद्वानों को कोई ज्ञान नहीं हैं। नासिक के चारों ओर के क्षेत्रों में तथा गोदावरी के ऊपरी भाग के प्रदेश में पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षणकार्य अब तक नहीं हुआ है। आसाम तथा उड़ीसा भी इसी कोटि में आते हैं। हिमाञ्चल प्रदेश में भी सावधानी से पाण्डुलिपियों की खोज की जानी चाहिए। हमारी सूचना है कि इस प्रदेश में पाण्डुलिपियों के संग्रह विद्यमान हैं। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि जिन क्षेत्रों में अब तक पाण्डुलिपियों के नियमित संग्रह का कार्य हो चुका है, वहाँ अभी भी ऐसे संग्रह पड़े हुए हैं जिनका परीक्षण एवं मूल्याङ्कन नहीं किया गया है, जैसे—वाराणसी तथा केरल में। वर्तमान दशकों में ही केरल प्रदेश ने प्राचीन संस्कृतवाङ्मय के कतिपय संग्रहों को प्रकाश में लाकर पाण्डुलिपि शोध-क्षेत्र को समृद्ध बनाया है। केरल तथा उसके नम्बूदरीपाद वंशों के घरों की अधिक तत्परतापूर्वक छान-बीन करने की आवश्यकता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस खोजकार्य से कुछ ऐसे दुर्लभ तथा लुप्त उच्चकोटि के ग्रन्थ हमारे हाथ आ सकते हैं जिन्हें प्राप्त करने की प्रतीक्षा हमारे विद्वान् उत्सुकतापूर्वक विगत अनेक वर्षों से कर रहे हैं।

(११) जैसा कि तृतीय अध्याय में कहा जा चुका है कि जिन विभिन्न संस्थाओं को हमने देखा वहाँ पाण्डुलिपियों का संग्रह तथा उनका उपयोग दोनों की ही स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। हमने दो प्रकार के संग्रहालय देखे। कुछ तो सुव्यवस्थित हैं तथा कुछ में कर्मचारियों की कमी है और उनकी आर्थिकदशा भी क्षीण है। इन दोनों ही कोटि के संग्रहालयों में पाण्डुलिपियों की छान-बीन या तो नहीं की गयी थी या यदि की भी गयी थी तो उनकी पूरी सूची नहीं तैयार की गयी थी, न तो उनके प्रकाशन का ही कार्य किया गया था। कुछ केन्द्रों में,

तो पाण्डुलिपियों के वण्डल खोले भी नहीं गये थे तथा स्थान एवं काष्ठोपकरण के अभाव में ये बण्डल अनुपयुक्त स्थानों में भरे पड़े थे। कुछ स्थानों में हमने यह देखा कि संग्रहकार्य अब भी प्रचलित है तथा वहाँ पाण्डुलिपियाँ बराबर चली आ रही हैं। अनेक स्थानों के स्थानीय विद्वानों ने तथा उत्साही व्यक्तियों ने हमसे यह शिकायत की कि पाण्डुलिपियों के प्राप्त करने के स्थानों की जानकारी उन्हें प्राप्त है, किन्तु धन के अभाव से वे उन पाण्डुलिपियों को प्राप्त करने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं। कुछ ऐसे भी सग्रह हैं जो कि विद्वानों की पहुँच के बाहर हैं, विशेषतः राजमहलों के संग्रह, जिन्हें कि भारत सरकार द्वारा नियुक्त किया गया यह आयोग भी नहीं देख सकता। कुछ सुव्यवस्थित पुस्तकालयों तथा संस्थाओं में ग्रंथ-सूचियों की प्रेस प्रतिलिपियाँ तैयार की जा चुकी हैं, किन्तु धनाभाव के कारण उनका मुद्रण रुका हुआ है। ये सभी स्थितियाँ अत्यन्त निराशाप्रद हैं। ऐसी दशा में इस आयोग को यह अनुभव करने को बाध्य होना पड़ा कि ऐसे केन्द्रों में जहाँ कि शोधकार्य का महत्त्व समझा भी जाता था वहाँ भी पाण्डुलिपियों का प्रश्न सर्वदा ही अत्यधिक उपेक्षित बना हुआ है।

(१२) कोई भी निश्चित प्रस्ताव प्रस्तुत करने के पूर्व यह आयोग शोधकार्य के सम्बन्ध में इन पाण्डुलिपियों की आधारभूत उपयोगिता पर बल देना चाहता है। ये पाण्डुलिपियाँ निःसन्देह ही संस्कृत साहित्य के संरक्षण के साधन हैं। इनके आधार पर ही ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य होता है तथा शोध प्रबन्ध लिखे जाते हैं। रामायण तथा महाभारत, महाकाव्य तथा नाटक ऐसी महती रचनाएँ तथा दार्शनिक ग्रन्थ अपनी लोकप्रियता के कारण अनेक पाठभेदों के साथ कई पाण्डुलिपियों में परम्परा से हस्तान्तरित होते चले आ रहे हैं। इसलिए इस पाण्डुलिपिसंग्रह की छान-बीन एवं जाँच करके उनका समालोचनात्मक सम्पादन आज शोधकार्य का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग बन गया है।

(१३) संस्कृत साहित्य के दीर्घकालीन इतिहास के अनुशीलन से एक शक्तिशाली प्रसंग बार-बार हमारे सामने आता है। वह यह है कि जब कभी किसी भी क्षेत्र में किसी नये ग्रन्थ का उद्भव होता है या किसी क्षेत्र में कोई नया ग्रन्थकार प्रकाश में आता है तो उसकी यही अभिलाषा हुआ करती है कि उसके पूर्ववर्ती साहित्यकारों की रचनाएँ या तो भुला दी जायँ या उनका व्यवहार बन्द कर दिया जाय। इस प्रसिद्ध उदाहरण हैं कालिदास के पूर्ववर्ती नाटककार, पतञ्जलि द्वारा चर्चित पूर्ववर्ती काव्य, शङ्कर के पूर्ववर्ती वेदान्त शास्त्र के भाष्यकारों की रचनाएँ, सांख्य के प्रारम्भिक शास्त्रकार, भर्तृहरि के पूर्ववर्ती वैयाकरण तथा अतीत के अनेकानेक काव्यों, नाटकों तथा कविताओं की एक विपुलराशि, जिनकी चर्चा भाग्यवशात् पश्चात्वर्ती उपलब्ध साहित्य में की गई है। देश भर में बिखरी हुई पाण्डुलिपियों के सर्वेक्षण की नवीन चेष्टा द्वारा ही अतीत के उन साहित्यकारों तथा उनकी रचनाओं को पुनः प्राप्त किया जा सकता है। कौटल्य का अर्थशास्त्र, भास के नाटक तथा अत्यन्त प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र का ग्रन्थ "काश्यपसंहिता" जैसे ग्रन्थ शोधकार्य के

द्वारा ही खोज निकाले गये हैं। इससे यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि शोध के द्वारा अब भी कई एक प्रमुख ग्रन्थ प्रकाश में लाये जा सकते हैं। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की खोज करना ही पर्याप्त होगा। यह धारणा ठीक नहीं प्रतीत होती। हमें केवल इस प्रकार के ग्रन्थों की ही खोज नहीं करनी है, क्योंकि पाण्डुलिपि सामग्री में महत्त्वपूर्ण तथा साधारण सभी सामग्री मिली हुई रहती है तथा इन्हीं मिश्रित सामग्रियों के ढेर में से ही महत्त्वपूर्ण प्रमुख ग्रन्थ खोजकर बाहर निकाले जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में यह परमावश्यक है कि समस्त उपलब्ध पाण्डुलिपि समूह का संग्रह किया जाय तथा उसका व्यापक सर्वेक्षण भी हो।

(१४) ध्यान देने की तीसरी बात यह है कि पाण्डुलिपियों के प्रश्न से विश्वविद्यालयों तथा शोधसंस्थानों में किये जाने वाले शोधकार्यों के विषय तथा उनके स्तर का मार्मिक सम्बन्ध है। संस्कृत तथा उनके अन्यान्य अंगों के वास्तविक पठन-पाठन से भी पाण्डुलिपियों का प्रश्न अत्यन्त घनिष्ठतया सम्बद्ध है। विभिन्न शास्त्रों के निर्माण काल से सम्बद्ध महत्त्वशील प्रारम्भिक सामग्री सुलभ न होने के ही कारण शोध के क्षेत्र में कार्य करने वाले हमारे अनुसन्धाता छात्र बार-बार परिचित क्षेत्रों का ही पिष्टपेषण किया करते हैं। अभिनवगुप्त के पूर्वकालीन हस्त-लिखित ग्रन्थों का अनुसंधान अभी तक नहीं हो पाया है। इसी प्रकार भरत के "नाट्यशास्त्र" की टीकाओं की खोज करनी है। भट्टनायक तथा भट्टतौत ऐसे सुविख्यात साहित्यकारों की रचनाएँ अभी तक अंधकार में ही पड़ी हुई हैं। शाङ्करवेदान्त के पूर्ववर्ती वेदांतशास्त्र के क्षेत्र में उपवर्ष, बौधायन, भर्तृप्रपञ्च, तथा सुन्दर पण्ड्या की रचनाओं की चर्चा बाद के ग्रन्थों में तो की गई है, किन्तु इन ग्रन्थों का कहीं पता नहीं चलता। इनकी खोज की जानी चाहिए। नवीन तथा महत्त्वपूर्ण सामग्री के अभाव से छात्रों तथा सम्पादकों को सुलभ परिचित सामग्री से ही सन्तोष करना पड़ता है। यह सामग्री या तो घिसी-पिटी परिचित सामग्री होती है, या अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण होती है। नवीन तथा सद्यः प्राप्त सामग्री की कमी के कारण शोधकार्य का अधिकांश भाग उसी रूप में प्रकाशित हो रहा है, जैसे कि बासी भोजन को पुनः गरम कर लिया जाय। प्रत्येक शास्त्र के सन्दर्भ में हम इस प्रकार की निराशाजनक स्थिति का अवलोकन कर सकते हैं, जैसे—न्याय, वेदान्त, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि। यह तथ्य सुविदित है कि पारम्परिक शास्त्रीय अध्ययन के पाठ्यक्रम में भी जब तक शोध-कार्य के द्वारा कोई प्राचीन तथा महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में नहीं लाया जाता तब तक हमारे प्राचीन पण्डित स्वयं भी अपनी पाठशालाओं तथा टोलों के पाठ्यक्रम में विभिन्न शाखाओं के नवीन अंशों के ही पठन-पाठन तक ही अपने आप को सीमित रखेंगे तथा विभिन्न शास्त्रों के प्राचीन निर्माणकाल की उन रचनाओं की उपेक्षा चलती ही रहेगी, जिन रचनाओं ने विभिन्न सम्प्रदायों को जन्म दिया तथा नवीन प्रस्थानों के सूत्रपात में वे समर्थ हुईं, जैसे—अलंकार शास्त्र में ध्वन्यालोक तथा प्राचीन न्याय के ग्रन्थ, मीमांसा का प्रभाकर सम्प्रदाय तथा मण्डन की रचनाएँ आज तक उपेक्षित बनी हुई हैं।

(१५) कभी-कभी अभिरुचिपूर्वक शोधकार्य में दत्तचित्त रहने वाले विद्वान् भी यह अनुभव करने लग जाते हैं कि जो कुछ पाण्डुलिपियाँ आज तक अनुसंधान द्वारा खोजी जा चुकी हैं, वे ही सब कुछ हैं। अब और पाण्डुलिपियाँ नहीं वची हैं, जिनकी खोज की जाय तथा किसी महत्त्वपूर्ण बड़े ग्रन्थ को प्रकाश में लाया जाय। यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है। इससे हमारे इन विद्वानों का आत्मतोष, शोध के प्रति इच्छा की कमी एवं साहसपूर्वक कार्यतत्पर रहने की प्रवृत्ति एवं भावना का अभाव ही प्रतिभासित होता है, जो कि खेदपूर्ण है। आज तक जो संग्रह हमें प्राप्त हो चुके हैं तथा सुविज्ञात हैं उनमें भी अपेक्षाकृत प्राचीन तथा अधिक महत्त्व के ऐसे ग्रन्थ छिपे पड़े हैं जिन पर हमने उपेक्षापूर्वक ध्यान नहीं दिया है तथा बाद के निम्नस्तर के ग्रन्थों को वरीयता दी है। इसमें कोई शंका नहीं कि उपलब्ध पाण्डुलिपि सामग्री की छानबीन, अब तक अप्राप्त खोजी गयी नवीनतम पाण्डुलिपि की अधिक सावधानी से खोज द्वारा हम संस्कृत के शोधकार्य को तथा आज-कल प्रचलित संस्कृत पठन-पाठन एवं ग्रन्थ प्रकाशन कार्य को अधिकाधिक शक्तिशाली समृद्ध तथा उच्चस्तरीय वना सकते हैं।

(१६) अतीत के लुप्त ग्रन्थों को खोज निकालने से हमारे ज्ञान का क्षेत्र विकसित होता है तथा इससे प्राचीन भारतीय विचारों तथा संस्कृति के प्रति कतिपय सुस्थापित विचारों तथा धारणाओं के प्रकार तथा स्वरूप भी बदल जाया करते हैं। जैसा कि वास्तव में प्रतिभासित होता है, इस प्रकार के शोधकार्य के द्वारा यदि यह सम्भव हुआ कि हम अनेकानेक ग्रन्थों को अन्धकार से मुक्त कर सके, तो निश्चय ही आज की स्थिति में संस्कृत के पठन-पाठन को एक नवीन गौरव से विभूषित करने में सफल हो सकेंगे।

(१७) यह कहना समुचित प्रतीत होता है कि संस्कृत के पठन-पाठन के क्षेत्र में अब प्रकाण्ड विद्वानों का युग समाप्त हो गया है। वह प्रमुख समय भी अब जाता रहा है जब कि विदेशों में संस्कृत के ग्रन्थों तथा पाण्डुलिपियों का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया जाता था। वहाँ कुछ ऐसे उत्साही विद्वान् अब भी विद्यमान हैं जो कि किसी ग्रन्थ विशेष या शास्त्रविशेष में रुचि रखते हैं। ऐसे लोग अब भी भारत में आते हैं तथा अपनी अभीप्सित पाण्डुलिपियों को कम या अधिक संख्या में येन-केन प्रकारेण बाहरी देशों में उठा ही ले जाते हैं। इस प्रकार भारतीय पाण्डुलिपियों के विदेशों में धीरे-धीरे स्थानान्तरित होने की क्रिया कैसे रोकी जाय, यह आज एक समस्या-सी बन गयी है। इसके लिए कोई सुसाध्य मार्ग दृष्टि में नहीं आता। सुविधा के अभाव से हमारे देश के विद्वानों को जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है उसकी बँधी सीमा के अन्तर्गत उन्हें कार्य करने को बाध्य होना पड़ता है। चाहे वे जिस शास्त्र का अध्ययन करते हों, वे सदा ही परिस्थिति के दास बने रहते हैं तथा इस तथ्य का कम ही अनुभव कर पाते हैं कि वास्तव में उन्होंने ज्ञान के किसी विशेष अनुसन्धान-क्षेत्र में पदन्यास भी किया है। पाण्डुलिपियों के क्षेत्र में भी यही तथ्य ठीक उतरता है। अतः पाण्डुलिपियों के जिस सर्वेक्षण कार्य का हमने इन पंक्तियों में विवेचन किया है, यदि

हमारे बताये गये मार्ग द्वारा वह सञ्चालित एवं सुघटित किया जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे अध्ययनक्रम में वह एक नयी कड़ी जोड़ने में अवश्य समर्थ होगा तथा हमारे शोधछात्रों के उपयोग के लिए एक ठोस सामग्री भी उपलब्ध हो जायगी।

(१८) आयोग को यह सूचना प्राप्त हुई है कि केन्द्रीय शासन ने एक बहुमूल्य कला सामग्री क्रय-समिति का संघटन किया है। इस समिति द्वारा यदा-कदा दुष्प्राप्य पाण्डुलिपियों का भी क्रय किया जाता है। इस समिति के केवल नाम से तथा जिस कार्यप्रणाली का अनुसरण करती है उसके अवलोकन से प्रत्यक्ष होता है कि यह समिति केवल कलात्मक अर्थात् सुन्दरलेखन कला तथा सजावट तक ही अपने मूल्याङ्कन क्षेत्र को सीमित रखती है। किन्तु यह सम्भव है कि जो पाण्डुलिपियाँ कलात्मक पक्ष से विख्यात हों या विचारणीय हों, यह कोई आवश्यक नहीं है कि साहित्यिक सामग्री की दृष्टि से भी मूल्यवान् हों। इस समिति के उद्देश्य तथा इसकी कार्यपद्धति ऐसी ही है, जिस प्रकार की पाण्डुलिपि सामग्री के साहित्यिक तथा बौद्धिक स्वरूप का हम यहाँ विवेचन कर रहे हैं, उसके लिए यह किसी प्रकार सहायक नहीं सिद्ध हो सकती। यदि हम इस पहलू पर विचार करना प्रारम्भ करें कि यह समिति कितने परिमाण में पाण्डुलिपिसंग्रह कर सकेगी तो यह समिति हमारे देश के विभिन्न भागों में पड़े हुए असंख्य पाण्डुलिपियों के किनारे को भी नहीं छू सकती। सम्भव है कि सुन्दर तथा आकर्षक लेखनकला, सूक्ष्म आकार के चित्र तथा सजावट इन पाण्डुलिपियों की विशेषताएँ न हों, किन्तु भारतीय मस्तिष्क तथा भारतीय भावनाओं के अध्ययन की दृष्टि से ये अद्भुत महत्त्व की हो सकती हैं।

(१९) यह बात नहीं है कि लोगों ने पाण्डुलिपियों के प्रश्न की ओर समुचित दृढ़तापूर्वक ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा नहीं की है। कम से कम वे लोग जो कि इस प्रश्न से घनिष्ठतया सम्बद्ध हैं, उन्होंने इस समय तथा बीते हुए वर्षों में भी इस विषय में अपने निबन्धों का पाठ किया है तथा सम्मेलनों के अवसर पर अपने भाषणों के माध्यम से एवं अपने पत्राचार से भी इस विषय पर बल देते रहे हैं। अखिल भारतीय प्राच्य-सम्मेलन (All-India Oriental Conference) ने भी अपनी कुछ बैठकों में यह प्रस्ताव पारित किया है कि केन्द्रिय तथा प्रादेशीय शासन समुपलब्ध पाण्डुलिपियों के सर्वेक्षण, संरक्षण, संग्रह एवं सूचीकरण पर ध्यान दे। उपेक्षा की जिस व्यापक स्थिति का संस्कृत पठन-पाठन चारों ओर से सामना कर रहा है, वही स्थिति पाण्डुलिपियों के सन्दर्भ को भी प्रभावित करती है। पण्डित परिवार तथा धार्मिक संस्थाओं के संचालक जो कि इन पाण्डुलिपियों को संरक्षित किया करते थे, अनभिज्ञता तथा गरीबी दोनों के ही कारण अपने संग्रहों के प्रति शनैः शनैः उदासीन होते जा रहे हैं। इस क्षेत्र में अब उनकी अभिरुचि घटती जा रही है। विदेशियों के हाथ इन पाण्डुलिपियों के बिक जाने का भय इतना उग्र नहीं कहा जा सकता जितना कि उपेक्षा के कारण वर्षा, सीड़, चूहे, जीवजन्तु, सड़न, दीमकों द्वारा खाया जाना तथा अतिप्राचीनता के कारण कुरकुरा हो जाने के कारण उनके सर्वनाश का भय बना हुआ है। कुछ पाण्डुलिपियों के स्वामी अपने परिवार

की पैतृक सम्पत्ति के रूप में इनके प्रति भावुकता से अवश्य भरे हुए हैं, पर इन्हें इन पाण्डुलिपियों को सुरक्षित रखने की कोई सुविधा प्राप्त नहीं है। अतः हमें ऐसी विधियों को खोजना है, जिनसे इन पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण यथाविधि किया जा सके। किसी सुव्यवस्थित ग्रन्थालय में वे संरक्षित रखी जायँ अथवा कम से कम अपने मूल संरक्षण स्थान ही में अच्छी दशा में उनके रख-रखाव के लिए सहायता दी जा सके। विद्वानों द्वारा उनका प्रयोग हो, जिससे कि उनकी वर्तमान दशा में सुधार की सतत एवं श्रमपूर्ण चेष्टा चलती रहे। पाण्डुलिपियों के सन्दर्भ में ये समस्त उत्तर-दायित्व आज हमारे विद्वानों, हमारी संस्थाओं तथा हमारे अधिकारियों के कन्धों पर आ पड़े हैं।

(२०) यह एक सर्वविदित तथ्य है कि अतीत के अध्ययन क्षेत्र में पुरातत्त्व के स्मृतिचिह्नों के साथ-साथ साहित्यिक प्रमाणों की भी आवश्यकता होती है। अपनी सभ्यता को ठीक-ठीक समझने के लिए हमें इन दोनों का समन्वय करना होगा। पुरातत्त्व से प्राप्त प्रमाणों का साहित्यिक प्रमाणों से सह-सम्बन्ध स्थापित करके ही हम स्मृति-चिह्नों का सन्तोषप्रद अर्थ लगा सकते हैं। शोध तथा विद्वत्ता के दृष्टिकोण से तो यह बात ठीक है, किन्तु यथार्थ व्यवहार में साहित्यिक सामग्री की उपेक्षा की जाती है तथा अधिकारीगण पुरातत्त्व सम्बन्धी कार्य पर ही अधिक से अधिक ध्यान देते हैं। वे यह नहीं सोचते कि समस्त देश में पाण्डुलिपियों में जो एक विशाल साहित्यिक सामग्री संरक्षित है, वह भी उतने ही महत्त्व की वस्तु है तथा उसका भी संरक्षण हमें उसी प्रकार करना है जैसे कि हम पुरातत्त्व के स्मृतिचिह्नों का किया करते हैं।

(२१) अपनी यात्रा के क्रम में आयोग ने यह देखा कि उत्तर-भारत के कई केन्द्रों में दक्षिण भारत की पाण्डुलिपियों के संग्रहालय तथा पुस्तकालय विद्यमान हैं। ये सभी दक्षिण भारतीत पाण्डुलिपियाँ, ग्रन्थ, तेलगू, कन्नड़ तथा मलयालम् लिपियों में हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इन केन्द्रों में पाण्डुलिपियों पर कार्य करने के लिए दक्षिण भारतोय लिपियों को जाननेवाले कर्मचारी उपयुक्त संख्या में रखे जाते हैं या नहीं। दक्षिण भारत के पाण्डुलिपि-पुस्तकालयों में कागज पर लिखी पाण्डुलिपियों के सन्दर्भ में यह कठिनाई नहीं उपस्थित होती, क्योंकि ये पाण्डु-लिपियाँ देवनागरी लिपि में हैं, जिसे कि दक्षिण भारत के सभी विद्वान् जानते हैं। यथोचित संख्या में अच्छे वेतन पर दक्षिण भारत के विद्वानों तथा उनके सहायकों को नियुक्त करना इन उत्तरभारतीय पुस्तकालयों के लिए यथार्थ में एक कठिन कार्य है। शान्ति निकेतन के पाण्डुलिपिसंग्रह में दक्षिण भारत की पाण्डुलिपियों की बहुलता थी। ये पाण्डुलिपियाँ यहाँ सर्वथा उपेक्षित दशा में पड़ी हुई थीं। अन्त में इन्हें मद्रास के आड्यार पुस्तकालय में स्थानान्तरित कर देना पड़ा। उत्तर प्रदेश के जिन ग्रन्थालयों में दक्षिण भारत की पाण्डुलिपियों की बहुलता है, यह आवश्यक है कि दक्षिण भारतीय कर्मचारियों की वहाँ नियुक्ति की जाय। इन पुस्तकालयों में ऐसे कर्मचारियों की नियुक्ति केवल सूची तैयार करने की ही दृष्टि से आवश्यक नहीं

है, इस दृष्टि से भी आवश्यक है कि ये विद्वान् उन पाण्डुलिपियों का भी अवलोकन तो करेंगे ही किन्तु साथ ही साथ जब कभी शोध करने वाले छात्र अपनी आवश्यक सूचनाओं अथवा अपेक्षित उद्धरण इत्यादि के विषय में उनसे जानकारी प्राप्त करना चाहेंगे या उनकी पाण्डुलिपियों से मिलान करना चाहेंगे तब ये विद्वान् उनकी सहायता भी कर सकेंगे।

(२२) विविध पाण्डुलिपि पुस्तकालयों तथा विभिन्न स्थानों में प्रचलित ग्रन्थ सम्पादन कार्य के निरीक्षण के अवसर पर आयोग ने यह देखा कि यदि इस कार्य में कार्यकर्त्ताओं की संख्या और बढ़ा दी जाय तथा जिस ग्रन्थ का सम्पादन चल रहा है, उसकी अन्य प्रतियों के अवलोकन की सुविधाएँ प्रदान की जायँ तो इन पाण्डुलिपि-पुस्तकालयों के कार्य में और अधिक सुधार किया जा सकता है। पाण्डु-लिपियों के संग्रह के लिए धन की कमी के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी सन्दर्भ हमारी दृष्टि में आये, जहाँ कि पाण्डुलिपियों के परीक्षण के लिए समुचित संख्या में कार्य-कर्त्ताओं का अभाव भी कष्टदायक प्रतीत हुआ। पाण्डुलिपि विभाग के कार्य की पहले यही पद्धति प्रचलित थी कि सर्वप्रथम पंडित तथा लेखक इन पाण्डुलिपियों का परीक्षण किया करते थे। इसके उपरान्त उन्हें ग्रन्थ-सूची पञ्जिका में चढ़ाने के लिए एक सूची बनायी जाती। यदि पाण्डुलिपियों का यह सर्वप्रथम परीक्षण ही वैज्ञानिक ढंग से सावधानीपूर्वक भली-भाँति नहीं सम्पन्न होता है तो ग्रन्थ-सूचीपंजी तैयार करने के कार्य में तथा शोधकार्य के आगे बढ़ने वाले समस्त स्तरों पर इन पाण्डुलिपियों की गलत पहचान तथा उनमें दिये हुए विषयों की अपूर्णता चलती ही रहेगी। इसके अतिरिक्त पाण्डुलिपि संग्रहों में एक से अधिक ग्रन्थ भी मिले रहते हैं तथा अनेक संग्रहों में कई एक छोटे-छोटे कम महत्त्व के ग्रन्थ भी भरे रहा करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रारम्भिक सूची निर्माण के समय ही यदि समुचित ध्यान न दिया गया तो निर्माणकार्य के आगे आनेवाले स्तर दूषित हो जायँगे तथा कई एक ग्रन्थ सूची पर चढ़ाये जाने से छूट जायँगे।

(२३) ग्रन्थ सूची बनाने में जो विधियाँ अपनायी गयी हैं, उनमें एकरूपता नहीं दिखायी पड़ी। ग्रन्थों की पहचान, सन्दर्भ निर्देश, तथा प्रस्तुत किये गये तुलनात्मक सिद्धान्तों के अङ्कन की दृष्टि से भी अनेक ग्रन्थ सूचियाँ त्रुटिपूर्ण हैं। इन पाण्डुलिपियों में अब भी एक विपुल साहित्यराशि विद्यमान है तथा कितनी भी शीघ्रता से प्रकाशन कार्य चलता रहे, ग्रन्थों, ग्रन्थकारों तथा उनसे सम्बद्ध अन्य सन्दर्भों का ज्ञान एक लम्बे समय तक पाण्डुलिपियों के माध्यम से ही चलता रहेगा। अतः हमें दत्तचित्त होकर यह देखना है कि ये पाण्डुलिपि-सूचियाँ सूचनाओं से परिपूर्ण हों तथा साथ ही साथ सर्वथा शुद्ध भी हों। यतः अनेक ग्रन्थ-सूचियों का प्रकाशन हो चुका है, कुछ लोगों की यह सम्मति है कि ग्रन्थसूची तैयार करने की प्राचीन विवरणा-त्मक पद्धति अब आवश्यक नहीं है। इस प्राचीन पद्धति के अनुसार किसी भी ग्रन्थ के महत्त्व तथा उसकी बार-बार मुद्रित सामग्री पर ध्यान न देकर पाण्डुलिपियों के प्रारम्भ तथा अन्त के अंशों के उद्धरणों को दुहराने में तथा उनसे सम्बद्ध अन्य सन्दर्भों को लिखने में कई एक पृष्ठ लगाये जाते हैं। इस सन्दर्भ में यह सुझाव दिया

जाता है कि नामक्रमानुसार ग्रन्थों की सूची का विवरण प्रपत्र बनाया जाय। इस विवरण प्रपत्र के विभिन्न स्तम्भों में पाण्डुलिपि की क्रम संख्या, उसका नाम तथा रचयिता आदि का समावेश किया जाय। इस विवरणात्मक सूची के परिशिष्ट भाग में अप्राप्य तथा अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान् पाण्डुलिपि-संग्रहों के विस्तृत विवरण तथा समालोचनात्मक टिप्पणियाँ अङ्कित की जायँ। यदि मितव्ययिता दृष्टि में रखी जाय तथा इस बात पर ध्यान रखा जाय कि कोई ज्ञातव्य सन्दर्भ कहीं छूटा तो नहीं जा रहा है, तो ये दोनों ही प्रणालियाँ अपनायी जा सकती हैं। शोधकार्य के अध्याय में पाण्डुलिपि पुस्तकालयों द्वारा स्वयं ही ग्रन्थ-सम्पादन करने के प्रश्न पर विचार किया जा चुका है।

(२४) ऊपर जिन विचारों को हमने सामने रखा है, उनसे यह पर्याप्त स्पष्ट है कि पाण्डुलिपि सम्बन्धी क्रियाएँ केन्द्र तथा प्रदेश दोनों ही क्षेत्रों में प्रचलित होनी चाहिएँ। जब तक एक केन्द्रिय संघटन स्थापित नहीं किया जायगा, समस्त पाण्डुलिपि-संग्रह का सफल तथा पुष्ट सर्वेक्षण न तो आयोजित किया जा सकता है और न ही उसका कार्यान्वियन ही किया जा सकता है। अतः इस सन्दर्भ में शासन द्वारा परिपोषित एक केन्द्रिय नीति परमावश्यक है। सर्वप्रथय जनसाधारण तथा पाण्डुलिपियों के स्वामियों के मन में इस पाण्डुलिपि-निधि के मूल्य की चेतना जागृत करने के लिए तथा सर्वेक्षण कार्यकर्त्ताओं एवं पाण्डुलिपि सग्रह कर्त्ताओं को एक आधिकारिक स्तर प्रदान करने के ध्येय से भी इस प्रकार की केन्द्रिय व्यवस्था आवश्यक प्रतीत होती है। दूसरे पाण्डुलिपि स्वामियों की एक ऐसी बड़ी संख्या का होना सम्भव है जो कि अपने पारिवारिक संग्रह से पृथक् नहीं होना चाहते। ऐसे सन्दर्भों में शासन किसी एक ऐसी विधि के प्रयोग पर विचार कर सकता है जिससे कि पाण्डुलिपि के स्वामियों को अपने-अपने संग्रहों को और अधिक अच्छी दशा में संरक्षित रखने में सहायता तथा सुविधा प्रदान की जा सके तथा अपने संग्रहों की प्रतिलिपियाँ तैयार करने के कार्य में वे सहयोग दे सकें, उन्हें उधार दे सकें। उनका अवलोकन करने के लिए तथा स्वेच्छया प्रस्तुत करने के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया जा सके। हमारे अनेक साक्ष्यों ने इस विचार पर दृढ़तापूर्वक बल दिया कि पाण्डुलिपियों के सर्वेक्षण तथा संग्रहकार्य के लिए एक केन्द्रिय विभाग का होना परमावश्यक है। श्री सी० डी० देशमुख ने एक केन्द्रिय "मातृकाशरण्य" की आवश्यकता पर बल दिया। लोकसभा के सदस्य श्री एस्० ए० डांगे ने पाण्डुलिपियों के प्रश्न को सर्वोपरि वरीयता का यथोचित विषय बताया है। केन्द्रिय पाण्डुलिपि सर्वेक्षण की वास्तविक स्थापना के संदर्भ में अनेक साक्ष्यों ने अपने-अपने सुझाव दिये। कई लोगों ने तो इस केन्द्रिय सर्वेक्षण के संयोजन तथा कार्य के विस्तृतस्वरूप पर भी प्रकाश डाला। यह उचित होगा कि प्रादेशिक शासन अपने क्षेत्र में जिन पाण्डुलिपि-सर्वेक्षण-विभागों की स्थापना करें, उनके कार्य में यह केन्द्रिय सर्वेक्षण विभाग हस्तक्षेप न करे। उसका कर्त्तव्य होगा कि वह इन प्रादेशिक विभागों से सम्पर्क स्थापित रखे। क्षेत्रों तथा भाषाओं के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में अपनी शाखाएँ संघटित करें तथा उनके कार्य को आगे बढ़ाने की दिशा में जो कुछ भी सम्भव हो वह सब करें। इस सन्दर्भ में आसाम, पश्चिम बंगाल, बिहार

१५

तथा उड़ीसा को मिलाकर पूर्वीक्षेत्र, आंध्र, मद्रास, केरल, मैसूर को मिलाकर दक्षिणी क्षेत्र, बम्बई प्रदेश (महाराष्ट्र तथा गुजरात) मध्यप्रदेश तथा राजस्थान को मिलाकर पश्चिमी क्षेत्र, तथा उत्तर प्रदेश, दिल्ली, हिमाञ्चल प्रदेश, पञ्जाब एवं जम्मू—काश्मीर को मिलाकर-उत्तर पश्चिमी क्षेत्र—इस प्रकार के चार क्षेत्रीय शाखाओं की स्थापना आवश्यक है। इन क्षेत्रों का एक कर्मचारीवर्ग ऐसा होना चाहिए, जो कि अपने कार्यक्षेत्र की विभिन्न लिपियों का ज्ञाता हो तथा घूम-घूम कर खोज तथा संग्रहकार्य में दक्ष हो। दूसरे वर्ग के कर्मचारी ऐसे हों जो कि कार्यालय में बैठकर विभिन्न ग्रन्थों के नामाङ्कन एवं संग्रहों की विवरणात्मक सूची बनाने की क्षमता रखते हों।

(२५) ऐसी बात नहीं है कि इस प्रकार के विशेष व्यक्ति या समुदाय विद्यमान नहीं हैं जो कि अपने संग्रहों को नहीं देना चाहते। वास्तव में पाण्डुलिपियों को संरक्षित रखनेवाले ऐसे परिवार पाये जाते हैं जो कि जनसेवा की भावना से या अपने संग्रहों को सुरक्षित रख सकने की अपनी असमर्थता के कारण उन्हें वे शासन को या सार्वजनिक संस्थाओं को भेंट कर देना चाहते हैं। आयोग की दृष्टि में यह बात लायी गयी कि वास्तव में कुछ ऐसे व्यक्ति तैयार भी थे, जो कि अपने संग्रहों को समर्पित करना चाहते थे; किन्तु कोई भी ऐसा संघटन या ऐसी संस्था सुलभ नहीं हुई जो कि उनकी पाण्डुलिपियों को प्राप्त कर ले तथा उन्हें सुरक्षित रखे और उन्हें उपयोग में लाये। इससे भी अधिक संख्या में प्रायः ऐसे पाण्डुलिपि-स्वामी पाये जाते हैं जो कि थोड़े से प्रयत्न किये जाने पर अपने संग्रहों को दे देने पर सहमत किये जा सकते हैं। पिछली शताब्दी के वर्ष १८६० से १८६९ के मध्य, जब कि शासन द्वारा पाण्डुलिपियों के संग्रह का कार्य प्रारम्भ किया गया उस समय सरकार ने उन पण्डितों तथा पाण्डुलिपि-स्वामियों को यथोचितरूप में सम्मानित करने का प्रस्ताव भी किया था, जो कि जनोपयोग के लिए अपने संग्रहों को भेंट कर देंगे। हमें यह भली-भाँति ज्ञात है कि यूरोप के विद्वान् स्वयं या उनके दलाल विदेशी पुस्तकालयों तथा विदेशी संस्थाओं के लिए हमारे देश में पाण्डुलिपियों का संग्रह करते हैं तथा बहुत थोड़े से नगण्य मूल्य पर उन्हें खरीद लिया करते हैं। यदि ऐतिहासिक तथा पुरातत्त्व सामग्री को देश से बाहर ले जाने पर रोक लगाने के लिए कोई कानूनी प्राविधान किया जा सकता है तो इसका कोई कारण नहीं प्रतीत होता कि साहित्यिक सामग्री को बाहर ले जाने के लिए रोक लगाने पर भी इसी प्रकार का कानून क्यों नहीं बनाया जाता। भारतीय पाण्डुलिपि सामग्री की एक विपुल राशि हमारे देश से बाहर ले जायी गयी है। इस बात से हमारे अनेक राष्ट्रप्रेमी संस्कृत बन्धु अत्यन्त दुःखी हैं। अखिल भारतीय प्राच्य-सम्मेलन (All-India Oriental Conference) तथा अन्यान्य सभा-समितियों ने अपने प्रस्तावों में सरकार से यह आग्रह किया है कि शासन देश-निष्कासित इन पाण्डुलिपियों को पुनः प्राप्त करके उन्हें स्वदेश लाने की दिशा में पदन्यास करे। इस प्रकार के प्रस्ताव तो किये ही जा चुके हैं; किन्तु इस सन्दर्भ में किन-किन उपायों का प्रयोग करना है इस सम्बन्ध में कोई भी सुझाव तथा प्रस्ताव अब तक सामने नहीं आया है।

जो भी हो शासन का इस सन्दर्भ में सचेष्ट हो जाना परमावश्यक है कि हमारे पाण्डुलिपि-साधन चुपके से देश से बाहर न हटा दिये जाँय। उन्हें इस प्रकार देश से हमारी पाण्डुलिपियों को बाहर उठा ले जाने की अनुमति न दी जाय तथा विदेशियों की यह प्रवृत्ति अब जहाँ की तहाँ रोक दी जाय।

विदेशियों तथा उनके दलालों के द्वारा पाण्डुलिपियों की खरीद तथा निर्यात दोनों ही के सन्दर्भ में तथा विदेशियों द्वारा उन्हें हमारे देश में संग्रह किये जाने के विषय में भी बल का प्रयोग बड़ी ही चतुराई से किया जाना चाहिए; क्योंकि कुछ पाण्डुलिपि-स्वामी इतने अधिक धूर्त एवं दुष्ट हो गये हैं कि वे अपने संग्रहों को निपुणतापूर्वक गुप्त स्थानों में छिपा देंगे। उसके पाण्डुलिपि-संग्रह पर किसी भी दशा में अधिकार न हो पावे इसके लिए वे सब कुछ करने पर उतारू हो सकते हैं। एक विशेषज्ञ साक्ष्य डाक्टर एल्० ए० वर्मा, भूतपूर्व क्यूरेटर पाण्डुलिपि संग्रह त्रिवेन्द्रम् विश्वविद्यालय, जो कि इस समय त्रिवेन्द्रम् के राजमहल पाण्डुलिपि संग्रह के क्यूरेटर हैं, उन्होंने हमें बताया कि एक पाण्डुलिपि स्वामी ने अपनी एक पाण्डुलिपि में उसे ले जाने वाले इच्छुक सज्जन के सामने ही आग लगा दी। हमारे कानों में यह बात भी पड़ी है कि कुछ लोग अपने पाण्डुलिपि-संग्रह को दूसरों के हाथ नहीं जाने देना चाहते तथा वे उन्हें तालाबों या नदियों में फेंक दिया करते हैं। यतः शासन के अधीन एक व्यापक शासन यंत्र है, उसकी व्यवस्था में शिक्षा निरीक्षणालय हैं, नये-नये खोले गये जनसम्पर्क विभाग की छोटी-छोटी इकाइयाँ भी हैं जो कि गावों तक फैली हुई हैं, अतः अब शासन के लिए यह सुसाध्य हो गया है कि वह पाण्डुलिपि के स्वामियों को उनकी पाण्डुलिपि सम्पत्ति के सार्वजनिक तथा सांस्कृतिक मूल्य को समझाने के सन्दर्भ में यथोचित चेष्टा कर सकता है। वास्तव में ऐसे नासमझ लोगों की संख्या कम नहीं है जो कि किसी अनिच्छित भार से गला छुड़ाने के लिए उसे नदी में फेंक देने से प्राचीन काल से अनुमत विधि का इन पाण्डुलिपियों के सन्दर्भ में प्रयोग करने में किसी प्रकार की अशान्ति का अनुभव नहीं करते। इनसे भी मूढ़ वे लोग हैं जिनके विषय में यह कहा जाता है कि इंधन की कमी को दूर करने के लिए वे इन पाण्डुलिपियों का प्रयोग किया करते हैं। मद्रास उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति श्री ए० एस्० पी० अय्यर ने हमें एक नैय्यर परिवार की कथा बतायी कि जब उसे गरम जल लाने का आदेश दिया गया तब उसने इस आज्ञा का पालन अतिशीघ्रता-पूर्वक "अष्टाङ्गहृदय" की ताडपत्र-प्रतिलिपि को जला कर किया। यह कहा जाता है कि डाक्टर गंगानाथ झा ने उद्योतकर के न्यायवार्तिक को एक पण्डित के घर की ऊँची खिड़की से प्राप्त किया, जहाँ कि उसे कमरे के भीतर वृष्टि रोकने के लिए ठूँसा गया था। ऐसी भी कथाएँ बहुधा प्रचलित हैं कि पाण्डुलिपियों को रद्दी के भाव बाजारों में बेच दिया गया जहाँ कि किराने की वस्तुएँ बाँधकर ग्राहकों को देने के लिए उनका उपयोग किया गया।

(२६) राष्ट्र की संस्कृति तथा परम्परा से प्राप्त उसकी सम्पत्ति के सन्दर्भ में रुचि रखनेवाले किसी भी व्यक्ति के लिए तथा ऐसे अधिकारियों के लिए भी, जो कि

राष्ट्रिय संस्कृति की सामग्री के प्रति कर्त्तव्यबद्ध हैं, यह सम्भव नहीं है कि वे इन कष्टप्रद तथ्यों के प्रति उदासीन रहें। इन पाण्डुलिपियों की मात्रा तथा जिस व्यापक भौगोलिक क्षेत्र में ये बिखरी पड़ी हुई हैं उसका विस्तार इतना बृहत् है कि जब तक केन्द्रिय तथा प्रदेशीय स्तर पर अनिवार्यरूप से यह सन्दर्भ हाथ में नहीं लिया जाता, तब तक इन पाण्डुलिपियों के सतत विनाश की कथा को रोकना साध्य नहीं प्रतीत होता तथा जो कुछ भी सामग्री बच रही है उसे न तो सुरक्षित रखा जा सकता है और न ही हम उनका उपयोग ही कर सकते हैं।

(२७) प्रस्तावित पाण्डुलिपि संरक्षण के केन्द्रिय कार्यालय को समय समय पर एक सूचना पुस्तिका का प्रकाशन करना चाहिए, जिसमें निम्नाङ्कित प्रकाशन होंगे—

(i) समय समय पर सर्वेक्षित, प्रतिलिपि की गयी, उधार दी गयी, अथवा संगृहीत पाण्डुलिपियों की सूची या उनका संक्षिप्त विवरण।

(ii) संगृहीत तथा परीक्षित पाण्डुलिपियों की विस्तृत सूची।

(iii) समय समय पर प्राप्त सबसे अधिक मूल्य की पाण्डुलिपियों की समालोचनात्मक सम्पादित ग्रन्थमाला।

यह आवश्यक नहीं है कि यह कार्य केवल पाण्डुलिपि सर्वेक्षण विभाग के कर्मचारियों के द्वारा ही किया जाय। बाहरी विद्वानों की सहायता तथा उनके सहयोग से भी इस सर्वेक्षण कार्य को शक्तिशाली बनाया जा सकता है। इस केन्द्रिय पाण्डुलिपि सर्वेक्षण को एक और महत्त्वपूर्ण कार्य करना चाहिए। वह है विदेशी पुस्तकालयों से भारतीय पाण्डुलिपियों की फिल्म प्रतिलिपियाँ प्राप्त करना तथा भारतीय विद्वानों के लिए एक भुगतान केन्द्र के रूप में कार्य करना। विशेषतः उन लोगों के लिए जो कि भारतीय तथा विदेशी (नेपाल सहित) पुस्तकालयों में रखी हुई पाण्डुलिपियों के विषय में जानना चाहते हों। पाण्डुलिपियों की प्रतियाँ उधार लेकर ऐसे लोगों की सहायता करना भी इस सर्वेक्षण विभाग का परम कर्त्तव्य होगा।

(२८) माइक्रोफिल्म प्रक्रिया द्वारा पाण्डुलिपियों को माइक्रोफिल्म करके थोड़े ही स्थान में उन्हें संरक्षित रखने की यान्त्रिक सुविधा आज प्राप्त है। इस साधन से पाण्डुलिपियों को बाहर भेजा जा सकता है। इस प्रकार माइक्रोफिल्म-यंत्र द्वारा दूर-दूर के विद्वान् भी उन्हें पढ़ सकते हैं। अतः आज के युग में पाण्डुलिपियों के संरक्षण तथा उनके उपयोग का कार्य पूर्वापेक्षया कहीं अधिक सुगम हो गया है। प्रायः सभी विदेशी पुस्तकालयों में इस समय माइक्रोफिल्म की सुविधा उपलब्ध है, किन्तु हमारे देश में यह सुविधा कुछ थोड़े से स्थानों में ही प्राप्त है। इस बात की भर्त्सना करने में हमें दुःख होता है कि हमारे देश के विद्वान् अपने देश के समीपस्थ पुस्तकालयों की अपेक्षा यूरोप तथा अमेरिका के पुस्तकालयों से अपनी मनचाही पाण्डुलिपियाँ कहीं अधिक सरलता तथा शीघ्रता से प्राप्त कर सकते हैं। इस सन्दर्भ में पुस्तकालय सेवा का आधुनिकीकरण अपेक्षित है। विशेषतः ऐसे केन्द्रों में तो यह सेवा उपलब्ध होनी ही चाहिए जहाँ कि पाण्डुलिपि-संग्रह ढेर के ढेर

पड़े हुए हैं। पाण्डुलिपियों की सुरक्षा तथा खो जाने की स्थिति में उनकी जमानत तथा असाधारण रूप में जीर्ण-शीर्ण पाण्डुलिपियों को उधार देने के सन्दर्भ में जो नियम निर्धारित हैं, उनका पालन करते हुए पुस्तकालयों को चाहिए कि वे सरकारी तथा गैर-सरकारी प्रामाणिक एवं विश्वस्त पुस्तकालयों के माध्यम से ही उत्तरदायित्व-पूर्ण विद्वानों के हाथ अपनी पाण्डुलिपियाँ जाने दें। यह समझ लेना चाहिए कि जिन पुस्तकालयों में ये सुविधाएँ नहीं प्राप्त हैं, उन्हें शासन से किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता की आशा नहीं करनी चाहिए।

(२९) भारतीय रजवाड़ों में विद्यमान पाण्डुलिपि-पुस्तकालयों की ओर जब हम ध्यान देते हैं तो हमें प्रत्यक्ष होता है कि इन पुस्तकालयों में, चाहे वे सरकारी हों या गैर-सरकारी, उनमें से कई एक ने अपने चिरकाल से प्रचलित पाण्डुलिपि संग्रह का कार्य अब बन्द कर दिया है। आकस्मिक भेटों को पाकर या कभी-कभी इधर-उधर से कुछ पाण्डुलिपियों को खरीद कर इन पुस्तकालयों के अधिकारी संतुष्ट रहते हैं। इन पुस्तकालयों के संग्रह सम्बंधी अभिलेखों के अध्ययन से यह तथ्य प्रत्यक्ष होता है कि उस पुस्तकालय में ही संगृहीत पाण्डुलिपियों को यदि उसी पुस्तकालय के किसी अन्य विभाग में स्थानान्तरित किया जाता है तो इस विभाग की ग्रन्थ सूची में भी उन स्थानान्तरित ग्रन्थों को चढ़ा लिया जाता है। यह भी देखा जाता है कि कार्यकर्त्ताओं के परिवर्तन या पुस्तकालय प्रशासन में परिवर्तन के कारण किसी पुस्तकालय के पाण्डुलिपि संग्रह यदि उसी पुस्तकालय के अन्य भवन में चले जाते हैं तो इस भवन में उन्हें अपने नये संग्रह की संज्ञा दे दी जाती है। जहाँ कहीं इस स्थानान्तरण क्रिया से संरक्षण में सहायता प्राप्त होती है या विद्वान् उन्हें सरलता से प्राप्त कर लेते हैं, वहाँ तो इस स्थिति का स्वागत किया जा सकता है, किन्तु जहाँ कहीं ऐसा कोई लाभ नहीं है वहाँ संग्रह के नाम तथा सूची क्रमाङ्क के बदल जाने से इन पाण्डुलिपियों का पता लगाना कठिन हो जाता है। इन संस्थाओं को चाहिए कि वे नियमित भ्रमणकार्य तथा क्षेत्रक्रिया द्वारा पाण्डुलिपियों की खोज करें। इस सन्दर्भ में उन्हें विशिष्ट ग्रन्थों की तीव्रतापूर्वक खोज पर विशेष ध्यान देना होगा। सम्भव है कि वे अब भी छिपे हुए हों। इन ग्रन्थों की सूची बनाने की प्रारम्भिक क्रिया के समय ही इनका भली-भाँति परीक्षण किये जाने के प्रश्न पर हमने ऊपर पर्याप्त बल दिया है। यह देखा गया कि इन ग्रन्थालयों में पाण्डुलिपि सम्बंधी कार्य करने वालों की संख्या बहुत ही अपर्याप्त है तथा संग्रहों को सुरक्षित रखने के लिए स्थान की भी कमी है। अन्य पाण्डुलिपि पुस्तकालयों तथा विभागों की भी यही स्थिति है। पाण्डुलिपि सामग्री की सुरक्षा के लिए रासायनिक द्रव्यों तथा तेलों के प्रयोग की विधि में तथा क्षतिग्रस्त पाण्डुलिपियों को ठीक करने की विधि में भी एकरूपता नहीं देखी गयी। 'राष्ट्रिय प्राचीन अभिलेख रक्षागार' (National Archives) दिल्ली की पाण्डुलिपि संरक्षण क्रियाएँ सुव्यवस्थित हैं। इन प्रक्रियाओं का और अधिक प्रचार तथा प्रसार किया जाना चाहिए। पुस्तकालयों को यह निर्देश दिया जाना चाहिए या उन्हें इस निमित्त सहायता दी जानी चाहिए कि वे उपर्युक्त प्राचीन अभिलेख रक्षागार की संरक्षण

प्रक्रिया का अनुसरण करें या उस संस्था की सेवा का लाभ उठायें। कुछ पुस्तकालयों में वहीं बैठकर अध्ययन करने की या उन्हें उधार दिए जाने की विधि भी यथोचित रूप में सन्तोषप्रद नहीं पायी गयी। कभी-कभी उन विद्वानों को ही, जो उस पुस्तकालय में ही शोधकार्य कर रहे हैं, अन्य विभागों में संरक्षित पाण्डुलिपियों को प्राप्त करने में कुछ दिन लग जाया करते हैं। जो विद्वान् पुस्तकालय में ही बैठकर अध्ययन करना चाहते हैं उनके लिए समुचित वाचनकक्ष की व्यवस्था में सुधार किया जाना अपेक्षित है। सभी पाण्डुलिपि-ग्रन्थालयों में लेखकों तथा ग्रन्थों दोनों ही के क्रम से पूर्ण कार्ड-ग्रन्थ सूची उपलब्ध होनी चाहिए। दुर्लभता एवं प्राचीनता की दृष्टि से विशिष्ट पाण्डुलिपियों को तथा सुन्दर लिपि एवं सजावट से भरपूर पाण्डुलिपियों को विशेष सामग्री के रूप में पृथक् प्रदर्शन मञ्जूषाओं में रखा जाना चाहिए। जिन पाण्डुलिपि पुस्तकालयों की व्यवस्था कुछ अधिक उन्नत है तथा जो भली-भाँति सुसज्जित हैं वहाँ यह कार्य किया भी जाता है। सामान्यतः किसी भी प्रदेश में एक संग्रहालय अथवा साधारण अभिलेख कार्यालय की अपेक्षा पाण्डुलिपि-पुस्तकालय की सुव्यवस्था पर कम ही ध्यान दिया जाता है। प्रदर्शन मञ्जूषाओं में दुर्लभ प्रदर्शनीय सामग्री से सुसज्जित कोई भी सुव्यवस्थित पाण्डुलिपि ग्रन्थालय उस क्षेत्र के नागरिकों तथा आगन्तुकों के लिए एक विशेष आकर्षण का केन्द्र बन सकता है।

(३०) पाण्डुलिपियों की विवरणात्मक सूची तैयार करने के सन्दर्भ में हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। अपनी यात्रा के अवसर पर जिन पुस्तकालयों का हमने निरीक्षण किया, वहाँ के ग्रन्थ सूची निर्माण कार्य में हमने निम्नांकित त्रुटियाँ देखीं—

१—कुछ पुस्तकालयों में संगृहीत पाण्डुलिपियों का परीक्षण बिलकुल ही नहीं किया गया था।

२—केवल पुस्तकसूची पञ्जी पर चढ़ाने के लिए कुछ में पुस्तकों का सूचीपत्र मात्र बनाया गया था।

३—कुछ पुस्तकालयों में विस्तृत विवरणात्मक ग्रन्थ सूची तथा उसकी मुद्रण प्रतिलिपि भी तैयार हो चुकी थी पर अब तक उन्हें नहीं छपाया जा सका था।

साथ ही साथ इन पुस्तकालयों तथा संस्थाओं ने दूसरे प्रकार के प्रकाशन कार्य को भी प्रारम्भ कर दिया है, जैसे—ग्रन्थों का सम्पादन तथा उनकी व्याख्याएँ। पाण्डुलिपियों के परीक्षण, विवरणात्मक ग्रन्थसूची के निर्माण तथा उनके मुद्रण और सम्पादन के लिए इन पुस्तकालयों तथा संस्थाओं को राज्यानुदान दिया जाना चाहिए। हमारा यह विचार है कि जिन पुस्तकालयों तथा संस्थाओं में पाण्डुलिपियों का संग्रह कार्य केन्द्रीभूत है, उन्हें अपने यहाँ ग्रन्थ-सम्पादन तथा ग्रन्थमाला प्रकाशन की अपेक्षा विवरणात्मक ग्रन्थसूची के निर्माण कार्य को वरीयता देनी चाहिए। अपने संग्रह को विद्वानों के समाज में प्रकाशित करना तथा उन्हें अपने संग्रहों की जानकारी प्राप्त कराना ही किसी भी पुस्तकालय का मौलिक कर्त्तव्य हुआ करता है।

(३१) इसमें संदेह नहीं कि पाण्डुलिपि साधनों से सुसम्पन्न किसी भी पुस्तकालय के लिए ग्रन्थ प्रकाशन का कार्य सरल हुआ करता है, किन्तु ऊपर शोधकार्य के अध्याय में हम कह चुके हैं कुछ पुस्तकालयों में इस प्रकार का ग्रन्थ प्रकाशनकार्य समुचित रूप से तथा एक समालोचनात्मक ढंग से नहीं किया जाता। ऐसे पुस्तकालयों के लिए वास्तव में यह उचित होगा कि वे विवरणात्मक सूची निर्माण कार्य पर अपना ध्यान केन्द्रित करें तथा बाहरी विद्वानों को अपनी पाण्डुलिपि सामग्री का लाभ उठाने के लिए सुविधाएँ प्रदान करें। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए जिन पाण्डुलिपि संग्रहालयों से ग्रन्थमालाएँ प्रकाशित की जा रही हैं, हम उनके विरोधी हैं। इसके विपरीत हमारा तो सुदृढ़ विश्वास है कि प्रत्येक पाण्डुलिपि पुस्तकालय को अपनी पृथक् ग्रन्थमाला प्रकाशित करनी चाहिए। इस सन्दर्भ में इस आयोग की एकमात्र उत्सुकता यही है कि इन ग्रन्थमालाओं को पूर्णसावधानीपूर्वक तैयार किया जाय, जिससे कि वे समालोचना का समुचित स्तर प्राप्त कर सकें तथा आगे बढ़ने वाले विद्वत्तापूर्ण शोधकार्य के लिए वे उपयोगी सिद्ध हो सकें। विभागीय स्थानान्तरण तथा पदोन्नति की आवश्यकताओं के कारण तथा कतिपय अन्य स्थानीय दृष्टियों से पुस्तकालयों, पाण्डुलिपि संग्रहों, ग्रन्थ-सूची रचना, तथा सम्पादन-कार्य की व्यवस्था में प्रायः ऐसे लोगों की नियुक्ति कर दी जाती है, जो कि इस क्षेत्र में कोई विशेष योग्य नहीं हुआ करते। पाण्डुलिपिकार्य के हित में यह आवश्यक है कि केवल समुचित एवं सुयोग्य व्यक्ति ही पाण्डुलिपि संग्रहालयों के अधिकारी बनाये जायँ तथा पाण्डुलिपि एवं उनके सम्पादन कार्य के विभिन्न क्षेत्रों में अभिरुचि रखने वाले विद्वानों की समिति की सहायता तथा सम्मति से ही वे अपना कार्य करें।

नवम अध्याय

संस्कृत विश्वविद्यालय

(१) आज संस्कृत विश्वविद्यालय स्थापित किये जाने की एक व्यापक चर्चा चल रही है। इस विषय में हमारे कुछ साक्ष्य तो विश्वविद्यालयों के समर्थक थे; किन्तु कुछ ने इसका विरोध भी किया। किन्तु संस्कृत विश्वविद्यालयों की स्थापना के समर्थकों ने इस विषय पर अपने जो विचार अभिव्यक्त किये उससे कुछ ऐसा जान पड़ा कि इन विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट चित्र उनके सामने नहीं है। इस सम्बन्ध में उनके विचारों में भी अत्यधिक अन्तर पाया गया। अतः हमारी यह इच्छा है कि यहाँ हम संस्कृत विश्वविद्यालय सम्बन्धी धारणा को स्पष्ट कर दें और बता दें कि यह प्रस्ताव कहाँ तक वाञ्छनीय है तथा संस्कृत के पठन-पाठन की वर्तमान स्थिति में उसे किस प्रकार सफलतापूर्वक उपयोगी बनाया जा सकता है।

(२) संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना के पीछे एक इतिहास है। सन् १८६९ में शिक्षा के उपेक्षित अंगों, विशेषतः संस्कृत तथा अरबी को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से पंजाब के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर तथा ब्रिटिश भारतीय संघ (British Indian Association), पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा संयुक्त प्रदेश (आज का उत्तरप्रदेश), ने साहित्य तथा विज्ञान की शिक्षा के लिए पाश्चात्त्य ढंग के विश्वविद्यालयों के साथ-साथ भारत में प्राच्य विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव प्रस्तुत किया था। जो भी हो, ब्रिटिश शासन ने इस प्रस्ताव में कुछ कमी करके उसके कार्यान्वयन पर ध्यान देने का निश्चय किया। फलतः सन् १८८२ में प्राच्य विश्वविद्यालय तो नहीं, बल्कि एक प्राच्य महाविद्यालय की स्थापना लाहौर में की गयी।

(३) जोनाथन डङ्कन ने सन् १७९१ में बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना की। एक सौ वर्षों से भी अधिक समय से यह संस्था एक परीक्षा संस्था के रूप में कार्य कर रही है। समस्त उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त अन्य देशों में भी इसके तेइस परीक्षा केन्द्र हैं। इन केन्द्रों से इस संस्था के परीक्षार्थी इसकी विभिन्न परीक्षाओं में सम्मिलित हुआ करते हैं। केवल उत्तर प्रदेश में ही एक हजार चौदह पाठशालाएँ हैं। इनमें से तीन सौ सड़सठ महाविद्यालय स्तर की संस्थाएँ हैं, जिन्हें आचार्य परीक्षा तक मान्यता प्राप्त है। इस आधार पर उत्तर प्रदेश सरकार ने सोचा कि बनारस संस्कृत कालेज के समान संस्कृत महाविद्यालय, जो कि वास्तव में एक विश्वविद्यालय का कार्य कर रहा है, जिसमें संस्कृत विभागों तथा अध्यापकों की संख्या सर्वाधिक है, जिसके पुस्तकालय में संस्कृत पाण्डुलिपियों का एक बहुमूल्य संग्रह विद्यमान है तथा जो कि ग्रन्थमालाओं आदि का प्रकाशन भी करता है, उसे एक विश्वविद्यालय के रूप में समुन्नत किया जा सकता है। सन् १९५२ में, उस समय के उत्तरप्रदेश के मुख्यमन्त्री पण्डित गोविन्द वल्लभ पन्त, संस्कृत विश्वपरिषद् की बैठक में यह सार्वजनिक

घोषणा भी कर चुके हैं कि उनकी सरकार इस प्रकार का निश्चय भी कर चुकी है। उत्तरप्रदेश विधान सभा द्वारा वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय अधिनियम पारित किया जा चुका है तथा उसके परिनियमों एवं अन्य विधानों के प्रारूप बनाये जा रहे हैं। उपकुलपति की नियुक्ति के अनन्तर यह विश्वविद्यालय यथार्थरूप में कार्य करने लग जायगा। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के समस्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह वाञ्छनीय है कि केन्द्रीय शासन उसे उदारतापूर्वक सहायता दे, ताकि वह यथोचित रूप में अपना विकास कर सके।

(४) सोमनाथ विश्वविद्यालय एक दूसरा संस्कृत विश्वविद्यालय है, जिसकी परिकल्पना एक व्यापकरूप में की जा चुकी है। स्वर्गीय वल्लभ भाई पटेल ने इस विश्वविद्यालय के विषय में सोचा था। भारत सरकार की स्वीकृति से १५ मार्च, १९५० ई० को सौराष्ट्र शासन द्वारा सोमनाथ न्यास अधिकार पत्र लिखा गया। संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना, संस्कृत तथा भारतीय ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी शोध-कार्य, संस्कृत के पठन-पाठन का प्रचार-प्रसार तथा हिन्दू शास्त्रों को लोकप्रिय बनाना इस न्यास के मूल उद्देश्य हैं। इस कार्य के लिए सौराष्ट्र शासन ने वेरावल-भवन सोमनाथ न्यास को दे भी दिया था; किन्तु वल्लभ भाई पटेल के दिवंगत हो जाने के कारण सोमनाथ विश्वविद्यालय की स्थापना न हो पायी तथा भारत के राष्ट्रपति की अध्यक्षता में संस्कृत विश्वपरिषद् का आयोजन किया गया। इस परिषद् ने अपनी सभी बैठकों में बार-बार यह प्रस्ताव किया है कि संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की जानी चाहिए।

(५) संस्कृत कालेज बनारस की भाँति पश्चिम बंगाल में भी बंगीय संस्कृत-शिक्षा-परिषद् नाम की संस्था द्वारा राजकीय संस्कृत परीक्षाओं का सञ्चालन किया जाता है। इस प्रदेश के टोलों (पारम्परिक संस्कृत संस्था) का समन्वयन भी इसी संस्था के हाथ में है। इस परिषद् का संविधान बहुत कुछ आधुनिक ढंग की सम्बन्धक (affiliating) तथा परीक्षा लेने वाले विश्वविद्यालयों के ढाँचे पर बनाया गया है।

(६) नवस्थापित आँध्र सरकार ने विख्यात तीर्थ तिरुपति में एक विश्वविद्यालय की स्थापना की है। इस विश्वविद्यालय के प्रस्तावित अधिनियम में संस्कृत, धर्म, दर्शन तथा कला के संवर्धन का स्पष्ट उद्देश्य निर्धारित किया गया है। आधुनिक विश्वविद्यालय के रूप में श्रीवेंकटेश विश्वविद्यालय का कार्य अब भली-भाँति प्रारम्भ हो चुका है, किन्तु संस्कृत तथा सम्बद्ध विषयों के पठन-पाठन से ओत-प्रोत होने के उद्देश्य से इस संस्था के जिस अनुपमस्वरूप की परिकल्पना की गयी थी, उस उद्देश्य की पूर्ति अब तक नहीं हो पायी है।

(७) अभी हाल ही में पञ्जाब सरकार ने कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय की स्थापना की है। इस विश्वविद्यालय में संस्कृत तथा भारतीय ज्ञान-विज्ञान के विशेष अध्ययन का प्राविधान अभी शेष है। जब इस संस्था का उद्घाटन समारोह सम्पन्न हो रहा था, उस समय एक व्यापक धारणा थी कि यह एक संस्कृत विश्वविद्यालय का शुभा-

रम्भ है। उस उत्सव के अध्यक्ष डा० राजेन्द्रप्रसाद ने संस्कृत विश्वविद्यालय के विचार की भावना अभिव्यक्त की थी तथा उसका समर्थन भी किया था। यह देखना है कि यह विश्वविद्यालय संस्कृत तथा भारतीय ज्ञान-विज्ञान के समुन्नयन सम्बन्धी अपने उद्देश्य की पूर्ति किस प्रकार करता है।

(८) भारत के अखिल भारतीय ख्याति के एक अन्य तीर्थकेन्द्र पुरी में अनेक सार्वजनिक कार्यकत्ताओं तथा कुछ अग्रगण्य कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं के सहयोग से शङ्कराचार्य श्री भारतीतीर्थ ने वहाँ एक प्राच्य विश्वविद्यालय की योजना तैयार की है। सन् १९५५ में उड़ीसा शासन ने इस योजना पर विचार करने के लिए एक समिति का संघटन किया। उड़ीसा के मंत्री श्री राधानाथ रथ ने इस समिति की संस्तुतियों की एक प्रति इस आयोग को भी दी।

(९) यहां हम संक्षेप में उन व्यक्तिगत लोगों तथा संघटनों की भी चर्चा करना चाहेंगे, जिन्होंने संस्कृत विश्वविद्यालय स्थापित करने की चेष्टा की। अलवर के महाराजा ने अपने एक भव्य राजभवन को तथा अपने राज्य की एक दुर्गम भू-सम्पत्ति को संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए दान देने की घोषणा की थी। इस आधार पर आगरा विश्वविद्यालय के एक भूतपूर्व उपकुलपति डा० नारायण प्रसाद अस्थाना, अध्यक्ष, भारतीय विद्या-प्रचार-समिति, आगरा ने सन् १९४५-४६ में एक भारतीय संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए एक स्मारक पत्र तथा अपील भी तैयार की थी। एक दूसरे अखिल भारतीय तीर्थकेन्द्र द्वारिका में, द्वारिका के शङ्कराचार्य की इच्छा थी कि इस तीर्थपुरी में, श्री द्वारिकाधीश संस्कृत विश्वविद्यालय की योजना बनायी जाय। सन् १९४७ में इसकी योजना प्रकाशित की गयी। दक्षिण भारत में सन् १९४६ में डाक्टर सी० के० कुन्हन् राजा ने "संस्कृत विश्वविद्यालय एक कल्पना तथा प्रचार" (Sanskrit University: A Vision and a Mission) नाम की पुस्तिका प्रकाशित की है। अभी हाल ही में काञ्ची के शङ्कराचार्य के सिंहासनारूढ़ होने की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में कतिपय प्रमुख नागरिकों तथा मद्रास के संस्कृत के विद्वानों ने दक्षिण भारतीय संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना करने का अभिप्राय उद्घोषित किया है। कलकत्ता में रामकृष्ण मिशन, शारदापीठ बेलूर ने विश्वविद्यालयीय गौरव सम्पन्न एक संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव रखा है। इस सन्दर्भ में उन्होंने एक योजना तथा अभ्यर्थना (Appeal) भी प्रस्तुत की है। दर्शन के कतिपय सम्प्रदायों के समुन्नयन तथा विशेष अध्ययन के लिए कुछ अन्य संस्थाओं को भी विश्वविद्यालय के रूप में परिणत करने का विचार कर रहे हैं। इस विचारधारा के अन्तर्गत वृन्दावन में वर्तमान लोक सभा के अध्यक्ष के कुलपतित्व में एक वैष्णवधर्म विज्ञान विश्वविद्यालय नाम की संस्था कार्य कर रही है। इसी तरह रामकृष्ण मिशन, बेलूर के स्वामी आगमानन्द तथा उनके सहयोगियों की इच्छा है कि महान् दार्शनिक शङ्कर की जन्म-भूमि कालड़ी, केरल में वेदान्त तथा अन्य दार्शनिक एवं सांस्कृतिक अध्ययनों के लिए एक शङ्कर-विश्वविद्यालय की स्थापना की जानी चाहिए। इन संस्कृत विश्वविद्यालयों में से अनेक अब तक "योजना तथा अपील" की स्थिति में ही पड़े हैं।

(१०) २८ फरवरी, सन् १९५६ को संस्कृत विश्वपरिषद् के सदस्य स्व० डा० चन्द्रशेखर अय्यर, भूतपूर्व न्यायमूर्ति सर्वोच्चन्यालय, लोकसभा के अध्यक्ष श्री एम० अनन्तशयनम् आयंगर, सरदार के० एम्० पणिक्कर तथा श्री एम्० पतञ्जलि शास्त्री, भूतपूर्व मुख्यन्यायमूर्ति सर्वोच्चन्यायालय के एक शिष्टमण्डल ने केन्द्रिय शासन को एक ऐसे अखिल भारतीय विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए स्मृतिपत्र समर्पित किया, जहाँ कुछ आधुनिक ज्ञान विज्ञान के साथ-साथ पारम्परिक विधि से शास्त्रों का गहन पठन-पाठन सम्पन्न किया जायगा।

(११) ऊपर हम यह कह चुके हैं कि संस्कृत विश्वविद्यालय के ठीक-ठीक स्वरूप तथा देश में ऐसी संस्थाओं की संख्या के विषय में हमारे साक्ष्य एक मत नहीं हैं। कुछ लोगों ने यह कहा कि पूरे देश में केवल एक ही केन्द्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की जानी चाहिए, कुछ ने इस प्रकार का एक विश्वविद्यालय उत्तर भारत में तथा दूसरा दक्षिण भारत में स्थापित करने पर बल दिया। कुछ ने यह भी सुझाव रखा कि उत्तर, दक्षिण, पूर्व तथा पश्चिम के क्रम से चार संस्कृत विश्वविद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिए। श्री के० एम्० मुंशी, जो कि संस्कृत विश्वविद्यालय की धारणा को निरन्तर दोहराते रहते हैं, उन्होंने वाराणसी, कुरुक्षेत्र, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास तथा तिरुपति इन छः स्थानों पर संस्कृत विश्वविद्यालय स्थापित करने की आवश्यकता का सुझाव दिया है। उनकी इच्छा थी कि ये सभी केन्द्रिय विश्वविद्यालय तथा इनके कार्य क्षेत्र सीमाबद्ध न हों तथा कुछ साक्ष्यों ने यह भी सुझाव दिया कि यतः सभी प्रदेश स्वतंत्र हैं तथा उन्हें अपनी-अपनी संस्कृत पाठशालओं को समन्वित करना आवश्यक है, पारम्परिक पठन-पाठन को सुव्यवस्थित स्वरूप देने के लिए प्रत्येक प्रदेश में एक-एक संस्कृत विश्वविद्यालय का प्राविधान किया जाना चाहिए।

(१२) संस्कृत विश्वविद्यालय का स्वरूप, उसका कार्यक्षेत्र तथा उसके उद्देश्यों के सन्दर्भ में कई प्रकार के विभिन्न मत अभिव्यक्त किये गये, पर इन अनेक मतों में से एक सर्वसम्मत मत पर ही यह आयोग बल देना चाहता है। वह यह है कि संस्कृत विश्वविद्यालय को इस समय प्रचलित अन्य विश्वविद्यालयों तथा उनकी संस्कृत शिक्षा की कार्यविधि में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। सभी साक्ष्य केवल दो विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संस्कृत विश्वविद्यालय की इच्छा करते थे—एक विशेष पद्धति से तथा एक व्यापक रूप में संस्कृत के पठन-पाठन को प्रोन्नत करना तथा दूसरे पारम्परिक संस्कृत पाठशालाओं को तथा उनकी संस्कृत शिक्षा-प्रणाली को समन्वित करते हुए उनके स्तर को ऊँचा उठाना।

(१३) हमारे साक्ष्यों में एक विचारकवर्ग ऐसा था जो कि संस्कृत विश्वविद्यालय की धारणा का प्रबल विरोधी था। सर्वप्रथम हम इस वर्ग के दृष्टिकोण पर ही विचार करेंगे। इन साक्ष्यों, जिनमें कई एक प्रमुख शिक्षाविद् भी थे, का कथन है कि अपनी पृथक् स्थिति के कारण संस्कृत अत्यधिक हानि उठा चुकी है। यदि हम उसे ऊँचा उठाने की अब कोई भी चेष्टा करते हैं तो हमारी इस प्रकार की चेष्टा से पार्थक्य की उसकी यह स्थिति और अधिक बिगड़ जायगी अर्थात् प्रचलित

सामान्य शिक्षा व्यवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने के स्थान पर हमारी ये समस्त चेष्टाएँ संस्कृत के हित में और भी अधिक हानिप्रद सिद्ध होंगी। यह एक अत्यन्त मार्मिक तथा स्वाभाविक त्रुटि है जिससे कि हम समस्त उत्साहोन्मत्त व्यक्तियों को सतर्क करना चाहेंगे। कुछ साक्ष्यों ने इस कमी को दूर करने के उपाय भी बताये। इन लोगों का यह सुझाव था कि संस्कृत विश्वविद्यालय को चाहिए कि वह विज्ञान तथा प्राविधिक संकायों को सम्मिलित करते हुए आधुनिक शिक्षा के किसी भी संकाय की उपेक्षा न करे। इस विश्वविद्यालय में आधुनिक संकायों की भी शिक्षा सम्मिलित की जानी चाहिए। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि संस्कृत विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम संस्कृत में साहित्य का निर्माण भी किया जाय। यह एक उत्साह तथा हर्ष का प्रसंग है कि श्री सी० डी० देशमुख भी इस मत के ही समर्थक थे। उनकी धारणा है कि यदि ऐसा न किया गया तो संस्कृत को विकसित करना या उसे जीवित रखना सम्भव न होगा। श्री सी० डी० देशमुख ने यह भी सुझाव दिया कि नवीव पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग द्वारा संस्कृत में नये साहित्य के निर्माण से अन्य सभी आधुनिक भारतीय भाषाएँ लाभान्वित होंगी तथा पारिभाषिक शब्दावली के व्यवहार में एकरूपता भी लायी जा सकेगी। इस प्रकार के संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना स्वभावतः सर्वथा तर्कसंगत है, किन्तु यह तो सभी को स्वीकार करना हो पड़ेगा कि संस्कृत विश्वविद्यालय को स्थापित करने की योजना अत्यधिक बृहत् है तथा इसे सफल बनाने के लिए ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो कि कार्य करने की एक वास्तविक लगन से अभिप्रेरित हों एवं उनकी सहायता के लिए धन का प्रवाह अबाध गति से प्रवाहित होता रहे।

(१४) कुछ लोगों ने यह सुझाव दिया कि संस्कृत विश्वविद्यालय के सन्दर्भ में और अधिक व्यावहारिक धारणा यह होगी कि आधुनिक विचारधाराओं के समानान्तर विकासों पर भी दृष्टि रखते हुए इस विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में मानवशास्त्रों (Humanities) की समस्त शाखाओं के अध्ययन एवं चिन्तन का प्राविधान किया जाय।

(१५) जिन साक्ष्यों ने संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना का समर्थन किया, उन्होंने एक तीसरा विचार सामने रखा। उनका सुझाव है कि संस्कृत विश्वविद्यालय को पारम्परिक पाठशाला पद्धति की शिक्षा की उच्चभूमि होना चाहिए। संस्कृत हाईस्कूलों से आगे संस्कृत कालेज तथा संस्कृत कालेज से आगे संस्कृत विश्वविद्यालय होना चाहिए। संस्कृत विश्वविद्यालय संस्कृत पाठशालाओं तथा संस्कृत कालेजों का समन्वयन करेगा। उनके पाठ्यक्रमों को सुव्यवस्थित करेगा, उनके कार्यकलापों का निरीक्षण करेगा तथा उनकी परीक्षाओं का सञ्चालन करेगा। साथ ही साथ इस आयोग ने पारम्परिक प्रणाली में प्रशिक्षित छात्रों के लिए जिस शोधकार्य की परिकल्पना की है, उसकी देखभाल भी करेगा। इस मन्तव्य की पूर्ति के लिए संस्कृत विश्वविद्यालय में सभी शास्त्रों के निष्णात प्रकाण्ड विद्वानों की नियुक्ति करनी होगी।

एक सुव्यवस्थित एवं सुसज्जित पुस्तकालय की स्थापना करनी होगी। पाण्डुलिपियों के एक उत्तम संग्रह की व्यवस्था करनी होगी। संस्कृत ग्रन्थामालाओं का प्रकाशन करना होगा तथा अध्ययनों के भी नियमित प्रकाशन का भी उत्तरदायित्व वहन करना होगा। श्री के० एम्० मुंशी ने इस प्रकार के विश्वविद्यालय का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया है। डाक्टर ए० लक्ष्मण स्वामी मुदलियार भी इस बात से सहमत थे कि व्यावहारिक दृष्टि से ऐसे विश्वविद्यालय की स्थापना उचित है।

(१६) अतः आयोग की संस्तुति है कि उपर्युक्त अनुच्छेदों में जिस प्रकार के विश्वविद्यालय का सुझाव दिया गया है, उस प्रणाली के अनुसार तथा संस्कृत-शिक्षा के अध्याय में इस सन्दर्भ में जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं उनके अनुसार संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की जानी चाहिए। पर यह आवश्यक होगा कि संस्कृत विश्वविद्यालय का शुभारम्भ करने के पूर्व संस्कृत विद्यालयों तथा संस्कृत महाविद्यालयों का पुनः संघटन अवश्य ही कर लिया जाय। साथ ही साथ बलपूर्वक हम यह भी कहना चाहेंगे कि उत्साह के आवेश में कहीं किसी वर्तमान संस्कृत महाविद्यालय को, जो कि स्वयं ही सुचालित नहीं है उसे ही, चमकीले आभूषणों से सजा करके एक विश्वविद्यालय की संज्ञा दे देना विश्वविद्यालय का वेष बदलना मात्र ही कहा जायगा। हम यह भी सुझाव देना चाहेंगे कि किसी नये विश्वविद्यालय की स्थापना के पूर्व यह देख लेना भी आवश्यक होगा कि उत्तरप्रदेश में संस्थापित संस्कृत विश्वविद्यालय कैसा चल रहा है तथा अपने क्रियाकलापों से कहाँ तक लाभान्वित हो रहा है। इसके अतिरिक्त इस तथ्य को भी स्पष्टतः समझ लेना चाहिए कि वैधानिक रूप से विधान सभा द्वारा तदर्थ निर्मित किसी अधिनियम, विशेष राजपत्र या शासनपत्र द्वारा जब तक कोई विश्वविद्यालय स्थापित नहीं होता है, तब तक उसकी कोई भी सामाजिक स्थिति नहीं हुआ करती। इस प्रतिवेदन के किसी अन्य स्थल पर हमने इस सन्दर्भ में एक केन्द्रीय संस्कृत-अध्ययन-परिषद् के प्रश्न पर विचार-विमर्श किया है। इस परिषद् की व्यवस्था हो जाने पर, जब कि वह यथोचित रूप से कार्य करने लगे तब संस्कृत विश्वविद्यालय अथवा यदि एक से अधिक संस्कृत विश्वविद्यालय हों तो ये सभी इस परिषद् से मान्यता लेंगे तथा इसके समाश्रयण में कार्य करेंगे। जब तक इस परिषद् की स्थापना नहीं हो जाती है तब तक किसी भी संस्कृत विश्वविद्यालय का सूत्रपात करने से पूर्व विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग की स्वीकृति ली जानी चाहिए। केन्द्रीय शासन को यह निश्चय कर लेना चाहिए कि संस्कृत विश्वविद्यालय स्थापित किये जाने के जो भी प्रस्ताव उसे प्रदेशों से प्राप्त हों उन्हें वह प्रोत्साहित करेगा।

(१७) इस आयोग का यह विचार है कि प्रस्तावित केन्द्रीय संस्कृत-शिक्षा-परिषद् के साथ कार्य करनेवाले संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना में केन्द्रीय शासन सर्वप्रथम आगे बढ़कर मार्ग दर्शन करे। यह राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय केन्द्र द्वारा देश में स्थापित अन्य विश्वविद्यालय की कार्यप्रणाली के अनुसार कार्य कर सकता है। यतः उत्तर भारत में संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी की स्थापना की

जा चुकी है। यह केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय दक्षिण भारत के किसी स्थान पर स्थापित हो सकता है।

(१८) संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना से संस्कृत शिक्षा की पारम्परिक पद्धति को निश्चय ही अत्यधिक बल प्राप्त होगा। इससे उसके प्रतिनिधियों को केवल गौरव तथा प्रतिष्ठा की ही प्राप्ति नहीं होगी, बल्कि उन्हें एक उच्चस्तरीय कार्य करने का अवसर भी मिलेगा। अपने क्रियाकलापों की उच्चभूमि पर संस्कृत विश्वविद्यालय उस अभीष्ट की उपलब्धि में समर्थ होगा, जिसकी हम तन्मयतापूर्वक उत्सुकता से आज तक प्रतीक्षा करते चले आ रहे थे। वह उपलब्धि है, पारम्परिक प्रौढ़ पाण्डित्य एवं आधुनिक समालोचनात्मक भावना का एकीकरण, जिसके माध्यम से संस्कृत की रचनात्मक एवं निर्माणात्मक विद्वत्ता के नवीन युग का सुप्रभात संस्कृत जगत् को एक अद्वितीय आलोक से अलंकृत कर दे।

—:०:—

दशम अध्याय

संस्कृत सम्बन्धी अन्य प्रश्न

(१) औपचारिक अवसरों पर संस्कृत का व्यवहार

(१) इस आयोग के समक्ष जिन लोगों ने अपने साक्ष्य दिये अथवा जिन लोगों ने हमारी प्रश्नावली के उत्तर भेजे, उनमें से बहुमत ने एक स्वर से इस तथ्य का समर्थन किया कि औपचारिक अवसरों पर संस्कृत का व्यापक प्रयोग उसकी लोकप्रियता तथा उसके गौरव संवर्धन दोनों को ही निःसन्देह प्रभावित करेगा। एक बहुत बड़े जनसमुदाय के इस विचार के बल पर औपचारिक अवसरों पर संस्कृत का व्यापक प्रयोग होना चाहिए, ऐसी संस्तुति प्रस्तुत करने में इस आयोग को लेशमात्र भी हिचकिचाहट का अनुभव नहीं हो रहा है। सर्वप्रथम विधान मण्डल को ही लें। जनसाधारण अथवा विशेष महाविद्यालयों के द्वारा निर्वाचित इन सदनों के सदस्यों का शपथग्रहण सामान्यतः संस्कृत में सम्पन्न होना चाहिए, किन्तु यह सदस्यों की इच्छा पर छोड़ दिया जाना चाहिए कि यदि वे चाहें तो अपनी मातृभाषा या राजभाषा में भी शपथ ग्रहण कर सकते हैं। शासन को चाहिए कि वह शपथग्रहण वाक्य का संस्कृत रूपान्तर आवश्यकता के अनुसार सदनों के प्रत्येक सदस्यों को वितरित करे। जिस समय दिल्ली में इस आयोग की बैठक चल रही थी, उसी समय नवीन लोकसभा का उद्घाटन सत्र सम्पन्न हो रहा था। हमें यह सूचना प्राप्त हुई कि कुछ सदस्यों ने संस्कृत में शपथग्रहण किया। आचार्य कृपलानी सहित कुछ सदस्यों ने यह भी कहा कि यदि वे जानते कि एक शपथग्रहण वाक्य संस्कृत में भी उपलब्ध है तो वे संस्कृत में ही शपथ ग्रहण पसन्द करते। इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि अपनी प्रभावशाली भावप्रकाशन शैली, अपनी मधुर सुरीली शब्दावली तथा अपने महान् ऐतिहासिक सम्पर्क से ऐसे अवसरों पर संस्कृत का प्रयोग इनके गौरव एवं गाम्भीर्य के संवर्धन में सहायक सिद्ध होगा। राष्ट्रपति, राज्यपाल, मन्त्रिवर्ग, न्यायाधीश आदि के शपथग्रहण में संस्कृत का प्रयोग किया जाना चाहिए तथा प्रादेशिक विधानमण्डलों तथा शासन द्वारा आयोजित राष्ट्रिय तथा अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलनों की कार्यवाही का उद्घाटन ऋग्वेद के इन सुविख्यात मंत्रों द्वारा किया जाना चाहिए—

> **सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।**
> **समानो व आकूतिः समानी हृदयानि वः।**
> **समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥**
>
> (ऋग्वेद—१०.१९१.२, ४)

इसी प्रकार सम्मेलनों की समाप्ति के अवसर पर यथोचित वैदिक प्रार्थना का स्थायी रूप से प्रयोग किया जाना चाहिए। विभिन्न विश्वविद्यालयों के दीक्षान्त

समारोह के अवसर पर जिन निर्धारित वाक्यों का हम प्रयोग करते हैं, वे भी संस्कृत में हों। उपाधियाँ, प्रमाण-पत्र तथा इसी प्रकार के अन्य सम्मान जो कि विश्वविद्यालयों, राष्ट्रिय संस्थानों तथा इस प्रकार के अन्य उच्चशिक्षा के संघटनों द्वारा प्रदान किये जाते हैं तथा राष्ट्रपति द्वारा अलंकरण के रूप में जो प्रमाणपत्र दिये जाते हैं, वे भी संस्कृत में ही छपे होने चाहिएँ। इसी प्रकार भारतीय प्रतिनिधियों द्वारा विदेशों के राजप्रमुखों को जो परिचय-पत्र भेंट किये जाते हैं, उन्हें आसानीपूर्वक संस्कृत तथा अन्ताराष्ट्रिय भाषा दोनों ही में लिखा जा सकता है। इन सभी विधियों से भारतीय प्रसंगों में संस्कृत को अपने गौरवास्पद स्थान पर पुनः प्रतिष्ठापित किया जा सकता है।

(२) संस्कृत तथा धार्मिक शिक्षा

(२) यतः भारत अपने धर्मनिरपेक्षकत्व की घोषणा कर चुका है, धर्म के नाम पर यहाँ किसी भी राजकीय या अराजकीय विद्यालय तथा महाविद्यालय में कोई शिक्षा नहीं दी जा सकती। यह भी नहीं हो सकता कि इस शिक्षा को अनिवार्य भी बनाया जा सके, किन्तु शिक्षा के किसी भी कार्यक्रम में यदि "नैतिक शिक्षा" निर्धारित की जाय, तो किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसलिए सभी विद्यालयों में इस "नैतिक शिक्षा" का प्राविधान किया जाना चाहिए। व्यक्तिगत नैतिकता तथा सामाजिक आचार-व्यवहार के सामान्य सिद्धान्त, जो कि व्यक्ति तथा समाज दोनों के ही कल्याणसाधक हैं, विद्यालय के समस्त छात्रों को हृदयङ्गम करा देना चाहिए। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए अपने ग्रन्थों तथा उपयुक्त सुभाषितवाक्यों के अनन्त भाण्डार से परिपूर्ण संस्कृत भाषा हमारे लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगी। प्रत्येक भारतीय बालक तथा बालिका को बाल्यकाल से ही संस्कृत पद्य तथा नीतिश्लोकों के माध्यम से नैतिकता तथा सामाजिक व्यवहार की शिक्षा दी जानी चाहिए। यह भी आवश्यक है कि इन संस्कृत सुभाषितों के साथ बालक की मातृभाषा में उनके रूपान्तर भी बालकों को उपलब्ध हों। यदि कोमलवय में ही बच्चों को उनकी मातृभाषा में अनुवाद सहित इन सुभाषितों को कण्ठस्थ करने में प्रोत्साहित किया जाय, तो वे एक ऐसी बौद्धिक तथा आध्यात्मिक निधि से उसके सौन्दर्यात्मक आकर्षण के साथ सुसज्जित हो जायेंगे जो कि संस्कृत ऐसी मधुर तथा सुरीली भाषा में अभिव्यक्त है। यह उनके लिए आजीवन एक अमूल्य सम्पत्ति सिद्ध होगी। अनुभव द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि यदि अन्य बालकों के साथ कक्षा में इन सुभाषितों की निरन्तर समवेत पुनरावृत्ति करायी जाय तो मातृभाषा में न होने पर भी हमारे बच्चे इन्हें सरलतापूर्वक कण्ठस्थ कर लेते हैं। बड़े-बूढ़ों द्वारा घर पर भी यदि ये सुभाषित व्यक्तिगतरूप में कण्ठस्थ कराये जायें, तो भी उनके प्रभाव में कमी नहीं आती। संस्कृत के विवेकपूर्ण विद्वानों ने भी इन सुभाषितों के सांस्कृतिक, सौन्दर्यात्मक तथा साहित्यिक महत्त्व की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। नवम अखिल भारतीय प्राच्य-सम्मेलन (All-India Oriental Conference) के अवसर पर इस सम्मेलन के साहित्यिक संस्कृत विभाग के अध्यक्ष के रूप में एफ़. डब्ल्यू. टामस ने इस

सन्दर्भ में अपने विचार निम्न प्रकार से प्रकट किया है—"मेरा विचार है कि इस तथ्य पर सभी समालोचक एकमत होंगे कि चारित्रिक तथा व्यावहारिक निरीक्षण सम्बन्धी संस्कृत साहित्य का यह अंश अपने सम्पत्ति-वैभव, दृष्टि तथा बुद्धि की सूक्ष्मता एवं गाम्भीर्य में अद्वितीय है। इस स्थल पर उन समालोचकों के ऐसे विचार पूर्णतः ध्वस्त हो जाते हैं कि संस्कृत साहित्य कृत्रिम है तथा उसकी प्रेरणाओं में मौलिकता के स्थान पर पाडित्यप्रदर्शन एवं खण्डन-मण्डन की अधिकता है। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि संस्कृत-साहित्य का केवल यही एक अंग है जहाँ कि भारतीय मानवता क्या समस्त विश्व की मानवता अपने सम्पूर्ण स्वरूप में प्रगट होती है। संस्कृत वाङ्मय के इस विशाल साहित्य को वैलक्षण्य एवं अनुपमेय सौन्दर्य से विभूषित करने वाली शक्ति है उसकी कलात्मक योजना"।

(३) बाल्यकाल के प्रारम्भिक क्षणों में इन सुभाषितों की शिक्षा ही संस्कृत को हमारे भारतीय जनसमाज की बौद्धिक रचना का एक विशेष अङ्ग बना देने में अत्यन्त शक्तिशाली साधन सिद्ध हुई है। जैसा कि हमने अन्यत्र भी सुझाव दिया है कि बालक आगे चल कर यदि संस्कृत का अध्ययन भी करना चाहे तो भी बाल्यकाल में उसे सुभाषितों की शिक्षा अवश्य देनी चाहिए।

(३) संस्कृत का उच्चारण

(४) संस्कृत का इतिहास चार हजार वर्षों से भी प्राचीन है। यह भाषा एक ऐसे विशाल देश में व्याप्त है जहाँ की जनता प्रारम्भ से ही अपने बोल-चाल में अनेक भाषाओं का प्रयोग करती आ रही है। ऐसी स्थिति में इस समय यदि इस भाषा के उच्चारण में पूरी-पूरी एकरूपता न पायी जाय तो यह कोई आश्चर्य की बात न होगी। प्रातिशाख्यों के समय से लेकर आज तक हम प्रान्तीय तथा स्थानीय बोल-चाल की संस्कृत भाषा के उच्चारण में अन्तर पाते हैं। संस्कृत के कुछ शब्दों की वर्तनी (Spellings) के वैकल्पिक रूप, तथा मध्यकाल एवं प्राचीनकाल के संस्कृत शिला-लेखों तथा पाण्डुलिपियों की वर्तनी में जो भेद दृष्टिगत होता है, उन सभी के मूल में यही उच्चारण की विभिन्नता ही है। संस्कृत न बोलने वाला जनवर्ग संस्कृत का अत्यधिक सम्मान करते हुए भी जब वह संस्कृत का प्रयोग करता है, तब अपनी या क्षेत्रीय भाषा के उच्चारण के अभ्यास को यदि उसमें आरोपित कर दें तो यह कोई अस्वाभाविक बात न होगी। उच्चारण की इस विशिष्टता से मुक्ति पाना तो असम्भव है, किन्तु यदि किसी विशेष क्षेत्र में उच्चारण भेद होने पर भी यदि भाषा समझ में आ जाती है तो लोग सन्तुष्ट रहते हैं। उच्चारण की इस भिन्नता से विश्व की प्रायः सभी महान् भाषाएँ, विशेषतः वे जो कि अब किसी जाति या वर्ग में बोल-चाल की भाषा नहीं रह गयी हैं, इसी प्रकार प्रभावित हैं। जैसे कि यूरोप के विभिन्न भागों में लैटिन का उच्चारण भिन्न-भिन्न पाया जाता है। यूनानी, अरबी तथा हिब्रू की भी यही स्थिति है।

(५) इस समय संस्कृत में भी विभिन्न प्रकार के कुछ ऐसे उच्चारण पाये जाते हैं जो कि कुछ अक्षरों तक ही सीमित हैं। इन उच्चारणों का भाषा की एकरूपता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हम देखते हैं कि संस्कृत बोलने या पढ़ने की स्थिति में बोल-चाल की भाषा या मातृभाषा के ध्वनि अभ्यास स्थानीय उच्चारण के रूप में प्रकट हो जाया करते हैं। कुछ आधुनिक भारतीय संस्कृत उच्चारण संस्कृत के आदर्शों तथा सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं करते, जैसे—आसाम तथा पूर्व और पश्चिम बंगाल के विभिन्न उच्चारणों को लेकर समस्त बंगाल के उच्चारणों में संस्कृत के सिद्धान्तों का अतिक्रमण स्पष्ट है। ये उच्चारण देश के अन्य भागों में प्रचलित उच्चारणों से भिन्न हैं। सामान्यतः समस्त भारत में यह मान लिया गया है कि महाराष्ट्र तथा दक्षिण अर्थात् महराष्ट्र प्रदेश तथा आंध्र, कर्नाटक एवं तामिलनाडु के द्राविडी भाषाभाषी क्षेत्रों के विद्वानों का, विशेषतः वैदिक पण्डितों का संस्कृत-उच्चारण आधुनिक भारतीय संस्कृत-उच्चारण का आदर्शस्वरूप है। मिथिला तथा उत्तर बिहार में स्थानीय बोल-चाल के उच्चारण अभ्यास बने हुए हैं। उत्तर भारत में वर्णसमूह तथा शब्दों के अन्त में स्थित ह्रस्व 'अ' को छोड़ देने की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। उच्चारणों की ये विचित्रताएँ समस्त भारत में दृष्टिगत होती हैं। अतः इन पर विचार करना आवश्यक नहीं प्रतीत होता। निष्कर्ष यही है कि महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारत का पण्डितवर्ग सामान्यतः उच्चारण की अधिक शुद्ध परम्परा का निर्वाह करता है।

(६) संस्कृत वैदुष्य के हित में आज यह निश्चयरूप में आवश्यक है कि भारतवर्ष की इस महान् भाषा के उच्चारण में सुधार किया जाय। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम अपने अध्यापकों को प्रशिक्षित करें। यह तो मानी हुई बात है कि उच्चारण में सर्वथा एकरूपता स्थापित करना असम्भव है, किन्तु इसे कौन नहीं स्वीकार करेगा कि हमें किसी न किसी प्रकार के एक अखिल भारतीय संस्कृत उच्चारण का स्तर तो निश्चित करना ही चाहिए। यह कार्य धीरे-धीरे हो भी रहा है तथा अखिल भारतीय उच्चारण के इस सन्दर्भ में दक्षिण भारत तथा मद्रास के उच्चारण को आधार मानते हुए उच्चारण के स्तर में एकरूपता लाने का मार्ग ढूंढ़ा भी जा चुका है। कहना न होगा कि वाराणसी तथा कुछ सीमा तक वृन्दावन जैसे भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत शिक्षा के कतिपय अन्य केन्द्रों पर महाराष्ट्र तथा दक्षिण के विद्वानों का अधिकाधिक प्रभाव पड़ने के कारण उत्तर भारत के उच्चारण अभ्यासों में अब क्रमशः सुधार हो रहा। यह भी ध्यान देने की बात है कि बनारस के विद्वानों द्वारा तथा बनारस निवासी महाराष्ट्र तथा दक्षिण के विद्वानों द्वारा एक नवीन अखिल भारतीय उच्चारण परम्परा का निर्माण किया जा रहा है। इस आयोग की सम्मति में इस अखिल भारतीय संशोधित उच्चारण स्तर का सामान्य रूप से सर्वत्र प्रचलन किया जाना चाहिए। इस कार्य को पूरा करने के लिए हमें पर्याप्तरूप में प्रशिक्षित अध्यापकों की आवश्यकता होगी। इस प्रशिक्षण में ग्रामोफोन तथा टेपरेकार्ड का अधिकाधिक प्रयोग उपयोगी सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त

भारतीय आकाशवाणी द्वारा प्रतिसप्ताह कम से कम दो घण्टे संस्कृत-शिक्षा तथा सस्वर पाठ के लिए भी समय निश्चित किया जाना चाहिए। इस कार्यक्रम को सुनने वाली एक बहुत बड़ी जनता में ही यह कार्यक्रम लोकप्रिय नहीं होगा, बल्कि सम्पूर्ण भारत में नयी पीढ़ी के छात्रों के लिए संस्कृत की उत्तम परम्परा बनाने में भी इस कार्यक्रम का एक महान् शैक्षिक मूल्य स्थापित हो सकेगा।

(७) संस्कृत के श्लोकों को विभिन्न छन्दों में सरल, मधुर तथा कर्णप्रिय स्वर में गाया जा सकता है। इसी प्रकार आधुनिक भारतीय भाषाओं में लिखे गये काव्यों के अधिकांश भाग का भी विभिन्न छन्दों में गायन किया जा सकता है। संस्कृत के विभिन्न छन्दों के पाठ एक सुनिश्चित शैली से किये जाते हैं तथा एक ही छन्द को कई तरह से गाया जा सकता है। विशेष भाषाक्षेत्रों में पद्यगान की अपनी विशेष शैलियाँ प्रचलित हैं। विद्यालयों में छन्दगान की शैलियों का व्यवहार धीरे-धीरे घटता जा रहा है। इस सन्दर्भ में हमें यह न भूलना चाहिए कि छन्दगान की इन शैलियों से संस्कृत का सौन्दर्यबोधक मूल्य अधिकाधिक संवर्धित होता है। इसलिए इनका संरक्षण करना सर्वथा आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इन विभिन्न गायन शैलियों से युवा छात्र संस्कृत श्लोक-पाठ तथा श्लोक-कण्ठस्थीकरण में भी बहुत अधिक प्रोत्साहित भी होते हैं।

(४) लिपि का प्रश्न

(८) एक भाषा के रूप में समस्त भारत में संस्कृत की एक ही लिपि होनी चाहिए। इस सन्दर्भ में सर्वत्र ही देवनागरी लिपि को विशेषतः यह सम्मान प्राप्त है। संस्कृत के विशाल इतिहास पर यदि हम दृष्टि डालें तो प्रत्यक्ष होगा कि १५०० से कुछ अधिक वर्षों से लिपि के इस प्रश्न को अत्यधिक महत्त्वहीन बना दिया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रारम्भ में संस्कृत एक प्रकार की प्राचीन ब्राह्मी लिपि में लिखी जाती थी। कालान्तर में भारत के विभिन्न भागों में इस ब्राह्मी लिपि का धीरे-धीरे रूपान्तरण होने लगा तथा जैसे-जैसे समय बीतता गया यह लिपि अनेक स्थानीय लिपियों तथा बोलियों में परिवर्तित होती गयी। इन विभिन्न लिपियों में ही स्थानीय बोलियों तथा संस्कृत को भी उत्तर एवं दक्षिण भारत में लिखा जाने लगा।

(९) आज जब कि हम देवनागरी लिपि के एक व्यापक प्रयोग की बात सोचते हैं, तो इस तथ्य की ओर प्रायः ध्यान नहीं देते कि देवनागरी भी एक प्रान्तीय लिपि है, जो कि ब्राह्मी का ही एक संशोधित स्वरूप है। एक विशेष भाषाक्षेत्र के लोग अपनी स्थानीय लिपि का ही प्रयोग किया करते हैं। इस दृष्टि से यदि हम देवनागरी पर ही विचार करें तो हमें प्रत्यक्ष होगा कि यह लिपि भी कभी एक स्थानीय लिपि रह चुकी है। यद्यपि भाषा के रूप में संस्कृत पूर्ण भाषा थी तथा समूचे देश की जनता उसे समझा करती थी एवं उसकी प्रशंसा भी किया करती थी; तथापि इसकी लिपि के सन्दर्भ में कुछ न कुछ कठिनाई का अनुभव अवश्य किया जाता था। बंगाल तथा आसाम की प्रायः सभी पुस्तकें बंगला तथा आसामी लिपि में लिखी

जाती थीं। इसी प्रकार उड़ीसा की उड़िया लिपि में, मिथिला की मैथिली लिपि में, नेपाल की नेवारी लिपि में, काश्मीर की शारदा लिपि में, केरल की मलयालम् लिपि में, तामिल प्रदेश की ग्रन्थ लिपि में, आन्ध्र तथा कर्नाटक में आन्ध्र कर्नाटक लिपि के दो रूपान्तरों में तथा महाराष्ट्र के प्रायः सभी संस्कृत ग्रन्थ देवनागरी लिपि में लिखे जाते थे। लिपि का यह भेद देश के विभिन्न भागों के विद्वानों तथा अध्यापकों के लिए पाण्डुलिपिकों के विनिमय तथा उनके स्वतन्त्र प्रवाह में किसी प्रकार का बाधक नहीं था। देश के किसी भाग का विद्वान् यदि किसी भी अन्य प्रदेश के ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहता था, तो उस प्रदेश के ग्रन्थ की लिपि में लिखे हुए अपने वाञ्छित ग्रन्थ को किसी अभिज्ञ व्यक्ति से पढ़वा लेता था या उस लिपि की सामग्री को अपनी परिचित लिपि में पुनः लिखवा लिया करता था। यदि ग्रन्थ किसी दूसरे प्रदेश में पढ़े जाते थे या उन्हें वहाँ अपनाया जाता था तो उन ग्रन्थों के पाठ अभोप्सित लिपि में बहुधा रूपान्तरित कर लिए जाते थे। यह प्रक्रिया निश्चय ही बहुत कुछ असुविधाप्रद थी; किन्तु लोग इस प्रक्रिया से इतने अभ्यस्त हो चुके थे कि इसे एक स्वाभाविक प्रक्रिया समझा जाता था। मैथिली लिपि का बंगला लिपि में रूपान्तरण अथवा बंगला लिपि का मलयालम् या ग्रन्थ लिपि में रूपान्तरण एक साधारणतः प्रचलित प्रक्रिया थी। विभिन्न भारतीय लिपियों के एक दूसरे के समान होने के कारण उनके परस्पर भेद से न तो किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव किया जाता था और न ही किसी प्रकार के क्लेश का ही।

(१०) कालिदास का "ऋतुसंहार" सर्वप्रथम बंगला लिपि में सन् १७९२ में छपकर प्रकाशित हुआ। किन्तु बंगला लिपि इस सन्दर्भ में आगे नहीं बढ़ पायी। इसका कारण यह था कि प्रारम्भ से ही यूरोप के निवासियों द्वारा संस्कृत-शिक्षा के केन्द्र के रूप में वाराणसी को ही मान्यता दी जाती रही, तथा वाराणसी के विभिन्न प्रान्तों के विद्वान् अपने संस्कृत लेख में देवनागरी लिपि का ही प्रयोग किया करते थे। यही कारण है कि एक सामान्य लिपि के रूप में देवनागरी लिपि ने कुछ प्रतिष्ठा प्राप्त कर लिया। अपने संस्कृत लेख में यूरोप के विद्वानों ने भी एक समुचित लिपि के रूप में देवनागरी को ही अंगीकार किया। सन् १८०५ में प्रकाशित कोलब्रुक के संस्कृत-व्याकरण में भी देवनागरी लिपि का ही प्रयोग किया गया था। सन् १८०८ में विल्किन का संस्कृत-व्याकरण लन्दन से प्रकाशित हुआ था। संस्कृत के अध्ययन में इस ग्रन्थ से यूरोप के छात्रों को अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई। देवनागरी लिपि में यूरोपियों के लिए यह सर्वप्रथम ग्रन्थ था। इसके उपरान्त यूरोप तथा भारत में छापे जाने वाले संस्कृत के प्रायः समस्त ग्रन्थ एक सामान्य प्रक्रिया के रूपमें देवनागरी लिपि में ही प्रकाशित होने लगे। विगत शताब्दी के प्रथम चरण में मुद्रण तथा विश्वव्यापी प्रयोग के कारण संस्कृत के लिए एक आदर्श लिपि का निर्धारण हो गया तथा संस्कृत के लिए देवनागरी लिपि अखिल भारतीय लिपि के रूप में प्रतिष्ठापित हो गयी। इस प्रकार उसे राष्ट्रिय लिपि का स्थान प्राप्त करने का अधिक से अधिक गौरव प्राप्त हुआ।

(११) किन्तु; विशेषतः दो बड़ी-बड़ी घटनाएँ देवनागरी को ऊँचा उठाने में सहायक सिद्ध हुईं—(i) सन् १८४८ से सायणभाष्य सहित एफ्० मैक्सम्यूलर की ऋग्वेदसंहिता का आक्सफोर्ड से देवनागरी लिपि में प्रकाशिक होना तथा (ii) कलकत्ता, वम्बई एवं मद्रास विश्वविद्यालयों द्वारा अपनी परीक्षाओं में केवल देवनागरी लिपि में छपी पुस्तकों के निर्धारण की नीति को स्वीकार किया जाना। इन विश्वविद्यालयों के प्रश्नपत्र भी सर्वदा देवनागरी लिपि में ही मुद्रित होते थे।

(१२) देवनागरी का व्यापक तथा क्रमशः वर्द्धनशील प्रयोग होने पर भी आयोग ने कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा परम्पराओं का अवलोकन किया है, जिनका यहाँ उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है। यह देखा गया है कि संस्कृतभाषा की निकटतम लिपि (या ऐसी लिपि जो कि मातृभाषा के अत्यधिक समीप हो, जैसे-तामिल भाषियों में ग्रन्थ लिपि का प्रयोग अब भी प्रचलित है) में लिखी गयी या मुद्रित संस्कृतभाषा के रूप में देवनागरी की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्रता से उन प्रदेशवासियों के हृदय के समीप जा पहुँचती है, जैसे—देवनागरी, रोमन तथा बंगाली व्यक्ति को बंगला लिपि में छपे ग्रन्थ तत्काल प्रभावित करते हैं तथा उसे मानो ऐसा लगता है कि ग्रन्थ का भाव उसके हृदय के समीप पहुँच रहा है। मातृभाषा तथा संस्कृत दोनों के लिए एक ही लिपि का प्रयोग अपना एक विशेष महत्त्वपूर्ण मूल्य रखता है। ऐसी स्थिति में हम यह अनुभव करने लग जाते हैं कि संस्कृत तथा हमारी मातृभाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जब कि हम संस्कृत को अपनी मातृभाषा की लिपि में लिखी या छपी पाते हैं तो हममें मेल-जोल अथवा विश्वास की भावना का ही अनुभव नहीं हुआ करता; बल्कि लिपि की कठिनाई के दूर हो जाने पर संस्कृत के भी अनेक शब्द मातृभाषा के सुविज्ञात शब्दों के रूप में परिचित शब्दों के समान हमारे सामने प्रकाशित होने लग जाते हैं।

(१३) संस्कृत के ग्रन्थों में जब संस्कृत के साथ तामिल रूपान्तर किया गया, उस समय तामिल प्रदेश के विद्वानों ने अपनी ग्रन्थ लिपि को छोड़कर देवनागरी लिपि को स्वीकार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि स्थानीय भाषा तथा लिपि से संस्कृत दूर होती गयी तथा उसे अपनी लोकप्रियता को खो देना पड़ा। ग्रन्थलिपि तथा तामिल के अनेक वर्ण तथा उनकी बनावट प्रायः एक सी है। संस्कृत के लिए और अक्षरों की पूर्ति के लिए इस लिपि में जो और अक्षर जोड़े गये हैं, वे भी तामिल अक्षरों से बहुत अधिक मिलते-जुलते हैं, मानो कि उनमें पारिवारिक समानता हो। मुद्रित पृष्ठ पर ये अक्षर सुन्दरतापूर्वक इस प्रकार मिलते-जुलते हैं कि किसी भी छपे हुए पृष्ठ पर यदि तामिल के साथ-साथ ग्रन्थलिपि का भी प्रयोग किया जाय तो हम कभी भी यह अनुमान न कर पायेंगे कि ये भिन्न-भिन्न दो लिपियां हैं। भाषा सम्बन्धी प्रचलित विवाद की स्थिति में तमिलनाडु में संस्कृत के लिए ग्रन्थलिपि का प्रयोग कम से कम लिपि के द्वारा ही अनेक लोगों को स्वभावतः सहमत हो जाने की ओर प्रवृत्त करता था तथा उन्हें सन्तुष्ट रखने में भी काम करता था। यही नहीं बल्कि तमिलनाडु में ग्रन्थलिपि में संस्कृत का अध्ययन एक व्यापकरूप में घर के समान स्वतंत्रता की भावना उत्पन्न करता था। कामकोटि काञ्चीपुरम् के शङ्कराचार्य

ने प्रकारान्तर से आयोग से बातचीत के समय यह बताया कि तामिल प्रदेश में संस्कृत के लिखने में तथा उसके मुद्रण में ग्रन्थलिपि का प्रयोग स्वीकार किया जाना चाहिए। यह व्यवस्था जनवर्ग को संस्कृत के समीप लाने में अपेक्षाकृत अधिक सफल हो चुकी है।

(१४) ऐसी स्थिति में हमारे देश के जिस क्षेत्र के लोग अपनी मातृभाषा को लिखने में या उसके मुद्रण में देवनागरी लिपि का प्रयोग नहीं करते, उनके बीच संस्कृत को शक्तिशाली बनाने के लिए यह बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा कि हम उन क्षेत्रों की स्थानीय लिपियों को अवश्य मान्यता दें। संस्कृत का ज्ञान देवनागरी लिपि के ज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण तथा मूल्यवान् है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए तथा साथ ही साथ इस बात को न भूलते हुए कि देवनागरी से भिन्न अन्य लिपियाँ भी संस्कृत की सेवा में पूरा-पूरा सहयोग दे रही थीं, इस आयोग की यह संस्तुति है कि संस्कृत के लिए देवनागरी लिपि को अखिल भारतीय लिपि के रूप में स्वीकार करते हुए उसे सर्वव्यापी बताना तो उचित है, किन्तु उसे लोकप्रिय बनाने के लक्ष्य से तथा उसके यथेष्ट प्रचार तथा प्रसार के मन्तव्य से स्थानीय लिपियों का प्रयोग भी एक सुदृढ़ साधन के रूप में प्रचलित रखा जाना चाहिए।

(१५) देवनागरी तथा कई एक प्रकार की अन्य लिपियों के अतिरिक्त रोमन (किसी भी भाषा के अक्षरों में, जैसे संस्कृत को अंग्रेजी के अक्षरों में) लिपि का प्रयोग, विशेषतः विदेशी विद्वानों के द्वारा, संस्कृत-मुद्रण के सन्दर्भ में किया गया है। इस प्रकार रोमन लिपि में छपी हुई एक बहुत बड़ी सामग्री प्राप्त है तथा इसकी मात्रा भी प्रतिवर्ष बढ़ती ही जा रही है। इस स्थिति पर दृष्टि रखते हुए तथा इस बात पर भी ध्यान देते हुए कि उच्चस्तर के भाषाविज्ञान सम्बन्धी कार्य के लिए रोमनलिपि एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रही है। यह आयोग आवश्यक समझता है कि अन्य भाषा की वर्णमाला में संस्कृत को पढ़ने तथा लिखे जाने की जो अन्ताराष्ट्रिय प्रणाली मान्य हो चुकी है, उस प्रणाली से भारतवर्ष के उच्चस्तर के छात्रों को रोमन अक्षरों को पढ़ने तथा लिखने की योग्यता प्राप्त करनी चाहिए।

(५) पारिभाषिक शब्दावली

(१६) प्राकृत एवं आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं तथा दक्षिण भारत की द्राविड़ी भाषाओं की पोषक भाषा होने के कारण अपेक्षित शब्दावली द्वारा इन भाषाओं को विकसित तथा समृद्ध बनाने में भी संस्कृत का योगदान किसी प्रकार कम नहीं है। प्राकृत एवं आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं तथा दक्षिण भारतीय द्राविड़ भाषाओं को अपने अभ्युदय की उच्च स्थिति में जब कभी भी अपेक्षित शब्दावली की आवश्यकता पड़ी है, उस समय सदैव ही संस्कृत ने उन शब्दों की आपूर्ति की है। तामिल के प्राचीनतम ग्रन्थों में "तोलकप्पियम्" नामक व्याकरण ग्रन्थ में संस्कृत के पारिभाषिक शब्द लिए गये हैं। ये शब्द मिलकर व्याकरण का निर्माण करते हैं।

सभी भारतीय भाषाओं के लिए यह एक अत्यन्त स्वाभाविक प्रक्रिया चली आ रही है कि वे स्रोतभाषा के रूप में संस्कृत की ही शरण लेते हैं। इस समय आधुनिक भारतीय भाषाओं में दार्शनिक तथा अन्य पारिभाषिक शब्दों की एक बहुत मात्रा या तो विशुद्ध संस्कृत की है या प्राकृतों के माध्यम से किसी परिवर्तित रूप में पायी जाती है। जब कभी कोई शब्द संस्कृत से लिया जाता है तो कभी भी यह भासित नहीं होता कि हम किसी एक दूसरी भाषा से उस शब्द को उधार ले रहे हैं। सच पूछा जाय तो संस्कृत को हम एक ऐसे विशाल शब्द भाण्डार के रूप में देखते हैं जो कि आवश्यकता आ पड़ने पर समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओं के उपयोग के लिए सुरक्षित रखा हुआ है।

(१७) आधुनिक परिस्थितियों के प्रभाव के कारण हमारे भारतीय जीवन तथा हमारी सभ्यता में जो परिवर्तन हुए हैं, वे बिल्कुल स्पष्ट हैं। इसके कारण भारतीय जीवन तथा विचार-क्षेत्र में अनेकानेक नयी-नयी कल्पनाएँ, नयी-नयी धारणाएँ, नयी-नयी वस्तुएँ तथा नयी-नयी प्रक्रियाएँ प्रकाश में आ रही हैं। इन सभी के लिए पारिभाषिक तथा अन्य प्रकार के पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता का अनुभव पहले की अपेक्षा आज कहीं अधिक किया जा रहा है। नवीन प्रक्रियाओं तथा वस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाले शब्द बहुधा सीधे विदेशी भाषाओं से ले लिये जाते हैं। मानव-चिन्तन के अनेक क्षेत्रों की नवीन धारणाओं, विचारों तथा कल्पनाओं के लिए नये-नये शब्द गढ़े जा रहे हैं एवं उनका प्रयोग भी किया जा रहा है। इस प्रक्रिया में अँगरेजी, फ्रांसीसी तथा जर्मन आदि विभिन्न विदेशी भाषाओं का शब्द प्रयोग करने में लोगों को कोई प्रसन्नता का अनुभव नहीं होता। यदि अभिलषित शब्दावली उन्हें सीधे संस्कृत से प्राप्त हो जाती है अथवा वे उन संस्कृत शब्दों को स्वयं जानते हैं तो वे संस्कृत के इन शब्दों को ले लिया करते हैं; अन्यथा संस्कृत पर्यायों को खोजने की ही नियमित प्रणाली प्रचलित है। यदि संस्कृत के बने बनाये शब्द उनकी दृष्टि में नहीं आते या सुलभ नहीं होते तो वे संस्कृत की धातुओं तथा प्रयोगों के सहारे नवीन शब्दों को बना भी लिया करते हैं। इस प्रकार आधुनिक भारतीय भाषाओं को अपने शब्दभाण्डार के आवश्यक संवर्धन में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। राजभाषा आयोग (Official Language commission) का कहना है कि समस्त भारतीय भाषाओं की शब्दावली में समानता का कारण यही है कि ये समस्त भाषाएँ एक ही स्रोत से प्रवाहित हो रही हैं और वह है संस्कृत वाङ्मय। शब्दावली के प्रश्न पर विचार करते हुए यह आयोग यह भी कहता है कि भारतीय क्षेत्रीय भाषाओं के लेखकों द्वारा उपसर्गों, विभक्तियों तथा सम्बन्धसूचक अव्ययों आदि में संस्कृत ऐसी समृद्ध भाषा के भाण्डार से स्वतंत्रतापूर्वक अपेक्षित शब्दों के लिये जाने के कारण अब यथोचित शब्दावली की समस्या हल हो चुकी है। अभिलषित शब्दावली का एक बहुत बड़ा अंश संस्कृत भाषा तथा उसके साहित्य में सुलभ हो जाने के कारण नवीन शब्दों का निर्माण न करके हमारी भारतीय भाषाएँ संस्कृत से ही अपनी शब्दावली उधार ले रही हैं।

(१८) ब्रिटिश शासन काल में जब कि देशी रियासतें अपनी व्यवस्था स्वयं ही किया करती थीं–यदि हम उस समय पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट होगा कि बड़ौदा, मैसूर, त्रिपुरा आदि राज्यों ने अपनी स्थानीय भाषाओं में जिस नवीन शब्दावली की रचना की थी वह अधिकतर संस्कृत से ही ली गयी थी। स्वतंत्रता के पूर्व भी इस दिशा में एक बार चेष्टा की गयी थी; किन्तु स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने पर इस अभियान में तीव्रता से गति आयी तथा कहीं-कहीं तो इस प्रसंग में बहुत अधिक शक्तिशाली एक विलक्षण सा उत्साह भी देखा गया।

(१९) किन्तु भाषाओं के माध्यम से शिक्षा तथा प्राशासनिक व्यवस्था के क्षेत्र में नवीन वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली की रचना का कार्य जितना सन्तोषप्रद होना चाहिए उतना सन्तोषप्रद नहीं चल रहा है। यदि केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासन देश की वास्तविक आवश्यकता तथा इस मार्ग की असुविधाओं एवं विघ्नों पर ध्यान देते हुए एक यथोचित भाषा-नीति स्वीकार करें, तो कोई कारण नहीं कि यह कार्य एक व्यवस्थित तथा यथोचितरूप एवं विवेकयुक्त ढंग से न चल सके। इस सन्दर्भ में एक आधारभूत सिद्धान्त निर्धारित किये जाने के प्रसंग में प्रायः सभी विचारक, शिक्षाविद् तथा प्रशासक इस तथ्य पर एकमत हैं कि भारतीय भाषाओं के लिए जो यथोचित नवीन शब्दावली निश्चित की जाय उसमें यथासम्भव एकरूपता होनी चाहिए। जहाँ तक बन पड़े सभी भाषाओं में एक ही पारिभाषिक तथा अन्य शब्द के प्रयोग की पूरी-पूरी चेष्टा की जानी चाहिए। इस प्रकार की एकरूपता हम सबसे अधिक सरलता तथा स्वाभाविकता से संस्कृत की सहायता से ही प्राप्त कर सकते हैं।

(२०) पारिभाषिक तथा अन्य शब्दों की उपर्युक्त एकरूपता से आज के युग में संस्कृत अपनी भाषाओं, कलाओं, विज्ञानों तथा शस्त्रीयविचारों की भावप्रकाशन शक्ति को सुदृढ़ बनाते हुए उन्हें समृद्ध वनाने की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण सेवा कर सकती है। इस सन्दर्भ में केवल प्रदेशों तथा विश्वविद्यालयों के द्वारा ही नहीं, बल्कि व्यक्तिगत रूप में अन्य लोगों के द्वारा भी अंगरेजी-संस्कृत पारिभाषिक शब्दकोश प्रकाशन के जो कार्य प्रारम्भ किये जा चुके हैं, उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी ही होगी। इस आयोग का यह सुझाव है कि आधुनिक विज्ञान, उद्योग, दर्शन तथा मानवविद्याओं (Humanities) के एक बृहत् पारिभाषिक शब्दकोश की रचना के लिए केन्द्रीय शासन को अपना एक पृथक् संघटन तैयार करना चाहिए। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम हमें उन पर्यायवाची शब्दों को खोजने का प्रयत्न करना चाहिए, जो नवीन अंगरेजी शब्दों के लिए संस्कृत में सुलभ हैं तथा जिनका हम समुचित प्रयोग कर सकते हैं। तत्पश्चात् हमें यह देखना होगा कि ऐसे कौन-कौन से नवीन अंगरेजीशब्द हैं, जिनसे नवीन पर्यायवाची शब्दों की रचना संस्कृत धातुओं, प्रत्ययों तथा विभक्तियों के अधार पर की जा सकती है, जिनके पर्यायवाची संस्कृतग्रन्थों अथवा शब्दकोशों में नहीं प्राप्त हैं। इस प्रसङ्ग में आयोग की यह धारणा है कि संस्कृतवाङ्मय के वैज्ञानिक तथा प्राविधिक साहित्य की विपुल राशि की अभी तक

पर्याप्त छान-बीन नहीं की गयी है, क्योंकि प्राचीन काल में जिन संस्कृत प्राविधिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता था, उनकी अपेक्षा आज-कल संस्कृत के जिन शब्दों का निर्माण हम कर रहे हैं वे बहुत अधिक लम्बे तथा परिश्रम से गढ़े गये प्रतीत होते हैं। साथ ही साथ वे बिलकुल ठीक भी नहीं हैं। इस दिशा में यथेष्ट सफलता पाने के लिए यह आवश्यक है कि विज्ञान के क्षेत्र में आज भारतीय भाषाओं में जो शोधकार्य चल रहे हैं अथवा जो पाठ्यपुस्तकें लिखी जा रही हैं, उनके लेखकों को चाहिए कि वे समस्त भारत में सामान्यतः प्रयोग में लायी जाने योग्य नवीन शब्दवाली की रचना के लिए संस्कृतवाङ्मय के विशाल भाण्डार का उत्सुकतापूर्वक लगन से छान-बीन करने का लक्ष्य वनावें तथा इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए समुपयुक्त संघटनों का गठन करें।

(६) संस्कृत राजभाषा के रूप में

(२१) उपर्युक्त कथन से पर्याप्त स्पष्ट है कि संस्कृत में राजभाषा पद पर प्रतिष्ठापित होने की क्षमता है। यह आयोग किसी उत्साह के वशीभूत होकर संस्कृत की इस क्षमता पर अपने विचार अभिव्यक्त नहीं कर रहा है। यह बात भी नहीं है कि हमने आज सबसे पहले ही यह बात उठायी हो। हमारे देश के प्रख्यात विद्वानों ने भी इस सन्दर्भ में अपने विचार प्रकट किये हैं। इन विद्वानों में से सी. वी. रमन जैसे कुछ विद्वान् तथा वैज्ञानिक भी हैं एवं श्रीप्रकाश तथा के. एन्. काटजू जैसे प्रशासक भी हैं, जिन्होंने अनेक वार अपने इस विचार पर बल दिया है कि संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाया जाय। कुछ साक्ष्यों ने कहा कि उनकी यह इच्छा है कि इस प्रश्न को उन अवाञ्छनीय विवादों के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए जो कि शासन के दो प्रमुख निर्णयों के कारण उठ खड़े हुए हैं। उसमें से एक है भाषान्तर प्रदेशों का पुनर्गठन तथा दूसरा है हिन्दी को एक ऐसे देश के गले मढ़ना जो कि उसे अपनाने के लिए तैयार नहीं है तथा जिसका एक बहुत बड़ा भाग उसे स्वीकार करना नहीं चाहता। इन साक्ष्यों ने यह भी सुझाव दिया कि इस प्रश्न पर संविधान में भी संशोधन किया जाना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि यह आयोग उनके इस सुझाव का पूर्णतः समर्थन कर रहा है।

(२२) जैसा कि ऊपर बताया चुका है कि हिन्दी को राजभाषा बनाने का प्रस्ताव पारित करने में संविधान-परिषद् (Constituent Assembly) को विशेष कठिनाई का सामना करना पड़ा था और यह महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव थोड़े से बहुमत से ही पारित हो सका। अत्यन्त उत्तेजना एवं तनावपूर्ण वातावरण में यह विवाद कई दिनों तक चलता रहा और निर्णय की क्रिया स्तब्ध सी बनी रही। इस कार्यावरोध को दूर करने के लिए कुछ सदस्यों ने यह सुझाव रखा कि संस्कृत को राष्ट्रभाषा बना दिया जाय। ऐसा कहा जाता है कि इस अवसर पर विधि सदस्य (Law Member) स्व० डा० बी० आर० अम्बेडकर, जो कि इस प्रस्ताव (Bill) के प्रस्तावक (Piloting) थे,

उन्होंने भी इस सुझाव का समर्थन किया था। उस समय जब कि इस प्रश्न पर संविधान-परिषद् में बहस चल रही थी, हिन्दी के कुछ प्रबल समर्थकों सहित अनेक सदस्यों ने संस्कृत के प्रति श्रद्धा की यथोचित भावना प्रदर्शित की। इसके अतिरिक्त अनेक सदस्यों ने यह नियमित संशोधन भी रखा कि यदि कोई अन्य भारतीय भाषा राष्ट्रभाषा पद पर प्रतिष्ठापित होने की क्षमता रखती है तो वह है संस्कृत-भाषा। इस संशोधन पर प्रचलित बहस पर परिषद् का बहुत अधिक समय लग गया।

(२३) संस्कृत के पक्ष का समर्थन करते हुए श्री नाजीरुद्दीन अहमद ने सदन को सम्बोधित किया था कि जिस भाषा को हम एक ऐसे देश के लिए अपनाना चाहते हैं, जहाँ कि अनेक भाषाएँ प्रचलित हैं, सर्वप्रथम उस भाषा को पक्षपात रहित होना चाहिए। साथ ही साथ वह किसी एक प्रदेश की अपनी भाषा न हो। सभी क्षेत्रों की सर्वसाधारण भाषा हो तथा जिसे स्वीकार करने से किसी एक प्रदेश को तो लाभ हो, किन्तु अन्य प्रदेशों के लिए वह कठिनाई न उत्पन्न करे। स्व० लक्ष्मीकान्त मैत्र, जो कि हिन्दी के स्थान पर संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाये जानेवाले संशोधन के प्रचालक थे, उन्होंने परिषद् से कहा कि यदि संस्कृत को स्वीकार किया जाता है तो "सभी द्वेष तथा सभी कटुताएँ दूर हो जायँगी तथा साथ ही साथ जो मनोवैज्ञानिक जटिलताएँ इस समय उठ खड़ी हुई हैं वे भी समाप्त हो जायँगी। तब इसके या उसके प्रभुत्व की भावना थोड़ी भी न रह पायेगी।" यह तटस्थता अर्थात् किसी एक विशेष प्रदेश की भाषा का न होना राष्ट्रभाषा का सर्वप्रथम एवं आवश्यक सिद्धान्त माना गया है। इस आधार पर ही यूरोप में राष्ट्रभाषा के रूप में अपनायी जाने के लिए किसी समय विश्वभाषा-भारती (Esperanto) जैसी एक सर्वथा नवीन भाषा के निर्माण की चेष्टा की गयी थी। ऐसी स्थिति में जब कि हमारे पास संस्कृत है ही, जो कि विश्वभाषा-भारती (Esperanto) के समान चातुरी से रची हुई भाषा नहीं है; किन्तु एक ऐसी समृद्ध भाषा है जो कि अतीत काल से राष्ट्रभाषा बनने के लिए ही पूर्णता प्राप्त कर चुकी, उसे हम क्यों फेंक दें? निष्पक्षता या तटस्थता संस्कृत का कोई निषेधात्मक गुण नहीं है। हमारे देश की समस्त भाषाओं के मूलतत्त्वों को आत्मसात् करते हुए समुन्नत होना उसका एक स्पष्ट तथा सुनिश्चित सकारात्मक गुण है। जैसा कि, अन्यत्र भी कहा जा चुका है, इस सन्दर्भ में संस्कृत को ही एक ऐसी भाषा होने का अधिकार प्राप्त है जो कि भारतीय संस्कृति की सर्वोत्कृष्ट सामग्री का पुञ्जीभूत स्वरूप है तथा भारत के सभी प्रदेशों के द्वारा परिपोषित, संवर्धित एवं अलंकृत की गयी है।

(२४) दूसरे सिद्धान्त का सम्बन्ध भावना, ऐतिहासिक महत्त्व, सांस्कृतिक मूल्य, अन्तर्वर्ती समृद्धि एवं शक्ति तथा विशेषतः देश की प्रतीकभूत भाषा के रूप में सार्वलौकिक मान्यता की क्षमता से है। संस्कृत में ये सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। इस तथ्य पर अब और अधिक श्रमपूर्वक बल देना अनावश्यकसा प्रतीत होता है।

(२५) तीसरा सिद्धान्त है भाषा का समुन्नत होने का वैशिष्ट्य तथा उसका उद्गम। इस आधार पर भी हिन्दी की अपेक्षा संस्कृत कोई कम नहीं है। संस्कृत निश्चय ही हिन्दी से श्रेष्ठ है; क्योंकि हिन्दी का अब भी पूर्ण विकास नहीं हो पाया है तथा वह अपने विकास के लिए संस्कृत के अवलम्बन की ही आशा कर रही है। केवल हिन्दी ही नहीं, बल्कि हमारे देश की समस्त भाषाएँ, अपनी पूर्णता तथा समुन्नति के लिए संस्कृत का मुँह निहार रही हैं। सच पूछा जाय तो हिन्दी के प्रस्ताव में ही संस्कृत की मान्यता निहित थी। हिन्दी को हटा कर राजभाषा हो जाने में हिन्दी की अपेक्षा संस्कृत को कम ही समय लगेगा। उत्पत्ति के सन्दर्भ में तो यह मानना ही पड़ेगा कि जिस अंगरेजी का हम आज इतना व्यापक समर्थन कर रहे हैं, वह हमारे इस विशाल देश के केवल एक प्रतिशत जनसमुदाय द्वारा व्यवहार में लायी जाती है। इस जनसमुदाय में देश के कतिपय उच्चकोटि के बुद्धिजीवी तथा सामाजिक नेता भी आते हैं। हिन्दी के बहुमत को संख्या द्वारा सिद्ध तथा प्रमाणित किया जा सकता है। हम इसके महत्त्व को कम नहीं करना चाहते, किन्तु यह अवश्य बता देना चाहते हैं कि विद्वान् तथा उत्साही लोग इस सत्य की कदापि उपेक्षा नहीं कर सकते कि हिन्दी के पीछे बोल-चाल की अनेक भाषाएँ अनेक नामों से स्पष्टतः लगी हुई हैं। इन सभी भाषाओं के एक सम्मिलित अथवा मिश्रित रूप को ही हम हिन्दी कहते हैं। संस्कृत भारत के सभी भागों में व्याप्त है तथा भारतीय भाषाओं का महत्तम समापवर्त्य है। समस्त भारत में तथा आधुनिक सभी विश्वविद्यालयों में इसके पठन-पाठन की व्यवस्था की जा चुकी है। अंगरेजी के समान ही इसे अन्ताराष्ट्रिय श्रेष्ठता तथा सम्मान प्राप्त है। यदि आज हम संस्कृत को अपनी अखिल भारतीय भूमिका निभाने का अवसर दें तो निश्चय ही हम उसे अपने उस सम्मानित स्थान पर स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर सकेंगे; जहाँ कि वह विगत शताब्दियों में प्रतिष्ठापित हो चुकी है। बारहवीं शताब्दी में जब कि प्रान्तीय तथा क्षेत्रीय बोल-चाल की भाषाओं का महत्त्व जाग्रत हो चुका था, उस समय भी भारत के विभिन्न प्रदेशों में विचार-विनिमय की सर्वमान्य सम्पर्कभाषा संस्कृत ही थी।

(२६) इस सन्दर्भ में यह आयोग इस देश के सभी राजनीतिज्ञों तथा विचारकों से साग्रह अनुरोध करता है कि वे आज-कल की विघटनात्मक तथा भाषा-विषयक संकीर्णता की बढ़ती हुई प्रवृत्तियों पर शान्तिपूर्वक सोचने की कृपा करें; क्योंकि ये दुष्प्रवृत्तियाँ देश की राजनीतिक एकता को संकट में डाल रही हैं। यही नहीं, ये हमारी स्वतंत्रता की जड़ को ही हिला रही हैं। यदि आज हम उन सभी सम्भव साधनों के अनुसन्धान तथा उनके साहसपूर्ण सञ्चय के लिए कटिबद्ध हैं, जिनसे भारतीय एकता सुसाध्य हो सकती है, तो संस्कृत, जो कि एकता स्थापित करने की सर्वोच्च घटक है, उसे देश व्यापी श्रद्धा का आधार मानकर हमें सबसे पहले उससे ही लाभ उठाना चाहिए।

(२७) भारतीय संघ तथा संविधान की चौदह मान्य भाषाओं में संस्कृत भी एक मान्य भाषा के रूप में स्वीकृत की जा चुकी है। हमारा संविधान भी संस्कृत में

रूपान्तरित हो चुका है। संविधान की इस धारा के अनुसार प्रत्येक भारतीय नागरिक को यह अधिकार प्राप्त है कि वह किसी भी सन्दर्भ में शासन को संस्कृत में सम्बोधित कर सकता है। यतः देवनागरी लिपि में संस्कृतगर्भित हिन्दी को संघ की राजभाषा के रूप में उद्घोषित किया जा चुका है, तथा जैसा कि आधुनिक प्रवृत्तियों से स्पष्ट है कि हिन्दी को भी अपने पूर्ण विकास के लिए अधिकतर संस्कृत पर ही अवलम्बित रहना है। यदि हम यह माँग करते हैं कि संस्कृत को एक अतिरिक्त राजभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो हम किसी नयी वस्तु की माँग नहीं कर रहे हैं। आज यह आवश्यक-सा प्रतीत हो रहा है कि प्रशासकीय कार्य निर्वाह के लिए तथा दैनिक जीवन के वार्तालाप के लिए हिन्दी का एक अखिल भारतीय स्वरूप बनाया जाय। साथ ही साथ अब यह भी निश्चय हो चुका है कि कालान्तर में इस प्रकार की जो भी अखिल भारतीय भाषा प्रकट होगी, जिसे कि कम से कम उसके लेखन सिद्धान्तों पर उच्चस्तरीय शिक्षा तथा साहित्यिक क्षेत्र में समस्त भारत स्वीकार कर सकेगा, तो वह सरल एवं आधुनिकीकृत संस्कृत का ही कोई न कोई स्वरूप होगा।

(२८) जैसा कि ऊपर कह चुके हैं कि संस्कृत को हिन्दी का मूलस्रोत मान लिए जाने के कारण संस्कृत के सन्दर्भ में शासन पर एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ पड़ा है। हमारे विचार से इतने बड़े उत्तरदायित्व का यथोचित निर्वाह केवल दो मार्गों से ही किया जा सकता है। प्रथम मार्ग है संस्कृत को राष्ट्रभाषा उद्घोषित करना। विशेषतः औपचारिक कार्यों के अवसर पर तथा शिक्षा एवं संस्कृति सम्बन्धी क्रियाओं के समय। दूसरा मार्ग है संविधान के भाषाखण्ड में विशेष निर्देशों के रूप में इस निर्देश का जोड़ा जाना कि यतः संस्कृत हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं की जननी है, यतः यह हमारे देश की सांस्कृतिक पैतृक सम्पत्ति की प्राचीनतम भाण्डार है तथा आज के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रिय एकता की दृष्टि से मौलिक महत्त्व की भाषा है एवं सुदूर पूर्वी भू-भाग एवं दक्षिणपूर्वी एसिया से हमारी दीर्घकालीन मैत्री स्थापित करने का तथा उनसे सांस्कृतिक सम्बन्ध सुदृढ़ करने का एक शक्तिशाली बन्धन है। भारतसंघ का यह कर्त्तव्य होगा कि वह अपने समस्त क्षेत्रों में संस्कृत का समुन्नयन करे।

(२९) एक से अधिक राजभाषा होने में न तो कोई असंगति है और न ही कोई वैलक्षण्य। कई एक पाश्चात्त्य देशों में एक ही नहीं दो, तीन या चार तक राजभाषाएँ निश्चित की जा चुकी हैं। सभी अन्ताराष्ट्रिय, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक सम्मेलनों में दो-तीन भाषाएँ महत्त्वपूर्ण हुआ करती हैं। इस सन्दर्भ में कुछ कठिनाइयाँ अवश्य आती हैं, जैसे—विलम्ब, अनुवाद में व्यय तथा प्रतिलिपियों को तैयार कराना आदि; किन्तु एक ही भाषा के प्रयोग को यदि अनिवार्य बना दिया जाय तो ऐसा किये जाने पर जो वैमनस्य तथा स्थायी हानियाँ हुआ करेंगी, उनकी तुलना में ये कठिनाइयाँ कुछ भी नहीं होंगी। सच पूछा जाय तो बहुभाषावाद भाषा सम्बन्धी पञ्चशील का सिद्धान्त ही कहा जायगा।

(७) भारतीय प्राशासनिक सेवा के अधिकारियों, विदेशों के भारतीय दूतावासों के कर्मचारियों, विदेश जानेवाले भारतीय छात्रों तथा भारतीय संस्कृति के लिए संस्कृत का महत्त्व

(३०) समस्त देश में उत्तरदायित्वपूर्ण प्रशासकीय पदों पर हमारे सर्वोत्कृष्ट नवयुवक नियुक्त किये जाते हैं। भारतव्यापी एकता स्थापित करने की दिशा में यह सेवा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन बन सकती है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसके इस अखिल भारतीय वातावरण तथा विशेषता को सफलतापूर्वक बनाये रखें। इस दृष्टिकोण से यह आवश्यक होगा कि भारतीय सेवा के अधिकारियों को संस्कृत का सामान्यज्ञान कराया जाय। इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि भारतीय प्रशासकीय सेवा की परीक्षा में संस्कृत को एक अनिवार्य विषय के रूप में निर्धारित किया जाय। पर ऐसी व्यवस्था हो जानी चाहिए, जिससे भारतीय सेवा के प्रशिक्षार्थियों को तथा इस कोटि के अन्य अधिकारियों को भी संस्कृत का कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाय अथवा भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के निर्माण में संस्कृत का क्या योगदान है इसका बोध अवश्य हो जाय। इस व्यवस्था में प्रत्येक प्रशिक्षार्थी तथा अधिकारी के लिए स्वभावतः यह आवश्यक हो जायगा कि वह भारतीय इतिहास तथा सभ्यता का अध्ययन करे। साथ ही साथ यह भी अनिवार्य हो जायगा कि वह मुख्यतः संस्कृत की विचारपरम्परा तथा भारतीय संस्कृति से भी भली-भाँति परिचित हो जाय। ध्यान देने की बात है कि यदि उन्हें संस्कृत का ज्ञान हो जाता है तो जिस जनसमुदाय पर वे शासन करेंगे उनकी संस्कृति तथा उनके जीवन को अधिक से अधिक गहराई तक समझ सकने में वे विशेष सक्षम हो सकेंगे। यही नहीं अपने इस संस्कृत ज्ञान के माध्यम से ये अधिकारी भारतीय जनता के मानसिक वातावरण में अन्तर्हित मानवीय परम्पराओं के सम्पर्क में भी सरलतापूर्वक आ सकेंगे। इस सन्दर्भ में हम एक बात और कहना चाहते हैं कि भारतीय प्रशासकीय सेवा के अधिकारियों को देश के विभिन्न भागों में कार्य करना होता है। यदि उन्हें संस्कृतभाषा की रचना का ज्ञान है तो वे उन प्रदेशों की भाषा में अन्तर्हित संस्कृत शब्दावली को तथा संस्कृत पर आधारित शब्दावली को शीघ्रता से समझ लेंगे; क्योंकि हमारे देश की प्रायः सभी भाषाएँ या तो संस्कृत से उत्पन्न हुई हैं या संस्कृत पर आधारित हैं। भारतीय प्राशासनिक सेवा के अधिकारी अपने अधिकारक्षेत्र के सबसे ऊँचे अधिकारी हुआ करते हैं तथा उन्हें वहाँ के स्थानीय साहित्यिक, कलात्मक तथा सांस्कृतिक क्रिया-कलापों में प्रमुख भाग लेने के लिए आमंत्रित भी किया जाता है। यदि वे संस्कृत एवं संस्कृति के मार्मिक स्थलों की विशेषताओं के ज्ञान से पूर्णतः सुसज्जित होंगे तो निश्चय ही इन उत्सवों तथा संघटनों में वे एक प्रभावपूर्ण ढंग से अपनी यथोचित भूमिका निभाने में यथेष्टरूप से सफल हो सकेंगे। अतः इस आयोग की सम्मति है कि संस्कृत को परीक्षा का एक अनिवार्य विषय यदि न भी बनाया जाय तो भी भारतीय प्राशासनिक सेवा के अधिकारियों को संस्कृत के अध्ययन में विशेषतः प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

(३१) हमारे देश के जिन लोगों को विदेश जाकर वहाँ के भारतीय दूतावासों या अन्य भारतीय प्रतिनिधि केन्द्रों के सम्पर्क में आने के अवसर प्राप्त हुए हैं, वे अब यह अनुभव करने लगे हैं कि इन भारतीय दूतावासों के कुछ सदस्यों को संस्कृति तथा संस्कृत भाषा एवं साहित्य की अच्छी योग्यता होनी चाहिए। चाहे एसिया हो या यूरोप या अमेरिका सभी अग्रगामी राष्ट्रों में सदा ही भारतवर्ष के धर्म, दर्शन, कला तथा संस्कृति के विषय में गम्भीर जिज्ञासाएँ उठा करती हैं। इनमें से कई एक केन्द्रों के विश्वविद्यालयों में संस्कृत तथा भारतीय ज्ञान-विज्ञान के विभाग भी कार्य कर रहे हैं। कई एक ऐसे भी अवसर आते हैं जब कि यहाँ के अध्यापक तथा छात्र अपने कार्य के सम्बन्ध में इन भारतीय केन्द्रों से सहायता लेना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में हमें इन दूतावासों को ऐसे योग्य व्यक्तियों से तथा ऐसी उपयोगी सामग्री से सुसज्जित रखना आवश्यक प्रतीत होता है, जिनसे कि इस प्रकार की समस्त परिस्थितियों में इन अध्यापकों तथा छात्रों को समुचितरूप से प्रभावपूर्ण सफल सहयोग प्राप्त हो सके।

(३२) इन दूतावासों के कार्यालयों में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति-सम्बन्धी विभिन्न विषयों के प्रतिनिधि ग्रन्थों के एक छोटे से पुस्तकालय की व्यवस्था अवश्य हुआ करती है। पर यह व्यवस्था सभी प्रकार से पर्याप्त नहीं जान पड़ती। हमारा यह कर्त्तव्य है कि इन पुस्तकालयों में हम यथोचित सुधार करें तथा भारतीय संस्कृति में रुचि लेनेवाले व्यक्तियों को इन पुस्तकालयों के संग्रहों की जानकारी प्राप्त करायें। ग्रेट ब्रिटेन में संसद् (British Council) नामक एक विश्वव्यापी संघटन स्थापित है। मूलतः यह एक सांस्कृतिक संघटन है जो कि अपने अन्य कार्यों के साथ अंगरेजी भाषा तथा साहित्य के ससुन्नयन एवं उसमें रुचि बनाये रखने की दिशा में भी दत्तचित्त रहता है। अमेरिका की सूचना सेवा भी अपनी उत्कृष्ट पुस्तकालय सेवा के माध्यम से यही कार्य कर रही है। अन्ताराष्ट्रिय जगत् में अब भारत ने भी अपना एक विशेष स्थान बना लिया है। संसार के जनसमुदाय में आज के दिन भारतीय विचारपरम्पराओं तथा भारतीय संस्कृति के प्रति विशेष अभिरुचि जाग उठी है। ऐसी स्थिति में भारत सरकार को चाहिए कि वह भी किसी ऐसे संघटन की व्यवस्था करे, जो कि विदेशों में भारतीय विचारपरम्पराओं तथा भारतीय संस्कृति का यथेष्ट प्रचार कर सके।

(३३) इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि भारत सरकार अपने प्रमुख विदेशी दूतावासों के अधीन सांस्कृतिक सदस्यों की शीघ्र नियुक्ति करे। विदेशों में स्थापित दूतावासों के तीन प्रमुख कर्त्तव्य होते हैं—(१) मैत्रीपूर्ण राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करना, (२) व्यापार तथा वाणिज्य को समुन्नत करना एवं (३) सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित करना। हमें भय है कि आज के दिन इन तीनों में से अन्तिम कर्त्तव्य अर्थात् सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य उपेक्षित हुआ है। कतिपय भारतीय दूतावासों के उत्तरदायित्वपूर्ण अधिकारियों ने भी भारतीय संस्कृति के स्थायी तथा बहुमूल्य तथ्यों के विषय में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। उनकी इस अनभिज्ञता पर हममें से कुछ सदस्यों को अत्यन्त कष्ट का अनुभव हुआ है। ऐसे

अधिकारी अपनी इस अनभिज्ञता का समर्थन एवं पोषण एक प्रकार की अप्रत्यक्ष अरुचि के सहारे किया करते हैं। यह और भी अधिक दुर्भाग्यपूर्ण है कि बहुत-सा धन व्यय करके यदि कोई विदेशी न्यास या प्राभूत हिन्दू धर्म पर किसी एक प्रौढ़ एवं ठोस ग्रन्थ का प्रकाशन करता है तथा उसकी एक प्रति इन दूतावासों को भेंट करता है तो उसके इस प्रयत्न को प्रोत्साहित करने के लिए हमारे राजदूत उन्हें एक प्रशंसापत्र भी नहीं लिखा करते। यदि लन्दन का कोई व्यक्ति भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में कुछ जानना चाहता है तो वह "भारतीय तथा अफ्रीकी अध्ययन केन्द्र, लन्दन" (London School of Indian and African Studies) के पास जाता है और यदि उसे भारतीय संगीत के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त करनी होती है तो वह बी० बी० सी० के द्वार पर खड़ा होता है। इन दोनों स्थितियों में वह भारतीय दूतावास में जाने की बात कभी नहीं सोचता। इस कष्टपूर्ण परिस्थिति के परिमार्जन का केवल एक ही उपाय है, वह है विदेशी दूतावासों के अधीन संस्कृत भाषा तथा साहित्य में विशेष योग्यता सम्पन्न सांस्कृतिक सदस्यों की नियुक्ति करना। पेरिस के 'कालेज द फ्रांस' के भारतीय भाषा एवं साहित्य के प्राध्यापक तथा 'फ्रेंच भारतीय ज्ञान-संस्थान' पाण्डिचेरी के निदेशक डाक्टर जे० फिलियोज़ इस तथ्य पर बल देते हैं कि विदेशों के भारतीय दूतावासों में नियुक्त सांस्कृतिक परामर्शदाता यदि संस्कृतज्ञ हों तो वे विदेशों के समक्ष भारतीय सभ्यता का और अधिक वास्तविक चित्र प्रस्तुत कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त हमें इस बात पर भी ध्यान देना है कि संस्कृत का विशेष ज्ञान इण्डोनेसिया, थाईलैण्ड, जापान तथा अनेक अन्य राष्ट्रों के बुद्धिजीवियों तथा भारतीय प्रतिनिधियों के बीच घनिष्ठ मित्रता स्थापित करने की दिशा में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

(३४) यहाँ हम एक अन्य तथ्य की भी चर्चा करना चाहेंगे, जो कि इस सन्दर्भ में हमें समुचित तथा महत्त्वपूर्ण प्रतीत हो रहा है। हमारे राष्ट्र का एक बहुत बड़ा जनवर्ग विदेशों में निवास करता है। कुछ स्थानों में, जैसे—मलाया, फीज़ी, पूर्वी अफ्रिका, मारीशस, ट्रिनीडाड, तथा ब्रिटिश गायना में तो भारतीयों की संख्या वास्तव में विशेष अधिक है। अपनी मातृभूमि से एक लम्बे समय से निरन्तर पृथक् रहने के कारण यह सम्भव है कि वे अपने राष्ट्र की सांस्कृतिक सम्पत्ति को एकदम भूल जायँ, यद्यपि वे उसे बनाये रखने को अत्यन्त उत्सुक हैं। अतः भारत सरकार के लिए यह आवश्यक है कि विदेशों में अपने दूतावासों के माध्यम से अथवा व्याख्याताओं एवं कलाकारों के विशेषदलों को उन देशों में भेज कर वह भारत से इस जनसमुदाय का बन्धन सदा जीवित रखने की व्यवस्था करे। इस आयोग को विदेशों में रहने-वाले भारतीयों के इस आशय के अनेक पत्र प्राप्त हुए हैं कि उन विदेशी स्थानों में वे अपने बच्चों के लिए ऐसे अवसरों की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं जब कि उनकी सन्तान संस्कृत भाषा तथा साहित्य का अध्ययन कर सकेगी; क्योंकि इस अध्ययन के द्वारा ही वास्तविक भारतीय आत्मा को जाना जा सकता है।

(३५) भारतीय छात्रों का उच्चशिक्षा के लिए विदेशयात्रा की चर्चा हम अन्यत्र भी कर चुके हैं। भारतवर्ष के छात्रों की एक बहुत बड़ी संख्या यूरोप तथा अमेरिका के विश्वविद्यालयों में शिक्षा पा रही है। हमारे दूतावासों के कर्मचारियों की अपेक्षा नवयुवकों तथा युवतियों का यह वर्ग विदेशों की जनता के अधिक सम्पर्क में आता है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि विदेशी दूतावासों की अपेक्षा इन छात्र-छात्राओं को ऐसे अनेक अधिक अवसर प्राप्त होते हों, जब कि विदेशों की जनता इनसे भारतीय विचारपरम्पराओं तथा उसके किसी एक विशेष पहलू पर प्रश्न पूछे। अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर इस आयोग के सदस्य भली-भाँति जानते हैं कि कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर विदेशों में रहने वाला यह युवक छात्र-समुदाय इस स्थिति का सामना करने में अपने को केवल असमर्थ ही नहीं पाता, बल्कि अपनी ज्ञानशून्यता तथा यथोचित सामग्री से सुसज्जित न होने के कारण भारत तथा उसकी संस्कृति के सन्दर्भ में सर्वथा गलत तथा अनुचित बातें कहा करता है। भारत सरकार का यह कर्त्तव्य है कि दूतावासों के कर्मचारियों की अपेक्षा वह इस युवक छात्रवर्ग पर विशेष ध्यान दे। भारत सरकार का यह भी एक कर्त्तव्य होता है कि वह इस बात पर दृष्टि रखे कि इस देश से जो छात्र विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने जा रहे हैं, वे हमारे देश के विचारों तथा भारतीय संस्कृति के अच्छे प्रतिनिधि हैं या नहीं ? हमें इस तथ्य को कदापि नहीं भूलना चाहिए कि मातृभूमि की दूत-सेवा केवल दूतावासों के कर्मचारियों के द्वारा ही नहीं की जाती, बल्कि विदेशों में रहने वाले हमारे देशवासियों का एक गैर-सरकारी जनसमुदाय इन दूतावासों की अपेक्षा मातृभूमि की दूतसेवा कहीं अधिक मात्रा में किया करता है।

(३६) अतः यह आयोग अनुरोध करता है कि—

(i) भारत सरकार अपने विदेशी दूतावासों में ऐसे सदस्यों की नियुक्ति करे जो कि संस्कृत भाषा, संस्कृत साहित्य तथा भारतीय संस्कृति के विशेषज्ञ हों।

(ii) भारतीय तथा विदेशी सेवा के प्रशिक्षार्थियों के लिए तथा उच्च-शिक्षा के हेतु विदेश जानेवाले भारतीय छात्रों के लिए संस्कृत की विचारपरम्पराओं तथा भारतीय संस्कृति पर कई प्रकार की विशेष व्याख्यानमालाओं के आयोजन किये जायँ।

८—संस्कृत वैदुष्य को शासकीय प्रश्रय तथा संस्कृत-विद्वानों को प्रोत्साहन

(३७) हम यह देख रहे हैं कि संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन में तत्पर अध्यापक तथा छात्रों के लिए आज कुछ भी लाभ नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में शासन का तथा व्यक्तिगतरूप में नागरिकों का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे इस महत्त्व-पूर्ण अध्ययन का अधिक से अधिक संरक्षण करें। सभी देशों में सदा से ही कला-कौशल को जनसाधारण का समाश्रयण प्राप्त होता रहा है। प्राचीन काल में धनिक-वर्ग एक प्रकार से राष्ट्रिय संस्कृति का संरक्षक हुआ करता था। यह धनिकवर्ग अपने आनन्द तथा जनता के लाभ की दृष्टि से कवियों तथा कलाकारों की सहायता

किया करता था। कला तथा साहित्य को प्रश्रय देने में महाराजा तथा भूमिधर अपना गौरव समझा करते थे तथा इस समाश्रयण से उन्हें ख्याति तथा सामाजिक विशेषता भी प्राप्त हुआ करती थी। जहाँ तक भारत में संस्कृत के अध्ययन का प्रश्न है, इस बात में सभी एकमत होंगे कि ये आश्रयदाता तथा समस्त भारतीय जनता संस्कृत के विद्वानों की आवश्यकताओं की पूर्ति किया करती थी। जैसा कि कहा जा चुका है कि भारत के अधिकांश संस्कृत पाठशालाओं में किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। इन संस्थाओं का शिक्षकवर्ग ही अपने विद्यार्थियों के आवास तथा भोजन की व्यवस्था किया करता था। अध्यापकवर्ग राजा-महाराजाओं तथा भूमिधरों एवं व्यवसायियों से नगद, वस्तु के रूप में या उपहारों के रूप में जो कुछ प्राप्त करते थे अथवा उनके द्वारा दी गयी भू-सम्पत्ति से उन्हें जो कुछ मिल जाया करता था, उससे वे अपने छात्रों का भरण-पोषण किया करते थे। इसके अतिरिक्त जनसाधारण भी इस सम्बन्ध में अपना कर्त्तव्यपालन करने में पीछे नहीं हटता था। छोटे-बड़े सभी रजवाड़ों की नियत व्यय-व्यवस्था में कुछ विद्वानों के भरण-पोषण का प्राविधान सुनिश्चित हुआ करता था। इन विद्वानों में से जो प्रमुख या सुप्रसिद्ध पण्डित हुआ करते थे, उन्हें सभापण्डित या आस्थान विद्वान् के गौरवपूर्ण पद से सम्मानित किया जाता था। संस्कृत वाङ्मय की विशेष शाखाओं पर शास्त्रार्थों में सम्मिलित होने के लिए बड़े-बड़े विद्वान् देश के विभिन्न भागों की यात्रा किया करते थे। अत्यधिक रुचि तथा आदरपूर्वक इन शास्त्रार्थों का आयोजन किया जाता था तथा इसमें विजय प्राप्त करनेवाले विद्वानों को विपुल ख्याति तो प्राप्त होती ही थी, पर साथ ही साथ उपहार के रूप में उन्हें स्वर्ण, आभूषण, बहुमूल्य वस्त्र, तथा धन का भी लौकिक लाभ हो जाया करता थां। कभी-कभी संस्कृत में आशुकवित्व की भी प्रतियोगिताएँ आयोजित की जाती थीं। इस समय तथा कुछ समय पूर्व तक भी देश के कुछ भागों में जहाँ कहीं आर्थिक स्थिति तथा लोगों की भावना अनुकूल है, इस प्रकार के आयोजन चलते ही रहते हैं।

(३८) अन्यत्र हमने इस तथ्य का संकेत किया है कि सन् १८११ में लार्ड मिन्टो ने अपने घोषणापत्र में भारतवर्ष के पाण्डित्य की शोचनीय स्थिति पर किस प्रकार असन्तोष प्रकट किया है। जैसा कि वे कहते हैं कि इस शोचनीय स्थिति के मूल में उस प्रोत्साहन का अभाव है जिसे कि हमारे विद्वान् भारतीयों के शासन काल में रजवाड़ों, जमींदारों तथा अन्य धनी-मानी व्यक्तियों से प्राप्त किया करते थे। इस घोषणापत्र में लार्ड मिन्टो ने यह लिखा है कि इस्ट इण्डिया कम्पनी के सञ्चालक विशिष्ट सम्मानित उपाधियों तथा कुछ पण्डितों को आर्थिक सहायता द्वारा उन्हें अपने पाण्डित्य के संवर्धन तथा उसके प्रयोग की दिशा में प्रोत्साहित करने की चेष्टा में किस प्रकार दत्तचित्त हैं? इसके अतिरिक्त ब्रिटिश शासन ने भी कुछ सीमा तक संस्कृत-शिक्षा को प्रश्रय देकर अपने कर्तव्य का पालन किया है। शासन द्वारा जिन इने-गिने व्यक्तियों को, प्रधानतः उनकी राजनीतिक, प्रशासनिक तथा सामाजिक सेवाओं के लिए सम्मानित किया जाता था, सम्मान की इस व्यवस्था में संस्कृत तथा

अन्य प्राचीन भाषाओं के विद्वानों को भी सम्मिलित किया जाता था, जैसे—संस्कृत के प्रख्यात विद्वानों को महामहोपाध्याय, अरबी के प्रख्यात विद्वानों को शम्शुल्लुमा तथा ब्रह्मदेश में पाली के विश्रुत विद्वानों को अग्गमहापण्डित की उपाधियों से विभूषित किया जाता था। प्रादेशिक शासन की संस्तुति पर केन्द्रीय सरकार द्वारा ये उपाधियाँ वितरित की जाती थीं। इन उपाधियों के साथ लिखित अर्थात् वेश-भूषा से भी इन विद्वानों को अलंकृत किया जाता था। बाद में इन विद्वानों को सौ रुपये का वार्षिक प्रतीकात्मक अनुदान भी दिया जाने लगा था। इन उपाधियों को जनता भी इन विद्वानों की योग्यता का प्रमाण माना करती थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् इन उपाधियों को समाप्त कर देने का निर्णय लिया गया, किन्तु शासन द्वारा इन उपाधियों का अब एक नया क्रम चलाया जा चुका है। जैसे—भारत-रत्न, पद्मविभूषण, पद्मभूषण, पद्मश्री। इसके अतिरिक्त सुरक्षा सेना के लिए भी उपाधियाँ, सम्मान तथा पदक भी निश्चित किये जा चुके हैं।

(३९) आयोग के समक्ष अनेक साक्ष्यों ने संस्कृत तथा अन्य प्राच्य विद्वानों की उपलब्धियों को समाहृत करने के उद्देश्य से उन्हें कतिपय उपाधियों से विभूषित करने की तथा साथ ही साथ उन्हें कुछ निर्वाह धन दिए जाने की शासकीय प्रक्रिया की भी चर्चा की। इस सन्दर्भ में साधारणतः सभी लोगों की यही धारणा जान पड़ी कि महामहोपाध्याय की उपाधि पाण्डित्य की एक विशिष्ट उपाधि है। यह उपाधि ब्रिटिश शासन के पूर्व भी प्रचलित थी। अतः इसे पुनः प्रारम्भ किया जाना चाहिए। राष्ट्रपति तथा प्रधान मंत्री जैसे देश के उच्चतम अधिकारियों के साक्षात्कार के अवसर पर इस आयोग ने यह ज्ञात किया कि इस सन्दर्भ में शासन अत्यधिक सहानुभूतिपूर्ण भावना से विचार कर रहा है। आयोग की सम्मति है कि महामहोपाध्याय की उपाधि को केवल पुनः चलाया ही न जाय; बल्कि साथ ही साथ जिस विद्वान् को यह उपाधि प्रदान की जाय उसे आजीवन दो सौ रुपये की सम्मान-धनराशि भी प्रति मास दी जाय। संस्कृत के गौरव को समुन्नत करने की दिशा में तथा संस्कृत के प्रमुख विद्वानों को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार की इस कार्रवाई का निश्चय ही एक अत्यन्त मनोवैज्ञानिक महत्त्व होगा।

(४०) उपर्युक्त सुझाव के अतिरिक्त इस सन्दर्भ में हम एक और सुझाव देना चाहेंगे। इस सुझाव का भी देश के एक विशाल जनवर्ग ने अधिक से अधिक मात्रा में समर्थन किया है। प्राचीन शैली के विद्वानों में से कई एक ऐसे अच्छे विद्वान् दृष्टि में आ सकते हैं, जिन्हें कि महामहोपाध्याय की उच्चतम उपाधि द्वारा सम्मानित करना सम्भव न हो सके, किन्तु इन विद्वानों ने भी संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न अंगों के विशेष अध्ययन द्वारा अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की है तथा समाज उनका आदर भी कर रहा है। ऐसे विद्वानों को भी मान्यता दी जानी चाहिए तथा उनकी भी सहायता की जानी चाहिए। इन विद्वानों में से अनेक ऐसे भी विद्वान् हैं, जिनकी अवस्था पचास वर्ष से भी अधिक है, किन्तु वे भी संस्था के वेतनभोगी कर्मचारी न होने के कारण अपने घर पर ही व्यक्तिगत पठन-पाठन द्वारा कष्टमय जीवन बिता रहे हैं। प्रत्येक प्रदेश का यह

कर्त्तव्य है कि वह अपने क्षेत्र के विद्वानों में से ऐसे प्रमुख विद्वानों का चयन करे जो कि अपने वैदुष्य तथा चरित्र के लिए जनपूजित हैं। इन विद्वानों को कम से कम एक सौ रूपये मासिक निर्वाह वेतन का प्राविधान किया जाना चाहिए। केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासनों को चांहिए कि वे समस्त देश में ऐसे सम्माननीय विद्वानों की संख्या निर्धारित कर दें, जैसे—चालीस महामहोपाध्याय, जिन्हें कि आजीवन दो सौ रूपये मासिक सहायता दी जायगी तथा दो सौ अन्य पण्डित जिन्हें कि एक सौ रूपया प्रतिमास आजीवन सहायता देनी है। शासन द्वारा निर्धारित ये उपाधियाँ तथा वृत्तियाँ वैदुष्य को अभिप्रेरित करने की दिशा में निश्चय ही अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध होंगी।

(४१) कुछ साक्ष्यों ने यह भी सुझाव दिया कि संस्कृत के कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो कि वुद्धिमत्तापूर्वक जनसाधारण के कार्यों में रुचि लिया करते हैं। अन्य लेखकों तथा कलाकारों के समान इन विद्वानों को भी केन्द्रीय तथा प्रादेशिक विधान-मण्डलों में तथा विश्वविद्यालयों की शिष्ट-परिषदों में नामाङ्कित किया जाना चाहिए।

(४२) कुछ समय पूर्व तक भारत के विभिन्न रजवाड़े एक निश्चित समय पर संस्कृत के विद्वानों का सम्मेलन बुलाया करते थे। इन सम्मेलनों के वाद-विवादों तथा शास्त्रार्थों इत्यादि में प्राचीन तथा नवीन दोनों ही श्रेणियों के विद्वान् उत्साहपूर्वक भाग लिया करते थे। कहना न होगा कि इस प्रथा से शास्त्रों के अनुशीलन एवं अभ्यास में पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ करता था। संस्कृत-विद्वानों के ये सम्मेलन, पण्डितपरिषद्, वेदगोष्ठी, ब्रह्मोदय, पण्डित-सभा विचार-सभा एवं मुक्तिमण्डल के नाम से विख्यात थे। शासन के प्रश्रय की कमी के कारण यद्यपि उस समय के समान अब उस प्रकार का सामाजिक गौरव तथा उत्साह नहीं रह गया है; तथापि अब भी ये सभाएँ किसी न किसी प्रकार चल रही हैं। अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन (All-India Oriental Conference) को जब कभी साध्य होता है, तब वह अपने कार्यक्रम में एक पण्डित परिषद् का आयोजन अवश्य करता है। इस प्रकार के पण्डित-परिषद् का प्राविधान सम्मेलन के संस्कृत विभाग के अन्तर्गत किया जाता है तथा इसमें अनेक संस्कृत के विद्वान् उत्साहपूर्वक भाग लिया करते हैं। सम्मेलन को चाहिए की वह अपने प्रत्येक अधिवेशन में ऐसे पण्डित परिषद् की व्यवस्था करे। इसके अतिरिक्त आयोग का यह भी अनुरोध है की केन्द्रिय शासन द्वारा भी अखिल-भारतीय स्तर पर प्रतिवर्ष एक ऐसी पण्डित-परिषद् का आयोजन किया जाना चाहिए। उस वर्ष के निर्धारित विद्वानों को इस अवसर पर महामहोपाध्याय की उपाधि से राष्ट्रपति द्वारा विभूषित किया जाना चाहिए। एतदर्थ इस परिषद् के साथ एक उपाधिवितरणोत्सव की भी व्यवस्था की जा सकती है। प्रादेशिक सरकारों को चाहिए की वे भी अपने प्रदेशों के विभिन्न नगरों में इस प्रकार के पण्डित सम्मेलनों का आयोजन किया करें। इस व्यस्था से संस्कृत-वाङ्मय के चिन्तन तथा अभ्यास में विद्वानों की अभिरुचि बनी रहेगी तथा वे साहित्यिक क्रिया के नये नये मार्गों का अनुसरण करने में प्रवृत्त होंगे।

(६) मठ तथा मन्दिर एवं संस्कृत को प्रोत्साहन

(४३) दक्षिण भारत में, जहाँ कि हमारा सामाजिक जीवन तितर-वितर नहीं हुआ है तथा वहाँ की परम्पराएँ सुदृढ़ हैं, उस क्षेत्र में जैनियों तथा हिन्दुओं के अनेक मठ तथा हिन्दुओं के कई ऐसे मन्दिर विद्यमान हैं, जिन्हें चलाने के लिए पर्याप्त समर्पित निधि लगी हुई है। कहीं-कहीं धार्मिक व्यक्तियों को दान तथा संस्कृत-अध्ययन को प्रोत्साहित करना भी इन संस्थाओं की व्यवस्था का एक अंग माना जाता है। धार्मिक पूजा-पाठ, कर्मकाण्ड आदि को समुचित रूप से चलाते रहना यद्यपि इन मन्दिरों का सर्वप्रमुख कर्त्तव्य माना जाता है, तथापि इन धार्मिक कार्यों पर जो कुछ भी व्यय वहाँ का प्रबन्ध किया करता है, उसकी अपेक्षा उनकी आय कुछ मन्दिरों में कहीं अधिक हुआ करती है तथा बहुत अधिक धन उनके पास वचा रहता है। इनमें से भारतविख्यात तिरुपति देवालय का ही उदाहरण यदि हम सामने रखें तो हमें यह कहना समुचित प्रतीत होगा कि इस बचे हुए धन को ऐसे मार्गों में लगाया जाना चाहिए जो कि मन्दिर की स्थापना के उद्देश्यों से सम्वद्ध हैं तथा उनकी पूर्ति के साधक बन सकते हैं। यह सत्य है कि चिरकाल से वेदों, आगमों तथा संस्कृत के पठन-पाठन में इस बचत के धन को व्यय करना इन धार्मिक संस्थाओं के नियमित कार्यक्रम का एक अतिरिक्त अङ्ग बन गया है; किन्तु कुछ ऐसे भी उदाहरण पाये जाते हैं जहाँ की स्थिति इतनी संतोषप्रद नहीं है जितनी होनी चाहिए। कहीं-कहीं शासन द्वारा नियुक्त की गयी समितियाँ मन्दिरों के लिए निर्धारित समर्पित निधि को अनियमित रूप से कुछ ऐसे मार्गों के उद्देश्यों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति में लगा दिया करती हैं, जो कि इन धार्मिक संस्थाओं के उद्देश्यों तथा आवश्यकताओं के अनुसार उचित मार्ग नहीं कहे जा सकते। कई प्रदेशों में यह भी हो रहा है कि समर्पित निधि के मूल उद्देश्यों तथा लक्ष्यों के औचित्य पर ध्यान न देकर प्रचलित राजनीतिक प्रभाव से इन मन्दिरों तथा मठों का धन व्यय कर दिया जाता है। ऐसी दशा में उन प्रदेशों में इन धार्मिक संस्थाओं के लिए जो धन मूलतः समर्पित किया गया है, उसका यथोचित रूप से न्यायपूर्ण विनियोग नहीं हो पाता। साथ ही साथ जिस उद्देश्य से यह धन समर्पित किया गया है उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस धन का ठीक-ठीक उपयोग या तो बाधित रहता है या बिलकुल बन्द ही रहता है।

(४४) अपनी यात्रा के समय हमने ज्ञात किया कि देश के विभिन्न भागों में, विशेषतः उत्तरप्रदेश, पञ्जाब तथा दक्षिण भारत में, संस्कृत तथा उससे सम्बद्ध अध्ययन के लिए अनेक न्यास (Trusts) स्थापित किये गये हैं। हमें यह बताया गया कि इन सभी स्थानों में संस्कृत के लिए निर्धारित समर्पित निधि का प्रयोग संस्कृत से भिन्न अन्य कार्यों में किया जाना एक साधारण सी बात हो रही है। हमारी दृष्टि में यह बात लायी गयी कि केवल उत्तरप्रदेश में ही एक सौ पचास ऐसे न्यास हैं, जिनकी आय का उपयोग अंगरेजी विद्यालयों को चलाने में किया जा रहा है। कई एक स्थानों पर, जहाँ कि ऐसी स्थिति वनायी जा रही है, कि संस्कृत के लिए यह धन न व्यय

किया जा सके तथा उस धन को अन्य नये-नये कार्यों में लगाने की चाल चली जा रही है, वहाँ के लोगों की यह अभिलाषा है कि केन्द्रिय शासन संस्कृत के लिए प्रदत्त इस धन के दुरुपयोग को रोके तथा प्रबन्धकों को बाध्य करे कि वे संस्कृत के लिए ही व्यय करें शासन को चाहिए कि वह समस्त देश के इन प्राभूतों का सर्वेक्षण करे तथा कोई इस प्रकार की योजना तैयार करे जिससे कि संस्कृत के लिए प्रदत्त धन का दुरुपयोग न होने पावे। यह बात तो किसी से छिपी नहीं है कि इन प्राभूतों में संस्कृत पर व्यय किए जाने के लिए एक अच्छी धनराशि विद्यमान है। यदि इन प्राभूतों के व्यवस्थापक इस धन का सदुपयोग करें तो संस्कृत तथा संस्कृत से सम्बद्ध अध्ययनों को सुदृढ़ एवं प्रोन्नत बनाने में उनका यह कार्य सर्वथा लाभप्रद सिद्ध होगा। मन्दिरों के पूजा-पाठ तथा अन्य विशेष कार्यों से बचा हुआ धन संस्कृत पठन-पाठन को प्रोत्साहित करने में लगाया जाना चाहिए। उस धन को संस्कृतग्रन्थों के प्रकाशन में व्यय किया जाना चाहिए। उससे संस्कृत विद्यालयों का पोषण होना चाहिए। संस्कृत विद्वानों की सभा आयोजित की जानी चाहिए। सार्वजनिक भाषणों की व्यवस्था होनी चाहिए। विद्वानों का समादर किया जाना चाहिए तथा अन्य वृत्तियों का प्राविधान भी किया जाना चाहिए। '

(४५) आयोग ने यह भी देखा कि कुछ ऐसे भी प्राभूत (Trusts) हैं, जिनमें दुर्व्यवस्था व्याप्त है तथा जिन्हें कि एक ऐसी स्थिति में रखा गया है कि इन प्राभूतों के पास एक ऐसी बड़ी धनराशि एकत्रित हो चुकी है जिसे व्यय नहीं किया जाता। बम्बई में इस प्रकार के अनेक धार्मिक तथा तत्समकक्ष कुछ ऐसे प्राभूत पाये जाते हैं जिनके लाखों रुपये बेकार पड़े हुए हैं। अधिकारियों को चाहिए कि वे इस सन्दर्भ को ध्यानपूर्वक देखें तथा कुछ ऐसी व्यवस्था करें जिससे संस्कृत के लिए समर्पित यह धन संस्कृत के प्रोन्नयन में लगाया जा सके।

(१०) वेदपाठ, पुराणपाठ तथा पौरोहित्यपरम्परा

(अ) वेदपाठ

(४६) वेद तथा उसकी शाखाओं का संरक्षण अतीतकाल से मौखिक परम्परा के द्वारा ही होता रहा है। हमारे समाज का एक अंश वेदों को पूर्णतः कण्ठस्थ करता गया तथा पिता से पुत्र में एवं गुरु से शिष्य में इस परम्परा का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित होता रहा है। सच पूछा जाय तो वेदों का जो संरक्षितस्वरूप आज हमारे सामने है उसके मूल में यह मौखिक परम्परा ही विद्यमान है। वैदिक ग्रन्थों के ठीक-ठीक तथा अत्यन्त सावधानीपूर्वक सर्वथा निर्दोष संरक्षण के लिए अष्टविकृतियों की योजना बनायी गयी थी। इन आठों विकृतियों में पृथक्-पृथक् शब्दों में पदों की तथा घन, जटा, क्रम, रथ, दण्ड, ध्वजा एवं माला आदि विभिन्न विधियों से शब्दों की आवृत्ति की जाती थी तथा अन्त में वर्णक्रम द्वारा मन्त्र के प्रत्येक वर्ण का स्वरानुरूप निरूपण किया जाता था। वेद संस्कृत-साहित्य तथा भारतीय-संस्कृति की आधार-शिलाएँ हैं। इनसे भी अधिक मूल्यवान् है तुलनात्मक भाषाविज्ञान तथा धर्म

सम्बन्धी प्रचलित आधुनिक शोधक्षेत्र में उनकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका। हमारे देश के नरेशों ने प्राचीनकाल से ही वैदिक विद्वानों को असीम आश्रय प्रदान किया था। इसके फलस्वरूप इन विद्वानों ने वेदों पर अधिकार प्राप्त किया था। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि धार्मिक कर्मकाण्डों में वैदिक मंत्रों के प्रयोग द्वारा उन कृत्यों के केवल परिपोषण ही में वे सहायक नहीं हुए, बल्कि भाष्यों तथा टीका ग्रन्थों के प्रणयन द्वारा वैदिक साहित्य के विकास में भी उन्होंने एक अपूर्व भूमिका का निर्वाह किया है। वेद का महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ है। इस तथ्य का अनुभव इस बात से किया जा सकता है कि श्री अरविन्द जैसे प्रमुख गुरुओं ने भी वैदिक साहित्य से अत्यधिक प्रेरणा प्राप्त की थी।

(४७) यद्यपि आज वेदों की अनेक पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं, तथापि यह विलक्षण-सी बात है कि आज भी कण्ठपाठ ही वेदों के संरक्षण की प्रमुख विधि बनी हुई है। निःसन्देह विगत शताब्दियों में भारतभूमि पर अनेक आक्रमण हुए हैं। विदेशी संघर्ष चलते रहे हैं तथा सामाजिक उथल-पुथल भी स्पष्ट ही हैं। इन्हीं कारणों से वेदों की अनेक शाखाएँ लुप्त हो चुकी हैं; किन्तु वेदपाठ की परम्पराओं का तीव्रता से ह्रास केवल पिछली शताब्दी से ही देखा जा रहा है। वेदों के धार्मिक महत्त्व के अतिरिक्त उनके साहित्यिक तथा भाषावैज्ञानिक महत्त्व को समझते हुए इस आयोग ने अपनी यात्रा के समय वैदिक परम्परा की वर्तमान स्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से समस्त देश की छानबीन की है। हमारी यात्रा के समय विशेषतः दक्षिण भारत की अनेक संस्कृत संस्थाओं ने वेदमंत्रों से हमारा स्वागत किया। कई एक संस्थाओं ने साधारण वेदपाठ के साथ उसके विशेष अष्टविकृतियुक्त पाठों में से कुछ विकृतियों के अपने अभ्यास का भी हमारे सामने प्रदर्शन किया। पर हमने यह देखा कि वेदों के इस प्रकार के पाठ सभी स्थानों में नहीं पाये जाते। आसाम, बंगाल तथा उड़ीसा में वैदिकपरम्परा वस्तुतः लुप्तप्राय है। उत्तरबिहार में सामवेद का आंशिक संरक्षण प्राप्त है। उत्तरभारत के अधिकांश भागों में, जैसे—उत्तरप्रदेश से पंजाब तथा समस्त मध्यप्रदेश एवं राजस्थान में शुक्लयजुर्वेद की काण्व तथा माध्यन्दिन शाखाएँ सामान्यतः प्रचलित हैं। आन्ध्र, तामिलनाडु, कर्नाटक तथा महाराष्ट्र में कृष्णयजुर्वेद सजीव है तथा केरल में ऋग्वेद का व्यापक प्रचार है। भारत की धार्मिक राजधानी वाराणसी में सभी वेदों तथा उनकी शाखाओं का संरक्षण हो रहा है।

(४८) वेदपाठ की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सामवेद तथा अथर्ववेद के पाठों पर हमें विशेष ध्यान देना चाहिए। 'सामन्' मूलतः ऋग्वेद के कुछ अंशों का गानात्मक रूपान्तर है। भारतीय संगीत तथा उसके समस्तस्वरूपों के इतिहास की दृष्टि से वेदों का यह अंश सर्वाधिक मूल्यवान् माना जाता है। वेदपाठ की तीन ही प्रमुख शैलियाँ आज-कल प्रधानतः प्रचलित हैं। गुजरात, लखनऊ के आस-पास के कुछ गाँव, दरभंगा, तामिलनाडु तथा कर्नाटक में कौथुमशैली पायी जाती है। तामिलनाडु के कुछ भागों में तथा केरल के अधिकांश

भागों में जैमिनीय शैली का प्रचार है। राजस्थान तथा मथुरा में राणायनीय शाखा प्रचलित है। इन पद्धतियों पर विचार करने से यह प्रत्यक्ष होता है कि देश के विभिन्न भागों में प्रचलित सामगान-शैलियाँ परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। जैसे एक ही कौथुम तथा जैमिनीय शाखाओं का पाठ स्थान-स्थान पर विभिन्न शैलियों में किया जाता है।

(४९) यदि सामगान का क्षेत्र धीरे-धीरे सीमित होता जा रहा है तो हमें यह कहना ही होगा कि अथर्ववेद का पाठ तो अब प्रायः समाप्त ही हो चला है। अथर्ववेद के कुछ परिवार सौराष्ट्र में पाये जाते हैं। वाराणसी में इस वेद के केवल एक ही अध्यापक हैं, किन्तु उनकी शिष्य-परम्परा में कोई भी अथर्ववेदी छात्र नहीं है। कर्मकाण्ड तथा पर्व आदि के समग्र उपयोग में लाये जाने योग्य अथर्ववेद के कतिपय मन्त्रों को कुछ छात्रों ने कण्ठस्थ कर रखा है। अपनी यात्रा में इस आयोग को अपनी इस खोज पर प्रसन्नता का अनुभव हुआ कि गुजरात तथा सौराष्ट्र के कुछ ग्रामों में, जैसे—कण्वालय, लूनावद तथा भावनगर में नागर ब्राह्मणों के कुछ ऐसे परिवार विद्यमान हैं जो अपनी स्वशाखा के रूप में अथर्ववेद के कण्ठपाठ का संरक्षण कर रहे हैं।

(५०) जिन संस्थाओं का, विशेषतः दक्षिण भारत में, हमने निरीक्षण किया, उनमें से कहीं-कहीं वेदपाठ की व्यवस्था चल रही है तथा कुछ संस्थाएँ केवल वेद पाठशालाओं के रूप में भी कार्य कर रही हैं। हमने देखा कि वेद का अभ्यास करने-वाले छात्रों की संख्या इन दोनों ही कोटि की संस्थाओं में बहुत ही कम है। दक्षिण भारत की अधिकांश वेदपाठशालाएँ समृद्ध चेट्टियर परिवार के दान से चला करती थीं। विगत महायुद्ध के बाद इन धनी परिवारों को ब्रह्मदेश तथा सैगाँव की अपनी सम्पत्ति से आय बन्द हो चुकी है। स्थानीय प्रबन्ध की दुर्व्यवस्था भी अधिकांश वेदपाठशालाओं की असफलता के मूल में है। केरल के नम्बूदरीपाद परिवार ने अपने कई न्यास तथा प्राभृत (Trusts) स्थापित किये हैं। इन प्राभृतों के द्वारा एक निर्धारित वयसीमा तक के बालकों को वैदिक प्रशिक्षण दिया जाता था।

(५१) संस्कृत शिक्षा तथा शोधकार्य के अध्याय में हमने वेदों के अध्ययन पर कुछ बल दिया है। यद्यपि मुद्रण व्यवस्था हो जाने के कारण आज हम अधिकांश वैदिक ग्रन्थों के समीप पहुंच चुके हैं तथा अब वेदों पर शोध-योजनाएँ प्रारम्भ की जा सकती हैं, किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ऐसा हो जाने पर अब वेदों की कण्ठस्थ पाठपरम्परा का संरक्षण करना कोई आवश्यक नहीं है। वेदपाठ का धार्मिक तथा आनन्ददायक मूल्य तो है ही; किन्तु इसके अतिरिक्त कहीं अधिक मूल्यवान् हैं इन पाठों से सम्बद्ध शिक्षा ग्रन्थों में प्रतिपादित वास्तविक स्वरभेद तथा उच्चारण प्रक्रिया के नियम, जो कि वर्तमान ध्वनिशास्त्र के अध्ययनक्रम में आवश्यक सिद्ध हो रहे हैं। मौखिक परम्परा से ही इन स्वरभेदों तथा उच्चारण प्रक्रिया का यथेष्ट अध्ययन किया जा सकता है। आज के अङ्ग्रेजी महाविद्यालयों तथा संस्कृत महा-विद्यालयों के पाठ्यक्रम में वेदों का कुछ अंश अध्ययन के लिए निर्धारित किया गया है, किन्तु इस प्रकार की अध्ययन प्रक्रिया में निर्धारित वेदमन्त्रों की वास्तविक पाठ-

विधि का छात्रों को कोई ज्ञान नहीं कराया जाता। शोध-संस्थानों में भी वैदिक ग्रन्थों का सम्पादन कार्य तो चलता रहता है, किन्तु इस बात का ज्ञान तथा प्रयोग नहीं किया जाता कि इन मन्त्रों की मौखिकपाठ परम्परा आज किस रूप में परिरक्षित है। शोधकार्य के लिए भी वेदपाठ की मौखिक परम्परा कितनी महत्त्वपूर्ण है, इस तथ्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यूरोप के सुविख्यात वेदविद्वान् लुई रेनाँ के वचनों का हम इस सन्दर्भ में उद्धरण देना चाहेंगे। भारतीय अध्ययन सम्बन्धी अपने विवेचन में प्रोफेसर रेनाँ का कथन है कि "यदि हम इन उत्साही वेदपाठियों का ठीक-ठीक मूल्याङ्कन करना चाहते हैं तो हमें यह देखना चाहिए कि उनके पाठों में कतिपय स्वरभेद तथा ध्वन्यात्मक अथवा स्वरात्मक परम्पराएँ किस दृढ़ता से विद्यमान हैं। इन विभिन्न स्वरभेदों तथा ध्वन्यात्मक परम्पराओं को कोई भी पाण्डुलिपि संरक्षित नहीं रख सकती। मौखिक प्रसारण के लिए यह आवश्यक होता है कि वह कतिपय स्वरस्वरूपों का निष्ठापूर्वक पालन करें। लिखित ग्रन्थ यह कार्य नहीं कर सकते।"

(५२) कुछ साक्ष्यों ने यह भी सुझाव दिया कि विभिन्न शाखाओं के सम्पूर्ण वेदपाठ का टेप या वैक्स करा लिया जाय। निश्चय ही यह एक बहुत ही सुन्दर सुझाव है तथा यह आयोग इसका पूर्णतः समर्थन करता है। समस्त देश के प्रतिनिधि वैदिकों का चुनाव करके उनके सम्पूर्ण वेदपाठ का पूरा-पूरा टेपरेकार्ड तैयार कराने की व्यवस्था शीघ्र की जानी चाहिए। इस योजना पर जो भी व्यय किया जायगा, निश्चय ही वह सार्थक होगा तथा एक उपयोगी मार्ग में सदुपयुक्त कहा जायगा। शीघ्रातिशीघ्र बिना किसी भी विलम्ब के यह कार्य हो जाना चाहिए; क्योंकि इसमें किसी भी प्रकार का कालक्षेप हानिप्रद सिद्ध हो सकता है। प्रस्तावित केन्द्रिय भारतीय ज्ञान-संस्थान में इन रेकर्डों की मूलप्रति संरक्षित रहनी चाहिए तथा जब भी किसी अन्य संस्था को इनकी आवश्कता पड़े, उन्हें इनकी प्रतिलिपियाँ उपलब्ध करानी चाहिए।

(५३) ध्वनि-यन्त्र (टेपरेकार्ड) द्वारा वेदपाठ को संरक्षित रखे जाने के उपर्युक्त प्रसंग में हमें यह स्पष्टतः समझ लेना चाहिए कि इन ध्वनियन्त्रों (टेपरेकर्डों) का संरक्षणात्मक उपयोग तो भली-भाँति किया जा सकता है, पर ये ध्वनियन्त्र मानव के वास्तविक ध्वनियंत्र द्वारा समुत्पादित कण्ठपाठ के संरक्षण का स्थान कदापि नहीं ग्रहण करते। गायन के सम्बन्ध में भी यही बात है। इसलिए यह आयोग पुनः अनुरोध करता है कि ऐसे उपायों का प्रयोग किया जाना चाहिए, जिनसे मौखिकपाठ की परम्परा निरन्तर चलती रहे। विभिन्न;शाखाओं के निर्धारित स्वर-भेद तथा शुद्ध उच्चारण के साथ-साथ युवाछात्रों को वेदपाठ के अभ्यास तथा उसके कण्ठस्थीकरण में प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। शासन का भी यह कर्त्तव्य होता है कि संकटग्रस्त वेदन्यासों को यथोचित अनुदान देकर उनकी आर्थिक स्थिति को पुष्ट करे। जैसा कि शिलालेखों से प्रमाणित होता है, समृद्ध मन्दिर तथा धार्मिक प्राभूत अतीतकाल से वेदपाठ के स्थायी आश्रयदाता एवं पोषक होते आ रहे हैं। इन मन्दिरों तथा धार्मिक न्यासों से अनुरोध किया जाना चाहिए कि वे अपने देव-

स्थलों की दैनिक पूजा तथा सामयिक पर्वों के समय वेदपाठ की चिरप्रचलित परम्परा को बन्द न करें। वेदों के अध्ययन में लगे हुए शोधसंस्थानों तथा विभागों को चाहिए कि वे अपने कार्य में वेदपाठ में प्रवीण वैदिकों का सहयोग अवश्य प्राप्त किया करें। अपनी यात्रा के समय हमने यह ज्ञात किया कि दक्षिणभारत, महाराष्ट्र तथा वाराणसी में वेदों के कण्ठपाठ को संरक्षित रखने वाले अनेक परिवार विद्यमान हैं। इन परिवारों को उत्तरभारत के उन भागों में लाकर बसाया जाना चाहिए जहाँ कि वेदपाठ की परम्परा समाप्ति की स्थिति में है या बिलकुल लुप्त हो चुकी है। यह व्यवस्था उन स्थानों के लिए तो लाभप्रद होगी ही जहाँ कि ये परिवार निवास करेंगे, किन्तु साथ ही साथ इस व्यवस्था से ऐसे वैदिक परिवारों का पोषण भी सम्भव होगा, जिनकी आर्थिक स्थिति समीचीन नहीं है। अपने नवीन वातावरण के द्वारा उन्हें जो आश्रय प्राप्त होगा उनके उत्साह में भी अत्यधिक वृद्धि हो सकेगी। प्राचीन तथा मध्ययुग में पाण्डित्य-परम्परा के संरक्षण तथा प्रचार-प्रसार के लिए विद्वत् परिवार को एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर इस प्रकार बसाने की प्रथा प्रचलित थी। वर्तमान समय में भी यह प्रयोग सफल सिद्ध हो चुका है, जैसे—सामवेद के सन्दर्भ में दरभंगा में इस प्रणाली का अनुसरण किया जा चुका है। परम्पराओं के पुनरुज्जीवन तथा प्रचार पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

(ब) पुराण-पाठ

(५४) अत्यन्य प्राचीन समय से रामायण, महाभारत तथा पुराणों के पाठ तथा उनकी व्याख्या हमारे देश की प्रौढ़-शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण साधन मानी जाती रही है, इसमें समाज वेदों के उच्चतम तत्त्वों तथा राम, युधिष्ठिर, सावित्री आदि के चरित्र एवं आचारों की शिक्षा प्राप्त किया करता था। केवल भारतवर्ष के ही नहीं, बल्कि कम्बोडिया के शिलालेखों से भी यह प्रत्यक्ष होता है कि प्राचीन तथा मध्ययुग के नरेशों ने रामायण तथा महाभारत के सार्वजनिक प्रवचनों के लिए कई प्राभूत स्थापित किये थे। भारतवर्ष के विभिन्न भागों में तथा ब्रह्मदेश, थाईलैंड तथा इण्डोनेशिया जैसे सुदूर देश, जिनसे कि हमारा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित था, उन देशों में भी एक विशाल जनसमुदाय ने आनन्दपूर्वक कविता, नाटक, गायन, वाद्य तथा नृत्य के माध्यम से रामायण, महाभारत एवं पुराणों को अपने मानस में स्थायी स्थान दिया है। उत्तरभारत के व्यास, बंगाल के कत्थक, दक्षिण तथा महाराष्ट्र के पौराणिकों ने हमारे देशवासियों को चाहे वह कितना भी निरक्षर क्यों न हों, जीवन के उच्चतम मूल्यों के प्रति तीव्रता से चैतन्य बनाया है। ये व्याख्यान तथा प्रवचन संस्कृत विद्वानों की जीविका के लिए एक नियमित साधन बने रहे हैं। अपने निरीक्षण के समय हमने यह देखा कि कथावाचन की यह संस्था आज भी अत्यधिक लोकप्रिय बनी हुई है। विशेषतः दक्षिण भारत के ऐसे विशेषज्ञ "भागवतार" आज भी विद्यमान हैं, जिन्होंने रामायण तथा महाभारत्त के प्रवचनों में अत्यधिक सफलता प्राप्त की है। ऐसे सुप्रसिद्ध प्रवचनकर्त्ताओं के रामायण तथा महाभारत की कथाओं को सुनने के लिए आज भी एक विशाल जनसमूह एकत्रित हुआ करता है।

(५५) हमारे कुछ साक्ष्यों ने इस तथ्य पर विशेष बल दिया कि रामायण, महाभारत तथा पुराणों के इन प्रवचनों के सफल एवं प्रभावशाली प्रयोग सांस्कृतिक प्रचार तथा जनसमुदाय के नैतिक समुन्नयन के एक अच्छे साधन बनाये जा सकते हैं। पञ्चवर्षीय योजनाओं, सामुदायिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रिय प्रसार सेवाओं में रामायण एवं महाभारत के इन मेधावी कथावाचकों की सेवा का सफलतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है। पश्चिम बंगाल के शिक्षा सचिव ने हमें यह बताया कि उनके विभाग में एक ऐसे कथावाचक की नियुक्ति भी की जा चुकी है। नवद्वीप में इस कथावाचक ने हमारे समक्ष अपने प्रवचन का प्रदर्शन किया। इनका प्रदर्शन गायन-मिश्रित तथा सामयिक घटनाओं एवं आजकल की समस्याओं के पुट से रोचक एवं सजीव बनाया गया था। मैसूर शासन के द्वारा एक अधिक व्यापक तथा अधिक व्यवस्थित रूप में इस प्रकार की चेष्टा की जा चुकी है। इस कार्य के लिए इस प्रदेश में एक सांस्कृतिक विकास विभाग भी स्थापित किया जा चुका है। हमारे विचार से हमारे जिन संस्कृत विद्वानों में, विशेषतः पारम्परिक पण्डितों में से जिनमें इस प्रकार के मनोरञ्जनात्मक तथा उपदेशात्मक प्रवचनों की वास्तविक प्रवृत्ति विद्यमान हो, वे इस धारणा का परित्याग करके कि उनके लिए केवल अध्यापन व्यवसाय का मार्ग ही खुला है, इन प्रवचनों को व्यवसाय के रूप में चुन सकते हैं। संस्कृत के छात्रों को इस क्षेत्र में प्रशिक्षित करने में सफल होने के लिए संस्कृत पाठशालाओं के पुराणेतिहास पाठ्य-क्रम में सार्वजनिक प्रवचन का विषय जोड़ा जा सकता है। ऐसे छात्र, जो संगीत तथा गायन में विशेष पटु हों, वे कीर्त्तन तथा हरिकथा में विशेष कुशल प्रदर्शक बनाये जा सकते हैं। हमारा अनुरोध है कि मन्दिरों, मठों, सामुदायिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रिय प्रसार सेवाओं के अधिकारी, रामायण, महाभारत तथा भागवत के इन गुणी संस्कृत विद्वानों को नियमितरूप से अपनी सेवाओं में नियुक्त करके उनकी सहायता करें। कुछ प्रदेशों में मन्दिरों के कार्यकलाप चलाने के लिए "देवस्वम्" विभागों तथा धार्मिक प्राभूत परिषदों की स्थापना की गयी है। हमारे विचार से समर्थ मन्दिरों का यह यथोचित कर्त्तव्य है कि वे इन कत्थकों, पौराणिकों एवं कीर्तन तथा हरिकथा प्रदर्शकों को अपनी सेवा में कार्य करने का अवसर प्रदान करें।

(ख) पौरोहित्य

(५६) संस्कृत पाठशालाओं के प्रचलित पाठ्यक्रम में श्रौत तथा पौरोहित्य को एक सीमित स्थान दिया गया है। बड़ौदा में महाराज सयाजीराव ने पुरोहित अधिनियम प्रचलित किया था। इस अधिनियम के अनुसार कोई भी व्यक्ति, जिसने बड़ौदा संस्कृत कालेज में आयोजित पौरोहित्य पाठ्यक्रम द्वारा प्रशिक्षित होकर अपेक्षित परीक्षा नहीं उत्तीर्ण की है, वह उनके राज्य में पुरोहित के रूप में कार्य नहीं कर सकता। अधिकांश क्रिश्चियन देशों में पादरी सम्प्रदाय का सदस्य होने के लिए धर्मशास्त्र की कुछ न कुछ योग्यता आवश्यक हुआ करती है। ईरान में किसी भी मसजिद का इमाम बनने के पूर्व इसी प्रकार की योग्यता पर आग्रह किया जाता

है। प्राचीन भारत का सुशिक्षित तथा विद्वान् जनवर्ग स्वयं इस योग्यता की माँग किया करता था। वर्तमानकाल में सरकार के लिए यद्यपि यह सम्भव नहीं है कि वह इस सन्दर्भ में किसी प्रकार की योग्यता अथवा पाठ्यक्रम का निर्धारण करे; तथापि इस आयोग के विचार से पारम्परिक संस्कृत पाठशालाओं को तो यह चाहिए ही कि वे अपने यहाँ पौरोहित्य का एक नियमित पाठ्यक्रम चलावें। इस व्यवस्था से उन्हें ऐसे छात्र सुलभ हो सकेंगे जिनकी कि यह इच्छा होगी कि कम ही समय में वे समाज के लिए अपने आपको उपयोगी बना सकें। अपनी यात्रा में हम ऐसे कई एक धार्मिक कृत्यों में उपस्थित हुए तथा अनेक वैदिकों से हमने भेंट भी की। हमने अनुभव किया कि वैदिकों तथा पुरोहितों को यदि और अच्छा शैक्षिक आधार उपलब्ध हो तो वे संस्कृत या अपने व्यवसाय से सम्बद्ध प्रशिक्षण तथा अभ्यास में उपयुक्त योग्यता प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार की व्यवस्था से वेद सम्बन्धी अध्ययन केवल सुदृढ़ ही न होंगे, अपितु उन्हें हम अधिक से अधिक समृद्ध भी बना सकेंगे।

(११) प्रौद्योगिक प्रशिक्षण

(५७) जैसा कि हम चतुर्थ अध्याय में कह चुके हैं, संस्कृतवाङ्मय का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। प्राचीन तथा मध्ययुग का समस्त ज्ञानभाण्डार इसके अन्तर्गत आ जाता है तथा अनेकानेक वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक विषय तथा कलाकौशल भी संस्कृतवाङ्मय के इस विशाल वितान में सम्मिलित हैं। इससे स्पष्ट है कि विशुद्ध शैक्षिक संस्थाओं तथा आधुनिक महाविद्यालयों एवं संस्कृत पाठशालाओं की परिधि के भीतर ही केवल संस्कृत के पोषण तथा संवर्धन की चेष्टा नहीं करनी है। इसीलिए केवल साहित्य, धर्म तथा दर्शन के अध्ययन को समुन्नत करने के लिए ही संस्कृत के संवर्धन के पक्ष में नहीं है। हम यह चाहते हैं कि प्रायोगिक कला तथा वैज्ञानिक विषयों के संस्कृतवाङ्मय के समस्त अङ्गों का सर्वाङ्गीण विकास किया जाय। चिकित्साविज्ञान, ज्योतिष, गणित आदि तथा नृत्य, गीत, रञ्जनकला, वास्तुविज्ञान, चित्रकला, मूर्तिकला जैसे विषयों पर भी संस्कृतवाङ्मय में पुस्तकें विद्यमान हैं। प्रचलित विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम द्वारा इन विषयों का केवल ऐतिहासिक ज्ञान कराना ही सम्भव है। अतः संस्कृतशिक्षा के अध्याय में हमने सुझाव दिया है कि विश्वविश्वालयों के पाठ्यक्रम में चिकित्सा, गणित आदि विभिन्न विषयों के इतिहास अंश का ही प्राविधान किया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम के इस अंश के पठन-पाठन द्वारा विशेष रूप से इस तथ्य को अवश्य प्रकाश में लाया जाना चाहिए कि हमारे देश ने संस्कृतवाङ्मय के माध्यम से इन विभिन्न विज्ञानों के क्षेत्र में क्या-क्या कार्य किया है। भारत में अब इन विज्ञानों का विकास अवरुद्ध हो चुका है। यही समय है जब कि हम उन्हें विज्ञान के आधुनिक विकास के समकक्ष बना सकते हैं।

(अ) आयुर्वेद

(५८) इन सभी विज्ञानों में सर्वाधिक महत्त्व आयुर्वेद के नाम से विख्यात भारतीय चिकित्साशास्त्र का है। यह शास्त्र आज भी जीवित है तथा इस चिकित्सा

का व्यवसाय समस्त भारत में प्रचलित है। आयुर्वेद की चिकित्सा भारतीय शारीरिक प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है। इसकी औषधियाँ सस्ती होती हैं तथा तुरन्त प्राप्त की जा सकती हैं। भारत के निवासी उसका कुछ साधारण ज्ञान भी रखते हैं। अपनी यात्रा में हमने अनेक सफल आयुर्वेद के चिकित्सकों से बातचीत की है। ये संस्कृत के ग्रन्थों के भी पण्डित थे। इन्होंने हमें सूचित किया कि समाज में उनके ज्ञान की बहुत बड़ी माँग है। आयोग ने यह भी देखा कि विशेषतः उत्तरभारत में औषध-निर्माण के यंत्रों तथा अन्य साधनों से सुसज्जित अनेक औषधनिर्माण-शालाएँ एक बड़े पैमाने पर कार्य कर रहीं है। देश के कुछ भागों में पारम्परिक शिक्षा संस्थाएँ आयुर्वेद की शिक्षा भी देती हैं तथा इनके छात्रों को स्थानीय विश्वविद्यालयों द्वारा प्रमाणपत्र भी दिये जाते हैं।

(५९) आयुर्वेद के सन्दर्भ में जो भी प्रश्न सामने आते हैं, उनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान से उनका आमना-सामना। आयुर्वेद का विरोध करते हुए आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के समर्थक यह कहा करते हैं कि यह पद्धति अप्रचलित तथा अवैज्ञानिक है। इसके विपरीत आयुर्वेद के उत्साही समर्थक आयुर्वेद को पूर्णतया वैज्ञानिक तथा श्रेष्ठ सिद्ध करने में कटिबद्ध हैं। इसके अतिरिक्त तृतीय कोटि के कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो कि इन दोनों प्रणालियों के सम्मिश्रण के पक्ष में हैं। आजकल जिन पारम्परिक विद्यालयों में आयुर्वेद का पाठ्यक्रम चलाया जाता है उसमें यथेष्ट मात्रा में आधुनिक शरीररचनाशास्त्र तथा लघु शल्य-चिकित्सा का भी अध्यापन सम्मिलित किया गया है। आयुर्वेद के अनेक समर्थकों ने हमें यह बताया कि वे इससे अधिक सम्मिश्रण के पक्ष में नहीं हैं। हमें यह भी जान पड़ा कि जहाँ कहीं आयुर्वेद तथा आधुनिक चिकित्साशास्त्र (एलोपैथी) का सम्मिश्रित पाठ्यक्रम चलता है, वहाँ का पठन-पाठन तथा प्रशिक्षण एलोपैथी के ढंग का ही हुआ करता है, जिससे कि आयुर्वेद की जड़ स्पष्टतः काटी जा रही है। जिन प्रदेशों ने अपने आयुर्वेद विद्यालयों को इस प्रकार का ऐलोपैथी बाना पहनाया है उनकी इस नीति का खुले शब्दों में विरोध किया जा रहा है। इस सन्दर्भ में हम देश के सुविख्यात चिकित्साविशेषज्ञ डॉक्टर ए० लक्ष्मण शास्त्री मुदलियार की सम्मति देना चाहते हैं। डॉ० मुदलियार सम्बद्ध एकीकरण अथवा सम्मिश्रण के पक्ष में नहीं हैं। उनका मत है कि ऐलोपैथी तथा आयुर्वेद के निष्णात चिकित्सकों को चाहिए कि वे एक दूसरे की पद्धति का समालोचनात्मक अध्ययन करें तथा इस अध्ययन के द्वारा जो कोई भी उपयोगी तत्त्व इन दोनों ही पद्धतियों से प्राप्त किये जायँ, उन्हें वे चुन लें। जैसा कि हमने अन्य सन्दर्भों में भी अनुरोध किया है, उच्चस्तर पर इस प्रकार का सम्मिश्रण अत्यधिक स्वस्थ तथा लाभदायक सिद्ध होगा।

(६०) यह आवश्यक है कि संस्कृतपाठशालओं के आयुर्वेदिक विभाग यथोचित संख्या में रोगीशय्या, वनस्पति-संग्रहालय, औषधनिर्माण-शाला, औषधालय तथा शोधविभाग पूर्णतः सुसज्जित हों। केवल पुस्तकों के द्वारा ही आयुर्वेद का पठन-पाठन पर्याप्त नहीं है, न तो सम्भव ही है। इस आयोग की यह संस्तुति है कि

आधुनिक विश्वविद्यालयों में आयुर्वेद का उपाधि-पाठ्यक्रम चलाया जाना चाहिए, जिससे कि इस शिक्षा को भी विश्वविद्यालयीय स्तर पर उठ जाने के लाभ प्राप्त हो सकें। साथ ही साथ यह भी वाञ्छनीय है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय के शोध-विभागों में आयुर्वेद के लिए भी एक अनुभाग नियत किया जाय, जिसमें इस विज्ञान के ऊँचे ऊँचे किन्तु कम जाने गये स्वरूपों पर अनुसन्धान सञ्चालित किया जा सके। यह भी परमावश्यक है कि जिन-जिन औषधियों की चर्चा आयुर्वेदशास्त्र के संस्कृतग्रन्थों में की गयी है, उनकी ठीक-ठीक वास्तविक पहचान का भी निर्णय किया जाय, क्योंकि औषध-सम्बन्धी संस्कृत के नामों के देश के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि समस्त भारत के लिए आयुर्वेदशास्त्र के विभिन्न अंगों पर अद्यावधिक संस्कृतग्रन्थ लिखे जायँ, जैसे—गणनाथ सेन के ग्रन्थ 'प्रत्यक्ष शारीर', 'सिद्धान्त निदान', 'रसजलनिधि', तथा बम्बई एवं पूना से प्रकाशित नये ग्रन्थ 'स्वस्थवृत्त' तथा 'पदार्थविज्ञान'।

(६१) आयुर्वेद के अध्ययन से सम्बद्ध कतिपय व्यक्तियों ने हमसे निवेदन किया कि यदि हमें आयुर्वेद का यथार्थ में सर्वांगीण विकास करना है तो आयुर्वेद सम्बन्धी सरकारी नीति में तात्त्विक परिवर्तन किया जाना चाहिए। हाल ही में कुछ परिवर्तन किये भी गये हैं। आयुर्वेद को समुन्नत करने के लिए प्रादेशिक सरकारों द्वारा विभिन्न आयुर्वेदिक केन्द्रों को अनावर्तक अनुदान दिये जा रहे हैं। इस प्रसंग पर स्वास्थ्यमंत्रालय तथा योजना आयोग को विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि अकेले एलोपैथी के लिए यह साध्य नहीं है कि वह सम्पूर्ण देश की चिकित्सा तथा चिकित्सकों की माँग पूरी कर सके। ऐलोपैथी के लिये व्ययसाध्य विद्यालयों की आवश्यकता हुआ करती है। इसकी चिकित्सा तथा दवाएँ, आहार एवं पथ्य के नुस्खे आदि भी व्ययसाध्य हुआ करते हैं। इसलिए यह समुचित प्रतीत होता है कि सरल भारतीय प्रकृति के अनुकूल आयुर्वेदिक चिकित्सा के व्यापक प्रयोग के लिए पर्याप्त धन निर्धारित किया जाय। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद की मान्यता तथा उसके समुन्नयन की योजना में एक अखिल भारतीय स्वदेशो चिकित्सा समिति का प्राविधान रखा जाना चाहिए तथा पशुचिकित्सा को भी सम्मिलित करते हुए एक केन्द्रीय स्वदेशी चिकित्सा-पद्धति-शोध-संस्थान की स्थापना जानी चाहिए।

स्वदेशी चिकित्सा पर उच्चस्तरीय अभ्युन्नत शोधकार्य आज-कल कुछ इने-गिने केन्द्रों में ही किया जा रहा है। हमें यह विदित है कि चिकित्साशास्त्र के विदेशी पुस्तकालयों में, जैसे वेल्कम चिकित्सा-इतिहास पुस्तकालय में, चिकित्सा विषयक संस्कृत, अरबी तथा फारसी की अनेकानेक पाण्डुलिपियाँ विद्यमान हैं तथा विदेशी प्रयोगशालाओं में आधुनिक रोगों पर भारतीय औषधों के प्रयोग पर अनुसन्धान चल रहे हैं। यह यथोचित प्रतीत होता है कि भारतीय चिकित्साशास्त्र, उसके साधनों एवं उसकी सामग्री पर समुचित रूप में लाभप्रद अनुसन्धान करने वाले विद्वानों को शासन की ओर से उपयुक्त तथा ठोस सहायता प्राप्त होनी चाहिए।

(ब) ज्योतिष

(६२) ज्योतिष का पठन-पाठन अनेक पाठशालाओं में होता है। कुछ संस्थाओं में इस विषय की शिक्षा के लिए आधुनिक सहायक उपकरणों की भी व्यवस्था की गयी है, जैसे वाराणसेय संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी में भारतीय ज्योतिष के अध्ययन की चेष्टा आधुनिक यंत्रों की सहायता से की जा रही है। चिकित्सा-विज्ञान के समान हमारे देश में इस विज्ञान का भी विकास अवरुद्ध है। इस क्षेत्र में भी कुछ लोग इस बात का समर्थन करते हैं कि प्राचीन ग्रन्थ आधुनिक ग्रन्थों के बराबर साथ-साथ एक पङ्क्ति में लाये जायँ। दूसरी ओर कुछ ऐसे भी पण्डित तथा प्राध्यापक हैं जो कि प्राचीन ज्योतिषशास्त्र में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते। उसे अपने प्राचीन पारम्परिक रूप में ही स्थित रखना चाहते हैं। साधारणतः संस्कृत पाठशालाओं के ज्योतिष के छात्र ही समाज में ज्योतिषी के रूप में पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं तथा उन्हें व्यवसाय के अभाव का कोई कष्ट नहीं है। इस आयोग की दृष्टि में भारतीय ज्योतिष तथा गणित के क्षेत्र में अभी शोधकार्य करना शेष है। इसलिए जो विद्वान् आधुनिक ज्योतिष में प्रवीण हैं तथा संस्कृतज्ञ भी हैं, उन्हें इस क्षेत्र में अनुसन्धान के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए, ताकि वे गुप्त ग्रन्थों को प्रकाश में ला सकें तथा ज्योतिषसम्बन्धी अपने अंशदान का प्राचीन ज्ञान से सह-सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसका यथोचित मूल्याङ्कन भी कर सकें।

(स) कला एवं शिल्प

(६३) राजकीय तथा व्यक्तिगत दोनों क्षेत्रों में हमारे देश में इस समय ऐसी संस्थाओं की संख्या बहुत ही कम है जहाँ कि गायन, नृत्य, मूर्तिकला, चित्रकला तथा वास्तुकला (गृह-निर्माण) का सुव्यवस्थित अध्ययन किया जाता हो। सरकार द्वारा परिपोषित कुछ ऐसी संस्थाएँ भी हैं, जो कि इन कलाओं तथा शिल्पों को प्रोत्साहित करती हैं। कहना न होगा कि संस्कृतवाङ्मय में इन सभी कलाओं तथा शिल्पों के प्राचीन ग्रन्थ विद्यमान हैं। इन ग्रंथों में भारतीय कला एवं शिल्पविषयक हमारी प्राचीन परम्पराओं तथा सिद्धान्तों का उत्तम प्रतिपादन भी किया गया है। इस सन्दर्भ में केवल यही आवश्यक नहीं है कि ऐसे सभी ग्रंथों का व्याख्यायुक्त सम्पादन मात्र किया जाय, अपितु सम्पादन-प्रकाशन के साथ-साथ यह भी परमावश्यक है कि देश में इन विभिन्न कला परम्पराओं के जो अवशेष आज विद्यमान हैं उनका सह-सम्बन्ध इन प्राचीन ग्रंथों से जोड़ा जाय। जिन संस्थाओं में इन कलाओं तथा शिल्पों का शिक्षण चल रहा है, उनके पाठ्यक्रम में सम्बद्ध प्रतिनिधि प्राचीन ग्रंथों को भी वास्तव में स्थान दिया जाय। इन कलाओं तथा शिल्पों के पुजारियों के लिए यह भी आवश्यक है कि वे केवल प्राचीन परम्पराओं के ही ज्ञाता न हों, वल्कि इन प्राचीन ग्रंथों में कलासम्बन्धी जो उत्कृष्ट दार्शनिक विचार अभिव्यक्त किये गये हैं, उनके प्रकाश में वे पारम्परिक प्रणाली द्वारा कला के समीप पहुँचने के मार्गों को भी जाने।

(६४) आयोग ने कतिपय शिल्पियों तथा स्थापत्य विशेषज्ञों से भेंट की, शिल्प-शिक्षा देने वाले कुछ विद्यालयों को भी देखा तथा उनकी जानकारी प्राप्त की।

इस सन्दर्भ में अखिल भारतीय शिल्पपरिषद् इन पारम्परिक शिल्पियों की भली-भाँति सहायता कर सकती है। हमारे देश में शिल्पविद्या के विद्यालयों की बहुत कमी है। कतिपय विश्वविद्यालयों में इस विषय की भी शिक्षा दी जाती है, किन्तु यह देखा जाता है कि इन विद्यालयों द्वारा प्रशिक्षित शिल्पी अपनी कल्पनाओं तथा विचारों के लिए पाश्चात्त्य कल्पनाओं तथा विचारों का सहारा लेते हैं। ऐसी स्थिति में इनकी कृतियों में ऐसे तत्त्व कठिनाई से ही दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्हें कि वास्तविकरूप में भारतीय कहा जा सके। इस सन्दर्भ में एक ऐसी शिल्पपद्धति से सम्वद्ध शोधकार्य के लिए पर्याप्त क्षेत्र विद्यमान है जो कि हमारे देश की जलवायु, उसकी आवश्यकताएँ, प्रथाएँ तथा उसके अभ्यास एवं साधन आदि के अनुकूल हो सके। यह आयोग यह अनुभव करता है कि शिल्पशास्त्र के संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन किया जाना चाहिए तथा आधुनिक शिल्पविद्यालयों में भारतीय शिल्पयों की भी नियुक्ति की जानी चाहिए, जिनकी परम्परा आज भी विद्यमान है। इस व्यवस्था से हम भारतीय शिल्प-कला की अत्यधिक सहायता कर सकेंगे।

(१२) संस्कृत तथा जनता

(अ) प्रारम्भिक संस्कृत

(६५) कम जानकारी रखने वालों की यह धारणा सी बन गयी है कि प्रत्ययों, धातुरूपों, शब्दरूपों तथा विभक्तियों की बहुलता होने के कारण संस्कृत एक अत्यन्त जटिल भाषा है। हिन्दी या अंगरेजी जैसी आधुनिक भाषाओं से संस्कृत का भेद दिखाने के लिए उनमें एक प्रकार की तुलनात्मक प्रवृत्ति सी बन गयी हं। आश्चर्य है कि ये सज्जन इस बात का स्मरण नहीं करते कि प्रत्येक भाषा की अपनी विशेष-विशेष जटिलताएँ एवं कठिनाइयाँ हुआ करती हैं। ध्यान देने की बात है कि अंगरेजी जैसी उच्चकोटि की विकसित आधुनिक भाषा में विभक्ति, धातुरूप तथा प्रत्यय शनैः शनैः कट छँट गये हैं, किन्तु संस्कृत भाषा में शब्दरचना सम्बन्धी समस्त प्रत्यय, शब्दरूप, धातुरूप तथा विभक्तियाँ अब भी ज्यों की त्यों विद्यमान हैं। संस्कृत की संज्ञाओं तथा सर्वनामों के आठ कारक, गणों के अनुसार विभिन्न धातुओं के वर्गीकृतस्वरूप, तीन वचन तथा तीन लिङ्ग, तीन पुरुष तथा अन्त्यवर्णों पर आधारित शब्दों की रचना—ये सभी विशेषताएँ संस्कृत भाषा की संज्ञाओं, सर्वनामों एवं धातुओं की रूपरचना को भयंकर बनाती हैं। जहाँ तक धातुओं की व्यवस्था का प्रश्न है, एक ही धातुरूप से उसके सैकड़ों सविभक्तिक रूपों की रचना की जाती है। इसके अतिरिक्त चार या पाँच वाच्यों, भूतकाल के परोक्ष रूप को सम्मिलित करते हुए विभिन्न कालों के जटिल स्वरूप बनाये जाते हैं। अनिश्चित काल-सूचक भूतकालिक क्रियाओं के विभिन्न स्वरूप तथा अनद्यतन भूत, भूतकाल के अन्य नवीन स्वरूप, णिच् प्रयोग, नामधातुएँ, सन्नन्त धातुएँ, यङन्त या यङ्लुगन्त धातुएँ—ये सभी विशेषताएँ संस्कृत को और भी भीषण बनाती हैं। इन्हें देखकर संस्कृत सीखने की आकांक्षा रखने वाले व्यक्ति सरलतापूर्वक हतोत्साहित हो सकते हैं। संस्कृत के इस भयंकर स्वरूप को देखकर तथा अंगरेजी भाषा को न बोलने वालों के लिए अंगरेजी को सरल एवं सुगम बनाने की प्रचलित चेष्टाओं के फलस्वरूप

'बेसिक अङ्ग्रेजी' को चलाये जाने के उदाहरण से अभिप्रेरित हो करके हमारे देश के अनेक व्यक्तियों ने, जिनमें से कुछ अच्छे संस्कृतज्ञ भी हैं, यह सुझाव दिया है कि संस्कृत का भी ऐसा ही सरलीकरण हो जाना चाहिए, जिसे 'बेसिक संस्कृत' कहा जा सके। इस 'बेसिक संस्कृत' के समर्थन में अनेक पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं तथा लेख भी प्रकाशित हो चुके हैं। बेसिक संस्कृत के पक्ष में यह वक्तव्य दिया जाता है कि जब तक संस्कृत का सरलीकरण अथवा बेसिक संस्कृत की रचना करके उसका पर्याप्त प्रचार नहीं किया जाता, संस्कृत को जनप्रिय बनाना कठिन है। वास्तव में इस बात का खण्डन तो नहीं किया जा सकता कि प्राचीन भाषाओं में संस्कृत, यूनानी, लैटिन, प्राचीन अरबी तथा आधुनिक भाषाओं में रूसी और फिनिश जैसी अत्यधिक शब्द एवं धातुरूपों तथा विभक्तियों से भरी हुई भाषाओं में अंगरेजी तथा मलय जैसी आधुनिक भाषाओं के समान व्याकरण की सरलता नहीं पायी जाती। पर इससे यह निर्णय कदापि नहीं लिया जा सकता कि संस्कृत सीखने में हमें अजेय तथा दुस्तर कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

(६६) जिन विचारों के आधार पर संस्कृत के उक्त सरलीकरण का सामान्यतः समर्थन किया जाता है, वे निम्नाङ्कित हैं :—

(१) एक वाक्य में संधियों का पूर्णतः अथवा आंशिक परित्याग। (व्यवहार तथा व्याकरण के नियमों द्वारा अनुमत होने के कारण यह कोई नयी बात नहीं कही जा रही है)।

(२) द्विवचन संस्कृत का ही वैलक्षण्य है, उसका परित्याग।

(३) कालों तथा वाच्यों को आवश्यक मात्रा में कम कर दिया जाना। कालों में वर्तमान काल, भूतकाल तथा एक भविष्यत् काल तथा वाच्यों में एक या दो वाच्यों का ही रखा जाना वाञ्छनीय।

(४) कर्मवाच्य के लिए केवल आत्मनेपद का व्यवहार।

(५) धातुवर्ग के दस गणों को कम किया जाना।

(६) नियत क्रियारूपों के स्थान पर कृदन्तों का प्रचुर प्रयोग।

(७) धातुओं तथा शब्दों के मूल आधारों को दृष्टि में रखते हुए सरलता के लिए उन्हें जितना कम किया जा सके उतना कम कर दिया जाय।

(८) भू तथा कृ ऐसी धातुओं का अधिक से अधिक प्रयोग।

(६७) उक्त सरलीकरण के समर्थकों का यह पक्ष है कि इससे संस्कृत को जनप्रिय बनाया जा सकता है, किन्तु एक दूसरे वर्ग के द्वारा इस वर्ग का प्रबल खण्डन भी किया जाता है। यह दूसरा पक्ष यह कहता है कि संस्कृत जैसी प्राचीन भाषा जिसका कि एक इतना दीर्घकालीन इतिहास है उसके साथ इस प्रकार का खेलवाड़ नहीं करना चाहिए। संस्कृतभाषा जिस रूप में आज विद्यमान है, उसे उसी रूप में संरक्षित रखना चाहिए। केवल प्रारम्भ करने वालों को दृष्टि में रखते

हुए इस भाषा के शरीर से उसके कतिपय आवश्यक एवं जीवित अंगों को काट देना लाभप्रद होने के स्थान पर अधिक हानिप्रद ही सिद्ध होगा। प्रारम्भिक अवस्था में जटिल शब्दरूपों तथा धातुरूपों को हटाकर, विशेषतः धातुरूपों को, संस्कृतभाषा का सरलस्वरूप ही सिखाया जाय। हम जानते ही हैं कि प्राचीनकाल में जब कि संस्कृत का इतना व्यापक प्रसार था उस समय भी इस बात की मानसिक स्वीकृति दी जाती थी कि परोक्षभूत तथा वाच्यों का जहाँ तक बन पड़े सीमित प्रयोग किया जाय। विगत शताब्दियों से सरल संस्कृत व्याकरणों की रचना का प्रयास होता चला आ रहा है। वास्तविक व्यवहार में भी यह देखा जाता है कि साहित्य-रचना के कतिपय प्रकारों में सरल संस्कृत का ही प्रयोग किया गया है। अतः इस आयोग का अनुरोध है कि एक रूप में सामान्यतः सरलीकृत संस्कृत अथवा बेसिक संस्कृत, जिसमें कि अतीत काल से चले आ रहे व्याकरण में हेर-फेर करने की चेष्टा की गयी है, उसके व्यवहार की अपेक्षा छात्र के वय तथा उसके समझाने की शक्ति को दृष्टि में रखते हुए क्रमबद्ध संस्कृत का क्रम चलाया जाय तो वह कहीं अधिक श्रेयस्कर सिद्ध हो सकेगा। आयोग का यह विश्वास है कि संस्कृत सीखने का परम लक्ष्य यही है कि इस भाषा को सीखकर हम संस्कृत काव्य, नाटक तथा भारतीय दर्शन का आनन्द ले सकें। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बेसिक संस्कृत का सीखना व्यर्थ ही होगा। साथ ही साथ इस आयोग की यह भी सम्मति है कि संस्कृत की मूल प्रकृति में हेर-फेर किये बिना ही संस्कृत को सरल बनाने की चेष्टा की जा सकती है। हाँ, प्रारम्भिक स्तर पर अथवा कुछ प्रकार के छात्रों के लिए संस्कृत व्याकरण के कुछ रूपों का सीमित प्रयोग प्रोत्साहित किया जा सकता है।

(ब) प्राचीन साहित्यिक भाषा या लोकप्रिय भाषा

(६८) वर्तमान काल में संस्कृत के अध्यापन तथा अपने लक्ष्य की पूर्ति में उसकी क्रियाओं के सन्दर्भ में दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित हैं। ये दोनों ही विचारधाराएँ एक दूसरे से थोड़ी सी ही भिन्न दिखायी देती हैं, पर वास्तव में उन्हें एक दूसरे का विरोधी नहीं कहा जा सकता। प्रथम विचारपद्धति के विद्वानों का यह कथन है कि जैसे कि यूरोप में ग्रीक तथा लैटिन की शिक्षा दी जाती है, ठीक उसी प्रकार भारत में संस्कृत को भी एक प्राचीन साहित्यिक भाषा के रूप में पढ़ाया जाना चाहिए। यह उचित है कि संस्कृत को एक पवित्र भाषा के रूप में सम्मानित किया जाय, किन्तु केवल विशिष्ट अवसरों पर या देश की एक पैतृक सम्पत्ति के रूप में अध्ययन के कार्य में उसका प्रयोग किया जाना चाहिए। अनेक संस्कृत स्नेहियों ने इस विचारपद्धति का समर्थन भी किया है। ऐसे लोगों की धारणा है कि हमारे राष्ट्रिय जीवन में यह अपेक्षित है कि संस्कृत को एक सम्मानित सिंहासन पर स्थापित करके उसकी पूजा की जाय। एक दूसरी भी विचारधारा है, जिसका समर्थन प्राचीन पद्धति के पण्डित तथा आधुनिक विद्यालयों के प्रशिक्षित संस्कृत-प्राध्यापक एवं अन्य सुशिक्षित संस्कृत प्रेमी जन किया करते हैं। इस विचारधारा के सज्जनों का कथन है कि संस्कृत को आज भी एक प्रभावशाली तथा सफल

भाषा बनाने की आवश्यकता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह अपेक्षित है कि उसे जनसाधारण के प्रयोग में उतारा जाय। यह उचित नहीं जान पड़ता कि केवल एक प्राचीन बहुमूल्य अवशेष के रूप में उसे जनसाधारण से पृथक् रखा जाय। इस दूसरे मत के समर्थकों का यह विचार है कि अधिकांश आधुनिक भारतीय भाषाओं में नित्य ही हम संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करते हैं। अतः हमारे दैनिक व्यवहार में, भले ही वह अप्रत्यक्ष रूप में ही क्यों न हो, संस्कृत हमारे बहुत समीप है। केवल थोड़े से प्रचार तथा विद्वानों के प्रयास मात्र से उसे हम अपने जीवन की एक जीवित शक्ति का रूप दे सकते हैं।

(६९) इस सन्दर्भ में हमारा सुझाव है कि जब तक हम संस्कृत को अपने जीवन का एक अङ्ग नहीं बना लेते, तब तक यह सम्भव नहीं है कि उसे एक सजीव तत्त्व बनाया जा सके। वास्तव में जैसा कि डाक्टर सी० वी० रमन ने कहा है कि जब तक कोई भाषा जनसाधारण के मुख से नहीं निकलती तब तक उसे हम जीवित नहीं कह सकते। साधारणतः यह बात मान ली गयी है कि आज के जीवन को प्रकाशित करने के लिए संस्कृत एक सफल तथा प्रभावशाली भाषा के रूप में वास्तविक भूमिका निभा सकती है। आज के दिन प्रचलित साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा भारतीय जीवन के अन्य स्वरूपों के व्यवहार में संस्कृत का भली-भाँति व्यवहार किया जा सकता है। यही नहीं, किन्तु विशेषतः जनसाधारण से सम्बद्ध अन्ताराष्ट्रिय राजनीति तथा विज्ञान के कतिपय पहलुओं के विवेचन में भी संस्कृत का सफल प्रयोग सम्भव है। जैसा कि हम अन्यत्र भी बता चुके हैं संस्कृतवाङ्मय के प्रत्येक स्वरूप पर एक प्रभावशाली साहित्य निरन्तर प्रकाश में आता रहा है। संस्कृत के जीवन तथा उसकी जीवनी शक्ति का स्वतः ही एक प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसे न तो रोका जा सकता है, न तो हमें इसे रोकना ही चाहिए।

(१३) संस्कृत की पत्र-पत्रिकाएँ

(७०) भारत के लिए यह एक विलक्षण सी बात है कि उसकी प्राचीन भाषा आज भी उसकी किसी भी जीवित भाषा के समान कार्य कर रही है। देश के विभिन्न भागों के लोग अपने परस्पर वार्तालाप में संस्कृत का प्रयोग अधिकतर उसी प्रकार किया करते हैं, जिस प्रकार एक प्रदेश के लोग अपनी भाषा बोलते चालते हैं। यही नहीं, किन्तु समस्त देश में गम्भीर दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विषयों तथा ललित काव्यों की गद्य एवं पद्य दोनों शैलियों की अधिकाधिक साहित्यिक क्रियाओं में संस्कृत का प्रयोग प्रचलित है। यह सब कुछ तो है ही, किन्तु संस्कृत को एक जीवित भाषा के रूप में स्थित रखने के कार्यक्षेत्र में देश के विभिन्न भागों से प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं को भी हम कम महत्त्व नहीं देते।

(७१) वर्तमान काल में पश्चिम के सम्पर्क से संस्कृत जगत् में एक नवीन प्रक्रिया ने जन्म धारण किया है। वह है संस्कृत पत्रिका। संस्कृत को आधुनिक

विचारों की अभिव्यक्ति का एक सजीव साधन बनाने में, प्रचलित समस्याओं के विवेचन में तथा भाषा को सजीव बनाने में इन पत्रिकाओं ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इन पत्रिकाओं में इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र, तथा आधुनिक विज्ञान इन सभी पर विचार-विमर्श किया गया है। आधुनिक विज्ञान को अधिक से अधिक मात्रा में संस्कृत के माध्यम से प्रकाशित करने की दिशा में संस्कृत भाषा और भी अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। संस्कृत में इस समय सुगम, सरल तथा भावपूर्ण गद्यशैली का विकास हो चुका है। वर्तमानकाल में संस्कृत का सम्भवतः यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विकास कहा जायगा, जिसके लिए यह भाषा इन पत्रिकाओं की ऋणी है। संस्कृत की पत्र-पत्रिकाओं ने संस्कृत के विद्वानों को विभिन्न भारतीय भाषाओं में होने वाली साहित्यिक क्रियाओं के सम्पर्क में रखने का भी कार्य किया है। यही नहीं, विदेशी भाषाओं की सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक रचनाओं के रूपान्तरों एवं अनुवादों की व्यवस्था का भी श्रेय इन पत्र-पत्रिकाओं को ही है। अपने इस कार्य से इन्होंने हमारे संस्कृत के विद्वानों को विदेशी भाषाओं के सन्निकट पहुँचाया है।

(७२) ये पत्र-पत्रिकाएँ संस्कृत के प्रति उत्साही व्यक्तियों के द्वारा चलायी जाती हैं तथा इनमें से अधिकांश घाटे पर ही चलती हैं। देश की विभिन्न संस्कृत संस्थाएँ, विद्यालय तथा परिषद् इन पत्र-पत्रिकाओं को सहारा देती हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति स्वयं भी डावाँडोल हुआ करती है। आर्थिक शोचनीयता के कारण इन पत्र-पत्रिकाओं का मुद्रण तथा उनका आकार-प्रकार जैसा होना चाहिए वैसा आकर्षक नहीं होता। संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं को जनप्रिय बनाने का विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऐसे विषय पर विशेष ध्यान देते हुए हमें कुछ ऐसी व्यवस्था करनी है, जिससे कि उनका मुद्रण तथा आकार-प्रकार लोगों का ध्यान तत्काल अपनी ओर आकृष्ट कर लेने के लिए हो और उनका आनन्द लेने के लिए वे इच्छुक हो जाँय। यदि हम चाहते हैं कि संस्कृत के प्रति थोड़ी भी अभिरुचि रखनेवाले इन पत्र-पत्रिकाओं को नियमित रूप से पढ़ें तो हमें इस सन्दर्भ के उपर्युक्त पहलू पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि सभी प्रादेशिक तथा केन्द्रीय शासन अपने अधिकारक्षेत्र की समस्त संस्थाओं को तथा जिन-जिन विश्वविद्यालयों में मानवीय विषयों का पठन-पाठन चल रहा है, उन्हें प्रेरित करें कि वे इन पत्र-पत्रिकाओं के ग्राहक बनकर उनके प्रकाशकों की सहायता करें। यह भी वाञ्छनीय है कि साहित्य संस्थान (अकादमी) अथवा केन्द्रिय संस्कृत-अध्ययन परिषद् कुछ सम्मानित तथा प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं को चुनकर उनकी सहायता करें। यदि इन पत्र-पत्रिकाओं को इस प्रकार की सहायता न दी गयी तो स्वभावतः विपरीत परिस्थिति से जकड़ी हुई ये पत्र-पत्रिकाएँ क्रमशः समाप्त हो जायेंगी। यदि सभी छात्रों के लिए अथवा कम से कम अधिक प्रतिशत छात्रों के लिए संस्कृत को अनिवार्य बनाकर हमें उसका आधार चौड़ा बनाना है तो ये संस्कृत पत्र-पत्रिकाएँ अपनी सामान्य पठन सामग्री द्वारा हमारे छात्रों की सहायता कर सकती हैं, क्योंकि इनकी संस्कृत सरल होती है तथा जिन विषयों का समावेश इनमें किया जाता है, वे आकर्षक भी होते हैं।

(१४) संस्कृत का लोकप्रचार

(७३) तृतीय अध्याय के "वर्तमान स्थिति" शीर्षक के अन्तर्गत हम यह बता चुके हैं कि पारम्परिक संस्कृत पाठशालाओं तथा आधुनिक विद्यालयों में संस्कृत के छात्र कम हैं तथा इनकी संख्या घटती जा रही है, किन्तु यदि हम इन संस्थाओं से बाहर की ओर दृष्टि डालें तो प्रत्यक्ष होगा कि वहाँ की स्थिति कुछ और ही है। इस समय हमारे समाज में एक प्रकार की सांस्कृतिक जागृति स्पष्टतः दिखायी पड़ रही है। लोग संस्कृतशिक्षा तथा संस्कृत के ज्ञान की आवश्यकता के सन्दर्भ में उत्सुकतापूर्वक सचेष्ट हैं। व्यक्तिगत रूप में या समूह में भी शिक्षित प्रौढ़ तथा अवकाश प्राप्त जनवर्ग रामायण तथा वेदान्त के अध्ययन द्वारा शान्ति का अनुभव कर रहा है। चुने हुए समूहों के लिए व्यक्तिगत कक्षाओं तथा सार्वजनिक व्याख्यान-गोष्ठियों का आयोजन किया जाता है। इस व्यवस्था से संस्कृत के विद्वानों को कुछ आय भी हो जाया करती है। मद्रास में संस्कृत-परिषदों तथा उत्साही सज्जनों के द्वारा बालकों, छात्रों तथा प्रौढ़ों के लिए विद्यालय या नौकरी के अतिरिक्त समय में व्यक्तिगत रूप से संस्कृत पढ़ाने के लिए व्यक्तिगत कक्षाओं अथवा पाठशालाओं के आयोजन किये गये हैं। कुछ ऐसे भी संघटन हैं जो कि क्रमबद्ध योजना के अनुसार व्यक्तिगतरूप से संस्कृत की परीक्षाएँ भी लिया करते हैं। कुछ ऐसे संस्कृत-प्राभूत तथा ग्रन्थ-प्रकाशक भी हैं जो कि जनप्रिय संस्कृत की पुस्तिकाओं, संकलनों तथा ग्रन्थों का स्थानीय भाषाओं में उनके अनुवाद के साथ प्रकाशन भी किया करते हैं। सभी प्रमुख नगरों तथा मुख्य-मुख्य नगरों में संस्कृत-संस्थान स्थापित किये गये हैं। ये संस्थान महत्त्वपूर्ण संस्कृत-साहित्यकारों की जयन्तियाँ मनाने की, सार्वजनिक भाषणों की तथा प्रकाशनों की व्यवस्था करते हैं।

(७४) विभिन्न केन्द्रों के निरीक्षण के समय इस आयोग को समाज द्वारा जो सम्मान प्राप्त हुआ उससे प्रत्यक्ष है कि हमारे देश में संस्कृत तथा उसके प्रचार-प्रसार के सन्दर्भ में कितना अधिक उत्साह तथा अनुराग एवं उत्सुकता व्याप्त है। यही नहीं, बल्कि संस्कृत के प्रति इस उत्साह तथा उल्लास का व्यावहारिकस्वरूप भी आज हम स्पष्ट देख रहे हैं। देश के विभिन्न भागों में कई एक सम्मेलन तथा व्यक्ति संस्कृत का ज्ञान प्रसारित करने की दिशा में तथा अधिक से अधिक लोगों को अधिक सरल तथा शीघ्र फलदायक पद्धति से संस्कृत सिखाने की विधियों की खोज में भी तत्पर हैं। फलतः संस्कृत सिखाने की सरल विधियों पर तथा नये छात्रों को विभिन्न श्रेणियों में संस्कृत पढ़ाने के स्तर-निर्धारण पर आज हमारे देश में नये प्रयोग किये जा रहे हैं। हमारे समक्ष इस प्रकार के कुछ प्रयोगों का प्रदर्शन भी किया गया है। ऐसे कुछ प्रयोग पुस्तिकाओं के रूप में भी प्रकाशित किये जा चुके हैं।

जहाँ तक ये प्रयोग नवीन छात्रों को संस्कृत भाषा के सीखने में सहायक हो सकते हैं उस सीमा तक तो इनका स्वागत है, किन्तु इनके सन्दर्भ में एक बात और भी कही जा सकती है। ये सभी प्रयोग तथा ये समस्त पद्धतियाँ एक निश्चित योजना में बँधी हैं। इनकी कालावधि निश्चित है। चाहे वे बेसिक ढंग की हों या व्याकरण

प्रणाली की हों, तीन या छः मास में ही अध्ययन समाप्त करने के उद्देश्य से ही इन पद्धतियों तथा प्रयोगों को तैयार किया गया है। ऐसी स्थिति में इनका प्रयोग पाठशालाओं या अँगरेजी विद्यालयों में नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन संस्थाओं में प्रचलित पाठ्यक्रम तथा पठन-पाठन के लिए अपने एक पृथक् काल का निर्धारण किया जाता है। किन्तु इन प्रणालियों ने संस्कृत सीखने की प्रक्रिया को सरल बनाने के सन्दर्भ में जिन विचारों तथा सिद्धान्तों को अंगीकार किया है, उन्हें हमारे हाई स्कूलों के अध्यापक आत्मसात् तो कर ही सकते हैं। इस सन्दर्भ में हम इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे कि फ्रेंच, जर्मन तथा अन्य भाषाओं को सीखने के लिए शिक्षण-विधियों पर विदेशों ने जिस मात्रा में पुस्तक प्रकाशन का अथक प्रयास किया है उस पर दृष्टि डालने से यह प्रत्यक्ष होगा कि हमारे संस्कृत के विद्वानों ने संस्कृत सीखने की विधियों पर आज तक जो रचनाएँ की हैं, उन्हें और अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है। विशेषतः ऐसी पुस्तकों की रचना जिनका उपयोग स्वतः संस्कृत-शिक्षक के रूप में किया जा सके। आयोग का यह मत है कि हमें संस्कृत को जनप्रिय बनाने के इन चार मार्गों का और अधिक विकास करना है, जैसे व्यक्तिगत विद्यालय तथा कक्षाएँ, व्यक्तिगत परीक्षाएँ, सरलीकृत शिक्षण, सरल पुस्तिकाएँ तथा स्वतः संस्कृत सीखने का कार्य।

(i) दक्षिण भारत में दो केन्द्र हैं। पहला मद्रास के समीप चित्तूर तथा दूसरा तामिलनाडु के भीतरी भाग में। इन केन्द्रों में व्यक्तिगत संस्कृत की परीक्षाओं की परिपाटी प्रचलित है। चित्तूर में संस्कृतभाषा प्रचारिणी परीक्षा तथा अमरभारती परीक्षाएँ सञ्चालित की जाती हैं। इनमें से संस्कृतभाषा प्रचारिणी परीक्षाओं की शाखाएँ दक्षिण के अनेक नगरों में स्थापित हैं। भारतीय विद्याभवन, बम्बई, पं० सातवलेकर का स्वाध्यायमण्डल, पारदी, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पुणें द्वारा भी इस प्रकार की परीक्षाओं की व्यवस्था की गई है, जिनमें हजारों की संख्या में छात्र सम्मिलित होते हैं।

(ii) इन परीक्षाओं के अधिकारियों ने क्रमबद्ध पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन भी किया है। इन पाठ्यपुस्तकों में मातृभाषा तथा उसके साहित्य का भी उपयोग किया गया है। कुछ पाठशालाओं ने अपनी क्रमबद्ध पाठ्यपुस्तकों का पृथक् प्रकाशन भी किया है। साहित्यदीपिका कालेज, पावरट्टी, केरल के क्रिश्चियन प्रधानाचार्य ने मलयालम् माध्यम की एक पाठ्यपुस्तकमाला प्रकाशित की है। आर्यसमाज के अन्तर्गत सभी गुरुकुलों ने भी अपनी-अपनी पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन किया है। पुणें के बी० बी० कामथ ने 'सुबोध-संस्कृतम्' नामक पुस्तकमाला की रचना की है। इन पाठ्यपुस्तकों में सरल संस्कृत में लिखे गये छोटे-छोटे पाठों के द्वारा बालकों को भाषा का साक्षात् ज्ञान कराने की प्रणाली व्यवहृत है। परिचित वस्तुओं के आधार पर बालक की सुगमतापूर्वक पाठ्यसामग्री के प्रति अभिरुचि सुदृढ़ करने के उद्देश्य से इन पाठशालाओं में सुविख्यात रामकथा का क्रमिक वर्णन किया गया है। इन पुस्तकों के अन्तिम अंश में उस पुस्तक में प्रयुक्त शब्दावली पर आधारित व्याकरण के पाठों की भी व्यवस्था की गयी है तथा सुभाषितों के संग्रह एवं दृष्टान्त-चित्र भी

दिये गये हैं। ऐसी पाठ्यपुस्तकों के अंगरेजी तथा संस्कृत भाषाओं के अनेक संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। आन्ध्र के सुविख्यात मूर्धन्य विद्वान् कृष्णमाचारी ने संस्कृत-तेलगू तथा हिन्दी की सम्मिलित त्रिभाषा पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन भी किया है। पं० कृष्णमाचारी 'भाषा' नाम की एक पत्रिका भी निकालते हैं, जिसमें संस्कृत के प्रश्नोत्तर का एक पृथक् स्तम्भ हुआ करता है। उपर्युक्त के अतिरिक्त और भी संस्कृत पाठ्यग्रन्थमालाएँ प्रचलित हैं, जिनमें दृष्टान्त-चित्र, मातृभाषा-माध्यम तथा अन्य शिक्षण युक्तियों का प्रयोग किया गया है।

(iii) भाषा की ही विभिन्न श्रेणियों की रचना द्वारा विभिन्न कक्षाओं के लिए उपयुक्त सरल तथा बेसिक संस्कृत के पाठों में उसे व्यवस्थित करने की तीसरी चेष्टा का विवेचन हम इस अध्याय के एक पृथक् अनुच्छेद में कर चुके हैं। इनमें से दो चेष्टाओं की चर्चा हमें यहाँ करनी है। श्री श्यामकुमार सिन्हा ने अपनी पुस्तक 'कीदृशं संस्कृतम्' में बेसिक संस्कृत का पक्ष प्रस्तुत किया है। उनकी धारणा है कि भविष्य में संस्कृत का इस प्रकार का ही रूप हो सकता है। उनकी बेसिक संस्कृत चार सिद्धान्तों पर आधारित है, वाक्यों में सन्धियों का त्याग, कालों तथा वाच्यों को घटाकर कम से कम चार किया जाना, केवल एक वर्तमान काल एक भूतकाल तथा एक भविष्यत् काल का सिखाया जाना, विधिलिङ् का त्याग, द्विवचन का त्याग, शब्दों के अन्त के समस्त विसर्गों का परित्याग—लेखक के ये विलक्षण एवं असाधारण सुझाव हैं। श्री वाई० एम्० ननाल ने बेसिक इंग्लिश की शिक्षा का प्रसार तो किया ही है, किन्तु साथ ही साथ उन्होंने सरल संस्कृत की पाठ्यपुस्तकों की भी रचना की है तथा एक 'बेसिक संस्कृत व्याकरण' भी लिखा है। ध्यान देने की बात है कि इस व्याकरण में सन्धि, द्विवचन तथा लकार किसी का भी परित्याग नहीं करते। एक सीमित शब्दावली के शिक्षण की यहाँ एक सरल शैली मात्र का विवेचन है तथा इस पुस्तक में व्याकरणसम्बन्धी अभ्यासों का क्रमबद्ध पाठ्यक्रम भी प्रस्तुत किया गया है।

(iv) संस्कृत सीखने को सरल बनाने की चतुर्थ चेष्टा संस्कृत-अध्यापन को सरल बनाने से सम्बद्ध है तथा कुछ ही महीनों के सीमित समय में एक छोटे से पाठ्यक्रम बनाने की नवीन युक्तियों पर ये अपना ध्यान केन्द्रित रखती हैं। इनमें से कुछ का हमने निरीक्षण किया, जिसका विवरण निम्नांकित है: पटना में श्री कपिलदेव शर्मा ने एक योजना चलायी है। उनके कथनानुसार उनकी पद्धति द्वारा प्रशिक्षित बालक केवल पच्चीस दिनों में संस्कृत सीख सकते हैं। उन्होंने तीनों लिङ्गों के कुछ शब्दवर्गों, सर्वनामों तथा भू, अस्, कृ, आधारभूत धातुओं तथा अन्य आवश्यक धातुरूपों, शब्दरूपों, कर्मवाच्यों, कालों, प्रत्ययों, कुछ उपसर्गों तथा विशेषणों को अपने पाठ्यक्रम में चुना है। अपनी पद्धति के अनुसार सरल व्याकरण के शिक्षण पर उन्होंने 'आशुबोधव्याकरण' नामक ग्रन्थ की रचना भी की है। अपनी प्रणाली द्वारा प्रशिक्षित एक छोटे बालक को भी उन्होंने हमारे समक्ष प्रस्तुत किया।

अनन्तशास्त्री फड़के पत्राचार द्वारा संस्कृत का शिक्षण करते हैं। उनकी यह प्रक्रिया विशेषतः विदेशियों के लिए ही प्रचलित है तथा प्रायः दो सौ विदेशी इनकी

योजना में सम्मिलित हैं। वे 'कृ' धातु तथा उसके कृदन्तों का अधिक से अधिक प्रयोग करते हैं, जिससे क्रियासूचक किसी भी धातु के प्रारम्भिक प्रयोग की कठिनाई दूर की जा सकती है, जैसे भोजनं कृत्वा—भुक्त्वा के लिए। कुप्पू स्वामी शोध-संस्थान, मद्रास एक ऐसी प्रणाली पर प्रयोग कर रहा है जिससे कि अनेक बालकों तथा प्रौढ़ों के मन से संस्कृत का भय दूर हो जाय। श्री आर० शङ्कर सुब्रह्मण्य अय्यर इस पद्धति द्वारा दिये जाने वाले प्रशिक्षण की कक्षाओं में संस्कृत सीखने की नवीन प्रणाली का सञ्चालन करते हैं। उन्होंने 'पाणिनि का पूर्वपाचन' (पाणिनि प्रो डाइजेस्टेड) नामक पद्धति की रचना की है। केवल छः महीनों में ही छात्रों की संस्कृत व्याकरण की नींव को पुष्ट कर देना ही इस प्रणाली का परम लक्ष्य है। इस पद्धति में पाणिनि के मौलिक सूत्रों का प्रयोग किया जाता है तथा प्रशिक्षण का प्रारम्भ अदादिगण की सरल धातुओं से होता है। कुछ पाठों के उपरान्त निश्चित प्रयोगों के आधार पर पाणिनि के सूत्रों का पूर्वज्ञान करने के लिए या सूत्रों की रचना करने के लिए छात्र प्रवृत्त किये जाते हैं। इस आयोग ने इस प्रयोग की एक कक्षा का अवलोकन किया। ऐसा जान पड़ता है कि इस पद्धति के द्वारा पाणिनि के सूत्रों का अध्यापन रुचिकर बनाया गया है। इस विधि में यद्यपि अधिक शब्दावली अथवा साहित्यिक सामग्री का सफल प्रयोग नहीं है, तथापि व्याकरण पर छात्र कुछ अधिकार अवश्य प्राप्त कर लेते हैं। श्रीब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पाणिनि महाविद्यालय, वाराणसी तथा दिल्ली ने 'संस्कृत पाठन की अनुभूत सरलतम विधि' नाम की हिन्दी पुस्तक की रचना की है। यह भी संस्कृत व्याकरण पढ़ाने की एक विधि है। प्रायः पैंतालिस पाठों में इसका समस्त पाठ्यक्रम व्यवस्थित किया गया है तथा छः महीनों का पूरक पाठ्यक्रम भी रखा गया है। आयोग ने इस विद्यालय के कुछ छात्रों का परीक्षण भी किया। वाराणसी के पण्डित गोपाल शास्त्री दर्शनकेशरी ने भी इसी दिशा में अपने 'ऋजु पाणिनीयम्' नाम के ग्रन्थ की रचना की है। प्राचीन संक्षेपीकरण की शैली में इन्होंने पाणिनि के सूत्रों को आवश्यकतानुसार कम करने का प्रयास किया है।

(७५) इसके पश्चात् संस्कृत के लिए प्रचलित स्वैच्छिक संस्थाओं तथा संस्थानों का क्रम आता है। यद्यपि बड़े-बड़े नगर तथा प्रमुख शहर अपने-अपने संस्कृतसंघ चला रहे हैं, तथापि अब भी कई एक ऐसे स्थान पाये जाते हैं, जहाँ कि संस्कृत के प्रति स्थायी अभिरुचि बनाये रखने के लिए कोई भी गैर-सरकारी संगठन नहीं है। संस्कृत विश्वपरिषद्, जिसने कि विगत वर्षों में संस्कृत के पक्ष में लोकसंग्रह के सन्दर्भ में बहुत अधिक कार्य किया है, हाल ही में उसकी शाखा के रूप में कई एक स्थानों पर इस प्रकार के संघों की स्थापना की जा चुकी है, जो कि संस्कृत के प्रचार-प्रसार के नियमित मार्ग पर अग्रसर हैं। यद्यपि इन संघों के कार्यक्षेत्र की सीमा नहीं बाँधी जा सकती, तथापि यह तो कहना ही पड़ेगा कि इन संघों के जितने भी कर्मचारी प्राप्य होंगे तथा अपनी व्यवस्था के लिए जो धन इन्हें उपलब्ध होगा, उसके ऊपर ही इनका कार्यक्षेत्र भी निर्भर होगा। इस अनुच्छेद में जिन कार्यों पर

हमने बल दिया है, उन सभी पर या कुछ पर कार्य कर सकते हैं, जैसे—परीक्षा, शिक्षण, प्रकाशन, उत्सव, पर्व आदि का मनाया जाना।

(७६) ऐसे संघों को चाहिये कि वे वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, शंकर, भगवद्गीता आदि की जयन्तियाँ मनाया करें। ऐसे अवसरों पर इन महापुरुषों तथा पवित्र ग्रन्थों के संकलनों को पढ़ा या गाया जा सकता है तथा नाटकों के अभिनय की भी व्यवस्था की जा सकती है। इन कवियों तथा उनके ग्रन्थों पर भाषण भी आयोजित किए जा सकते हैं। कम से कम वाल्मीकि, व्यास, कालिदास तथा गीता की जयन्तियाँ तो समस्त भारत में अवश्य ही मनायी जानी चाहिएँ।

(७७) अखिल-भारतीय प्राच्य-सम्मेलन (All India Oriental Conference) के समान संस्थाएँ तो शोधकार्य को ही प्रोत्साहित करती हैं तथा अपने कार्यक्रम में संस्कृत के अतिरिक्त कई एक अन्य विषयों को सम्मिलित करती हैं। अतः यह आवश्यक है कि संस्कृत के अध्ययन तथा उसके साहित्यिक मूल्यांकन के लिए भी ऐसे विशेष सम्मेलनों की योजना बनायी जाय, जिनमें एक मात्र संस्कृत पर ही विचार-विमर्श किया जा सके। बंगाल में इस प्रकार के अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलन की व्यवस्था की जाती है। राजस्थान में भी एक संस्कृत सम्मेलन कार्य करता है। संस्कृत विश्वपरिषद् द्वारा भी शिक्षा के किसी सुविख्यात केन्द्र में प्रतिवर्ष संस्कृत सम्मेलन का आयोजन किया जाता है। ऐसे आयोजनों के द्वारा निःसन्देह संस्कृतसम्बन्धी प्रश्नों पर ध्यान केन्द्रित करने में अपेक्षित सहायता अवश्य प्राप्त होती है। ये संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन संस्कृत के सामान्य-विकास-अभियान के प्रमुख अङ्ग हैं। इसलिए प्रत्येक प्रदेश में इन सम्मेलनों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। यह उचित होगा कि इन सम्मेलनों का आयोजन और अधिक अच्छे ढंग से किया जाय तथा इनका सञ्चालन और अधिक व्यवस्थितरूप में किया जाय। यह भी आवश्यक है कि इनके कार्यक्रम निबन्ध, विचार-गोष्ठियाँ तथा संस्कृत के मौलिक निबन्धपाठ आदि के रूप में सम्पन्न किये जायँ।

(७८) सौभाग्यवश गायन, नृत्य तथा नाटक के क्षेत्र में संस्कृत का एक समृद्ध अंशदान आज भी हमारे सामने विद्यमान है। 'गीतगोविन्द' का मधुर गायन आज भी हमें आनन्दविभोर कर रहा है। इसके मधुर श्लोकों के स्निग्ध भावों का प्रदर्शन भावभंगियों, चेष्टाओं, अंगविक्षेप तथा हावभाव द्वारा आज भी मंत्रमुग्ध करने में सफल हो रहा है। हमारी राष्ट्रिय नृत्यकला का मूल स्रोत भरत का 'नाट्यशास्त्र' तथा उसका अनुगामी साहित्य है। भारतीय नाटक के विकास की चरम सीमा कालिदास तथा शूद्रक के नाटकों में दृष्टिगत होती है, तथापि आज आवश्यक साधन-सम्पन्न इस प्रकार का एक भी ऐसा स्थायी संघटन नहीं है जो कि जनसाधारण के मनोरञ्जन तथा आनन्द के लिए नियमित रूप से इन नाटकों के अभिनय की व्यवस्था कर सके। निःसन्देह बम्बई, मद्रास, कलकत्ता तथा यत्र-तत्र कलाप्रेमी ऐसे व्यक्तिगत संघटन विद्यमान हैं, जो कि संस्कृत नाटकों के अभिनय का आयोजन किया

करते हैं। उत्सवों, पर्वों, वार्षिकोत्सवों तथा सम्मेलनों के विशेष अवसर पर छात्र तथा अध्यापकों के द्वारा भी संस्कृत नाटकों का मञ्चन किया जाता है। किन्तु ये सभी चेष्टाएँ क्षीण तथा अत्यल्प ही कही जायेंगी। हमें संस्कृत नाट्यशाला का पुनः निर्माण करना है तथा उसे अपने राष्ट्र के सांस्कृतिक मनोरञ्जन का प्रमुख अंग बनाना है। अतीतकाल में पूर्वी देशों में जापान तक का भूभाग तथा समस्त इण्डोनेसिया संस्कृत के रङ्गमञ्च से प्रभावित था। काव्य, गायन तथा भावभंगिमा समन्वित भारतीय नाट्य-पद्धति का भावमय एवं कल्पनापूर्ण स्वरूप जो कि आज भी दक्षिणपूर्व एसिया में दृष्टिगत होता है, वर्तमान समय के पाश्चात्यनाट्य मार्ग के नितान्त वास्तविक प्रदर्शनों की तुलना में सर्वथा भिन्न था। इस भारतीय रंगमंचन पद्धति पर शोधकार्य किया जाना चाहिए। यह आशा की जाती है कि केन्द्रीय संगीत नाटक संस्थान (अकादमी), जो कि राष्ट्रिय नाट्यविद्यालय की स्थापना के सम्बन्ध में भी विचार कर रहा है, इस सन्दर्भ पर भी ध्यान देगा तथा सक्रिय संस्कृत का रंगमंच स्थापित किये जाने के सन्दर्भ में अपेक्षित सहायता प्रदान करेगा। जैसे कि इंगलैण्ड में शेक्सपियर मेला मनाये जाने की प्रथा है, उसी तरह भारतवर्ष में भी कालिदास मेला मनाने की योजना बनायी जानी चाहिए। इस अवसर पर महाकवि के समस्त नाटकों का मञ्चन एवं उनके काव्यों के गायन तथा अन्य प्रकार से उनके पाठ की व्यवस्था की जानी चाहिए। आयोग से वर्तमान वित्तमंत्री ने यह कहा कि शासन कालिदास मेला के लिए तो सहायता देगा ही, किन्तु संस्कृत के प्रति जनसाधारण की अभिरुचि बनाये रखने के लिए एवं संस्कृत में विकास के लिए वेदपाठ, स्तोत्रपाठ आदि संस्कृतसाहित्य के अन्य कर्णमधुर तथा सौन्दर्यप्रभावोत्पादक तत्त्वों के प्रचार के लिए भी शासन सहायक हो सकेगा।

(७९) संस्कृत के ध्वनिलालित्य तथा उसकी सौन्दर्यप्रभावात्मक विशेषता एवं इस भाषा के समृद्ध नाट्यसाहित्य के विशालक्षेत्र पर विचार करने के साथ ही साथ हम इस विषय की भी चर्चा करना चाहेंगे कि संस्कृत को जनप्रिय बनाने के सन्दर्भ में आकाशवाणी किस प्रकार सहायक सिद्ध हो सकती है। वर्तमान सूचना तथा प्रसारण मंत्री डाक्टर बी० वी० केसकर तथा इस मंत्रालय के भूतपूर्व सचिव स्वर्गीय पी० एम्० लैड के प्रति हमें आभारी होना चाहिए जिनकी अनुकूलता के कारण इधर कुछ समय से आकाशवाणी संस्कृत की कुछ अच्छी सेवा कर रही है। इस सन्दर्भ में आयोग की श्रीकेसकर से भेंट अत्यन्त सफल रही। अंगरेजी तथा क्षेत्रीय भाषाओं में संस्कृत के विषयों पर रेडियो-वार्ताओं का प्राविधान किया जा चुका है तथा आकाशवाणी के कतिपय केन्द्रों से इन विषयों पर संस्कृतवार्ताओं के प्रसारण की भी व्यवस्था है। कालिदास दिवस का पन्द्रह मिनटों का साप्ताहिक संस्कृत कार्यक्रम तथा त्रैमासिक पत्रिका का कार्यक्रम भी आकाशवाणी की समय-सारिणी में अब सम्मिलित किये जाते हैं। इस प्रतिवेदन को लिखते समय हमें यह सूचना प्राप्त हुई है कि संस्कृत सीखनेवाले बालकों के लाभ के लिए आकाशवाणी ने संस्कृत पाठों का प्रसारण प्रारम्भ किया है। अपने देशान्तरों के प्रसारण में भी

आकाशवाणी द्वारा संस्कृतसाहित्य पर अनेक वार्ताएँ प्रसारित की जा चुकी हैं। इस प्रसंग में हम संस्कृत-प्रसारणसम्बन्धी कुछ अन्य सुझाव भी देना चाहेंगे। इन सुझावों को आकाशवाणी अपने संस्कृत-प्रसारण के कार्यक्रम में सम्मिलित कर सकती है। आकाशवाणी द्वारा समय-समय पर साहित्यिक समारोहों के आयोजन किये जाते हैं। इन आयोजनों में संस्कृत का कोई भी स्थान नहीं हुआ करता। अन्य सभी भाषाओं के कार्यक्रम चलते हैं। इस त्रुटि को सुधारा जाना चाहिए। विशेषतः इस समय जब कि प्रचलित संस्कृतसाहित्य की अनेक मौलिक रचनाएँ प्रकाश में आ रही हैं। इसी प्रकार आकाशवाणी द्वारा भारतीय भाषाओं में रेडियो, नाटकों की प्रतियोगिता की भी सामयिक व्यवस्था की जाती है। इस कार्यक्रम में भी संस्कृत को सम्मिलित किया जाना चाहिए, क्योंकि आकाशवाणी का अब संस्कृतस्वरूप बन चुका है। आकाशवाणी के इस संस्कृतस्वरूप को सुदृढ़ बनाने के लिऐ यदि रेडियो संस्कृत नाटकों की मांग की जाय तो आकाशवाणी को एक अच्छी सामग्री सुलभ हो सकेगी। इस सामग्री को वह प्रसन्नता एवं तत्परतापूर्वक अपने प्रयोग में ला सकती है। आकाशवाणी द्वारा इस समय कभी-कभी रामायण, गीता, तथा महाभारत आदि के उद्धरण मातृभाषा में व्याख्यासहित प्रसारित किये जाते हैं। इसे सभी केन्द्रों द्वारा प्रसारित किया जाना चाहिए। जैसा कि हम विगत अध्यायों में बता चुके हैं, संस्कृतसाहित्य सुभाषितों तथा नीति-वाक्यों का समुद्र है। रेडियो सुनने वाले विशाल जनसमुदाय के समक्ष इसे सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया जा सकता है। सिगनल के साथ अपने कार्यक्रम के प्रारम्भ में प्रातःकाल अथवा रात्रि में कार्यक्रम की समाप्ति पर मातृभाषा में व्याख्या सहित इन सुभाषितों का गायन प्रति दिन रेडियो द्वारा प्रसारित किया जा सकता है। यह भी देखा जा रहा है कि रेडियो के कार्यक्रम में संस्कृत की प्रधानता नहीं हुआ करती। आकाशवाणी के सभी केन्द्रों में संस्कृत का कार्यक्रम एक अतिरिक्त कार्यक्रम माना जाता है। अतः उसे साधारण कार्यक्रम को देखनेवाले सहायक ही देखा करते हैं। आयोग का यह अनुरोध है कि आकाशवाणी के सभी केन्द्रों में अपेक्षित योग्यतासम्पन्न संस्कृतज्ञ ही संस्कृत के प्रसारणों की रचनाओं को देखने या तैयार करने के लिए नियुक्त किये जाने चाहिए। साथ ही साथ इस तथ्य पर भी ध्यान देना चाहिए कि आकाशवाणी द्वारा निर्धारित समस्त संस्कृत के कार्यक्रमों को सुनने के सुविधाप्रद समय पर ही सम्प्रसारित किया जाय।

(८०) देश के जिन प्रदेशों में संस्कृत का उच्चारण त्रुटिपूर्ण है, वहाँ उसके सुधारे जाने के महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर हमने अन्यत्र विमर्श किया है। इस सन्दर्भ में आकाशवाणी से अधिक कोई भी अन्य साधन उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकता। उसे चाहिए कि वह अपने कुछ उत्तरी तथा पूर्वी केन्द्रों में दक्षिण तथा दक्षिण भारत के शुद्ध उच्चारण में संस्कृत बोलने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति करे। दक्षिण तथा दक्षिण भारत के केन्द्रों के संस्कृत-कार्यक्रमों के रेकर्डों का भी उत्तरी तथा पूर्वी केन्द्रों में प्रयोग किया जा सकता है।

(८१) हमें यह बताया गया कि वेदपाठों के रेकार्ड तैयार करने पर भी आकाशवाणी द्वारा विचार किया जा रहा है। इस सन्दर्भ की सर्वप्रथम प्रेरणा उसे आचार्य बिनोवा भावे से प्राप्त हुई है। जैसा कि वेदपाठ के प्रसंग में कहा जा चुका है कि हमारे देश में वेदपाठ की परम्परा अब तीव्रता से क्षीण होती जा रही है। आकाशवाणी एक राजकीय विभाग है। वह सर्वसाधन सम्पन्न भी है। अतः समस्त वेदपाठ का एक टेपरेकार्ड तैयार करने के कार्य में उसे आगे बढ़ना चाहिए। यतः रेडियो की प्रमुख रुचि संगीत तथा गायन में निहित है। अतः देश में सुलभ सामगान के समस्त सम्प्रदायों तथा उनकी सामगान शैलियों का टेपरेकार्ड तैयार करना उसके लिए स्वभावतः उपयोगी सिद्ध होगा। इसके साथ ही साथ आकाशवाणी को चाहिए कि वह हमारे प्राचीनतम काव्य तथा पवित्र साहित्य के भाण्डार सम्पूर्ण ऋग्वेद को भी टेप द्वारा सुरक्षित करे। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ऋग्वेद प्राचीनतम भारोपीय जगत् में अब तक जीवित साहित्य के रूप में मान्य है। इस प्राचीनतम साहित्य के टेपरेकार्ड कार्य का भारत तथा विदेश के समस्त विद्वान् एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में स्वागत करेंगे। वेदों के टेपरेकार्ड के सन्दर्भ में हमने एक ऊँचे स्तर पर विचार-विमर्श किया है। इस विचार-विमर्श से हमें यह प्रतीत हुआ कि ऐसी महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक योजना के लिए आर्थिक सहायता देने से सरकार पीछे नहीं हटेगी। हम शासन से अनुरोध करते हैं कि वह अपने आय-व्ययक में इन टेपों को तैयार करने के लिए अपेक्षित धन निर्धारित करे।

(८२) सूचना मंत्रालय का चलचित्र विभाग (**फिल्म डिवीजन**) भी निम्नांकित रूप से छोटे-छोटे आकृति-चलचित्रों (**फीचर फिल्म**) के निर्माण द्वारा इस सन्दर्भ में आवश्यक सहायता कर सकता है :—

(१) कुछ प्रमुख संस्कृत नाटकों अथवा उनके चुने हुए दृश्यों के चलचित्र, जैसे—'शकुन्तला', 'मृच्छकटिक' आदि नाटकों के।

(२) संस्कृत के गीतकाव्यों के चलचित्र—जैसे मेघदूत, गीतगोविन्द।

(३) रामायण तथा महाभारत दोनों ही राष्ट्रिय महाकाव्यों के अंशों तथा संवादों के चलचित्र।

(४) समय समय पर निर्मित मन्दिरों तथा उत्सवपर्वों के चलचित्रों के साथ सम्बद्ध वेदपाठ तथा संस्कृत मन्त्रध्वनियों का गुञ्जन।

(८३) अन्यत्र हमने उत्सवों, पर्वों तथा अन्य औपचारिक समारोहों के समय संस्कृत के सांस्कारिक प्रयोग की चर्चा की है, क्योंकि पृष्ठभूमि, ध्वनि तथा भावप्रकाशनशैली की दृष्टि से ऐसे अवसरों पर संस्कृत का एक विलक्षण एवं अपूर्व प्रभाव पड़ा करता है। जनसाधारण तथा शासन के द्वारा एक अखिल भारतीय समारोह भाषा के रूप में संस्कृत के अधिक से अधिक प्रयोग द्वारा संस्कृत की लोकप्रियता और अधिक समुन्नत की जा सकती है।

(८४) भारतीय प्रेस के कुछ प्रमुख प्रतिनिधियों से भी हमने भेंट की। उनसे बातचीत करने से यह प्रतीत हुआ कि प्रेस सामान्यतः संस्कृत के पक्ष का समर्थन करता है। संस्कृत के क्षेत्र में शैक्षिक तथा सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार की क्रियाओं को प्रेस के द्वारा अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। यद्यपि प्रत्यक्षरूप से प्रेस का सम्बन्ध मूलतः राजनीति से ही है, तथापि प्रमुख पत्रों में साप्ताहिक पृष्ठ भी हुआ करते हैं जिनमें साहित्यिक लेखों को भी सम्मिलित किया जाता है। स्वभावतः प्रेस राजनीतिक तथा आकर्षण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों को ही वरीयता दिया करते हैं तथा विशुद्ध साहित्यिक महत्त्व के प्रसंगों को गौण तथा अप्रधान स्थान प्राप्त हुआ करता है। सांस्कृतिक सन्दर्भों में नृत्य, गायन तथा चलचित्रों को ही श्रेष्ठता प्रदान की जाती है। इस सन्दर्भ में हमारा यह सुझाव है कि प्रेस को साहित्यिक क्रियाओं पर भी विशेष रूप से कुछ और अधिक ध्यान देना चाहिए। कम से कम मासिक तथा साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाएँ तो संस्कृत तथा सम्बद्ध विषयों के लिए कुछ और अधिक स्थान दे ही सकती हैं। कुछ पत्र बहुधा किसी मुख्य स्थान पर संसार के विख्यात विचारकों तथा दार्शनिकों के चुने हुए उपदेशों को स्थान देते हैं। भारत तथा संस्कृत इन उपदेशों के आगार हैं, किन्तु समाचार पत्रों द्वारा संस्कृत के इस कोषागार के उद्धरणों का उपयोग बहुत ही कम दृष्टि में आता है। हमारा यह अनुरोध है कि हमारे समाचार पत्र संस्कृत सुभाषितों के मूलरूप के साथ या बिना मूल के अँगरेजी या स्थानीय भाषाओं में इनके अनुवादों को अपने "आज के विचार" (थाट फार द डे) स्तम्भ में प्रकाशित कर सकते हैं। संस्कृत रचनाओं की ओर व्यापकरूप से जनसाधारण का ध्यान आकर्षित करने की दिशा में उनका यह एक प्रशंसनीय प्रयास होगा। आज भारतीय भाषा सम्बन्धी प्रेस बहुत अधिक आगे बढ़ चुका है। यदि वह संस्कृत या संस्कृत से सम्बद्ध लेख, आलोचना, चुने हुए विषयों के प्रतिपादन तथा विवेचन, अनुवाद, कथा-कहानी आदि के लिए अपने पत्र-पत्रिकाओं में यथोचित स्थान देना अंगीकार करें तो इससे निश्चय ही संस्कृत को जनप्रिय बनाने तथा उसके महत्त्वपूर्ण अंशदान को जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत करने के मार्ग में उनसे एक व्यावहारिक तथा प्रभावोत्पादक सहायता प्राप्त हो सकेगी।

(८५) विगत वर्षों में क्षेत्रीय भाषाओं के प्रकाशनों में भी अत्यन्त तीव्रता से विकास हुआ है। अन्यत्र इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि क्षेत्रीय भाषाओं के साथ ही साथ सदा से ही संस्कृत का भी विकास हुआ है तथा इस विकासक्रम में संस्कृत के लिए उन क्षेत्रीय भाषाओं की ही लिपि का प्रयोग भी हुआ है। प्राचीन समय से ही सभी प्रमुख प्राचीन संस्कृतग्रंथ क्षेत्रीय भाषाओं के प्राचीन अनुवादों या आवश्यकतानुसार रूपान्तरों या उन पर आधारित स्वतंत्र रचनाओं के रूप में जनवर्ग को उपलब्ध कराये गये हैं। इस सन्दर्भ में हमने कुछ उत्साहपूर्ण प्रयत्नों का अवलोकन भी किया, जैसे कि मद्रास में कामकोटि कोशस्थानम् तथा रामकृष्ण मठ द्वारा संस्कृत स्तोत्रों तथा पवित्र रचनाओं का तमिल अनुवादयुक्त तमिल तथा ग्रन्थ लिपियों में प्रकाशन।

(८६) ज्यों ही मुद्रण व्यवस्था सुदृढ़ हुई, स्थानीय विद्वानों ने अध्ययन में अनुराग रखने वाले जनवर्ग के लिए संस्कृतवाङ्मय के प्रमुख ग्रन्थों को सुलभ बनाया। उनके इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण पदन्यास से रामायण, महाभारत तथा पुराणों का प्रकाशन किया गया। महामहोपाध्याय पण्डित पञ्चानन तर्करत्न के सञ्चालन में बंगवासी प्रेस तथा वसुमति प्रेस कलकत्ता द्वारा बंगला लिपि में रामायण, महाभारत, पुराण, धर्मशास्त्र ग्रन्थ, कालिदास की रचनाएँ तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों का प्रकाशन किया गया। दक्षिण में वाविल्ला रामस्वामी शास्त्रुल्लु एण्ड सन्स ने तेलगू लिपि में भी इस प्रकार से संस्कृत के प्रकाशन का कार्य किया। तामिल प्रदेश में कुम्भकोणम् के श्रीविद्या तथा शारदा विलास मुद्रणालयों ने, शास्त्र सञ्जीवनी प्रेस, मद्रास के अतिरिक्त काञ्ची, तिरुवयरू, पालघाट तथा संस्कृत शिक्षा के अन्य केन्द्रों के द्वारा ग्रन्थ लिपि में संस्कृतसाहित्य के प्रायः समस्त ग्रन्थों का प्रकाशन किया गया। इसी प्रकार केरल में केरलमित्रम् तथा केरलकल्पद्रुमम्, मुद्रणालय, त्रिचूर तथा विद्याप्रभा मुद्रणालय, कुन्नन कुल्लम मलयालम् लिपि के प्रमुख संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशक थे। इस कार्य के लिए मैसूर राज्य ने एक अपने लिथो प्रेस (पत्थर की छपाई) की स्थापना की तथा विचारदर्पण मुद्रणालय बंगलोर ने कन्नड़लिपि में संस्कृत के ग्रन्थों का प्रकाशन किया। वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई तथा समस्त उत्तर भारत के अनेकानेक मुद्रणालयों ने हिन्दी अनुवादों के साथ संस्कृत के ग्रन्थों के विविध संस्करणों को प्रकाशित किया। आर्य समाज तथा पण्डित एस० डी० सातवलेकर के स्वाध्यायमण्डल द्वारा भी वेदों के लिए इसी प्रकार की सेवा की गयी। पण्डितराज अतोम बप्पू शर्मा ने अपने चूड़ाचन्द मुद्रणालय इम्फाल (मणिपुर) द्वारा मणिपुरी में संस्कृत के ग्रन्थों को लोकप्रिय बनाया। भूतपूर्व देशी राज्यों में बड़ौदा तथा मैसूर ने क्रमशः अपने सयाजी साहित्यमाला तथा जयचामराजेन्द्र ग्रन्थ-रत्नमाला के माध्यम से लोकप्रिय सांस्कृतिक प्रकाशन के क्षेत्र का नेतृत्व किया। गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा भी गीता, रामायण, महाभारत, पुराण आदि प्रमुख भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के सस्ते संस्करणों को जनता के हाथों में रखने का प्रशंसनीय कार्य किया जा रहा है। इनमें से कुछ संस्करण संस्कृत तथा अंगरेजी अनुवादों के साथ भी छापे जा चुके हैं।

(८७) संस्कृत के प्रमुख प्राचीन ग्रन्थों को आधुनिक भाषाओं में रूपान्तरित करने का अब भी एक बृहत् क्षेत्र पड़ा हुआ है। वास्तव में यह एक शोचनीय स्थिति है कि जब अंगरेजी ऐसी सुदृढ़ भाषा में, जिसका विश्वव्यापी प्रसार है, अब भी संस्कृत के नाटकों, काव्यों, कथाओं, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों के अनुवाद आवश्यक माने जाते हैं, हमारी कतिपय भारतीय भाषाओं को ऐसे अनुवादों से समृद्ध करने का कार्य नहीं हुआ है। बम्बई तथा पूना प्रकाशन कम्पनियों द्वारा संस्कृत के नाटकों तथा काव्यों के आकर्षक संस्कृत संस्करण हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में प्रकाशित किये जा रहे हैं, तथापि अब भी कथासरित्सागर, अर्थशास्त्र, राजतरंगिणी तथा नाट्यशास्त्र जैसे ग्रन्थ, जिनमें जनसाधारण की अभिरुचि है, उनके

अनुवादों की कोई व्यवस्थित योजना नहीं बन पायी है। हमें ज्ञात है कि साहित्य-संस्थान तथा उसकी प्रादेशिक सहायक शाखाएँ इस योजना को अपने कार्यक्रम में सम्मिलित करने का विचार कर चुकी हैं।

(८८) ग्रीक तथा लैटिन के प्राचीन साहित्य को अंगरेजी, फ्रेंच तथा जर्मन ऐसी प्रमुख यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद के माध्यम से जनसमुदाय के हाथों में रखने के सुव्यवस्थित प्रयास यूरोप में किये जाते रहे हैं, किन्तु कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि मूलग्रन्थों को आधुनिक भाषाओं में उनके अनुवादों सहित प्रकाशित करने का सर्वप्रथम प्रयास फ्रांस में किया गया। परन्तु अब यह समस्त प्राचीन साहित्यसमूह आमने-सामने अपने अंगरेजी तथा फ्रेंच अनुवादों के साथ सुन्दर-सुन्दर आकर्षक संस्करणों में उपलब्ध हो रहा है। अंगरेजी पाठकों का "लोएब क्लासिकल लाइब्रेरी" सुप्रसिद्ध है। किसी भी सम्भ्रान्त व्यक्ति के लिए यह पुस्तकालय वस्तुतः एक आवश्यक वस्तु बन गया है। आयोग का यह दृढ़ अनुरोध है कि साहित्य-संस्थान (अकादमी) केवल भारतीय जनता ही के लिए नहीं, बल्कि विदेशी जनता के उपयोग के लिए भी संस्कृतवाङ्मय के प्रमुख प्रतिनिधि ग्रन्थों (विशेषतः साहित्य तथा दर्शन) के ऐसे ही आकर्षक तथा सुन्दर संस्करण देवनागरी में प्रकाशित करे, जिनमें मूल के आमने-सामने उनका अंगरेजी अनुवाद भी दिया गया हो। इस संस्थान का यह भी कर्त्तव्य है कि वह अपने नव-स्थापित प्रादेशिक शाखाओं के सहयोग से विभिन्न भाषाओं में अनुवाद सहित ऐसी ही ग्रन्थमालाओं का प्रकाशन करे।

(८९) विभिन्न व्यक्तिगत संस्थाओं ने यह कार्य किया भी है तथा अब भी वे यह कार्य कर रही हैं। जैसे पाणिनि कार्यालय इलाहाबाद ने अपनी "भारत की पवित्र ग्रन्थमाला" (Sacred Books of India Series) के द्वारा पुराणों तथा दर्शन ग्रन्थों के अंगरेजी रूपान्तर प्रकाशित किया है। इस संस्था ने अंगरेजी अनुवाद तथा टिप्पणी सहित "अष्टाध्यायी" तथा "सिद्धान्तकौमुदी" के दो अमूल्य प्रकाशन भी किये हैं। मद्रास के जी० ए० नेट्सन तथा कम्पनी द्वारा भी देवनागरी पाठ तथा अनुवाद सहित रामायण, महाभारत, उपनिषद् तथा दर्शन के ग्रन्थ आदि प्रकाशित किये गये हैं। कलकत्ता, बम्बई तथा पूना से कालेज के छात्रों के लिए अंगरेजी में भूमिका, अनुवाद तथा टिप्पणी सहित संस्कृत के अनेक प्राचीन ग्रन्थ निकल चुके हैं। संस्कृत के धार्मिक तथा दार्शनिक्त ग्रन्थों को उनके अंगरेजी तथा भारतीय भाषाओं में अनुवाद सहित प्रकाशन द्वारा रामकृष्ण मिशन भी संस्कृत को लोकप्रिय बनाने में तत्पर रहा है। विगत वर्षों में भारतीय विद्याभवन, बम्बई के "ग्रन्थ-विश्वविद्यालय" (Book University) द्वारा भी रामायण, महाभारत तथा भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के अन्य स्वरूपों की अंगरेजी लोकप्रिय ग्रन्थमाला प्रकाशित की जाती रही है।

(९०) जहाँ तक संस्कृत के मूलग्रन्थों का प्रश्न है, उनमें से कई एक देवनागरी लिपि में प्राप्य नहीं हैं। अब संस्कृत के प्रकाशन कार्य का ह्रास होता जा रहा है। निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई तथा चौखम्बा प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी ऐसे बड़े-

बड़े संस्कृत के मुद्रक यथा प्रकाशक, जिन्होंने विगत वर्षों में संस्कृत की अपूर्व सेवा की है, वे अब अनेक कठिनाइयों के बीच कार्य कर रहे हैं। अनेक केन्द्रों में संस्कृत के लिए कम्पोजिटरों का मिलना भी कठिन होता है। यह आवश्यक है कि प्राचीन "काव्य-माला" शैली के सस्ते ग्रन्थों, काव्यों, नाटकों तथा अन्य पुस्तकों के प्रकाशन का आज एक नवीन अभियान उठाया जाय। प्राचीन "ग्रन्थमाला-गुच्छ ग्रन्थमाला" जैसे अनेक छोटे-छोटे अप्रकाशित संस्कृत ग्रन्थों का एक साथ सामूहिक प्रकाशन भी आवश्यक है। विगत वर्षों में संस्कृत के अनेक प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन किया गया था। ये सब बिक गये। इनका पुनः प्रकाशन नहीं हुआ है। अब वे नहीं छापे जाते। न तो वे किसी प्रकाशक के यहाँ प्राप्त ही होते हैं। उनका पुनः मुद्रण आवश्यक है। उदाहरणार्थ "राजतरंगिणी" की एक भी प्रति आज किसी प्रकाशक के यहाँ नहीं पायी जाती। औसतन संस्कृत के विद्वान् के पास इतना धन नहीं है कि वह वेद तथा महाभारत जैसे ग्रन्थों को अपने पास रख सके। यथार्थ में यह एक दुर्भाग्य का प्रसङ्ग है कि यद्यपि संस्कृत के प्रति उत्साही व्यक्ति संस्कृत के अध्ययन को समुन्नत करने के लिए इतने प्रभावशाली व्याख्यान देते हैं, किन्तु सरऌतापूर्वक हाथ में लेकर या जेब में रखकर ले जाने योग्य आज एक भी प्रामाणिक संस्कृत-शब्द-कोश सुलभ नहीं है। क्षेत्रीय भाषाओं में प्रचलित संस्कृत शब्दों का भी एक शब्दकोश तैयार होना चाहिए। अनेक साक्ष्यों का सुझाव था कि इस प्रकार का शब्दकोश संस्कृत को जनप्रिय बनाने के सन्दर्भ में अत्यधिक सहायक सिद्ध होगा। रामायण तथा कालिदास के काव्य तथा नाटक आदि जो कुछ भी स्मरणीय प्राचीन ग्रन्थ आज हमारे सामने हैं उनके एक समान आकार को सुविधापूर्वक हाथ में रख कर पढ़ने योग्य आकर्षक तथा सुन्दर संस्करण नाम मात्र के मूल्य पर जनसमुदाय को उपलब्ध कराना चाहिए। आयोग को अनेक आवेदन प्राप्त हुए हैं कि संस्कृत की सहायता के लिए साहित्य अकादमी को इस संदर्भ में आगे आना चाहिए। हमें यह विदित है कि साहित्य संस्थान कालिदास की रचनाओं तथा संस्कृत श्लोकों एवं सुभाषितों के पद्यसंग्रह सस्ते तथा प्रामाणिक संस्करणों में प्रकाशित करने का कार्यक्रम तैयार कर चुका है। हमारा यह अनुरोध है कि संस्कृतसंस्थान संस्कृतवाङ्मय के प्रमुख ग्रन्थों को एक नियत आकार में प्रकाशित करके नाममात्र के मूल्य पर राष्ट्र को समर्पित करे। संस्कृत तथा प्राकृत कवियों एवं ग्रन्थकारों की एक "साहित्यकार ग्रन्थमाला" (Men of Letters Series) तथा ब्लैकवुड की "दार्शनिक प्राचीन ग्रन्थावली" के क्रमानुसार भारतीय दार्शनिकों की भी एक अध्ययन ग्रन्थमाला चिर काल से प्रतीक्षा की वस्तु बनी हुई है। अब एक भारतीय ग्रन्थन्यास (इन्डियन बुक ट्रस्ट) की भी स्थापना की जा चुकी है। इस न्यास के द्वारा संस्कृत के मूल ग्रन्थों का संस्कृत से तथा संस्कृत में अनुवादों का प्रकाशन किया जाना चाहिए, अर्थात् मूलग्रन्थों का संस्कृत में तथा संस्कृत से इतर भाषाओं में अनुवाद की व्यवस्था होनी चाहिए। अन्ताराष्ट्रिय जगत् में भारत का गौरव ऊँचा उठ जाने के कारण तथा विपुल संख्या में विदेशियों के इस देश में आ जाने के कारण हमारी पुस्तकों की दूकानों में तथा हमारे पुस्तकों के विक्रय केन्द्रों में प्राचीन भारतीय साहित्य की माँग बढ़ती जा रही है, जैसे—कालिदास

के काव्य, शूद्रक के नाटक, बाण के गद्य काव्य, पञ्चतन्त्र तथा कथासरित्सागर की कहानियाँ, अर्थशास्त्र, रामायण, महाभारत, उपनिषद् तथा गीता। यह कोई आवश्यक नहीं है कि सीधे साहित्य संस्थान या राष्ट्रिय ग्रन्थन्यास द्वारा ही यह प्रकाशन कार्य सम्पन्न किया जाय तथा शासन स्वयं इस प्रकार के प्रकाशन तथा मुद्रणकार्य को अपने हाथों में न ले। इस क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तिगत संघटन तथा साहित्यिक संस्थाएँ जो कि इस प्रकार की ग्रन्थमाला के प्रकाशन के कार्य में प्रयत्नशील हैं, उन्हें भी प्रकाशनार्थ आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए।

(९१) संघटन के रूप में साहित्य अकादमी की स्थापना भारतीय भाषाओं के साहित्यिक उन्नयन के उद्देश्य से की गयी है। उसका कर्त्तव्य है कि वह नये-नये मार्गों द्वारा संस्कृत को ऊँचा उठाने के लिए यथोचित युक्तियों तथा साधनों की योजना बनावे। यतः बालकों के माध्यम से भी संस्कृत का तीव्र गति से प्रचार तथा प्रसार किया जा सकता है। हमें उपयोगी एवं लाभप्रद बालसाहित्य की रचना करनी है। इसके लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार की घोषणा कर सकती है। कुछ साक्ष्यों ने यह भी सुझाव दिया कि महिलाओं के लिए भी संस्कृत में समुचित साहित्य का प्रकाशन किया जाना चाहिए। इसके लिए संस्कृतवाङ्मय में पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। केवल इन नये-नये मार्गों पर उस सामग्री के मार्ग निदेशन, प्रोत्साहन, संघटन तथा प्रस्तुतीकरण की आवश्यकता है।

—:०:—

एकादश अध्याय

संस्कृतशिक्षा तथा शोध-कार्य का प्रशासन एवं संघटन

(१) विगत अध्यायों में हमने विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा पाठशालाओं में दी जाने वाली संस्कृतशिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर तथा संस्कृतशिक्षा के क्षेत्र में विश्वविद्यालयों तथा अन्य राजकीय एवं अराजकीय संघटनों द्वारा उच्च-अध्ययन तथा शोधकार्य-सम्बन्धी प्रचलित विभिन्न क्रियाओं के विषय में अपने सुझाव तथा अनुरोध प्रस्तुत किये हैं। स्वभावतः उन सुझावों तथा अनुरोधों के अन्तर्गत कतिपय प्रशासनात्मक तथा संघटनात्मक विवेचन आ ही जाया करते हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम इन प्रशासनात्मक तथा संघटनात्मक सन्दर्भों पर अपने विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्राभूत तथा समर्पित निधियाँ

(२) सर्वप्रथम हमारे सामने प्रमुख रूप से वित्त व्यवस्था का प्रश्न उपस्थित होता है। आयोग के अनुरोधों के अनुसार कार्य सम्पन्न करने में अत्यधिक व्यय अपेक्षित होगा। हो सकता है कि देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति को देखते हुए शासन इतने अधिक व्ययभार को वहन न कर सके। इस सन्दर्भ में हम इस तथ्य पर बल देना चाहते हैं कि आदर्शरूप में भी संस्कृत के समुन्नयन से शासन के ऊपर किसी प्रकार का अधिक व्ययभार नहीं पड़ेगा। यह सौभाग्य की बात है कि हमारे देश की पारम्परिक शिक्षा नितान्त धनहीन नहीं है। उसके पास अपने निजी साधन भी विद्यमान हैं।

(३) समस्त देश में तथा विशेषतः उत्तरप्रदेश, बम्बई तथा पंजाब ऐसे प्रदेशों में एवं दक्षिण भारत के सभी राज्यों में संस्कृत के अध्ययन को निरन्तर बनाये रखने के उद्देश्य से अनेक प्राभूत तथा समर्पित निधियाँ हैं। यह देखने को मिला है कि इन प्राभूतों से सम्बद्ध प्रबन्धक अधिकारो प्राभूतों के धन को संस्कृत से अतिरिक्त अन्य कार्यों में लगाते चले जा रहे हैं। कुछ प्राभूतों में उनके सञ्चालकों के कारण दुर्व्यवस्था भी व्याप्त है तथा कुछ विपन्न अवस्था में स्थित हैं। यदि इन समर्पित निधियों तथा प्राभूतों के धन की यथोचित व्यवस्था की जाय तथा न्यायतः उसे यथोचित ढंग से संस्कृत के उन्नयन में ही व्यय किया जाय और इन प्राभूतों को पुनरुज्जीवित करने की दिशा में केन्द्रीय शासन तथा प्रदेशीय शासन भी अभिरुचि लें, तो निश्चय ही संस्कृत-संस्थाओं के सम्यक् सञ्चालन के लिए सरकार को पर्याप्त धन प्राप्त हो सकता है। इन प्राभूतों तथा समर्पित निधियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे मन्दिर, मठ तथा धार्मिक संस्थाएँ भी हैं, जिनके पास बचत की एक बहुत बड़ी धनराशि रहती है। बचत का यह धन संस्कृत के संवर्धन में लगाया जा सकता है, जो कि इसके विनियोग का एक सर्वथा समुचित मार्ग सिद्ध हो सकेगा। दक्षिण भारत

में इस प्रकार के अनेक देवालय पाये जाते हैं। बम्बई प्रदेश के प्रतिनिधियों ने हमें बताया कि उनके प्रदेश में छोटे-बड़े तीन सौ सत्ताइस ट्रस्ट हैं, जिनमें धार्मिकदान ट्रस्टों से छः करोड़ रुपया जमा हो चुका है। इस धन का कोई उपयोग नहीं हो रहा है। वहाँ ऐसे प्रस्तावों पर विचार चल रहा है कि इस धन का प्रयोग संस्कृत के समुन्नयन में किया जाय। हमारा भी यही सुझाव है कि इस धन के विनियोग के लिए संस्कृत के समुन्नयन से बढ़कर और कोई दूसरा मार्ग नहीं हो सकता। केरल के "देवस्वम् परिषद्" में उपलब्ध प्रायः साठ लाख की वार्षिक बचत के अतिरिक्त धार्मिक प्राभूतनिधि (Religious Endowment Fund) नाम के एक अन्य संघटन के पास भी इस प्रकार के साधन देखे जाते हैं। शंकरमठों में प्रत्येक को पचास हजार रुपये की वार्षिक आय है। इसी प्रकार यदि नम्बूदरी-प्राभूतों की सारी धनराशि जोड़ी जाय तो तीन चार लाख रुपये मिल सकते हैं। संस्कृत के महान् संरक्षकों की हार्दिक प्रवृत्ति के अनुकूल इस धन के विनियोग का सर्वोपरि उद्देश्य संस्कृत का समुन्नयन होना चाहिए।

(४) हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासनों का भी कर्त्तव्य है कि वे संस्कृत के संवर्द्धन का उत्तरदायित्व वहन करें। अतीतकाल से नरेशों, भूमिधरों तथा समाज के धनिक व्यक्तियों के द्वारा संस्कृत को समाश्रयण दिया जाता रहा है। यह भी सभी जानते हैं कि भूतपूर्व नरेश संस्कृत के महान् आश्रयदाता थे तथा जमींदारों ने भी संस्कृत का संरक्षण किया। राज्यों के विलयन तथा जमींदारी उन्मूलन के कारण संस्कृत को अपने इस प्रमुख अवलम्बन से वञ्चित होना पड़ा है। स्वतंत्र भारत के शासन द्वारा रजवाड़ों तथा जमींदारियों को ले लिए जाने का अर्थ है कि इन राज्यों तथा जमींदारियों के कर्त्तव्य भी केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासनों को हस्तान्तरित हो चुके हैं। इस सन्दर्भ में यह सुझाव है कि जब अधिकार तथा आधिपत्य स्थानान्तरण का प्रभाव संस्कृत पाठशालाओं तथा संस्कृत विद्वानों के परिवारों के पोषण पर पड़ रहा है तब शासन का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह संस्कृत पाठशालाओं तथा विद्वानों के लिए उन सहायताओं को बनाये रखने की दिशा में आवश्यक मार्गों तथा साधनों पर भी विचार करे, जो कि उन्हें प्राचीन व्यवस्था में सुलभ थे। मैसूर के कुछ प्रमुख साक्ष्यों ने हमें बताया कि प्रादेशिक शासन ने अपने विधान-निर्माण में उन सांस्कृतिक तथा दानसंस्थाओं के संरक्षण का प्राविधान रखा है, जो कि मूलराज्यों में समुन्नत थे। जहाँ कहीं इस प्रकार के वैधानिक संरक्षण की सुविधा नहीं है, वहाँ शासन को चाहिए कि वह शिक्षा आदि के लिए अपने आय-व्ययक में इन संस्थाओं तथा विद्वानों के पालन-पोषण की भी व्यवस्था नियत करे।

(५) कई एक संस्कृत पाठशालाओं का पोषण उनके लिए लगी हुई भूसम्पत्ति पर निर्भर है। अनेक राज्यों में कृषि-सुधार व्यवस्था का इन संस्थाओं की स्थिति पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा है। यह आयोग शासन से अनुरोध करता है कि वह इस प्रसङ्ग पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार करे।

(६) इस सन्दर्भ में हम राष्ट्रपति के इन शब्दों का स्मरण दिलाना चाहते हैं, जिन्हें कि उन्होंने संस्कृत के विकास के सन्दर्भ में शासनों के उत्तरदायित्व पर कहा था। वाराणसी में संस्कृत-विश्वपरिषद् के अवसर पर अपने उद्घाटन भाषण में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था :—

"हमारे सामने प्रथम समस्या है संस्कृत पाठशाओं के लिए धन की व्यवस्था सम्बन्धी। जिन स्रोतों से उनका पालन-पोषण हुआ करता था, वे सूख चुके हैं। इसमें वास्तविकता तो यह है कि आज-कल के अनेक सामाजिक धरातलों पर शासन का नियंत्रण है। यदि इन संस्था ओं की आर्थिक व्यवस्था का भार शासन अपने कंधों पर नहीं लेता तो भविष्य में उनके प्रचलित रहने की आशा बहुत ही कम है। हमें विश्वास है कि प्रादेशिक सरकारें इस दिशा में कुछ न कुछ अवश्य करेंगी। अब वह समय आ गया है जब कि हमें संस्कृत के पठन-पाठन के लिए धनराशि निर्धारित करनी है। वर्तमान समय में जब शासन धनोपार्जन के साधनों का राष्ट्रियकरण कर रहा है, तब कोई कारण नहीं प्रतीत होता कि जिन उत्तरदायित्वों का भार समाज ने आज तक वहन किया था, उन्हें शासन अपने कंधों पर क्यों न ले ले ?"

(७) अपनी यात्रा में आयोग ने संस्कृत के कई एक प्राभूतों तथा समर्पित निधियों का केवल ज्ञानमात्र ही नहीं प्राप्त किया, किन्तु उसकी दृष्टि में यह बात भी लायी गयी कि इस शिक्षा के लिए समर्पित सम्पत्ति तथा धन का उपयोग वर्तमान समय में तथा विगत दशकों से किस प्रकार अन्य अनुचित कार्यों में स्थानान्तरित किया जा रहा है तथा ट्रस्टियों की इच्छा के अनुसार उसे अनियमित रूप से दूसरे प्रकार के दातव्य मार्गों में लगाया जा रहा है। हमें यह बताया गया कि केवल उत्तर प्रदेश में ही ऐसे प्राभूतों की संख्या एक सौ पचास है। ये प्राभूत दाताओं के द्वारा केवल संस्कृत के उत्थान के लिए स्थापित किये गये थे, किन्तु उनकी आय का उपयोग अंगरेजी विद्यालयों को खोलने में अथवा अन्य संस्थाओं को चलाने में किया जाता है। यही स्थिति बम्बई, मद्रास, आंध्र, केरल आदि स्थानों पर भी पायी जाती है। तिरुवय्यरु तथा इस जिले के अन्य स्थानों में वेदों तथा उनके अध्ययन के लिए तञ्जौर के मराठा नरेशों ने एक बहुत बड़ी धनराशि समर्पित की थी। संस्कृत तथा अन्नदान के लिए उनके 'क्षेत्रम्' दानव्यवस्था में बीस प्राभूत स्थापित किये गये थे। आज इन प्राभूतों के धन से अंगरेजी विद्यालय चलाये जा रहे हैं। तञ्जौर के अन्तिम नरेश श्री परपौते ने हमसे निवेदन किया तथा मौखिक एवं लिखित वक्तव्य भी दिया कि इन दान-व्यवस्थाओं के संदर्भ में राजा सार्फोर्जी के शब्द सुनिश्चित तथा स्पष्ट थे। इसलिए शासन को चाहिए कि वह इन समर्पित निधियों को अपने मूललक्ष्यों की ओर पुनः लौटने के लिए अपेक्षित आदेश निर्गत करे।

(८) जहाँ तक साध्य हो न्यास के आधार पर ही उसका सञ्चालन किया जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में हमें इस तथ्य पर सदैव ध्यान देना चाहिए कि दाता की इच्छा सर्वोपरि है तथा उस परिस्थिति में ही जब कि दान का उद्देश्य असफल हो

जाय उसके स्थान पर उस प्रकार का ही कोई अन्य उद्देश्य रखा जा सकता है। जब तक यह स्पष्टतः निश्चय न हो जाय कि दाता की इच्छा का पालन करना असम्भव है, तब तक उसकी इच्छा के समीप व्यवस्था करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। यदि दाता ने स्पष्टतः यह निर्देश दिया है कि उसके दिये हुए दान का प्रयोग किस प्रकार किया जाय तथा यदि उसकी इच्छाएँ कानून के विरुद्ध नहीं हैं तो न्यायालय उसकी इच्छा के अनुसार ही कार्य करने को बाध्य है तथा उसे इस बात पर विचार करने का अधिकार ही नहीं है कि यदि दाता ने कोई और उद्देश्य चुना होता तो संशोधित उद्देश्य अधिक लाभप्रद हो सकता था या नहीं। जब दाता की इच्छाएँ लोक-नीति के विरुद्ध नहीं हैं, ऐसी स्थिति में न्यायालय का कर्त्तव्य है कि वह उनका पालन कराये। न्यायालय को इस पहलू पर विचार नहीं करना चाहिए कि दाता के उद्देश्य बुद्धिमत्ता पूर्ण हैं या नहीं या न्यास संस्थापक की सम्पत्ति के सदुपयोग के लिए अथवा न्यासकर्त्ता की सम्पत्ति के सदुपयोग के लिए कोई और अधिक लाभप्रद मार्ग निकाला जा सकता है या नहीं ? न्यायालयों के ये निर्णय सर्वथा उचित तथा सर्वविदित हैं। दाताओं की इच्छाओं को न मानने का न्यायालयों को कोई भी अधिकार नहीं है कि मूलदान व्यवस्था को बदल कर वे अन्य दान-व्यवथा को केवल इस आधार पर ही स्वीकार कर लें कि यह व्यवस्था उनकी समझ में मूल की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेगी। प्राभृत के अधिकारी भी दानपत्र के निर्देशों का पालन करने को बाध्य हैं। दानपत्र की प्रामाणिकता सिद्ध करने की आज्ञा प्राप्त करना भी उनके लिए उचित नहीं है। यह भी एक अनुचित सी बात है कि इच्छा-पत्र के अधिकारी होते हुए भी वे पवित्र दाता की अपेक्षा अपने को अधिक बुद्धिमान् तथा श्रेष्ठतर समझें।

(९) मठ प्रायः धार्मिक संस्थाएँ होती हैं।। यह माना जा चुका है कि उनकी स्थापना के मूल उद्देश्य हैं धर्म तथा सदाचार के समुन्नयन के लिए सुयोग्य धार्मिक गुरुओं की परम्परा को सुदृढ़ बनाना, धार्मिक ज्ञान का संरक्षण करना, उसका प्रचार-प्रसार करना तथा सम्प्रदायविशेष के धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्वाह करना। जहाँ मठों के साथ देवमूर्तियों का भी सम्बन्ध है, वहाँ इन देवमूर्तियों की पूजा-व्यवस्था भी इन मठों के क्रिया-कलापों का एक मुख्य अंग है। जैसा हम विगत अध्याय में कह चुके हैं, उन स्थानों में जहाँ कि प्राचीन धार्मिक जीवन तथा परम्पराएँ बिना छिन्न-भिन्न हुए ज्यों की त्यों बनी हुई हैं, वहाँ हिन्दुओं तथा जैनियों दोनों के मठ तथा आश्रम विद्यमान हैं। यह स्थिति देश के कई भागों में विशेषतः दक्षिण भारत में देखी जाती है। मठों के साथ इन स्थानों में देवताओं के मन्दिर भी हैं। इन धार्मिक संस्थाओं के पास पर्याप्त समर्पित निधि है। इसके अतिरिक्त ये एक बड़ी सम्पत्ति के स्वामी हैं तथा अपने अनुयायियों से इन्हें निरन्तर आय भी होती रहती है। इन समर्पित निधियों की आय से मुख्यतः मन्दिर तथा मठ का संरक्षण होता है तथा देवमूर्तियों की पूजा-व्यवस्था की जाती है। इतने बड़े व्ययभार के होते हुए भी इन धार्मिक संस्थाओं तथा प्राभृतों में बचत के रूप में एक बहुत बड़ी धनराशि हुआ करती है।

(१०) आयोग का यह विचार है तथा इस विचार पर अनेक साक्ष्यों ने भी बल दिया है कि इन प्राभूतों के बचत धन का विनियोग उन उद्देश्यों पर ही किया जाय, जो कि सामान्यतः धार्मिक दृष्टि से मान्य हैं। इन्हें अन्य असाम्प्रदायिक दानमार्गों में व्यय करना सर्वथा अमान्य है। जिन लोगों ने जिन धार्मिक उद्देश्यों से इन धार्मिक संस्थाओं को धन समर्पित किया है, हमें उनकी भावनाओं की अवहेलना कदापि नहीं करनी चाहिए। धार्मिक भावनाओं तथा भक्ति से ओत-प्रोत पवित्र अनुयायियों के उदार दानों के फलस्वरूप प्राचीन समय में ये मठ, आश्रम तथा मन्दिर अस्तित्व में आये। इन मठों, आश्रमों तथा मन्दिरों में से अनेकों की व्यवस्था प्राभूत साधकों (Trustees) तथा प्रबन्ध-समितियों के द्वारा की जाती है। इस आयोग की यह सम्मति है कि इन धार्मिक संस्थाओं के ये ट्रस्टी तथा ये प्रबन्ध-समितियाँ भी यदि उक्त बचत के धन को अनेक असाम्प्रदायिक मार्गों में लगाती हैं, तो उन्हें ऐसा कदापि नहीं करने देना चाहिए।

(११) "जो असफल हो चुका है, यथासम्भव उसके समीपतम" के सिद्धान्त का प्रयोग उसी दशा में किया जा सकता है, जब कि दान-व्यवस्था का मूल उद्देश्य असफल हो गया हो या उसकी पूर्ति सर्वथा अव्यावहारिक तथा असफल हो गयी हो या उसका कार्यान्वयन जननीति के विरुद्ध जान पड़ता हो। ऐसी स्थिति में इस सिद्धान्त का प्रयोग उस उद्देश्य पर ही करना होगा जो कि असफलीभूत मूल उद्देश्य का समीपतम उद्देश्य हो।

(१२) जहाँ तक धार्मिक प्राभूतों, मठों, आश्रमों तथा मन्दिरों का प्रश्न है, यह सर्वसम्मत है कि इन धार्मिक संस्थाओं की समर्पित निधियों की बचत का धन संस्कृत के संवर्धन, पुरोहितों तथा धर्मोपदेशकों की शिक्षा, हिन्दू संस्कृति सम्बन्धी शोधकार्य तथा उनके प्रचार एवं भारतीयदर्शन, इतिहास तथा साहित्य के लिए शोधसंस्थानों की स्थापना पर व्यय किया जा सकता है। हमारे विचार से इन योजनाओं पर इस धन का विनियोग आवश्यक है। वस्तुतः इन उद्देश्यों को धार्मिक उद्देश्य माना भी जा सकता है। यथार्थ में अनेक मठों, आश्रमों तथा मन्दिरों ने इन उद्देश्यों को अपनी धार्मिकक्रियाओं के एक अंग के रूप में स्वीकार भी कर लिया है। "इष्टपूर्ति" के प्रख्यात वचन के अन्तर्गत "स्वाध्याय" को इष्ट का एक अङ्ग माना गया है। सदा से ही संस्कृत का अध्ययन इन मठों, आश्रमों तथा मन्दिरों के 'इष्ट' के रूप में दृढ़तापूर्वक अंगीकार भी किया जाता रहा है। अतः जिन अभिप्रायों से इन धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की गयी थी, उनकी पूर्ति के लिए ही सन्दर्भित बचतधन का विनियोग किया जाना चाहिए। वेद, आगम तथा संस्कृत की शिक्षा की ओर ध्यान देते हुए ये धार्मिक संस्थाएँ आदिकाल से इन्हें अपने व्ययभार का एक अतिरिक्त मार्ग मान चुकी हैं।

(१३) किन्तु इस आयोग ने दुःखपूर्वक यह देखा कि इन संस्थाओं के बचतधन का विनियोग यथोचित ढंग से नहीं होता। कहीं-कहीं तो प्रबन्धाधिकरण,

जो बहुधा शासन द्वारा नियुक्त हुआ रहता है, उक्त बचतधन का विनियोग ऐसी आवश्यकताओं तथा उद्देश्यों की पूर्ति में किया करता है, जिनका कि उनके विशेष धार्मिक उद्देश्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह सम्प्रदाय से भिन्न अन्य दानकार्यों में लगाया जाता है। इस प्रसंग में "बम्बई सार्वजनिक प्राभूत अधिनियम १९५०" (Bombay Public Trusts Act of 1950) की नवीं धारा में धार्मिक अभिप्राय तथा दान-अभिप्राय का भेद स्पष्टतः प्रतिपादित है, तदनुसार धार्मिक समर्पित निधि की आय को समीपतम समान धार्मिक प्रयोजन में लगाया जा सकता है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि प्रसंगगत धार्मिक प्राभूतों के मूल लक्ष्यों तथा मन्तव्यों की वैधानिकता की अपेक्षा प्रचलित राजनीतिक विचारधारा ही इन प्राभूतों की व्यय-व्यवस्था को प्रभावित करती है तथा मूल धार्मिक उद्देश्यों की उपेक्षा की जाती है।

(१४) यदि इस प्रकार धार्मिक प्राभूतों के धन को अन्य असम्प्रदायिक प्रयोजनों के लिए प्रयोग करने दिया जाता है, तो इसका अर्थ यह होगा कि हम सम्बद्ध अधिकारियों को मूलदाता तथा उसके परवर्ती दानियों की इच्छा के विरुद्ध आचरण करने के लिए असीम अधिकार दे रहे हैं। धार्मिक प्राभूत स्थापित करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्तियों को हतोत्साह करने के लिए उनको दी गयी यह छूट निश्चय ही साधक सिद्ध होगी, क्योंकि उनके मन में यह भीति तथा शंका बनी रहेगी कि जिन प्राभूतों की वे स्थापना करेंगे उसके सम्बन्ध में बाद में सम्भव है कि किसी भी अधिकारी के मन में यह आ जाये कि जिन उद्देश्यों से इस प्राभूत की स्थापना की गयी थी वह अब किसी प्रकार जनोपयोगी नहीं रह गया है। इस विचार से प्रेरित होकर यह अधिकारी मेरे इस प्राभूत की बचत के धन को या उसके किसी अंश को मेरी इच्छा के विरुद्ध इस प्रकार के किसी अन्य प्रयोजन में लगा देगा, जिसे कि वह अपने आदेश के समय उपयोगी समझेगा। जो लोग मूलतः न्यासों तथा प्राभूतों की स्थापना करते हैं, उनकी इच्छाओं के विरुद्ध बलपूर्वक आचरण का यह अपवित्र अपराध तथा उनकी अवज्ञा का यह अवांछनीय आचरण भी सिद्ध होगा; क्योंकि अधिकारियों के इस प्रकार के व्यवहार से संस्कृत इन दाताओं के समाश्रयण से वञ्चित हो जायगी।

(१५) इसलिए इस आयोग का सुझाव है कि केन्द्रीय शासन एक ऐसा उपयुक्त कानून बनाये, जिससे कि इन धार्मिक संस्थाओं की बचत का धन अन्य असाम्प्रदायिक मार्गों में न लगाया जा सके तथा अधिकारीवर्ग संस्कृत, भारतीय संस्कृति एवं धर्म-दर्शन के समुन्नयन जैसे मान्य धार्मिक उद्देश्यों में इस धन को लगाने के लिए बाध्य हो जाँय। इस कानून में यह भी प्राविधान किया जाना चाहिए कि जहाँ कहीं संस्कृत के समुन्नयन के लिए प्राभूत का धन प्राभूत साधकों (Trusts) की सहमति से न्यायालय का आदेश प्राप्त करके अन्य असाम्प्रदायिक उद्देश्यों में लगाया जा चुका है, वह धन कानून के लागू होने के दिन से संस्कृत के अध्ययन में पुनः लगाया जाय। इसके अतिरिक्त इस कानून में धार्मिक समर्पित निधियों के धन को यथोचितरूप से व्यवस्थित किये जाने का भी प्राविधान होना चाहिए।

(१६) आयोग ने यह भी देखा कि संस्कृत के अन्य प्राभूतों की व्यवस्था गलत ढंग से की जा रही है। कहीं-कहीं तो हमारे साक्ष्यों ने हमें अपने पास-पड़ोस के ऐसे समस्त प्राभूतों की सूची भी दी तथा इस बात पर बल भी दिया कि इस प्रकार के जो भी प्राभूत आज दृष्टि में आ रहे हैं, उनका पूर्णतः सर्वेक्षण किया जाना परमावश्यक है। आयोग इस सुझाव का समर्थन करता है तथा अनुरोध करता है कि शासन मालविभाग से या सिसी उपयुक्त विभाग से हमारे देश में स्थित इस प्रकार के समस्त छोटे-बड़े प्राभूतों का आधिकारिक सर्वेक्षण कराये तथा दुर्व्यवस्था को दूर करे। मृत समर्पित निधियों को एक सामान्य विधि के रूप से सुसंघटित करें तथा मरणासन्न प्राभूतों के धन तथा उसकी सम्पत्ति को उनके उद्देश्यों के अनुरूप मार्गों में लगाएँ। यह आशा की जाती है कि अपने इस अभियान के द्वारा शासन संस्कृत के हित में पर्याप्त धन अन्धकार से प्रकाश में ला सकेगा।

केन्द्रीय संस्कृत परिषद्

(१७) केन्द्रीय शासन को संस्कृत के पोषण तथा संवर्धन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इस प्रतिवेदन के प्रारम्भिक अध्यायों में हमने अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत किए हैं, जिनसे यह प्रतिभासित होता है कि केन्द्रीय शासन द्वारा इस क्षेत्र पर निरन्तर ध्यान, उसकी निरन्तर व्यवस्था, उसके विभिन्न स्वरूपों का समन्वय तथा सतत पथ-प्रदर्शन कितना आवश्यक है। यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि शिक्षा से सम्बद्ध अन्य विषयों के समान संस्कृत के लिए भी एक केन्द्रीय नीति निर्धारित होनी चाहिए, जिसके अनुसार प्रदेशों को कार्य करने के लिए अनुरोध किया जा सके। अखिल भारतीय ढंग के कुछ संघटनात्मक तथा प्रशासकीय प्रसंग हमारे सामने विद्यमान हैं, जैसे—पठन-पाठन का स्तर, वेतनक्रम तथा संस्थाओं को राज्यसहायता आदि। इन सभी सन्दर्भों में एकरूपता लाने के लिए यह आवश्यक है कि शासन एक केन्द्रीय-संस्कृत-परिषद् की स्थापना करे। केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा परिषद् की कार्यवाही का जो कुछ अवलोकन हमने किया है, उससे प्रत्यक्ष होता है कि विद्यालयों में संस्कृत के पठन-पाठन के प्रश्न का उसमें कोई स्थान नहीं है। केन्द्रीय-संस्कृत-परिषद् का जो स्वरूप हमारी परिकल्पना में है, उसके अनुसार शिक्षा तथा पुरातत्त्व आदि के लिए स्थापित अन्य केन्द्रीय परिषदों के समान यह परिषद् केवल परामर्शदात्री तथा विभिन्न सन्दर्भों पर विचार मात्र करनेवाली संस्था न होगी। केन्द्र द्वारा प्रचालित अन्य संस्थानों (Academies) के समान उसके लिए आवश्यक धन भी निर्धारित होगा तथा वह एक संस्कृत-अनुदान-आयोग के रूप में कार्य करेगी।

(१८) इस प्रश्न पर हमने विस्तार से छान-बीन की। अनेक साक्ष्यों ने यह विचार व्यक्त किया कि जब-तक इस प्रकार का प्रहरी निर्धारित नहीं किया जाता, संस्कृत ऐसे उपेक्षित विषय को अपना प्राप्तव्य कभी हाथ नहीं आ सकता। यहाँ हम अपने साक्ष्यों के उन उत्साह तथा व्यग्रतापूर्ण विचारों की चर्चा करना चाहेंगे, जिनकी ओर उन्होंने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उन्हें इस बात से असन्तोष है

कि प्रदेशों का सम्पूर्ण ध्यान स्थानीय भाषाओं के विकास पर ही केन्द्रीभूत है। कुछ प्रदेश संस्कृत के प्रति उदासीन हैं। ऐसे प्रदेशों की शिक्षा-व्यवस्था में संस्कृत को और अधिक पीछे हटाने की चेष्टा की जाती है तथा उसको बहिष्कृत करने के छोटे-छोटे अवसरों को भी पञ्जे में पकड़ लिया जाता है। हमारे साक्ष्यों ने हमारे सामने यह तर्क प्रस्तुत किया कि संस्कृत प्रदेशों का विषय है। प्रदेशों को केवक धन के लिए ही केन्द्र पर आश्रित नहीं रहना होता। अन्य सन्दर्भों के सन्बन्ध में भी वे केन्द्र का मुख निहारते रहते हैं। ऐसी दशा में प्रदेशों के लिए यह उचित नहीं जान पड़ता कि वे संस्कृत जैसी अखिल भारतीय तथा महत्त्व की भाषा के लिए अपनी-अपनी स्वतन्त्र नीतियाँ निर्धारित करें। प्रदेशों के लिए यह उचित भी न होगा कि वे केन्द्र द्वारा निर्धारित किसी अखिल भारतीय नीति की उपेक्षा करें। कुछ साक्ष्यों ने तो यहाँ तक कह दिया कि संस्कृत को एक केन्द्रीय प्रसंग बना दिया जाना चाहिए। कुछ लोगों ने यह भी सुझाव दिया कि हरिजनों के समान संस्कृत पाठशालाएँ तथा संस्कृत के विद्वान् भी अधिक दलित (Depressed) हैं। अतः हरिजन कल्याण विभाग के समान इनके लिए भी एक विशेष केन्द्रीय विभाग की स्थापना की जानी चाहिए।

(१९) इस सन्दर्भ में अपनी प्रतिक्रिया का भी हम यहाँ उल्लेख करना चाहेंगे। संस्कृत शिक्षा के अध्याय में तथा अन्यत्र भी हमने इस तथ्य पर विस्तारपूर्वक तर्क किया है कि संस्कृत हमारी मातृभाषा का एक आवश्यक अंग है। क्षेत्रीय भाषाओं से निकटतम सम्बन्ध रखते हुए उसकी शिक्षा दी जानी चाहिए। ऐसी स्थिति में प्रदेशों को संस्कृत की समुन्नति के उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्त कर देना समुचित नहीं प्रतीत होता। तथापि, यहाँ हम एक महत्त्वपूर्ण सुझाव देना चाहते हैं कि विश्वविद्यालयीय शिक्षा के समान केन्द्रीय शासन संस्कृत के समुन्नयन के प्रसंग में भी अपनी अभिरुचि को व्यावहारिक रूप दे। ऐसी स्थिति में संस्कृत को एक समवर्ती विशेष भाषा का स्थान देना होगा तथा उसके हित के संरक्षण के लिए एक केन्द्रीय-परिषद् की स्थापना भी करनी होगी।

(२०) कतिपय प्रमुख शिक्षा विशेषज्ञों ने उक्त केन्द्रीय संस्कृत-शिक्षापरिषद का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया है। विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग के वर्तमान अध्यक्ष ने इस केन्द्रीय-संस्कृत-शिक्षा-परिषद् की स्थापना का केवल समर्थन मात्र ही नहीं किया है, बल्कि उन्होंने उसकी एक रूपरेखा भी बनायी है। उन्होंने यहाँ तक सुझाव दिया है कि इस परिषद् के लिए दो करोड़ रुपये वार्षिक नियत किये जाने चाहिये। इस प्रसंग की चर्चा हम यहाँ इस तथ्य को पुष्ट करने के लिए कर रहे हैं कि संस्कृत के समुन्नयन के सन्दर्भ पर अनेक उत्तरदायित्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने गम्भीर मनन किया है। यह नहीं समझना चाहिए कि केवल उत्साहमात्र से प्रेरित होकर ही हमने केन्द्रीय संस्कृत-परिषद् की माँग की है। कुछ अन्य सुविख्यात शिक्षाविशेषज्ञों ने यह विचार भी प्रकट किया है कि एक स्वतन्त्र परिषद् के स्थान पर वर्तमान विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग के अन्तर्गत ही एक संस्कृत-विभाग की स्थापना करनी चाहिये, किन्तु हम इस विचार से सहमत नहीं है। इस सन्दर्भ में हमारे विचार बिलकुल

स्पष्टहैं। जैसा कि हम समझते हैं कि केन्द्रीय-संस्कृत-परिषद् अपने परामर्शदात्री रूप में संस्कृत शिक्षा सम्बन्धी समस्त विषयों के सम्बन्ध में अपनी संस्तुति प्रस्तुत करेगी, यहाँ तक कि ऐसे विषयों के सम्बन्ध में भी राय दे सकती है, जो विश्वविद्यालयीय संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र में आते हैं। इस परिषद् से यह भी आशा की जाती है कि देश में चल रही पाठशालाओं एवं गैर-शासकीय शोध-संस्थानों एवं परिषदों से सम्बन्धित प्राशासनिक एवं आर्थिक पहलुओं पर भी अपनी सम्मति प्रस्तुत करे।

(२१) यह परिषद् वास्तव में किस प्रकार सहायक सिद्ध हो सकेगी, इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। हमने यह देखा कि दक्षिण भारत के एक प्रदेश में छात्रों की संख्या कम होने के आधार पर संस्कृत के अध्यापकों को प्रतिवर्ष हटाए जाने की नोटिस दी जाती है। यहाँ तक कि संस्कृत पढ़ने के इच्छुक छात्रों को भी सामूहिकरूप से अन्य स्थानीय भाषाओं को लेने के लिए प्रेरित किया जाता है। ऐसी दशा में यह तर्क किया जाता है कि मितव्ययिता की दृष्टि से अथवा मांग कम होने के कारण विवश होकर यह कार्रवाही की जा रही है। इस स्थिति को रोकने के लिए केन्द्रीय संस्कृत-परिषद् ऐसी शिक्षानीति का निर्धारण कर सकती है कि छात्र संख्या जो भी हो, संस्कृत-शिक्षा का प्राविधान सदैव सुलभ रहना चाहिए। साथ ही साथ संस्कृत अध्यापकों को निरन्तर नियुक्त रखने के लिए वह प्रबन्ध को आर्थिक सहायता भी दे सकती है। हमारी दृष्टि में यह भी बात आयी है कि दो या तीन विषयों के आचार्य विद्वानों को संस्कृत पाठशालाओं में शोचनीय तथा हास्यास्पद वेतन प्राप्त होता है। इन अध्यापकों का वेतन सरकारी दफ्तरों के परिचारकों से भी कम होता है। इस कथन में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि विद्वानों तथा अध्यापकों के एक बहुत बड़े वर्ग की इस प्रकार की दरिद्रावस्था किसी भी राष्ट्र के गौरव के लिए अत्यधिक प्रतिघातात्मक तथा प्रतिक्रियात्मक प्रसंग है। यही नहीं, जिन भवनों में इन पारम्परिक संस्थाओं को चलाने की अनुमति दी जाती है, वे टूटी-फूटी दयनीय स्थिति में हैं। यदि सामान्य शिक्षा के माध्यमिक विद्यालय ऐसे भवनों में चलाये जाँय तो शिक्षा विभाग उनके विरुद्ध कार्‌रवाई के लिए तैयार हो जायगा तथा किसी प्रकार वह इन संस्थाओं को ऐसे भवनों में चलने न देगा। हमने अन्यत्र भी अपनी संस्तुतियों में एक प्रमुख संस्तुति के रूप में अनुरोध किया है कि संस्कृत विद्यालयों के अध्यापकों का वेतन समानान्तर संवर्ग के अंगरेजी विद्यालयों के अध्यापकों के समान कर देना चाहिए। पाठशालाओं के लिए यद्यपि हमने किसी निश्चित वेतनक्रम का सुझाव नहीं दिया है, तथापि हमने एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन तो किया ही है। वह यह है कि विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय, संस्कृत पाठशाला या संस्कृत महाविद्यलय जहाँ कहीं भी संस्कृत का विद्वान् अध्यापन करता हो उसका वेतन एक ही होना चाहिए। साथ ही साथ हमारा यह भी अनुरोध है कि इन संस्कृत-विद्यालयों को अपने टूटे-फूटे भवनों की मरम्मत तथा युवा छात्रों की अपेक्षाकृत अधिक अच्छी आवास-व्यवस्था के लिए कुछ राज्यानुदान का प्राविधान अवश्य किया जाना चाहिए। इन संस्कृत पाठशालाओं को अपनी कोई

निजी आय नहीं है। इनमें से अधिकांश क्षीण एवं सीमित साधनों पर ही जीवित हैं। इनके पास इतना धन नहीं है कि वे अध्यापकों का वेतन बढ़ा सकें। इनके वेतन में वृद्धि करने के सन्दर्भ में यदि शासन की प्रचलित नीति बनी रही तो इन पाठशालाओं में से अधिकांश के लुप्त हो जाने का भी भय है। ऐसी दशा में केन्द्रीय-परिषद् अध्यापकों की वेतनवृद्धि के लिए तथा भवन, छात्रावास एवं पुस्तकालय आदि में सुधार लाने के लिए इन संस्थाओं को अपेक्षित अनुदान दे सकती है।

(२२) संस्कृत के अध्यापकों को अच्छे वेतन दिये जाने के अतिरिक्त हमारी संस्तुतियों में संस्कृतशिक्षा के विकास तथा उसके संघटनविषयक संस्तुतियाँ भी सम्मिलित हैं। बाहरी सहायता के विना यह सम्भव नहीं है कि संस्कृत विद्यालय हमारी इन संस्तुतियों का कार्यान्वयन कर सकें। पारम्परिक शिक्षा के संवर्धन तथा उसके पुनरुज्जीवन के सन्दर्भ में हमने जो प्रस्ताव किये हैं उनमें से एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव यह भी है कि पारम्परिक संस्कृत-शिक्षा के पाठ्यक्रम में कुछ आधुनिक विषयों का समावेश किया जाना चाहिए तथा प्रशिक्षित अध्यापक रखे जाने चाहिए। संस्कृत विद्यालयों में शोध-विभाग खोले जाने चाहिए। छात्रवृत्तियाँ तथा वृत्तिकाएँ दी जानी चाहिए तथा समस्त व्यवस्था के शिखर पर संस्कृत-विश्वविद्यालय की स्थापना की जानी चाहिए। इसके साथ ही हमारे सामने देश में व्यक्तिगत रूप से संघटित शोध-संस्थानों का भी प्रश्न उपस्थित होता है। जहाँ तक इन संस्थाओं के लिए राज्यानुदान का प्रश्न है, यह आवश्यक है कि उन्हें किसी एक समन्वित व्यवस्था के अन्तर्गत सुसंघटित किया जाय। इसके अतिरिक्त वे किस प्रकार एक व्यवस्थित रूप में चलें, इस पर भी हमें ध्यान देना होगा। केन्द्रीय-संस्कृत-परिषद् को छोड़ किसी भी अन्य साधन द्वारा इन प्रस्तावों का कार्यान्वयन सम्भव नहीं जान पड़ता, क्योंकि संस्कृत-परिषद् द्वारा ही इस दिशा में मार्गप्रदर्शन का कार्य सम्पन्न किया जा सकता है तथा तदनुसार आर्थिक सहायता भी दी जा सकेगी। अन्यत्र हमने एक या अधिक विश्वविद्यालयों की स्थापना की संस्तुति की है। इन विश्वविद्यालयों की स्थापना तथा इनकी गति-विधि के सन्दर्भ में भी यह केन्द्रीय-संस्कृत-परिषद् एक शक्तिशाली साधन की भूमिका निभा सकेगी।

(२३) संस्कृत के प्राभृतों का देशव्यापी सर्वेक्षण परमावश्यक है। शासकीय अधिकार दिये जाने पर केन्द्रीय-संस्कृत-परिषद् इस सर्वेक्षण का कार्य भी भली-भाँति कर सकती है। इसी प्रकार संस्कृत के पण्डितों को सम्मानित करने के सन्दर्भ में तथा उनके संरक्षण के सन्दर्भ में भी जो अनुरोध हमने किया है उस सम्बन्ध में भी शासन को यथोचित सम्मति देने का भी कार्य इस परिषद् द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है।

(२४) जैसा कि हम कह चुके हैं कि एक परामर्शदात्री समिति के रूप में केन्द्रीय-संस्कृत-परिषद् के अन्तर्गत संस्कृत-शिक्षा का सम्पूर्ण क्षेत्र कार्य करेगा। यह संस्कृत-परिषद् अपने अन्यान्य कार्यों के साथ संस्कृत-शिक्षा के विभिन्न स्तरों का निर्णय करेगी। पाठ्यक्रम, अध्यापन, प्रकाशन तथा इस प्रकार के अन्य कार्यों का

समन्वयन करेगी तथा पाठ्यक्रम एवं शिक्षा का आदर्श निश्चित करेगी एवं उनमें एकरूपता स्थापित करेगी। इसके अतिरिक्त विभिन्न कोटि के अध्यापकों तथा शोधनिदेशकों की योग्यता निर्धारण करना भी इस परिषद् का कार्य होगा। साथ ही साथ यह परिषद् पारम्परिक संस्कृत-शिक्षा तथा उसके अनुयायियों को लाभान्वित करने के विविध मार्गों का अनुसरण करेगी। जैसे संस्कृत-शिक्षा के अपने क्षेत्र में तथा अन्य जिन-जिन क्षेत्रों में संस्कृत-सम्बन्धी आवश्यकताएँ होंगी, उन समस्त क्षेत्रों में संस्कृत के पण्डितों की नियुक्ति के सम्बन्ध में भी यह परिषद् संस्कृत-जगत् की सहायता करेगी।

(२५) उक्त केन्द्रीय संस्कृत परिषद् के अधिकारों के विषय में हमारा सुझाव है कि सर्वप्रथम उसे विधि द्वारा संस्थापित स्वायत्त संस्था का रूप दिया जाना परमावश्यक है। उसके सदस्यों में देश के समस्त भागों के ऐसे विद्वानों का निर्धारण किया जाना चाहिए, जो संस्कृत शिक्षा के समस्त पहलुओं (आधुनिक, पारम्परिक, शैक्षिक तथा प्राशासनिक) के प्रतिनिधिभूत विद्वान् हों। हमने दो और केन्द्रीय संघटनों की चर्चा की है। केन्द्रीय भारतीय ज्ञान-संस्थान तथा केन्द्रीय पाण्डुलिपि सर्वेक्षण विभाग। यतः केन्द्रीय-ज्ञान-संस्थान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होगा, उसका एक स्वतंत्र संघटन होना आवश्यक है। किन्तु, जैसा कि हम कह चुके हैं इस ज्ञान-संस्थान के साथ एक सुदृढ़ संस्कृत-विभाग का होना भी अत्यावश्यक है। इसलिए इस सीमा तक केन्द्रीय परिषद् तथा केन्द्रीय भारतीय ज्ञान-संस्थान को एक साथ कार्य करना होगा। पाण्डुलिपि-सर्वेक्षण विभाग चाहे वह ज्ञान-संस्थान के साथ कार्य करे अथवा केन्द्रीय परिषद् की देख-भाल में हो, केन्द्रीय संस्कृत-परिषद्, केन्द्रीय भारतीय ज्ञान-संस्थान तथा पाण्डुलिपि सर्वेक्षण-विभाग को अपनी-अपनी प्रबन्ध-समितियों में परस्पर एक दूसरे के प्रतिनिधियों को सम्मिलित करना चाहिए।

प्रदेशों में संस्कृत-शिक्षा

(२६) प्रादेशिक स्तर पर संस्कृत शिक्षा के प्रकाशन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम हम संस्कृत-निरीक्षणालय की चर्चा करते हैं। उत्तरप्रदेश में सबसे अधिक संस्कृत-विद्यालय तथा महाविद्यालय हैं। राज्यसरकार द्वारा अब आदर्श संस्कृत महाविद्यालय तथा पुनः संघटित संस्कृत महाविद्यालय की योजना भी चलायी जा रही है। इनमें से कई विद्यालय ऐसे हैं जो पुनः संघटन की शर्तों से बचना चाहते हैं तथा आधुनिक विषयों के अध्यापन की यथोचित व्यवस्था न करके पुनः संघटन के उद्देश्यों का हनन करते रहे हैं। हमें यह बताया गया कि प्रदेश में संस्कृत निरीक्षकों की संख्या इतनी कम है कि उनके लिए यह सम्भव नहीं होता कि वे प्रतिवर्ष सभी संस्कृत-पाठशालाओं का निरीक्षण कर सकें। अतः उनके निरीक्षण इतने कम तथा बहुत समय के बाद हुआ करतें हैं कि अनेक संस्कृत-विद्यालयों का निरीक्षण आज तक हुआ ही नहीं है। ऐसे प्रदेशों में संस्कृत-निरीक्षकों की संख्या में वृद्धि करने की आवश्यकता है, जिससे: पुनःसंघटन की आवश्यकताओं का ठीक-ठीक कार्यान्वियन हुआ है या नहीं? इसे सुनिश्चित किया जा सके।

(२७) राजस्थान में अनेक साक्ष्यों ने इस बात पर बलपूर्वक आग्रह किया है कि संस्कृत का सम्बन्ध शिक्षानिदेशक से न होकर सीधे शिक्षासचिव से होना चाहिए। यतः इस सुझाव में कुछ औचित्य प्रतीत होता है। हम यहाँ इस सन्दर्भ में थोड़ा बहुत विचार करना चाहते हैं। इस समय शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है। तकनीक, शिल्प, ग्रामीण-क्षेत्र, प्रारम्भिक तथा माध्यमिक विद्यालय, विश्वविद्यालय आदि शिक्षा की विस्तृत शाखाएँ आज देखी जा रही हैं। आधुनिक शिक्षा के शैशवकाल में जो शिक्षाव यवस्था ब्रिटिश शासनकाल में चलायी गयी थी, वह आज की जटिल तथा विशिष्टीकृत शिक्षा के विभिन्न अंग प्रत्यंगों का निर्वाह करने में अपने आपको असमर्थ पा रही है। ज्ञान, सामर्थ्य या अभिरुचि किसी भी दृष्टिकोण से शिक्षानिदेशक ऐसे एक व्यक्ति से यह आशा कदापि नहीं की जा सकती कि वह शिक्षा के इन सभी पहलुओं का सफल नियंत्रण तथा सञ्चालन कर सके। अतः हमारे विचार से अब वह समय आ गया है कि शिक्षानिदेशालय के एक ठोस स्तम्भ को तोड़ कर विश्वविद्यालयीय शिक्षा, तकनीकी शिक्षा आदि के लिए पृथक्-पृथक् निदेशालय बना दिये जायँ। इस विभाजन व्यवस्था के अन्तर्गत संस्कृत के लिए भी एक पृथक् निदेशालय की स्थापना अपेक्षित है। यह आवश्यक नहीं है कि इन विभिन्न निदेशालयों के ऊपर एक महानिदेशालय बना कर इस समस्त व्यवस्था को स्थूल तथा भारी बना दिया जाय। उचित तो यही होगा कि सभी प्रदेशों में इन विभिन्न निदेशालयों का सीधा सम्बन्ध शिक्षा सचिव से हो तथा शिक्षा सचिवालय में इन विभिन्न शिक्षानिदेशालयों के सम्बन्ध में कार्य करने वाले अलग-अलग अनुभाग खुले हों तथा संस्कृत-शिक्षा के लिए एक विशेष अनुभाग पृथक् रूप से निश्चित किया गया हो। इस सन्दर्भ में यह व्यवस्था उचित प्रतीत होती है कि इन विभिन्न निदेशालयों के लिए विशेषतः संस्कृतनिदेशक की सहायता के लिए एक स्थानीय अराजकीय परामर्शदात्री समिति का भी प्राविधान किया जाना चाहिए। यह सम्भव है कि कुछ प्रदेशों में संस्कृत पाठशालाओं की संख्या बहुत कम हो। ऐसी स्थिति में यह बात ध्यान देने की है कि इन पाठशालाओं की अपेक्षा संस्कृत का अध्ययन कहीं अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। अतः प्रत्येक प्रदेश में एक पृथक् संस्कृत निदेशालय तथा एक अराजकीय परामर्शदात्री समिति का गठन अत्यन्त आवश्यक है।

पण्डित अध्यापकों की स्थिति

(२८) पारम्परिक संस्कृत-शिक्षकों की स्थिति में सुधार लाने के सम्बन्ध में कुछ प्राशासनिक कार्यों के सुझाव दिये जा चुके हैं। इन सभी सुझावों को यहाँ हम एक स्थान पर एकत्रित कर रहे हैं। विश्वविद्यालयों तथा कालेजों में संस्कृत के शिक्षकों तथा प्रोफेसरों की स्थिति समान होनी चाहिए। अनेक विश्वविद्यालयों में इस प्रकार की समानता लायी भी जा चुकी है। हम आशा करते हैं कि समस्त देश में यह व्यवस्था शीघ्र ही लागू हो जायगी। कुछ विश्वविद्यालयों में शिष्टपरिषद् (Senats) तथा विद्यापरिषद् (Academie Council) एवं कार्यपरिषद् (Executive Council) जैसी आधिकारिक परिषदों में पारम्परिक संस्कृत के पंडितों

को सम्मिलित नहीं किया जाता। ऐसे विश्वविद्यालय जहाँ पाठशालीय परीक्षाएँ भी ली जाती हैं, वहाँ भी इन परिषदों के लिए संस्कृत के पण्डितों को मत देने का अधिकार नहीं दिया गया है। वे इन परिषदों के सदस्य भी नहीं हो सकते। संस्कृत के पण्डितों की सामाजिक स्थिति की समानता के एक अंग के रूप में यह भी वाञ्छनीय है कि इन पारम्परिक संस्थाओं के पाठ्यक्रमों को उपाधि पाठ्यक्रम बना दिया जाय। इस उपाय से 'प्रमाणपत्र' से जो लघुता की भावना उत्पन्न हो जाया करती है वह समाप्त हो सकती है। उच्च-संस्कृतपरीक्षाओं को उत्तीर्ण करनेवाले छात्रों को वही लाभ प्राप्त होना चाहिए जो किसी भी विश्वविद्यालय की परीक्षाओं को उत्तीर्ण करने वाले छात्रों को प्राप्त है।

(२९) जब तक हमारे सुझावों के अनुसार पाठशालाओं का पुनः संगठन नहीं हो जाता है तथा उनकी उपाधियों में एकरूपता तथा सर्वमान्यता की वास्तविक स्थिति नहीं आ जाती है तब तक अन्तरिम व्यवस्था के रूप में विभिन्न संस्कृत-प्रमाणपत्रों तथा उनके नामों में एकरूपता लाने की चेष्टा की जानी चाहिए। जैसा कहा भी जा चुका है कि हमारे देश के विभिन्न भागों में पारम्परिक संस्कृत की परीक्षाओं के भिन्न-भिन्न नाम प्रचलित हैं। यह आवश्यक है कि समस्त देश की पारम्परिक संस्कृत की परीक्षाओं के नाम, स्तर तथा अध्ययन समान होने चाहिएँ, जिससे देश के एक भाग के उपाधिधारी को देश के दूसरे भाग में नियुक्ति प्राप्त करने में किसी भी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़े।

इसी प्रकार विभिन्न स्तर की संस्कृत परीक्षाओं की समानान्तर अँगरेजी परीक्षाओं से समकक्षता निर्धारित की जानी चाहिए। इस प्रकार मध्यमा, शास्त्री या आचार्य को सेवाओं के कुछ वर्गों के लिए एस्० एस्० एल्० सी०, बी० ए० तथा एम्० ए० के समकक्ष मान्यता प्राप्त होनी चाहिए। उत्तरप्रदेश तथा बम्बई में इस प्रकार की मान्यता तथा समकक्षता मानी जा चुकी है, किन्तु अन्य प्रदेशों में यह कार्य अभी तक नहीं हो पाया है। यदि संस्कृत परीक्षाओं की मान्यता समानान्तर अन्य अंगरेजी परीक्षाओं के समकक्ष मान ली जाती है तो पारम्परिक संस्कृत पाठशालाओं से निकले हुए छात्रों के लिए भी सेवाओं के अनेक द्वार खुल जायेंगे। अतः हम सभी प्रादेशिक शासनों से अनुरोध करते हैं कि वे इस मान्यता के प्रश्न पर पूर्ण विचार करें तथा अपेक्षित समकक्षता उद्घोषित करें, जिससे शास्त्री, शिरोमणि तथा विद्वान् परीक्षाओं को उत्तीर्ण करनेवाले छात्र केवल अध्यापन को ही अपनी जीविका का मार्ग न समझें।

निःशुल्क शिक्षा

(३०) यहाँ हम संस्कृत शिक्षा के एक विशेषस्वरूप की चर्चा कर रहे हैं। हमारी यात्रा में अनेक साक्ष्यों ने विशेष आग्रहपूर्वक हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि पारम्परिक संस्कृत की शिक्षाव्यवस्था में छात्रों को निःशुल्क आवास तथा भोजन की व्यवस्था सुविधा के अनुसार हमारे देश में अतीतकाल से पुष्पित तथा पल्लवित हुई है। आज भी यह प्रथा कुछ पारम्परिक संस्कृत पाठशालाओं में

प्रचलित है। यद्यपि उसकी मात्रा अब पूर्वापेक्षया बहुत कम हो गयी है। हमें यह बताया गया कि निःशुल्क आवास तथा भोजन की व्यवस्था से छात्रों का एक ऐसा वर्ग तैयार होता है जो कि वास्तव में संस्कृत के प्रति दत्तचित्त नहीं हुआ करता तथा उनके लिए संस्कृत पाठशालाओं में अध्ययन को छोड़कर कोई अन्य मार्ग नहीं है। प्रायः यह देखा जाता है कि अभिरुचि की कमी से जब कभी उनका मन इन संस्थाओं में संस्कृत पढ़ने से ऊब जाता है या उन्हें कोई दूसरा कार्य प्राप्त हो जाता है, तब वे पाठशाला छोड़ दिया करते हैं। अतः यह सुझाव दिया गया कि इन संस्कृत पाठशालाओं में भी शुल्क लगा दिया जाय। इस व्यवस्था से छात्र पारम्परिक संस्कृत की शिक्षा के प्रति विशेष ध्यान देंगे तथा इससे कुछ अच्छे छात्र भी संस्कृत शिक्षा में भाग ले सकेंगे। यह देखा गया है कि उत्तर प्रदेश की जिन पाठशाओं में शुल्क लिया जाता है, वहाँ वास्तव में कुछ अच्छे छात्र पाये जाते हैं तथा वहाँ की छात्रसंख्या भी अन्य पाठशालाओं की अपेक्षा अधिक हुआ करती है। दक्षिण भारत में पुनः संघटित संस्कृत विद्यालय या प्राच्य हाई स्कूल की योजना चल पड़ने से वहाँ के लोग भी यह सोच रहे हैं कि इन संस्थाओं में भी शुल्क लगा दिया जाय। हमें बताया गया कि केरल के कुछ संस्कृत विद्यालयों में शुल्क लिया जाता है।

(३१) इस सन्दर्भ में यदि हम इस विचार को स्वीकार भी कर लें कि शुल्क लिये जाने से छात्र संख्या में वृद्धि सम्भावित है तो भी हमें इस बात पर गम्भीरतापूर्वक सोच-विचार तो करना ही होगा कि क्या सर्वत्र तथा सभी स्तर पर शुल्क का नियम वांछनीय होगा। यह तो सच है ही कि केवल दान पर ही किसी शिक्षा-व्यवस्था का चिरजीवी होना सम्भव नहीं है। इस सन्दर्भ में हमें शिक्षानीति की वर्तमान विचारधारा पर ध्यान देना होगा। कई एक देशों में शिक्षा कुछ श्रेणियों में निःशुल्क तथा अनिवार्य है। प्राचीन भारत में निःशुल्क शिक्षा के आदेश का पालन किया जाता था तथा आज हम उसे आधुनिक शिक्षा की विचार परम्परा से मिला देना चाहते हैं। जहाँ तक उच्च शिक्षा का प्रश्न है, इंग्लैंड आदि देशों में छात्रों को अधिक से अधिक संख्या में छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं। एक समय था जब कि शिक्षा के क्षेत्र में शुल्क लेने के प्रसंग को हम घृणा की दृष्टि से देखा करते थे। हमारी यह घृणाभावना किसी न किसी रूप में आज के शिक्षा दर्शन में भी मान्य है। ऐसी दशा में संस्कृत शिक्षा में दी जाने वाली सुविधाओं के विपरीत किसी भी प्रकार का सहसा ठोस कदम उठाना या उसमें परिवर्तन लाना हम उचित नहीं समझते।

संस्कृत-अध्यापकों की योग्यताएँ आदि

(३२) संस्कृत-शिक्षा, संस्कृत का पठन-पाठन, संस्कृत शोधकार्य तथा पाण्डुलिपियों के अध्याय में हमने संस्कृत के क्षेत्र में कार्यरत संस्थाओं के विभिन्न श्रेणियों के कर्मचारियों की योग्यता के सन्दर्भ में कुछ थोड़ी सी चर्चा की है। अपने यात्राक्रम में हमने जिन विभिन्न संस्थाओं का निरीक्षण किया उनके कर्मचारियों की योग्यता में किसी प्रकार का अभाव नहीं देखा, तथापि यहाँ हम उक्त संस्थाओं के

विभिन्न वर्गों के संस्कृत पदों के लिए अपेक्षिक न्यूनतम योग्यताओं के सम्बन्ध में अपना सुझाव देना चाहते हैं।

(३३) विद्यालयों एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के संस्कृत शिक्षकों को शास्त्री, आचार्य, शिरोमणि, तीर्थ आदि में से कोई न कोई उच्च द्वितीय श्रेणी की मान्यता प्राप्त उपाधि योग्यता प्राप्त होनी चाहिए या तत्समकक्ष योग्यता होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उसके पास किसी मान्यताप्राप्त प्रशिक्षण का भी प्रमाण-पत्र होना अपेक्षित है। लघुमाध्यमिक विद्यालयों के संस्कृत शिक्षकों को मध्यमा या समकक्ष मान्यताप्राप्त परीक्षा उत्तीर्ण होना चाहिए। मान्यताप्राप्त संस्कृत विद्यालयों के लिए भी यही योग्यता निर्धारित की जानी चाहिए।

(३४) महाविद्यालयों तथा उपाधि-महाविद्यालयों के संस्कृत-अध्यापकों को कम से कम एम्. ए. अथवा समकक्ष मान्यताप्राप्त परीक्षा उत्तीर्ण होनी चाहिए। इस नियुक्ति के लिए विश्वविद्यालयों तथा पाठशालाओं दोनों ही में प्रशिक्षित व्यक्तियों को ही वरीयता देनी चाहिए। प्रधानाध्यापक या उपाधि महाविद्यालयों के प्राध्यापक तथा विभागाध्यक्ष पदों के लिए शोध-उपाधि, उपाधि कक्षाओं के अध्यापन का कम से कम पाँच वर्षों का अनुभव या कोई उच्च-शोधकार्य की योग्यता आवश्यक होनी चाहिए। पुस्तकालय के अध्यक्ष को भी प्रतिष्ठित शोध-विद्वान् होने के साथ ही साथ पाण्डुलिपि परीक्षण, अभिलेख संरक्षण, विज्ञान तथा ग्रन्थ-समालोचना का विशेषज्ञ होना आवश्यक है। विश्वविद्यालयों के शिक्षण तथा शोध-विभागों में कम से कम दो शास्त्रों का विद्वान् एक पारम्परिक पण्डित को नियुक्त किया जाना चाहिए। इसी प्रकार शोध-संस्थानों के तथा शोध-योजनाओं के कुछ स्थानों पर तथा उच्चकोटि के विशेष स्थानों के लिए शास्त्रज्ञान पर विशेष बल दिया जाना चाहिए। महाविद्यालयों में तथा विश्वविद्यालयों के विभागों में तथा शोधसंस्थानों में किसी भी तृतीय श्रेणी के उपाधिधारी की नियुक्ति का हम अनुमोदन नहीं करते।

(३५) जहाँ तक पाठशालाओं तथा संस्कृत महाविद्यालयों का प्रश्न है, यह अत्यधिक वाञ्छनीय होगा कि इन संस्थाओं में एक से अधिक शास्त्रों के सुप्रतिष्ठित आचार्यों की नियुक्ति की जाय। प्राचीन पारम्परिक संस्कृत-विद्यालयों को चाहिए कि वे इस कोटि के विद्वानों को यथासम्भव अधिक विद्वान् नियुक्त करें। विभिन्न शास्त्रों के लिए उस शास्त्र के आचार्य परीक्षोत्तीर्ण विशेषज्ञ विद्वान् ही नियुक्त किये जाँय। ऐसे विद्वानों को कम से कम तीन वर्षों का अध्यापन अनुभव भी होना चाहिए।

(३६) जैसा कि हमारा सुझाव है कि विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों के शोधविभागों में एक पारम्परिक पण्डित की नियुक्ति की जानी चाहिए, उसी प्रकार संस्कृत पाठशालाओं में भी एक संस्कृत के एम्० ए० की नियुक्ति की जानी चाहिए, जो कि साहित्य, इतिहास, तुलनात्मक भाषाविज्ञान आदि विषयों का सम्यक् अध्यापन कर सके। हमारे द्वारा संस्तुत पुनःसंघटन समिति के अनुसार संस्कृत

विद्यालयों में एक एम्. ए. का रखा जाना केवल संस्कृत पठन-पाठन की दृष्टि से ही उपयोगी सिद्ध न होगा, बल्कि आधुनिक विषयों के अध्यापन में भी उपकारक होगा।

(३७) जैसा कि संस्कृत शिक्षण के अध्याय में बताया जा चुका है कि संस्कृत पढ़ाने के लिए प्रशिक्षित अध्यापकों की ही नियुक्ति की जानी चाहिए। अतः हमारा अनुरोध कि शासन प्रत्येक प्रदेश में संस्कृत अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम का आयोजन करे।

(३८) संस्कृत विश्वविद्यालयों में ऐसे सुविख्यात पारम्परिक पण्डितों की नियुक्ति की जानी चाहिए जो कि मौलिक ग्रन्थों की रचना में भी सक्षम हों। सहायक अध्यापकों को भी अपने-अपने विषयों में विशिष्टीकृत योग्यता के साथ-साथ मौलिक शोधकार्य की क्षमता प्रमाणित करनी चाहिए।

(३९) अपने-अपने विषयों में विशिष्टीकरण के अतिरिक्त संस्कृत पाठशालाओं के कुछ छात्रों को पाण्डुलिपियों की विशेष लिपियों का ज्ञान प्राप्त करना भी लाभदायक सिद्ध होगा। ऐसे छात्रों को पाण्डुलिपि-पुस्तकालयों में पाण्डुलिपि तैयार करने तथा उनके मिलान करने के कार्य पर भली-भाँति नियुक्त किया जा सकता है। कुछ छात्रों को संस्कृत का प्रूफ पढ़ने की तथा संस्कृत के प्रकाशनसम्बन्धी अन्य कार्यों में भी योग्यता प्राप्त करनी चाहिए।

सेवा के क्षेत्र

(४०) सामान्यतः प्रत्येक संस्कृतस्नातक के लिए सामान्यतः वे सभी मार्ग खुले हुए हैं, जो कि एक साधारण स्नातक के लिए हैं। ऐसे लोग जो कि अपने विषय में या दर्शन, प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति या पुरातत्त्व तथा शिलालेख की ओर प्रवृत्त हैं, उनके लिए संस्कृत की एक विपुल सांस्कृतिक तथा साहित्यिक पृष्ठभूमि तैयार है। संस्कृत के विद्वान् लेखन कार्य या सांस्कृतिक संस्थाओं का संघटन कार्य अपनाकर अपने लिए जीविका का क्षेत्र बना सकते हैं। भारतीय प्रशासकीय सेवा (I. A. S.) तथा केन्द्रीय लोक-सेवा-आयोग की अन्य प्रतियोगिता परीक्षाओं में संस्कृत को भी स्थान दिया गया है। संस्कृत के व्युत्पन्न छात्र इन परीक्षाओं में भी बैठ सकते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है कि संस्कृत के विद्वानों को राष्ट्रिय सेवाओं तथा भारतीय दूतावास दोनों ही में सांस्कृतिक अधिकारी के पद पर नियुक्ति अधिक उपयुक्त होगी। पारम्परिक संस्कृत का विद्वान् केवल संस्कृत पाठशालाओं ही में नहीं, बल्कि सामान्य विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा शोधविभागों में भी अध्यापक के रूप में नियुक्त किया जा सकता है। हमने यह भी संस्तुति की है कि ऐसे विद्वानों की नियुक्ति विश्वविद्यालयों के शोधविभागों में, शोधसंस्थानों में तथा विशेष शोधयोजनाओं में भी की जानी चाहिए। हमारा यह भी अनुरोध है कि पाठशालाओं में भी शोध-विभाग खोले जायँ तथा संस्कृत विश्वविद्यालयों की भी स्थापना की जाय। इन सभी में संस्कृत के विद्वानों को कार्य करने के लिए अधिक से अधिक अवसर प्राप्त हो सकेंगे।

(४१) मठों, मन्दिरों तथा सामुदायिक विकास-योजनाओं एवं राष्ट्रिय प्रसार सेवाओं में कुछ ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न पण्डितों की नियुक्ति की जानी चाहिए जो कि धर्म तथा सदाचार पर आकर्षक और प्रभावशाली व्याख्यान देने में दक्ष हों। हमारा अनुरोध है कि इन संघटनों के प्रचार तथा व्याख्यान सम्बन्धी क्रिया-कलापों में ऐसे विद्वानों की सेवा का लाभ उठाना चाहिए। संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर के एक पण्डित स्थानीय भारतीय-सेवासमाज के क्षेत्रिय मंत्री हैं। इस प्रकार के संघटन कार्य में भी संस्कृत के पण्डित सफलता प्राप्त कर सकते हैं। यह कहा जा चुका है कि पश्चिम बंगाल प्रशासन के शिक्षाविभाग में एक संस्कृत-कथावाचक की नियुक्ति समय पर की जाती है। आसाम के जेलों में कैदियों को नैतिक शिक्षा देने के लिए पण्डितों की नियुक्ति प्रचलित है। उड़ीसा में आयोग को एक ऐसे युवक से भेंट हुई जो संस्कृत तथा सम्बद्ध सांस्कृतिक विषयों के वैतनिक व्याख्याता के रूप में जीविकोपार्जन करता था। उसने हमें बताया कि वह प्रति व्याख्यान पचास रुपये लेता है तथा जनता में उसके व्याख्यानों की अत्यधिक माँग है। जैसा कि संस्कृत को जनप्रिय बनाने के प्रसंग में, दशम अध्याय में, बताया जा चुका है कि आज रामायण, महाभारत तथा पुराणों के कथावाचकों की माँग बढ़ती जा रही है। सुशिक्षित समाज भारतीय दर्शनों के अध्ययन की ओर अधिक रुचि लें रहा है। ऐसे जनवर्ग या अध्ययनसमूहों में अध्यापन कार्य में भी हमारे पारम्परिक विद्वान् जीविका प्राप्त कर सकते हैं।

(४२) व्यावसायिक विषयों में संस्कृत के पण्डितों को पुरोहित, वैद्य तथा ज्योतिषी के रूप में जीविका मिल सकती है। संस्कृत के मुद्रणालयों को संस्कृत के टाइप बैठाने के लिए कम्पोजिटरों की आवश्यकता पड़ती है। संस्कृत विद्यालयों के निर्धन छात्र जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ हैं, वे इस प्रकार के कार्य में योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु संस्कृत प्रूफ पढ़ने के लिए संस्कृत की उच्चतर शिक्षा अपेक्षित होगी। संस्कृत के सामान्य ज्ञान से संस्कृत की पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि करना भी जीविकोपार्जन का साधन बनाया जा सकता है।

(४३) संस्कृत पाठशालाओं के संघटन के उद्देश्यों में से एक प्रासंगिक अनुरोध यह भी है कि ऐसी व्यवस्था की जाय कि जिससे इन संस्थाओं से निकले हुए छात्रों के लिए जीविकोपार्जन के अधिक से अधिक मार्ग खुल जायँ। संस्कृत के संशोधित पाठ्यक्रम में छात्रों को अंगरेजी, सामान्य-विज्ञान, गणित तथा सामाजिक अध्ययन की भी शिक्षा का प्राविधान किया जाना चाहिए। इस व्यवस्था से संस्कृत विश्व-विद्यालयों तथा महाविद्यालयों से निकले हुए छात्रों को भी ऐसी सेवाओं के लिए अपेक्षित योग्यता प्राप्त हो जायेगी, जिसे कि एस्० एस्० एल्० सी० तथा स्नातक छात्र प्राप्त किया करते हैं। यहाँ हम इस तथ्य पर पुनः बल देना चाहते हैं कि पारम्परिक प्रणाली के पुनःसंघटन का यही चरम लक्ष्य है कि इस प्रणाली द्वारा ऐसे नये प्रकार के संस्कृत विद्वान् तैयार किये जायँ, जो एक सजीव एवं सुदृढ़ प्रणाली के माध्यम से पारम्परिक अध्ययन में समर्थ हों तथा उसका भली-भाँति निर्वाह भी कर सकें।

सांस्कृतिक-मन्त्रालय

(४४) श्री सी० पी० रामस्वामी अय्यर जैसे प्रख्यात प्रशासक ने यह विचार व्यक्त किया है कि यतः स्वतंत्र भारत में देश के सर्वांगीण विकास एवं पुनरुज्जीवन का प्रयास चल रहा है, तथा ब्रिटिश शासन के समय उपेक्षित हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति के उत्थान की दिशा में हमारे नेता क्रियाशील होने के लिए उत्सुक भी हैं, ऐसी स्थिति में यह परमावश्यक है कि एतदर्थ एक विशेष मन्त्रालय स्थापित किया जाय। यह मंत्रालय केवल सांस्कृतिक विकास पर ही दत्तचित्त नहीं रहेगा, बल्कि विभिन्न मंत्रालयों में बिखरे हुए तथा दोहराये जानेवाले सांस्कृतिक सन्दर्भों को एक प्रशासन में एकत्रित करने का भी कार्य करेगा। इस समय मंत्रियों के लिए जो विभाग नियत किये जाते हैं, वे प्रायः वही हैं, जिन्हें कि विदेशी शासकों ने नियत किया था। इसका कोई कारण नहीं कि अपने नवस्थापित गणतंत्र की आवश्यकताओं के अनुसार हम एक नये तरीके से उन विभागों को पुनः संगठित क्यों न करें? इस प्रकार के पुनः संगठन कार्य में संस्कृति-मंत्रालय को एक प्रमुख स्थान प्राप्त होना चाहिए। आधुनिक राष्ट्रों से अनेक राष्ट्रों ने अपने-अपने देश में इस प्रकार के संस्कृति विभागों की व्यवस्था की है। यतः संस्कृत एक सर्वोपरि सांस्कृतिक सन्दर्भ है। यह आयोग यह समझता है कि केन्द्र में एक संस्कृति-मंत्रालय की स्थापना का कार्य संस्कृत के अध्ययन को सुदृढ़ तथा समुन्नत करने की दिशा में एक समुचित पदन्यास सिद्ध होगा।

—:०:—

द्वादश अध्याय

सर्वेक्षण तथा संस्तुतियाँ

सर्वेक्षण

प्रथम अध्याय—इस अध्याय में हमने आयोग की नियुक्ति तथा उसके कार्यारम्भ के विषय में अपना वक्तव्य प्रस्तुत किया है। यहाँ हमने अपने कार्यक्षेत्र की दृष्टि से जो छान-बीन करनी है, उसकी विवेचना की है। इस अध्याय में हमने केन्द्रीय शासन द्वारा आयोजित विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग तथा माध्यमिक-शिक्षा-आयोग की चर्चा की है। साथ ही साथ राजभाषा-आयोग का भी प्रसंग आया है तथा विभिन्न राज्यों एवं सार्वजनिक संघटनों द्वारा आयोजित विभिन्न संस्कृत पुनःसंगठन समितियों पर भी हमने प्रकाश डाला है। इन सभी आयोजनों की चर्चा में हमने उनसे सम्बद्ध उन बातों पर ही दृष्टि डाली है जो कि संस्कृतसम्बन्धी हमारे अध्ययन के अन्तर्गत आते थे।

द्वितीय अध्याय—इस अध्याय में हमने भारतवर्ष में संस्कृत की शिक्षा का ऐतिहासिक सर्वेक्षण किया है। यहाँ उन परिस्थितियों का चित्रण किया गया है, जिसमें कि पारम्परिक तथा आधुनिक संस्कृत-शिक्षा के दो समानान्तरस्वरूप प्रकट हुए। इन दोनों स्रोतों के अनुसार विगत डेढ़ सौ वर्षों में जिन संस्थाओं तथा क्रिया-कलापों ने जन्म लिया उनका भी वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

तृतीय अध्याय—इस अध्याय में पाठशालाओं, माध्यमिक विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों तथा शोध-संस्थानों की वर्तमान स्थिति का सिंहावलोकन किया गया है। संस्कृत के संवर्धन तथा समुन्नयन में प्रचलित विभिन्न क्रियाकलापों पर भी यहाँ दृष्टि डाली गयी है।

चतुर्थ अध्याय—इस अध्याय में स्वतंत्र भारत की आकांक्षाओं तथा संस्कृत से उनके सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है। एक प्रकार से हमने यहाँ संस्कृत के पक्ष की स्थापना की है। अन्य विषयों के साथ हमने यहाँ विशेषतः निम्नांकित सन्दर्भों का विवेचन किया है—

(१) भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के अध्ययन के क्षेत्र में संस्कृत का महत्त्व।

(२) मानवीय शास्त्रों के अध्ययन में संस्कृत का बौद्धिक मूल्य।

(३) सम्पूर्ण मानसिक विकास तथा चरित्र-निर्माण के मार्ग में संस्कृत के विशाल ज्ञान-भाण्डार की महत्ता।

(४) राष्ट्रिय एकता बनाये रखने के लिए संस्कृत का अंशदान।

(५) पूर्व तथा पश्चिम के राष्ट्रों को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए संस्कृत की संघशक्ति।

(६) मृत अन्य प्राचीन भाषाओं के विपरीत एक जीवित शक्ति के रूप में संस्कृत की विशेषताएँ।

(७) भारत की समस्त भाषाओं के परिपोषण तथा समुन्नयन की दिशा में संस्कृत की भूमिका।

(८) भारत की सामान्य शिक्षा-व्यावस्था में संस्कृत का उपयुक्त स्थान।

(९) संस्कृत के लिए एक विशेष व्यवहार तथा व्यवस्था की आवश्यकता।

पञ्चम अध्याय—यह अध्याय विशेषतः संस्कृत-शिक्षा के सन्दर्भ में है। इसमें दो बातों की समीक्षा की गयी है—

(१) यहाँ यह दिखाया गया है कि सामान्य शिक्षा के एक अंग के रूप में माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में संस्कृत का स्थान कैसे संरक्षित किया जा सकता है।

(२) पारम्परिक संस्कृत पाठशालाओं, आधुनिक महाविद्यालयों तथा विश्व-विद्यालयों में संस्कृत का विशिष्ट अध्ययन। संस्कृत के विशेषीकृत अध्ययन के सन्दर्भ में हमने संस्कृत-शिक्षा की पारम्परिक तथा वर्तमान दोनों ही पद्धतियों के गुण दोषों का विवेचन किया है तथा इन दोनों प्रणालियों के एकीकरण के प्रश्न पर भी अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। हमने उन मार्गों का भी निर्देश किया है, जिनसे इन दोनों का एकीकरण किया जा सकता है, जिससे ये एक दूसरे को सुदृढ़ बना सकें। इसके अतिरिक्त हमने इस तथ्य की भी समीक्षा की है कि आधुनिक भारतीय दर्शन तथा भारतीय इतिहास एवं संस्कृति जैसे विषयों के उच्च-अध्ययन में संस्कृत को किस प्रकार पूरक तत्त्व माना जा सकता है।

षष्ठ अध्याय—इस अध्याय में हमने आधुनिक तथा प्राचीन पद्धति से संस्कृतशिक्षण पर अपने विचार रखे हैं तथा विभिन्न श्रेणियों में संस्कृत की यथोचित विधियों को विकसित करके उनके प्रयोग की आवश्यकता पर बल दिया है। साथ ही साथ पाठ्यक्रम तथा परीक्षा-प्रणाली में संशोधन में सुधार के विषय में भी अपने सुझाव प्रस्तुत किये हैं।

सप्तम अध्याय—इस अध्याय में शोधकार्य के विभिन्न स्वरूपों तथा पहलुओं पर विचार किया गया है। यहाँ हमने संस्कृत के अध्ययन को समुन्नत करने की दिशा में शोधकार्य की महत्ता तथा उसके लिए आवश्यक सुविधाओं के सन्दर्भ में अपने सुझाव दिये हैं। इसके उपरान्त विश्वविद्यालयों में संस्कृत-अध्ययन, शोधछात्रवृत्तियाँ तथा सदस्य छात्रवृत्तियाँ, शोधप्रबन्धों पर विचार तथा निर्णय, विदेशी उपाधियाँ, उपेक्षित शोध-विषय, विचारगोष्ठियाँ, अध्ययन का आदान-प्रदान, शोध-प्रकाशन, शोध-योजनाएँ, पत्रिकाएँ, विवरणात्मक पुस्तक-सूची, शोधक्षेत्र में समन्वयन क्रियाएँ, शोध-संस्थान एवं अखिल भारयीय प्राच्य-सम्मेलन (All-India Oriental Conference)

इन विषयों पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त हमने केन्द्रीय भारतीय ज्ञान-संस्थान की योजना पर भी सविस्तार प्रकाश डाला है।

अष्टम अध्याय—इस अध्याय में हमने पाण्डुलिपियों के प्रश्न को हल करने की चेष्टा की है। पाण्डुलिपियों की खोज, उनका संग्रह, उनका संरक्षण, उन्हें सूचीबद्ध करना, उनका अध्ययन तथा उनके प्रकाशन के सन्दर्भ में अपने सुझाव दिये हैं। केन्द्रीय पाण्डुलिपि सर्वेक्षण विभाग की स्थापना के प्रश्न पर भी इस अध्याय में हमने विचार प्रस्तुत किये हैं।

नवम अध्याय—इस अध्याय में संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रश्न पर विचार किया गया है।

दशम अध्याय—इस अध्याय में हमने संस्कृतसम्बन्धी अन्य अनेक सन्दर्भों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। जैसे औपचारिक अवसरों पर संस्कृत का प्रयोग, संस्कृत तथा धार्मिक शिक्षा, संस्कृत का उच्चारण, संस्कृत के लिए क्षेत्रीय लिपियों का प्रयोग, पारिभाषिक शब्दनिर्माण, भारत राष्ट्र के लिए राज्यभाषा के रूप में संस्कृत का प्रयोग, संस्कृत तथा सार्वजनिक सेवाएँ, संस्कृत के विद्वानों के लिए शासकीय सम्मान तथा राज्यप्रश्रय, मठों तथा मन्दिरों के माध्यम से संस्कृत को प्रोत्साहन, वेदपाठ, पुराणपाठ, पौरोहित्य, व्यावसायिक प्रशिक्षण। जैसे आयुर्वेद, ज्योतिष तथा शिल्प, बेसिक संस्कृत, संस्कृत प्राचीन साहित्यिक भाषा के रूप में, संस्कृत पत्रिकाएँ, व्यक्तिगत कक्षाओं द्वारा संस्कृत को जनप्रिय बनाना, अध्ययन समूह, व्यक्तिगत संघटनों द्वारा सञ्चालित संस्कृत की परीक्षाएँ, संस्कृतसंघ, संस्कृतनाटक, आकाशवाणी, प्रेस समाचारपत्र आदि संस्कृत के प्राचीनग्रन्थों के क्षेत्रीय भाषाओं तथा अंगरेजी में अनुवादयुक्त सस्ते-सस्ते संस्करण तथा केन्द्रीय साहित्य संस्थान (Academi) आदि।

एकादश अध्याय—पिछले अध्याय में जिन सन्दर्भों की विवेचना की गयी है, उससे उठे हुए कतिपय संघटनात्मक तथा आर्थिक पहलुओं पर इस अध्याय में विमर्श किया गया है। अन्य बातों के साथ-साथ संस्कृत के उन्नयन के लिए विभिन्न प्राभूतों तथा समर्पित निधियों के सुलभ साधनों के प्रयोगसम्बन्धी प्रश्न पर तथा केन्द्रीय संस्कृत-परिषद् की स्थापना पर भी यहाँ विचार प्रस्तुत किया गया है।

द्वादश अध्याय—इस अध्याय में हमने विगत अध्यायों का सर्वेक्षण किया है तथा अपने इस प्रतिवेदन के विभिन्न स्थलों में बिखरे हुए निष्कर्षों, सुझावों तथा संस्तुतियों को एक स्थान पर एकत्रित किया है।

संस्तुतियाँ

संस्कृत-शिक्षा

(१) माध्यमिक विद्यालयों में संस्कृत

भारतीय संस्कृति को ठीक-ठीक समझने के लिए संस्कृत की महत्ता की दृष्टि से, वर्तमान भारतीय भाषाओं से उसके घनिष्ठ सम्बन्ध की दृष्टि से, प्रत्येक भारतीय छात्र के लिए उसके अध्ययन के अवसर को समुचित समझते हुए, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा की जड़ सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से एवं चतुर्थ

अध्याय में प्रस्तुत किये गये अन्यान्य विचारों के आधार पर यह आयोग अनुरोध करता है कि माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में भाषाओं का जो अध्ययन निर्धारित किया गया है, उसमें कुछ ऐसी व्यवस्था को स्थान देना चाहिए कि संस्कृत को एक ऐसा सुरक्षित स्थान प्राप्त हो जाय जिसके बल पर सभी बालक संस्कृत ले सकें। इस उद्देश्य से केन्द्रीय शासन द्वारा उद्घोषित त्रिभाषासूत्र जिसका कार्यान्वयन प्रादेशिक शासनों द्वारा किया जा रहा है, उसमें आवश्यक संशोधन किये जाने चाहिए।

शासन से यह आयोग आग्रहपूर्वक यह अनुरोध करता है कि विद्यालयों तथा महाविद्यालयों की सामान्य शिक्षाव्यवस्था में वह संस्कृत के लिए पर्याप्त आर्थिक व्यवस्था करे, अन्यथा संस्कृत-शिक्षा के प्रति सरकार की जो उदारता आज हमें दिखायी पड़ रही है, उसकी प्रगति में एक अवाञ्छनीय प्रतिरोध उठ खड़ा होगा।

आयोग अनुरोध करता है कि कोई ऐसा प्राविधान रखा जाय, जिससे कि पञ्चम अध्याय के पन्द्रहवें अनुच्छेद में निर्दिष्ट कतिपय अपवादों को छोड़कर सभी नवयुवक संस्कृत का आप से आप अध्ययन कर सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मितव्ययिता अथवा संस्कृत लेने वाले छात्रों की संख्या का, तर्क से बिना प्रभावित हुए, देश के समस्त अंगरेजी विद्यालयों में संस्कृत को अध्ययन का एक अनिवार्य विषय बना देना चाहिए। अतः विषयवर्गों को इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए कि जो छात्र संस्कृत पढ़ने के इच्छुक हैं, वे संस्कृत लेने में किसी प्रकार की रुकावट या कठिनाई का अनुभव न कर सकें तथा उन्हें किसी प्रकार सेवा से वञ्चित न होना पड़े।

(१) भाषासूत्र—

यह आयोग अनुरोध करता है कि माध्यमिक विद्यालयों के समस्त संस्कृत-छात्रों को तीन भाषाओं का अध्ययन करना चाहिए—(१) मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा, (२) अंगरेजी, (३) संस्कृत या विशेष स्थिति में उसके समकक्ष कोई अन्य प्राचीन भाषा, जैसे—अरबी, फ़ारसी, प्राचीन तामिल, लैटिन या ग्रीक आदि।

महाविद्यालयस्तर पर हिन्दी का अध्ययन उन छात्रों को ही करना चाहिए, जो अखिल भारतीय प्रतियोगिता परीक्षाओं में बैठना चाहते हैं या यदि विद्यालयों में हिन्दी पढ़ायी जाय तो ऊपर जिस त्रिभाषा सूत्र की हमने संस्तुति की है, उसमें इस प्रकार के संशोधन किये जायँ कि हिन्दी को या हिन्दीभाषी छात्रों के लिए दक्षिण भारतीय भाषा को वरीयता देते हुए कोई अन्य भारतीय भाषा को अंगरेजी के विकल्प के रूप में लेने की अनुमति दी जा सके। हिन्दी से किसी प्रकार की संतुलन-योजना में हिन्दी को संस्कृत के विकल्प में लिए जाने के प्राविधान का यह आयोग विरोध करता है।

विद्यालयों में संस्कृत के पठन-पाठन की व्यवस्था के सम्बन्ध में यह आयोग निम्नांकित आदर्श व्यवस्थाओं का सुझाव देता है—(i) कक्षा एक से पाँच तक केवल मातृभाषा तथा पठन-पाठन-सहगामीक्रिया के रूप में संस्कृत-सुभाषितों के

स्वेच्छया सञ्चालित पाठ। (ii) कक्षा छह में मातृभाषा तथा अंगरेजी। संस्कृत सुभाषित आदि के पाठ प्रचलित रहेंगे। (iii) कक्षा सात से ग्यारह तक मातृभाषा की मात्रा कम करते हुए अंगरेजी तथा संस्कृत का विशेष अध्ययन। इस सन्दर्भ में आयोग का यह विचार है कि विद्यालयस्तर पर हिन्दी को एक चतुर्थ भाषा के रूप में रख कर पाठ्यक्रम का भार बढ़ाना वाञ्छनीय न होगा। मातृभाषा तथा संस्कृत के ज्ञान पर आधारित महाविद्यालयस्तर पर हिन्दी का अध्यापन हमारी सम्मति में अधिक सफल तथा उपयोगी होगा। यदि त्रिभाषासूत्र (अर्थात् मातृभाषा, अंगरेजी तथा संस्कृत) या वैकल्पिक सूत्र—मातृभाषा, हिन्दी या कोई अन्य आधुनिक भारतीय भाषा तथा संस्कृत, जिसका इस आयोग ने प्रथम वरीयता के रूप में अनुरोध किया है, वह देश के कुछ भागों के लिए साध्य न हो तो द्वितीय वरीयता के रूप में यह आयोग एक चतुर्भाषा सूत्र की संस्तुति करता है। वह है मातृभाषा, अंगरेजी तथा हिन्दी या हिन्दी भाषी छात्रों के लिए कोई अन्य भारतीय भाषा तथा संस्कृत का निर्धारण।

तृतीय वरीयता के रूप में यह आयोग एक चतुर्भाषा सूत्र का समर्थन करता है। वह है मातृभाषा, अंगरेजी तथा हिन्दी एवं संस्कृत का सम्मिश्रित पाठ्यक्रम; किन्तु इस पाठ्यक्रम में मातृभाषा या हिन्दी या इन दोनों का समावेश निम्नांकित शर्तों पर ही किया जायगा—(i) किसी न किसी स्तर पर इस सम्मिलित पाठ्यक्रम को मातृभाषा के स्थान पर अवश्य अनिवार्य बनाया जायगा। (ii) इस पाठ्यक्रम की अवधि आवश्यक रूप से पाँच वर्षों से कम न होगी। (iii) इस पाठ्यक्रम के प्रारम्भ में दो भाषाओं पर समान बल दिया जायगा तथा उच्च स्तरों पर संस्कृत पर विशेष बल दिया जायगा। (iv) उक्त सम्मिलित पाठ्यक्रम में निर्धारित की गयी सभी भाषाओं में पृथक्-पृथक् उत्तीर्ण होना अनिवार्य होगा। यदि मातृभाषा के असाधारण लम्बे पाठ्यक्रम को कुछ काट छाँट दिया जाय तथा उसके प्रारम्भिक क्रम को भली-भाँति व्यवस्थित करते हुए प्रारम्भ में दो भाषाओं की एक साथ शिक्षा न दी जाय तथा अंगरेजी और हिन्दी को सामग्री विषय न मानकर केवल कौशल विषय मानकर उन्हें सिखाया जाय तो इस आयोग की सम्मति में लेशमात्र भी बिना किसी बोझ के मातृभाषा, संस्कृत, अंगरेजी या हिन्दी या हिन्दीभाषी क्षेत्रों के लिए अन्य आधुनिक भारतीय भाषा का अध्ययन व्यावहारिक हो सकेगा।

उपर्युक्त वरीयताओं के सन्दर्भ में इस आयोग की संस्तुति की भी वरीयता उसी क्रम से मानी जानी चाहिए, जिस क्रम में हमने ऊपर उनकी गणना की है।

कुछ लोगों ने यह सुझाव रखा है कि संस्कृत को स्कूल के अतिरिक्त समय में पढ़ाया जाय तथा उसे परीक्षा का विषय न रखा जाय। यह आयोग इस सुझाव का निश्चित रूप से विरोध करता है।

आयोग की यह धारणा है कि महाविद्यालयीयस्तर पर संस्कृत के विस्तृत अध्ययन की जड़ मज़बूत बनाने की दृष्टि से माध्यमिक स्तर पर संस्कृत का पाँच वर्षों से कम का पाठ्यक्रम उपयुक्त नहीं होगा।

विद्यालयस्तर पर पालि या प्राकृत को संस्कृत के स्थान पर वैकल्पिक भाषा का अध्ययन निर्धारित करने के पक्ष का यह आयोग विरोध करता है। साथ ही साथ आयोग का यह भी अनुरोध है कि पाठशालाओं तथा विश्वविद्यालयों में, जहाँ कि संस्कृत का विशिष्टीकृत अध्ययन किया जाता है, वहाँ प्राकृत को भी संस्कृत के साथ अनिवार्य अध्ययन का विषय रखा जाना चाहिए। स्नातक तथा स्नाकोत्तर पाठ्यक्रम में पाली तथा प्राकृत का विशेष विषय के रूप में प्राविधान किया जाना चाहिए।

यह आयोग यह भी अनुरोध करता है कि भाषा-अध्यापन की व्यवस्था में माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में संस्कृत का प्राविधान अवश्य किया जाना चाहिए। इसके साथ ही साथ इस पाठ्यक्रम को सामाजिक अध्ययन के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत संस्कृत का विचारभाण्डार तथा उसकी सांस्कृतिक एवं साहित्यिक रचनाओं का भी कुछ विवेचन अवश्य सम्मिलित किया जाना चाहिए।

(२) संस्कृत-शिक्षा तथा पठन-पाठन की पारम्परिक प्रणाली—

साक्ष्यों की एक बहुत बड़ी संख्या का समर्थन करते हुए यह आयोग अनुरोध करता है कि संस्कृत तथा उसकी उच्च-शिक्षा की पारम्परिक प्रणाली को प्रचलित तथा संरक्षित रखा जाय। यह भी आवश्यक है कि किसी अन्य विद्यालय अथवा महाविद्यालय में दी जाने वाली शिक्षा के समान उसे मान्यता दी जाय तथा उसे एक मान्यताप्राप्त शिक्षा के रूप में अंगीकार किया जाय। आयोग की निम्न प्रकार संस्तुति है—

(१) मातृभाषा, अंग्रेजी, गणित के साथ सामान्य विज्ञान, प्राचीन भारतीय-इतिहास एवं संस्कृति को सम्मिलित करते हुए सामाजिक अध्ययन ऐसे आधुनिक विषयों के समावेश द्वारा पाठशालीय पाठ्यक्रम को पुनरुज्जीवित करते हुए उसे सुसंघटित किया जाय। इस संघटन में इस बात पर यथोचित ध्यान रखना आवश्यक होगा कि आधुनिक विषयों के उक्त समावेश के परिणामस्वरूप पण्डित-पाण्डित्य का स्तर कहीं निम्न न हो जाय।

(२) इन संस्कृत हाई स्कूलों या नव-निर्मित पाठशालाओं के छात्र जिन्हें सप्ताह में कम से कम सोलह अन्तरों में प्रधानतः संस्कृत का ही अध्यापन किया जाता है और जैसा ऊपर निर्दिष्ट है कि जिन्हें कुछ आधुनिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती है, उन्हें भी हाई स्कूलों के छात्रों के समान योग्य बनाया जाय। सेवाओं में नियुक्ति एवं अधिक अध्ययन के लिए एस्. एस्. एल्. सी. के समक्ष माना जाय।

(३) संस्कृत हाई स्कूल तथा नवघटित संस्कृत-विद्यालयों के अध्यापकों को अध्यापक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए तथा एतदर्थ संस्कृत के शिक्षाशास्त्रीय पाठ्यक्रमों का अयोजन किया जाना चाहिए।

(४) नवसंघटित पाठशालाओं का उपयुक्त निरीक्षकों द्वारा उचित रीति से निरीक्षण होना चाहिए। निरीक्षकों को इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि

इन विद्यालयों में आधुनिक विषयों के पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था की गयी है या नहीं। जहाँ कहीं साध्य हो संस्कृत पाठशालाओं का पाठ्यक्रम वर्तमान हाईस्कूलों के संस्कृतविभागों के रूप में चलाया जाय।

(५) इन संस्कृत हाईस्कूलों या नवनिरूपित संस्कृत पाठशालाओं की क्रमोत्तर वृद्धि संस्कृत महाविद्यालयों के रूप में होनी चाहिए। इनमें से प्रथम कोटि के संस्कृत स्कूलों या नवनिरूपित संस्कृत पाठशालाओं में पाँच वर्षों की प्रारम्भिक शिक्षा, प्रथमा की दो श्रेणियाँ तथा तीन वर्षों का पाठ्यक्रम चलाया जाना चाहिए। इनमें से प्रत्येक कक्षा को क्रमशः निम्न तथा उच्च माध्यमिक के समवर्ती माना जाना चाहिए। द्वितीय कोटि के संस्कृत महाविद्यालयों में स्नातक तथा स्नाकोत्तर कक्षाओं (तीन वर्षों का शास्त्री तथा दो वर्षों का आचार्य) की व्यवस्था की जानी चाहिए। इन दोनों कक्षाओं की समकक्षता क्रमशः बी० ए० तथा एम्० ए० के समान होनी चाहिए।

(६) संस्कृत महाविद्यालयों से निकले हुए छात्रों को वही सम्मान तथा वही प्रतिष्ठा प्राप्त होनी चाहिए जो किसी भी कला, विज्ञान आदि के महाविद्यालय के छात्रों को सुलभ हो रही है।

(७) पञ्चम अध्याय तथा नवम अध्याय में दिये गये निर्देश के अनुसार पाठशालीय प्रणाली की उच्चभूमि के रूप में संस्कृत-विश्वविद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिए।

(८) प्रदेशों तथा व्यक्तिगत धार्मिक संस्थाओं के न्यासों एवं संघों के यथोचित प्रस्तावों को सभी साध्य प्रोत्साहन देने के अतिरिक्त केन्द्रीयशासन को चाहिए कि वह एक अपना संस्कृत विश्वविद्यालय स्थापित करके इस दिशा में देश का नेतृत्व करे।

(९) संस्कृत पाठशालाओं की पारम्परिक संस्कृतशिक्षा के क्षेत्र में स्तर, पाठ्यक्रम की अवधि, परीक्षाएँ तथा उपाधियों एवं प्रमाणपत्रों के नाम समस्त देश में एक से होने चाहिए।

(१०) अन्तरिम काल में देश के विभिन्न भागों में प्रचलित विभिन्न संस्कृत-प्रमाणपत्रों तथा पारम्परिक शिक्षा की विभिन्न श्रेणियों में समानता स्थापित करते हुए इन्हें तत्सम विश्वविद्यालयीय श्रेणियों के समकक्ष मान लिया जाना चाहिए।

(११) उपर्युक्त समानता का यह अर्थ है कि पण्डित अध्यापकों का वेतन तथा उनका वेतनक्रम विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों के विभिन्न संवर्गों में कार्य करने वाले स्नातकों के वेतन तथा वेतनक्रम के समान ही रखा जाना चाहिए।

(१२) पण्डित अध्यापकों को विश्वविद्यालयों की विभिन्न परिषदों में प्रतिनिधित्व के लिए अन्य स्नातक अध्यापकों के समान ही प्रतिष्ठा तथा मान्यता प्राप्त होनी चाहिए। पण्डितों तथा उनके पाण्डित्य तथा पाठशालाओं के संदर्भ में अन्य संस्तुतियाँ आगे भी दी जा रही हैं।

(३) महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय—

आयोग की संस्तुति निम्न प्रकार है—

(१) महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम से लेकर स्नातक तथा स्नातकोत्तर उपाधियों के लिए सामान्य, विशेष तथा वैकल्पिक विषयों में संस्कृत के अध्ययन का प्राविधान रखा जाना चाहिए।

(२) जिन विश्वविद्यालयों में अब तक, बी० ए० (आनर्स) या एम्० ए० उपाधियों के लिए संस्कृत का प्राविधान विशेष अथवा वैकल्पिक विषय के रूप में नहीं किया गया है, वहाँ के विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में इस प्रकार का प्राविधान किया जाना चाहिए।

(३) भारत का कोई भी विश्वविद्यालय ऐसा न रह पाये जहाँ कि बी० ए० (आनर्स) तथा एम्० ए० कक्षाओं में संस्कृत का प्राविधान न हो तथा विभागाध्यक्ष का पद न रखा गया हो।

(४) एक विशेष अंग के रूप में इस प्रकार के संस्कृत-अध्ययन को समुन्नत बनाने के लिए निम्नस्तर पर संस्कृत को अधिक से अधिक सुदृढ़ बनाया जाय।

विद्यालयों में संस्कृत पठन-पाठन के सन्दर्भ में अन्य संस्तुतियाँ दी जा रही हैं—

(४) दोनों प्रणालियों का एकीकरण—

आयोग का यह मत है कि पाठशालीय तथा विश्वविद्यालयीय संस्कृत-अध्ययन प्रणालियों को एक प्रणाली के रूप में एकीकरण का कोई भी अस्वाभाविक प्रयास वर्तमान स्थिति में असामयिक तथा अविवेकपूर्ण होगा। तथापि आयोग का यह अनुरोध है कि इन दोनों प्रणालियों में अधिक से अधिक सहयोग रहना परम आवश्यक है। इन दोनों प्रणालियों को चाहिए कि वे परस्पर समीप आकर धीरे-धीरे तथा क्रमशः एक दूसरे की सहायता करें, जिससे भविष्य में इन दोनों प्रणालियों का स्वस्थ एवं चिरस्थायी एकीकरण एक स्थानीय रूप में प्रकट हो सके।

आयोग की संस्तुति निम्न प्रकार है—

(१) इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आधुनिक महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों तथा शोध-संस्थानों में पारम्परिक विद्वानों की नियुक्ति की जानी चाहिए, जिससे कि इन आधुनिक संस्थाओं में पारम्परिक प्रणाली के अनुसार ग्रन्थों का विस्तृत एवं शब्दशः अध्ययन किया जा सके। इसी प्रकार उच्चस्तरीय संस्कृत पाठशालाओं में एम्० ए० अध्यापक रखे जाने चाहिएँ, जिससे वहाँ के पण्डित तथा छात्र आधुनिक ऐतिहासिक, समालोचनात्मक एवं तुलनात्मक पद्धति से परिचित हो जायँ।

(२) संस्कृत-शिक्षा, संस्कृत-शिक्षण तथा संस्कृत-शोधकार्य के अध्याय में पण्डितों को आधुनिक प्रणाली तथा शोध-परिणामों से परिचित कराने के जिन-जिन विभिन्न उपायों का सुझाव दिया गया है, उनका प्रयोग किया जाना चाहिए।

(३) आडम्बरपूर्ण विधि से इन दोनों प्रणालियों को एक में मिला दिये जाने की चेष्टा करने में इस बात पर ध्यान देना होगा कि इस प्रकार के एकत्रीकरण से कहीं वर्णसंकरीकरण का दोष न आ पड़े।

(४) इन दोनों प्रणालियों के सम्मिश्रण का प्रयास केवल उच्च श्रेणियों में उसी स्थिति में प्रारम्भ किया जाय जब कि विश्वविद्यालयों के स्नातकों के लिए पण्डित-प्रशिक्षण की व्यवस्था सम्पन्न हो जाय तथा इसी प्रकार शास्त्रीय अध्ययन समाप्त करने के अनन्तर संस्कृत के पण्डितों का आधुनिक प्रणालियों में प्रशिक्षण की व्यवस्था भी पूरी हो जाय।

५. संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाएँ एवं अन्य सम्बद्ध विषय—

आयोग की संस्तुति निम्न प्रकार है—

(१) विभिन्न भारतीय भाषाओं का संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध की दृष्टि से तथा इन भाषाओं पर संस्कृत का जो प्रभाव स्पष्ट है उस पर भी यही समुचित प्रतीत होता है कि बी० ए० (आनर्स) तथा एम्० ए० स्तर पर भारतीय भाषाओं के विशेष अध्ययन में संस्कृत का समावेश किया जाना चाहिए। इस मन्तव्य से भारतीय भाषाओं के स्नातक एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में कम से कम संस्कृत का एक पूरा प्रश्नपत्र रखा जाना चाहिए।

(२) विशेषतः हिन्दी, जो कि संविधान के अनुसार संस्कृत से ही परिपोषित होगी, के पाठ्यक्रम में विद्यालय स्तर से एम्० ए० स्तर तक विशेषतः व्याकरण की दृष्टि से संस्कृत का अधिकाधिक समावेश किया जाना चाहिए।

(३) भारतीय दर्शन, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा पुरातत्त्व, भारतीय संगीत तथा भारतीय वास्तुकला आदि विषयों के स्नातक तथा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में संस्कृत का अच्छा ज्ञान निश्चित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार दर्शन, संस्कृत शिलालेख, संगीत सम्बन्धी अभिलेख तथा पुरातत्त्व आदि के अध्ययनक्रम में भी संस्कृतवाङ्मय के ग्रन्थों का अध्ययन निर्धारित होना चाहिए।

(४) अंगरेजी साहित्य के विशेष अध्ययन के पाठ्यक्रम में भी तुलनात्मक अध्ययन के मन्तव्य से संस्कृत साहित्य तथा नाटकों के लक्षणग्रन्थों का अलंकार तथा नाट्यशास्त्र का संस्कृत महाकाव्यों तथा नाटकों आदि का कम से कम अनुवाद के रूप में ही प्राविधान किया जाना चाहिए

(५) ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि से गणित, नक्षत्रशास्त्र, चिकित्सा आदि वैज्ञानिक विषयों के पाठ्यक्रम में भी संस्कृत ग्रन्थों में पाये जाने वाले इन विषयों के भारतीय अंशदान सम्बन्धी एवं अध्ययन का प्राविधान किया जाना चाहिए।

(६) भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों के स्नातकों को देश की सांस्कृतिक पैतृक सम्पत्ति का कुछ ज्ञान कराने की दृष्टि से स्कूलों तथा कालेजों के समस्त छात्रों के लिए संस्कृत साहित्य, भारतीय चिन्तन, दर्शन तथा धर्म, कला-कौशल एवं वास्तु-विद्या

सम्बन्धी भूमिका देते हुए संस्कृत साहित्य में विद्यमान भारतीय संस्कृति का एक क्रमिक पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाना चाहिए।

संस्कृत-शिक्षण

आयोग की संस्तुति निम्न प्रकार है—

(१) संस्कृत की अद्भुत विशेषता की तुलना हम बोल-चाल की किसी भी मातृभाषा या किसी भी प्राचीन मृतभाषा से नहीं कर सकते। भारतवर्ष की अधिकांश बोलियों की विचारपरम्पराओं तथा उनकी शब्दावलियों में यह अन्तःप्रविष्ट है। इसलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उसके शिक्षण के लिए हमें विशेष विधियों की खोज करनी चाहिए।

(२) संस्कृतशिक्षण-कला को एक विशेष विषय मानते हुए आधुनिक महाविद्यालयों के स्नातक संस्कृतशिक्षकों के लिए तथा संस्कृत पाठशालाओं के स्नातक अध्यापकों को संस्कृतशिक्षण-विधियों में प्रशिक्षित करने के लिए प्रशिक्षण महाविद्यालयों में विशेष पाठ्यक्रमों का आयोजन एवं संघटन करना चाहिए।

(१) विद्यालय

आयोग की संस्तुति निम्न प्रकार है—

(१) यतः संस्कृतभाषा सामान्यतः बालक के वातावरण में नहीं सुनी जाती, उसके एक विलक्षणस्वरूप के कारण यह आवश्यक है कि उसके कुछ शब्दरूपों तथा धातुरूपों का कण्ठस्थीकरण संस्कृतशिक्षण का उपयुक्त अंग बना दिया जाय।

(२) संस्कृतशिक्षण में अध्यापक द्वारा केवल प्रत्यक्ष प्रणाली, दृश्यसहायक सामग्री, वार्तालाप, कविता-पाठ, अभिनय आदि आधुनिक पद्धतियों एवं शिक्षण-सामाग्रियों का ही व्यवहार न किया जाय, बल्कि पारम्परिक खण्डान्वय तथा आकांक्षाप्रणालियों का भी प्रयोग किया जाय, जिससे तरह-तरह की विधियों के उपयोग से बालक को शिक्षणप्रक्रिया का एक सक्रिय अङ्ग बनाया जा सके तथा भाषा सीखने के सन्दर्भ में उसका उत्साह तथा उसकी अभिरुचि संवर्धित की जा सके।

(३) प्रारम्भिक अवस्था में व्याकरण के रूपों को, उनकी व्युत्पत्ति, उनके मूलस्वरूप से वर्तमानस्वरूप का विश्लेषणात्मक रचना प्रकार तथा धातुरूप एवं शब्दरूप रचना को खण्डात्मक विधि से न सिखा कर उन रूपों को एक स्वतः पूर्ण शब्द के समान बालक को पढ़ाया जाय। इस उद्देश्य से वार्तालाप अथवा जिस साहित्यिक सामग्री का हम अध्यापन कर रहे हैं, उसके पूरक के रूप में ही व्याकरण की शिक्षा दी जानी चाहिए।

(४) विद्यालयस्तर पर संस्कृत का शिक्षण मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से होना चाहिए। प्रत्यक्ष या वार्त्तालाप प्रणाली के प्रयोग की स्थिति में यदा-कदा संस्कृत माध्यम का भी प्रयोग किया जाना चाहिए।

(२) महाविद्यालय

आयोग की संस्तुति निम्न प्रकार है—

(१) महाविद्यालयीयस्तर पर विशेष संस्कृत के अन्तर्गत यथोचित मात्रा में शास्त्रीय सामग्री का भी समावेश करना अपेक्षित है। इस सामग्री के अध्यापन के लिए महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों की स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में पण्डित अध्यापकों की नियुक्ति की जानी चाहिए।

(२) अधिक संख्या में पाठ्यपुस्तकों का रखा जाना प्रत्येक ग्रन्थ के समुचित अध्ययन में बाधक सिद्ध होता है। अतः कहीं-कहीं पाठ्यपुस्तकों की संख्या कम कर देनी चाहिए, जिससे इन पाठ्यपुस्तकों का विस्तृत अध्ययन किया जा सके।

(३) संस्कृत के उच्चतम पा ्यक्रम में कुछ ऐसा प्राविधान किया जाना चाहिए, जिससे छात्र संस्कृत में स्वतंत्रतापूर्वक लिखने तथा बोलने की योग्यता प्राप्त कर सकें तथा बिना किसी सहायता के अन्य ग्रन्थों को अपने आप पढ़ सकें।

(४) जहाँ कहीं यह सम्भव हो एक ही केन्द्र की एम्० ए० संस्कृत तथा समानान्तर संस्कृतपाठशालाओं की कक्षाओं में जो ग्रन्थ पढ़ाए जाते हों उनके पाठों में दोनों ही कक्षाओं के छात्रों में सम्पर्क तथा साथ-साथ अध्ययन की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(५) पाठ्यक्रमों की योजना इस प्रकार सुव्यवस्थित की जानी चाहिए, जिससे एक ओर इन्टरमीडिएट तथा पूर्व-विश्वविद्यालयीय स्तर के तथा दूसरी ओर बी० ए० (आनर्स) तथा एम्० ए० पाठ्यक्रमों के बीच पायी जाने वाली गहरी दरार समाप्त हो जाय।

(३) पाठशालाएँ

आयोग की संस्तुति निम्न प्रकार है—

(१) पाठशालीय पाठ्यक्रम का आधार विस्तृत होना चाहिए। इस पाठ्यक्रम में अत्यधिक संकीर्ण तथा असामयिक विशेषीकरण नहीं होना चाहिए।

(२) शास्त्री या समकक्ष उपाधिधारी को केवल सामान्य साहित्य तथा आधारभूतशास्त्रों का उत्तम मौलिकज्ञानमात्र ही नहीं होना चाहिए, बल्कि एक शास्त्र के विशेषीकरण के साथ-साथ उसे उस शास्त्र से सम्बद्ध अन्य शास्त्रों का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

(३) पाठ्यक्रम में प्रत्येक शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन के साथ-साथ आज तक के उपेक्षित शास्त्रों तथा विषयों, जैसे वेद (भाष्यसहित), बौद्ध तथा जैन-दर्शन, प्रत्यभिज्ञा, तंत्र आदि के अध्ययन का प्राविधान किया जाना चाहिए।

(४) उन सभी छात्रों की न्यायशास्त्र की नींव पुष्ट की जानी चाहिए, जो प्रत्येक शास्त्र के उत्तरविकासकाल के उच्चस्तरीय ग्रन्थों के न्यायशास्त्रगर्भित स्वरूपों का अध्ययन करना चाहते हों।

(५) अन्तिम श्रेणी में विभिन्न शास्त्रों के छात्रों को अपने शास्त्रों से सम्बद्ध पाश्चात्त्य विचारों का भी ज्ञान कराया जाना चाहिए।

(६) शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्यापन में षष्ठ अध्याय के पैंतीसवें परिच्छेद में दिये गये सुझावों के अनुसार अध्यापन विधि में संशोधन किया जाना चाहिए, जिससे छात्रों में अध्ययन के प्रति अधिक से अधिक रुचि उत्पन्न की जा सके तथा वे कक्षा में पढ़ाये जाने वाले विषय में सक्रिय भाग ले सकें।

(७) छोटी कक्षाओं को छोड़कर जहाँ मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा दी जा सकती है, पाठशालाओं में शिक्षा का माध्यम संस्कृत होना चाहिए।

(८) छात्रों में अभिरुचि तथा उत्साह उत्पन्न करने के लिए तथा उसे चिर-स्थायी बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि षष्ठ अध्याय के सैंतीसवें परिच्छेद में दिये गये सुझाव के अनुसार पाठशालाओं में पठन-पाठन सहगामिनी क्रियाओं को विकसित किया जाय।

(९) पाठशालाओं में ग्रन्थों के पंक्तिशः अध्ययन के अतिरिक्त सामान्य व्याख्यानों तथा लेखों के माध्यम से अध्ययनगत विशेषताओं तथा ग्रन्थों की रूपरेखा तथा उनके अंशदान के व्यापक क्षेत्र का ज्ञान प्राप्त करने का भी प्राविधान किया जाना चाहिए।

(१०) वर्तमान प्रणाली से प्राचीन पण्डितों के समान विद्वान् नहीं उत्पन्न होते हैं। इस दोष के निराकरण के लिए पाठशालीय शिक्षा की परीक्षाव्यवस्था में कठोरतापूर्वक संशोधन करना चाहिए। प्राचीन शास्त्रार्थ तथा वाक्यार्थ प्रकार की परीक्षा चलानी चाहिए, जिसमें पचास प्रतिशत अंक लिखित अंश के लिए तथा पचास प्रतिशत अंक मौखिक परीक्षा शास्त्रार्थ के लिए निर्धारित होने चाहिए। इस व्यवस्था में नवीन शास्त्री तथा आचार्य अधिकारियों को वरिष्ठ एवं श्रेष्ठ पण्डितों द्वारा सञ्चालित खुली सभा के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए। प्राचीन पाण्डित्य के गाम्भीर्य तथा उसके व्यापक ज्ञान को पुनः स्थापित करने के लक्ष्य से एक अत्यधिक सफल उपाय के रूप में इस व्यवस्था के लिए यह आयोग बलपूर्वक अनुरोध करता है।

(१) संस्कृत शोधकार्य

(१) आयोग का यह विचार है कि इस देश के लिए शोध की भावना कोई अज्ञात वस्तु नहीं है। भारतीय पाण्डित्य-परम्परा की यह भावना सदा से ही एक प्रमुख अंग बनी रही है। इस भावना की मुख्य विचारधारा यही है कि संस्कृत के अध्ययन को तलस्पर्शी बनाने का शोधकार्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः आज के दिन जिस प्रकार के शोधकार्य से हमें संस्कृत-अध्ययन को ठोस तथा समुन्नत बनाना

है, उसमें आधुनिक तथा प्राचीन पारम्परिक दोनों ही कोटि के विद्वानों का अंशदान आवश्यक है।

(२) इस आयोग का यह भी विचार है कि यतः संस्कृत तथा भारतीय ज्ञान के क्षेत्र से सम्बद्ध शोधकार्य आज भी हमारे देश की जीवित परम्परा तथा संस्कृति का एक अङ्ग बना हुआ है; भारतीय ज्ञान में अपनी विशिष्टता का होना अवश्यम्भावी है तथा उसे राष्ट्र के पाण्डित्य-जीवन का एक रचनात्मक अङ्ग बनाना चाहिए। हमारा स्वतन्त्र भारत अपनी संस्कृति के क्षेत्र में नये-नये अनुसन्धान तथा चिन्तन के लिये इस समय हमें एक ऐसा पर्याप्त व्यापक क्षेत्र प्रदान करने को तत्पर है, जिसमें हम निर्बाध विचरण कर सकते हैं।

(३) यह आयोग एक ऐसे आदर्श विद्वान् की परिकल्पना करता है जो नवीन तथा प्राचीन दोनों ही प्रणालियों के उत्तमोत्तम तत्त्वों से भरपूर होते हुए संस्कृत जगत् में एक बहुमूल्य भूमिका का निर्वाह कर रहा हो।

(४) यह आयोग यह भी सोचता है कि इस तथ्य पर उपयुक्त ध्यान देना तथा विशेष दत्तचित्त रहना परमावश्यक है कि इन दोनों प्रणालियों के बनावटी तथा आडम्बरपूर्ण सम्मिश्रण से शोधकार्य के पाण्डित्य का स्तर धूमिल पड़ जाने की सम्भावना है।

(२) पाठशालाएँ तथा पण्डित

आयोग की संस्तुति निम्न प्रकार है—

(१) संस्कृत-पाठशालाओं से निकले हुए छात्रों को भी विश्वविद्यालयों में शोध-सम्बन्धी वही सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिएँ, जो कि पश्चात्त्य-पद्धति से चलने वाले विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों के छात्रों को दी जाती हैं।

(२) जहाँ कहीं उच्चस्तरीर संस्कृत-पाठशालाएँ अथवा संस्कृत महाविद्यालय विश्वविद्यलयों से सम्बद्ध हैं, वहाँ इन संस्कृत-विद्यालयों के अध्यापकों तथा छात्रों को भी शोधकार्य की सुविधा दी जानी चाहिए।

(३) शास्त्री, शिरोमणि, तीर्थ, विद्वान् आदि के लिए भी स्नातकोत्तर शोध-उपाधियों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(४) जिन उच्चस्तरीय संस्कृत महाविद्यालयों में प्रतिष्ठाप्राप्त संस्कृत के विद्वान् विद्यमान हैं तथा पुस्तकालय एवं पाण्डुलिपियों के संग्रह भी हैं; उन्हें विश्वविद्यालयों के द्वारा तथा विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग के द्वारा भी शोधकार्य के केन्द्र के रूप में मान्यता प्रदान की जानी चाहिए।

(५) पण्डितों को कठिन शास्त्रग्रन्थों के समालोचनात्मक सम्पादन तथा शास्त्ररचना की गूढ़पद्धति एवं उनकी पारिभाषिक शब्दावली की व्याख्या प्रकाशित करने के सन्दर्भ में भी प्रोत्साहित करना चाहिए तथा उन्हें समुचित कार्यक्षेत्र उपलब्ध कराना चाहिए।

(६) ऐसी संस्कृत-पत्रिकाओं का प्रकाशन होना चाहिए, जिनमें शोधलेख संस्कृत में ही हों तथा दूसरे शोधकेन्द्रों द्वारा अंगरेजी या अन्य भाषाओं में प्रकाशित शोधलेखों के सारांशों का भी समावेश किया गया हो।

(७) आयोग द्वारा संस्तुत संस्कृत विश्वविद्यालय या संस्कृत विश्वविद्यालयों में विभिन्न शास्त्रों के लिए पृथक्-पृथक् शोधविभाग स्थापित किये जाने चाहिए, जहाँ कि पारम्परिक पंडितवर्ग को भी अपना मौलिक योगदान करने का अवसर प्राप्त हो सके।

(३) विश्वविद्यालय

आयोग की संस्तुति निम्न प्रकार है—

(१) विश्वविद्यालयों में संस्कृत का उच्चतर शोधकार्य किये जाने के उद्देश्य से तथा इस मन्तव्य से भी कि नवयुवक शोधछात्रों को इन विश्वविद्यालयों में उपयुक्त निदेशन सुलभ हो सकें, भारतवर्ष के सभी विश्वविद्यालयों में एक पृथक् संस्कृत प्राध्यापक का पद तथा एक या इससे अधिक सदस्यों का संस्कृत विभाग होना चाहिए।

(२) विश्वविद्यलयों के संस्कृत विभागों को इतना सुदृढ़ बनाया जाना चाहिए कि उनके शोधकार्य की मात्रा स्नातककक्षाओं के अध्यापनकार्य के कारण कहीं बाधित न हो जाय और इन विभागों को केवल स्नातकोत्तर कक्षाओं के अध्यापन एवं शोधछात्रों यथा विद्वानों के निदेशन से ही अपने को प्रधानतः सम्बद्ध रखना चाहिए।

(३) ये विभाग ऐसे विद्वनों के अधीन हों, जो किसी प्रख्यात शोधकार्य में सम्मान प्राप्त कर चुके हों, जो निरन्तर शोधकार्य में लगे हुए हों तथा जो शोधकार्य में रत छात्रों के उचित निदेशन में समर्थ हों।

(४) सप्तम अध्याय के १४-१६वें अनुच्छेद में बताया जा चुका है कि विश्व-विद्यालयों के संस्कृत प्राध्यापकों को चाहिए कि वे अपने शोधछात्रों को शोधविधियों के यथार्थ आदर्शों तथा स्तरों की शिक्षा दें तथा अपने अधीनस्थ पञ्जीकृत शोध-उपाधि के छात्रों का वे सक्रिय निदेशन एवं उनके कार्यों की सफलतापूर्वक देख-रेख कर सकें।

(५) विश्वविद्यालयों के संस्कृत विभागों को शोधकार्य के लिए अपेक्षित पुस्तकालयीय सुविधा, ग्रन्थों की विवरणात्मक सूची, पत्र-पत्रिका इत्यादि से सुसज्जित होना चाहिए।

(६) विश्वविद्यालयों को चाहिए कि वे स्नातक कक्षाओं के उन प्रतिभासम्पन्न छात्रों को एक सौ रुपये प्रतिमास की छात्रवृत्तियाँ प्रदान करें जो शोधकार्य के लिए इच्छुक प्रतीत होते हों। प्रत्येक संस्कृत विभाग को इस प्रकार की एक या दो छात्रवृत्तियाँ नियमित रूप से प्रति वर्ष प्राप्त होनी चाहिए।

(७) यतः यह वाञ्छनीय है कि जिन्होंने शोधकार्य की योग्यता प्राप्त कर ली है, उन्हें प्रोत्साहित किया जाय, कुछ वार्षिक छात्रवृत्तियाँ या सदस्यवृत्तियाँ

(फेलोशिप्) उन लोगों को भी दी जानी चाहिएँ, जिन्होंने अपनी प्रथम शोध-उपाधि प्राप्त कर ली है तथा आगे भी शोधकार्य करने के इच्छुक हैं।

(८) विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग द्वारा दी जाने वाली अधिक धनराशि की छात्रवृत्तियाँ ऐसे लोगों को अधिक प्रोत्साहित करने के लिए आवर्तक छात्रवृत्ति के रूप में दी जानी चाहिएँ, जिन्होंने अपनी प्रथम शोध-उपाधि प्राप्त कर ली है।

(९) मानवीय शास्त्र-छात्रवृत्तियाँ, जो इससे भी अधिक धनराशि की हैं, प्रौढ़ शोधछात्रों को तथा सम्बद्ध महाविद्यालयों के अध्यापकों को, जो शोध-अवकाश ले सकते हों तथा अवकाश प्राप्त प्राध्यापकों को जिन्होंने किसी शोधकार्य की योजना बनायी है तथा जिसे सम्पन्न करने के लिए उनके पास सामग्री विद्यमान है तथा शोधकार्य की पूर्ति के लिए प्रोत्साहन चाहते हों, दी जानी चाहिएँ।

(१०) जैसा कि अष्टम अध्याय के उन्नीसवें अनुच्छेद में बताया गया है कि प्रथम शोध-उपाधि के लिए, ऐसे शोधछात्र जो ग्रन्थ समालोचना से अपना कार्य प्रारम्भ करते हों, उन्हें चाहिए कि वे किसी अप्रकाशित महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थ की समालोचनात्मक भूमिका एवं अध्ययनपूर्ण आलोचनात्मक सम्पादनकार्य हाथ में लें तथा अधिक चिन्तात्मक एवं व्याख्यात्मक श्रेणी का कार्य, जिसके लिए अधिक परिपक्वता अपेक्षित हुआ करती है, उच्चतर शोध-उपाधि के लिए लिया जाना चाहिए।

भारतीय विश्वविद्यालयों को प्रस्तुत किये गये शोध-प्रबन्धों के मूल्यांकन के लिए प्रचलित कई प्रकार की भिन्न-भिन्न विधियों, परम्पराओं तथा स्तरों का परित्याग किया जाना चाहिए तथा शोध-उपाधियों के प्रकार एवं शोधप्रबन्धों के मूल्यांकन के सन्दर्भ में निर्णायकों की नियुक्ति-पद्धति में एकरूपता लायी जानी चाहिए।

(११) जैसा कि सप्तम अध्याय के बीसवें अनुच्छेद में कहा गया है, एम्० लिट्० नामक एक प्रारम्भिक शोध-उपाधि प्रचलित की जानी चाहिए तथा डी० लिट्० की केवल एक शोध-उपाधि निर्धारित की जानी चाहिए। इन दोनों ही उपाधियों के लिए शोधप्रबन्ध के अतिरिक्त मौखिक परीक्षा का भी प्राविधान होना चाहिए तथा डी० लिट्० की उपाधि के लिए नियमित खुली सभा के रूप में मौखिक परीक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(१२) विदेशी निर्णायकों की नियुक्ति के सन्दर्भ में भारतीय विश्वविद्यालयों की नीति में एकरूपता लायी जानी चाहिए कि जब भारतीय विशेषज्ञ, विशेषतः विशुद्ध संस्कृत-अध्ययन के सम्बन्ध में, यदि सुलभ हों तो इन्हें वरीयता दी जानी चाहिए। यदि विदेशी निर्णायकों की नियुक्ति करनी ही है तो तीन सदस्यों में से एक विदेशी रखा जा सकता है तथा जिस प्राध्यापक ने अभ्यर्थी का निर्देशन किया है, उसे आभ्यन्तरिक परीक्षक की नियुक्ति-प्रणाली समाप्त कर देनी चाहिए।

(१३) जैसा कि प्रथम अध्याय के बाइसवें अनुच्छेद में बताया गया है कि विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग तथा विश्वविद्यालयों को विदेशी उपाधियों के सन्दर्भ में, विशेषत: विशुद्ध संस्कृत-अध्ययन के विषय में, अपनी नीति का संशोधन करना चाहिए।

(१४) यद्यपि नवयुवक भारतीय छात्रों को तुलनात्मक भाषाविज्ञान जैसे विषयों के अध्ययन के लिए, जिनका इस देश में समुपयुक्त अध्ययन नहीं होता है, विदेशों की यात्रा के लिये प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग को, विश्वविद्यालयों को तथा सरकार को चाहिए कि वे विशुद्ध संस्कृत जैसे विषयों के उच्च अध्ययन के लिए भारतीय छात्रों को विदेश भेजने की अपनी नीति में संशोधन करें। दूसरी ओर विशुद्ध संस्कृत जैसे विषयों के क्षेत्र में भी विख्यात प्रतिष्ठाप्राप्त परिपक्व विद्वानों को विदेश भेजना अत्यधिक महत्त्व तथा मूल्य का प्रसंग होगा तथा ऐसे विद्वानों को व्याख्यान-यात्रा या प्राध्यापक-विनिमय के प्रति-निधायन पर भेजने की योजना बनाकर उसका सक्रियतापूर्वक अनुसरण किया जाना चाहिए।

(१५) जैसा कि सप्तम अध्याय के २४-२८ वें अनुच्छेद में बताया जा चुका है कि नवयुवक छात्रों तथा विद्वानों द्वारा शोध-विषय चुनने में अत्यधिक विवेक एवं विचारशीलता अपेक्षित है तथा इस सन्दर्भ में, विशेषत: अनुसन्धानकार्य के क्षेत्र में, उपेक्षित उपयुक्त विषयों पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

(१६) जैसा कि सप्तम अध्याय के उन्तीसवें अनुच्छेद में बताया गया है कि हमारे देश में भारतीय-संस्कृति, संस्कृत-भाषा एवं साहित्य तथा भारतीय कला और दर्शन का विदेशों में प्रचार के सन्दर्भ में तथा वहाँ एतत्सम्बन्धी शोधकार्य के लिए उपयुक्त सुविधाएँ दी जानी चाहिएँ। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतवर्ष में एसियायी भाषाओं के अध्ययनकेन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए तथा भारतीय विश्वविद्यालयों में इन भाषाओं के अध्ययन के लिए सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए, ताकि हमारे देश में इन भारतेतर अध्ययनों की एक परम्परा स्थापित हो सके तथा भारत से बाहर के देशों से हमारे सांस्कृतिक सम्पर्क के विषय पर अखिल भारतीय प्राच्य-सम्मेलन (All-India Oriental Conference) को एक नवीन विभाग खोलने के लिए सहायता दी जानी चाहिए।

(४) भाषण, विचारगोष्ठियाँ आदि

आयोग की संस्तुति है कि विश्वविद्यालयों में प्रचलित शोधकार्य के परिमाणात्मक एवं गुणात्मक विकास की दृष्टि से विभागीय व्यवस्था द्वारा अथवा विशेष समर्पित निधि के अन्तर्गत प्रबन्ध द्वारा विश्वविद्यालयों में भाषणों, विचारगोष्ठियों तथा अन्त:शैक्षणिक अध्ययनों का प्राविधान तथा विकास किया जाना चाहिए।

(५) प्रकाशन

आयोग की संस्तुति निम्न प्रकार है—

(१) विभिन्न विश्वविद्यालयों में किये गये शोधकार्य के प्रकाशन के लिए तथा इन प्रकाशनों के भली-भाँति प्रचार करने के लिए तथा भारत एवं विदेशों के शोध-केन्द्रों तक उन्हें पहुँचा देने के लिए अधिक से अधिक सुविधाएँ उपलब्ध करनी चाहिए।

(२) भारतीय प्रकाशकों द्वारा संस्कृत तथा सम्बद्ध भारतीय ज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थों के प्रकाशन तथा ऐसे शोधकार्यों के मुद्रण स्तर को उत्तम बनाने के सन्दर्भ में अधिकाधिक रुचि ली जानी चाहिए।

(३) केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासनों को चाहिए कि वे नगरों तथा कस्बों के जिन पुस्तकालयों को वे अनुदान देते हैं तथा जो पुस्तकालय जिलापरिषद् या अन्य स्थानीय निकायों के अन्तर्गत हैं, उन्हें संस्कृत तथा भारतीय-ज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकों को नियमितरूप से खरीदने के लिए प्रेरित करके इन विषयों के लेखकों और प्रकाशकों को प्रोसाहित करें।

(४) जिस समय उपयुक्त शोधसामग्री उपलब्ध नहीं थी उस समय पाश्चात्त्य प्राच्य विद्वानों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों के पुनः मुद्रण के स्थान पर भारत के प्रकाशकों को चाहिए कि वे भारतवर्ष के विद्वानों द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं साहित्य सम्बन्धी नये-नये ग्रन्थों के लिखे जाने की व्यवस्था करें, जिससे आधुनिक शोधकार्य तथा आज के युग में उसके महत्त्व का विषय इन नवीन पुस्तकों में भली-भाँति प्रति-बिम्बित हो सके; साथ ही साथ यह व्यवस्था भी की जानी चाहिए कि संस्कृत तथा भारतीय ज्ञान के शोधसम्बन्धी मौलिक महत्त्व के प्राचीन प्रकाशनों के संस्करण पुनः मुद्रित कराये जाँय, जिनमें विवरणात्मक-ग्रन्थसूची सामग्री, मौलिक अभिलेख, आधार-भूत ग्रन्थ तथा अनुवाद आदि हों। इसी प्रकार रोमन लिपि में विद्यमान अनेक ग्रन्थों के देवनागरी संस्करणों का भी प्रकाशन किया जाना चाहिए।

(५) कई एक राजकीय तथा अराजकीय, सार्वजनिक तथा वैयक्तिक संघटन, जो संस्कृत ग्रन्थमालाओं का प्रकाशन कर रहे हैं, उन्हें इन ग्रन्थमालाओं में सम्मिलित किये जाने वाले ग्रन्थों के चयन में अधिकाधिक विवेकशील होना चाहिए। उन्हें निश्चितरूप से यह निर्णय ले लेना चाहिए कि वे इन ग्रन्थों के उपयुक्त समालोचनात्मक संस्करण ही प्रकाशित करेंगे, जिसके लिए यह आवश्यक होता है कि उपलब्ध पाण्डुलिपि-सामग्री का ध्यानपूर्वक परीक्षण तथा मिलान किया जाय तथा समालोचनात्मक साधन जुटाये जाँय एवं भूमिका तैयार की जाय।

(६) पाण्डुलिपि पुस्तकालयों को, विश्वविद्यालयों के संस्कृतविभागों को, संस्कृत शोधसंस्थानों को एवं अन्य संघटनों को ऐसी सुविधाएँ उपलब्ध करायी जाँय, जिससे वे विभिन्न पुस्तकालयों में अब तक पड़ी हुई बहुमूल्य पाण्डुलिपि-सामग्री को अधिक से अधिक संख्या में प्रकाशित कर सकें। वास्तविकरूप में बहुमूल्य ग्रन्थों के अधिक से अधिक द्रुत प्रकाशन को सुनिश्चित कराने के लिए वरीयता क्रमानुसार

विभिन्न पुस्तकालयों में सञ्चित प्रकाशनयोग्य बहुमूल्य ग्रन्थों की एक ऐसी विवरणात्मक सूची उन विद्वानों द्वारा तैयार करायी जानी चाहिए जो पाण्डुलिपि-सामग्री से सर्वथा परिचित हों तथा यह विवरणात्मकसूची उन सभी सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत संघटनों को उपलब्ध होनी चाहिए, जो ग्रन्थों के संस्करण प्रकाशित करने के कार्य में लगे हुए हैं।

(६) पत्र-पत्रिकाएँ

आयोग की संस्तुति निम्न प्रकार है—

(१) संस्कृत या उससे सम्बद्ध विषयों पर लेख प्रकाशित करने वाली पत्र-पत्रिकाओं के व्यवस्थापकों को चाहिए कि जो लेख उनके यहाँ प्रकाशनार्थ प्राप्त होते हैं, उनकी भली-भाँति छान-बीन करके निम्नस्तर के लेखों को छाँट दें। इस प्रकार या ऐसे अन्य साधनों के द्वारा वे अपने स्तर को भरसक ऊँचा उठाने की भरपूर चेष्टा करें, जिससे देश में किये जाने वाले शोधकार्य का गुणात्मक उन्नयन करने में वे अपनी प्रभावशाली भूमिका का अधिक से अधिक निर्वाह कर सकें।

(२) यतः भारतीय ज्ञानसम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं में तथा उनमें प्रकाशित होने वाली शोधसामग्री में अधिक वृद्धि होती जा रही है, यह आवश्यक है कि शोधकार्य का क्रमवद्ध सूची-संग्रह तथा ग्रन्थों की वार्षिक विवरणात्मक सूचियाँ तैयार की जायँ तथा उन्हें प्रकाशित करने का कार्य गम्भीरतापूर्वक अपनाया जाय।

(७) योजनाएँ

आयोग की संस्तुति निम्न प्रकार है—

(१) इस समय धन तथा कर्मचारी सम्बन्धी उपलब्ध साधनों के सीमित होने की दृष्टि से शोध-संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों को चाहिए कि वे यथासम्भव कोई लम्बी-चौड़ी योजना हाथ में न लें।

(२) देश के समस्त शोधकार्य के हित में केन्द्रीय शासन, विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग, प्रादेशिक शासनों तथा अन्य अधिकारियों को चाहिए कि वे सम्प्रति विभिन्न केन्द्रों में जो बड़ी-बड़ी महत्त्वपूर्ण योजनाएँ चल चुकी हैं, उनके शीघ्र निष्पादन तथा उनकी समाप्ति में सहायक हों, जैसे—"महाभारत का समालोचनात्मक संस्करण" (भण्डारकर ओरिएन्टल शोध संस्थान पूना), (Bhandarkar Oriental Research Institute), 'ग्रन्थसूचियों की नवीन ग्रन्थसूची' मद्रास विश्वविद्यालय, "वैदिक शब्द अनुक्रमणिका तथा वैदिक शब्दकोश" (विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर), "ऐतिहासिक सिद्धान्तों पर संस्कृत शब्दकोश" (डेक्कन कालेज, शोध संस्थान, पूना), "रामायण का समालोचनात्मक संस्करण" (एम्० एस्० विश्वविद्यालय, बड़ौदा)।

(३) वर्तमान स्थिति में बड़ी बड़ी योजनाओं की अपेक्षा छोटी इकाइयों में किये जाने वाले कार्यों को प्रोत्साहित किया जाना अधिक वाञ्छनीय है, जिससे व्यक्तिगत शोधकार्य का विकास हो सके।

(८) गैर-सरकारी संस्थान

व्यक्तिगतरूप से संघटित शोध-संस्थानों की एक बड़ी संख्या आयोग की दृष्टि में आयी है। ये शोधसंस्थान हमारे देश के विभिन्न भागों में संस्कृत तथा उससे सम्बद्ध विषयों पर शोध-कार्य का परिपोषण करने में दत्तचित्त हैं। संस्थाएँ या तो स्वतन्त्ररूप से शोधकार्य में आगे बढ़ती चली जा रही हैं या अपने क्षेत्र के शासकीय शोध-आयोजनों में हाथ बँटा रही हैं। ऐसी व्यक्तिगत शोधसंस्थाएँ कर्मचारी, साज-सज्जा तथा स्थान आदि के नितान्त सीमित साधनों के कारण अत्यधिक कठिन स्थिति का सामना कर रही हैं।

आयोग की संस्तुति है कि देश के इन गैर-सरकारी संस्कृत एवं भारतीय ज्ञान-संस्थाओं को एकसूत्र में समन्वित करने की कोई योजना बनायी जाय।

आयोग की सम्मति में ये व्यक्तिगत संस्थाएँ हमारे देश के संस्कृत तथा भारतीय ज्ञानसम्बन्धी शोध-क्षेत्र के आवश्यक अंग हैं। अतः केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासनों को चाहिए कि वे इन्हें उदारतापूर्वक आवर्तक तथा अनावर्तक दोनों ही प्रकार के अनुदान दें।

आयोग की संस्तुति है कि केन्द्रीय शिक्षामन्त्रालय द्वारा संस्थापित तदर्थ भारतीय ज्ञान-समिति द्वारा मूल्याङ्कन तथा भारतीय ज्ञानसम्बन्धी कार्य के लिए अनुदान देने की जो विधियाँ निर्धारित की गयी हैं, उनमें संशोधन करके उन्हें युक्ति-संगत बनाया जाना चाहिए।

(९) केन्द्रीय भारतीय ज्ञान-संस्थान

आयोग की संस्तुति है कि शासन एक केन्द्रीय भारतीय ज्ञान-संस्थान की स्थापना करे। यह संस्थान अपने अन्य विषयों के साथ वर्तमान शोधसंस्थानों में प्रचलित कार्य की पूर्ति में सहायक होगा तथा अपने प्रमुख लक्ष्य के रूप में उपेक्षित शोधकार्य को अपनायेगा एवं ऐसे शोधकार्यों को भी अपने हाथ में लेगा, जिनको चलाने में कतिपय विशेष सुविधाओं का सुलभ होना आवश्यक प्रतीत हुआ करता है तथा जिनकी व्यवस्था केवल सरकार द्वारा ही की जा सकती है।

आयोग की यह भी संस्तुति है कि इस संस्थान का प्रमुख विभाग संस्कृत का कार्य करेगा तथा अन्य विभाग मुण्डा, द्राविड़ी, चीनी तथा तिब्बती भाषाओं तथा उनका संस्कृत से सम्बन्ध, मिस्र तथा निकटवर्ती पूर्व (हिट्टाइट तथा ईरानी) का इतिहास एवं पुरातत्त्व और केन्द्रीय एसिया, नेपाल, तिब्बत, चीन तथा दक्षिणपूर्व देश सम्बन्धी अध्ययन जैसे क्षेत्रों के लिए निर्धारित किये जायंगे।

आयोग की संस्तुति है कि यह संस्थान अन्यत्र संस्तुत केन्द्रीय पाण्डुलिपि सर्वेक्षण विभाग के साथ-साथ या उसे अपने में सम्मिलित करते हुए कार्य करेगा। आयोग की यह भी संस्तुति है कि इस केन्द्रीय संस्थान के कार्यों में भारतीय ज्ञानविषयक वार्षिक विवरणात्मक ग्रन्थसूची तैयार करने का तथा संस्कृतग्रन्थों एवं पाण्डित्यपूर्ण

शोधलेखों को प्रकाशित करने का कार्य भी सम्मिलित किया जायगा। इसके अतिरिक्त यह संस्थान शोध-विद्वानों के लिए एक सामान्य काठिन्यनिवारण केन्द्र के रूप में भी कार्य करेगा।

(१०) समन्वयन तथा सहयोग

आयोग की संस्तुति है कि इस देश के विभिन्न केन्द्रों में, विश्वविद्यालयों में तथा शोधसंस्थानों आदि में जो शोधकार्य चल रहा है, उसे समुचितरूप से समन्वित होना चाहिए तथा शोधकार्य की आवृत्ति नहीं की जानी चाहिए और इस उद्देश्य तथा अन्य सम्बद्ध उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रतिवर्ष विभिन्न केन्द्रों में प्रचलित शोध-कार्य की विवरण तालिका तैयार की जानी चाहिए तथा देश के संस्कृत-शोधक्षेत्रों में स्वस्थ तथा सहयोगपूर्ण वातावरण समुन्नत करने के सन्दर्भ में पदन्यास किया जाना चाहिए।

(११) सम्मेलन

आयोग की संस्तुति है कि अखिल भारतीय प्राच्य-परिषद् (All-India Oriental Conference) जो इस देश के प्रमुख संस्कृत विद्वानों का एक प्रमुख सभास्थल है, उसे उपयुक्त आर्थिक साधनों से सम्पन्न करते हुए स्थायी बना देना चाहिए और भारत का विदेशों से सांस्कृतिक सम्पर्क जो आज तक उपेक्षित पड़े हुए हैं, उनके लिए नवीन विभाग खोलकर अपने कार्यव्यापार को संवर्धित करने के प्रसंग में उक्त प्राच्य-परिषद् को सभी प्रकार की सम्भव सहायता दी जानी चाहिए।

आयोग की यह भी संस्तुति है कि एसियायी देश, जो यह चाहते हैं कि उनके देश का भारतीय सांस्कृतिक सम्पर्क के प्रसंग में अध्ययन किया जाय, ऐसे देशों के प्रति-निधियों को अपने प्रत्येक अधिवेशन में बुलाने के लिए उक्त प्राच्यसम्मेलन को यथोचित सहायता दी जानी चाहिए, ताकि वे उन्हें अपने अधिवेशनों में आमन्त्रित कर सकें।

आयोग की यह धारणा है कि अखिल भारतीय प्राच्य-परिषद् (All-India Oriental Conference) के विषय में हमारे उपर्युक्त अन्तिम वाक्य के अनुसार यदि कार्य किया गया तो उससे केवल शैक्षिक लाभ ही न होगा ; किन्तु परिषद् की इस कार्यप्रणाली से एसियाई एकता को समुन्नत करने के अपेक्षाकृत बृहत्तर क्षेत्र में भी चिरस्थायी लाभ हो सकेगा।

(१२) पारितोषिक, समर्पितनिधि आदि

आयोग की संस्तुति है कि उच्चस्तरीय शोधकार्य को समुन्नत बनाने के लिए साहित्य-संस्थान (Akademi) द्वारा अन्य पारितोषिकों के समान संस्कृत एवं भारतीय-ज्ञान सम्बन्धी कार्य के लिए भी पारितोषिकों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

आयोग यह आशा करता है कि हमारे देश के परोपकारी व्यक्ति अमेरिका में क्रियाशील प्राभूतों तथा न्यासों के समान अपने देश में भी बड़े-बड़े प्राभूतों एवं न्यासों

की स्थापना करेंगे, जिससे शोधविद्वानों तथा अनुसन्धान-योजनाओं के लिए छात्र-वृत्तियों तथा अन्य आर्थिक सहायताओं की व्यवस्था की जा सके।

आयोग का यह सुझाव है कि भारतीय शासन अपने कर्त्तव्य के रूप में भारतवर्ष में संस्कृत के समुन्नत अध्ययन का नैरन्तर्य तथा उसका प्रसार सुनिश्चित करे, जिससे कि जिन विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय ज्ञानसम्बन्धी अनुसन्धान पाश्चात्त्य देश कर रहे हैं, उनकी छान-बीन भारतीय विद्वानों द्वारा की जा सके तथा आज वैज्ञानिक एवं प्राविधिक अध्ययनों पर विशेष ध्यान दिया जाना कितना भी आवश्यक क्यों न हो, शासन द्वारा मानवीय शास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता उपेक्षित नहीं होनी चाहिए—विशेषतः संस्कृत, भारतीयदर्शन, पुरातत्त्व तथा कला—जो हमारे देश की परम्पराप्राप्त अमूल्य सांस्कृतिक सम्पत्ति है।

पाण्डुलिपियाँ

यतः संस्कृत के शोध-क्षेत्र की सामग्री, उसका मूल्य तथा स्तर मूलतः संस्कृत के उन प्रमुख ग्रन्थों की खोज पर निर्भर है, जो देश भर में पाण्डुलिपियों के रूप में बिखरी पड़ी हैं तथा पुरातत्त्व एवं अन्य सामग्रियों के समान भारतीय इतिहास, विचार-परम्परा तथा संस्कृति का पुनः निर्माण पाण्डुलिपि साधनों पर भी अवलम्बित है। आयोग की संस्तुति है कि शासन पाण्डुलिपियों के प्रश्न पर यथोचित ध्यान दे।

आयोग की संस्तुति है कि देश के विभिन्न भागों में पड़े हुए पाण्डुलिपियों के विशाल संग्रह की समस्या को यथोचितरूप से नियंत्रित करने के लिए शासन को चाहिए कि वह एक केन्द्रीय-पाण्डुलिपि-सर्वेक्षण विभाग की स्थापना करे। यह विभाग एक स्वतंत्र केन्द्रीय संघटन होगा या प्रस्तावित केन्द्रीय भारतीय-ज्ञान-संस्थान के एक प्रमुख विभाग के रूप में कार्य करेगा या अन्यत्र प्रस्तावित केन्द्रीय संस्कृत-परिषद् के अधीन रहेगा।

आयोग की यह भी संस्तुति है कि केन्द्रीय पाण्डुलिपि सर्वेक्षण की क्षेत्रीय शाखाएँ होंगी तथा वह प्रादेशिक शासनों के साथ या गैर-सरकारी स्थानीय संघटनों की सहकार्यता से कार्य करेंगी।

आयोग की संस्तुति है कि केन्द्रीय पाण्डुलिपि सर्वेक्षण विभाग संस्कृत तथा उससे सम्बद्ध ग्रन्थों की खोज, उनका सर्वेक्षण, एकत्रीकरण, विवरणात्मक सूचीकरण तथा प्रकाशन का कार्य करेगा तथा इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए उनकी केन्द्रीय एवं क्षेत्रीय शाखाओं में ऐसे सुयोग्य कर्मचारी नियुक्त किये जायँ, जिन्हें पाण्डु-लिपि-सम्पादन के कार्य का अनुभव प्राप्त हो तथा जो स्थानीय लिपियों तथा परि-स्थितियों से भली-भाँति परिचित हों।

आयोग की यह भी संस्तुति है कि केन्द्रीय पाण्डुलिपि सर्वेक्षण विभाग द्वारा सर्वेक्षित, पुनः लिखित, उधार दी गयी या उधार ली गयी तथा समय-समय पर संगृहीत पाण्डुलिपियों का एक विस्तृत विवरण देते हुए निश्चित समय पर एक पत्रिका या आख्या प्रकाशित करेगा।

आयोग की संस्तुति है कि पाण्डुलिपियों को सड़ने-गलने से बचाने के लिए, विशेषतः उन्हें जो व्यक्तियों के अधिकार में हैं, यथोचित पदन्यास किया जाना चाहिए और देश के कोने-कोने में पड़े हुए पाण्डुलिपिकोषों के प्रति सार्वजनिक चेतना जागृत की जानी चाहिए; तथा जहाँ कहीं भी सम्भव हो इन पाण्डुलिपियों को उनके स्वामियों से ले लिया जाना चाहिए या स्वामियों को उनके समुचित संरक्षण के लिए सहायता दी जानी चाहिए।

आयोग की संस्तुति है कि सरकार को चाहिए कि वह विक्रय या अन्य किसी प्रकार से पाण्डुलिपियों को विदेश ले जाने की क्रिया को रोकने के लिए समुचित कानून बनाये तथा प्रस्तावित केन्द्रीय पाण्डुलिपि सर्वेक्षण विभाग द्वारा पाश्चात्य देशों में संगृहीत पाण्डुलिपियों की माइक्रोफिल्म प्रतिलिपियाँ तैयार की जानी जाहिए।

आयोग की संस्तुति है कि विभिन्न क्षेत्रों में, जहाँ पुस्तकालय नहीं हैं, पाण्डुलिपियों के संरक्षण के लिए वहाँ के प्रादेशिक शासनों को चाहिए कि वे अपने यहाँ एक अपना पाण्डुलिपि-पुस्तकालय स्थापित करें तथा ये प्रादेशिक या अन्य स्थानीय पाण्डुलिपि-पुस्तकालय ऐसे व्यक्तियों के अधीन हों जो पाण्डुलिपियों तथा उनके सम्पादन-कार्य के विशेषज्ञ हों तथा शोधकार्य में भी जिन्होंने प्रतिष्ठा प्राप्त की हो और जहाँ कहीं इन पाण्डुलिपि-पुस्तकालयों में, विशेषतः वे जो प्रादेशिक सरकार के हों, पाण्डुलिपियों का भ्रमण द्वारा खोजे जाने का कार्य जो अब बन्द हो गया हो वहाँ यह कार्य पुनः चला दिया जाना चाहिए।

आयोग की यह भी संस्तुति है पाण्डुलिपि-पुस्तकालयों को चाहिए कि उन्होंने जिन पाण्डुलिपियों का संग्रह किया है, उनके परीक्षण तथा उनकी विवरणात्मक सूची तैयार करने का कार्य वे अविलम्ब प्रारम्भ कर दें तथा पाण्डुलिपियों की विवरणात्मक सूची तैयार करते समय उनकी पहचान तथा अन्य सूचनाओं की यथार्थता पर यथोचित ध्यान दिया जाना चाहिए और यथासम्भव इन पाण्डुलिपियों का विवरण तैयार करने में एकरूपता लायी जानी चाहिए अथवा किसी एक सर्वमान्य आदर्शविधि का प्रयोग करना चाहिए।

आयोग की संस्तुति है कि पाडुलिपि पुस्तकालयों में ऐसे कर्मचारियों की नियुक्ति की व्यवस्था हो जानी चाहिए जो पाण्डुलिपियों का परीक्षण कर सकें, उनकी विवरणात्मक सूची तैयार कर सकें तथा उस पाण्डुलिपि-सामग्री में प्राप्त दुर्लभ ग्रन्थों का सम्पादन भी कर सकें।

आयोग की संस्तुति है कि जिन पुस्तकालयों में पाडुलिपियों के इतने बृहत् संग्रह विद्यमान हैं, जिनकी सामग्री एवं मूल्य के विषय में विद्वत्समाज अनभिज्ञ है, ऐसे पुस्तकालयों को चाहिए कि वे अपनी विवरणात्मक ग्रन्थसूची शीघ्र प्रकाशित करें। एतदर्थ शासन द्वारा उन्हें यथोचित आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए।

आयोग चाहता है कि पाण्डुलिपि-संग्रहालयों में अपने संग्रहों को यथोचित रूप में संरक्षित रखने के लिए स्थान तथा साज-सज्जा की व्यवस्था करनी चाहिए

तथा यथासम्भव माइक्रोफिल्म तथा फोटो स्टैट के उपकरण, माइक्रोफिल्म पढ़ने के यन्त्र तथा इस प्रकार की अन्य सुविधाएँ भी प्राप्त होनी चाहिएँ ।

आयोग का विचार है कि पाण्डुलिपि-संग्रहालयों को चाहिए कि वे वास्तविक विद्वानों तथा संस्थाओं को अपनी पाण्डुलिपियों को देखने या उन्हें उधार पर लेने की सुविधा प्रदान करें।

आयोग की धारणा है कि जहाँ कहीं पाण्डुलिपि-पुस्तकालयों में ग्रन्थ-सम्पादन का कार्य चलता है वहाँ यह सुनिश्चित करने के लिए कि उनका कार्य ठीक-ठीक चल रहा है या नहीं,पाण्डुलिपि तथा सम्पादन कार्य में दक्ष विद्वानों की सम्मति तथा सहयोग लिया जाना चाहिए।

आयोग चाहता है कि पाण्डुलिपि-ग्रन्थालयों को अपने संग्रहों की यथोचित देख-भाल करनी चाहिए तथा उन्हें सुरक्षित रखने के सम्बन्ध में विशेषज्ञों की सम्मति लेते रहनी चाहिए।

आयोग की संस्तुति है कि भूतपूर्व रजवाड़ों के पाण्डुलिपि-संग्रहालय, जो आज भी विद्वानों की पहुँच के बाहर बने हुए हैं, शासन को चाहिए कि उनके द्वार सर्व-साधारण के लिए खोल दे।

संस्कृत विश्वविद्यालय

संस्कृत विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में आयोग की संस्तुति निम्नप्रकार है:—

(१) संस्कृत-शिक्षा की परम्परागत प्रणाली को समुन्नत तथा सशक्तबनाने के उद्देश्य से विभिन्न क्षेत्रों में संस्कृत विद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिए।

(२) संस्कृत विश्वविद्यालयों को चाहिए कि वे वर्तमान विश्वविद्यालयों तथा उनके संस्कृत विभागों एवं आधुनिक पद्धति के संस्कृत पाठ्यक्रमों की कार्यविधि में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें।

(३) संस्कृत विश्वविद्यालय संस्कृत पाठशाला-पद्धति की पुनःसंघटित उच्चभूमि के रूप में कार्य करेंगे, संस्कृत विश्वविद्यालय संस्कृत विद्यालयों एवं महाविद्यालयों का समन्वयन करेंगे, उनके पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करेंगे, उनके कार्य का निरीक्षण करेंगे तथा उनकी परीक्षाओं का सञ्चालन करेंगे।

(४) संस्कृत विश्वविद्यालय समन्वयनकर्त्ता, सम्बद्धकर्त्ता तथा परीक्षासंस्थान होने के अतिरिक्त संस्कृत के उच्चतम अध्ययन तथा शोधकार्य के केन्द्रस्थल के रूप में भी कार्य करेंगे।

(५) संस्कृत विश्वविद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिए तथा इन्हें अन्यत्र संस्तुत विधिद्वारा संस्थापित केन्द्रीय संस्कृत-परिषद् के अधीन कार्य करना चाहिए।

(६) संस्कृत विश्वविद्यालयों को शिक्षण, प्रशासन, ग्रन्थनिर्माण आदि सभी स्तरों पर संस्कृतमाध्यम अंगीकार करना चाहिए।

(७) उच्चतम श्रेणी तक विशुद्ध संस्कृत के अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित करते हुए संस्कृत विश्वविद्यालयों को चाहिए कि वे आधुनिक ज्ञान को एक पूरक तत्त्व मानें तथा अपने छात्रों को ज्ञान की विभिन्न शाखाओं से सम्बद्ध वर्तमान विकासों के अध्ययन की सुविधा प्रदान करें।

संस्कृत विश्वविद्यालयों को अपने कार्यक्रम में संस्कृत के ऐसे ग्रन्थों की रचना को भी स्थान देना चाहिए, जिनमें आधुनिक ज्ञान का समावेश किया गया हो, जिससे उनकी अध्ययन व्यवस्था पारम्परिक संस्कृत-अध्ययन प्रणाली में व्याप्त पार्थक्य की भावना से बाधित न हो।

(९) आयोग की संस्तुति है कि केन्द्रीय शासन प्रदेशों द्वारा प्रस्तुत किये गये संस्कृत विश्वविद्यालयों की स्थापना के उपयुक्त प्रस्तावों को प्रोत्साहित करने की प्रक्रिया को (अर्थात् उत्तरप्रदेश का वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) अपने एक सुनिश्चित लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर ले।

(१०) आयोग की संस्तुति है कि केन्द्रीय शासन दक्षिणभारत में कहीं भी एक संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना करके संस्कृत विश्वविद्यालयों के सन्दर्भ में नेतृत्व ग्रहण करे।

(११) आयोग का यह सुझाव है कि जो भी व्यक्तिगत संघटन या संघ संस्कृत विश्वविद्यालयों के आयोजन अथवा उनकी स्थापना के लिए इच्छुक हों, उन्हें यह चाहिए कि एतत्सम्बन्धी समस्याओं पर वे ठीक-ठीक विचार कर लें। उन्हें इस तथ्य को निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्हें यथेष्ट रूप में कर्मचारी या धन उपलब्ध है? इसके अतिरिक्त ऐसे संघटनों के लिए यह भी उचित होगा कि इस सन्दर्भ में वे उन अधिकारियों की अनुमति भी प्राप्त कर लें जिनके आदेश से विश्वविद्यालय अस्तित्व में आते हैं तथा कार्य करते हैं।

सामान्य

आयोग की संस्तुति है कि संस्कृत के सांस्कृतिक मूल्य तथा उसकी देशव्यापी विशिष्टता की दृष्टि से तथा विघटनात्मक प्रवृत्तियों एवं क्षेत्रीय भाषावाद की वृद्धि को रोकने के लिए भी यह आवश्यक है कि जिन सार्वजनिक अवसरों पर यह साध्य हो, उनमें एक अतिरिक्त भाषा के रूप में अंगरेजी तथा हिन्दी के साथ संस्कृत का भी प्रयोग किया जाना चाहिए, क्योंकि अतीत काल से संस्कृत एकीकरण की एक महती शक्ति के रूप में हमारे देश में अपनी भूमिका निभा रही है तथा भारतीय संविधान में उसे एक मान्य भाषा का स्थान भी दिया जा चुका है।

आयोग का यह सुझाव है कि विशेष रूप में शपथग्रहण, शपथपूर्वक पदग्रहण, विधानमण्डल के सत्रारम्भ तथा सत्रावसान, राजकीय व्यवस्था से आयोजित राष्ट्रिय तथा अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन एवं विचारगोष्ठियाँ, परिचयपत्र-प्रस्तुतीकरण, राष्ट्रिय अलंकरण तथा सम्मान वितरण समारोह, विश्वविद्यालयों के दीक्षान्त समारोह, पारपत्र, विभिन्न राजकीय विभागों के सिद्धान्त वाक्य—इन सभी औपचारिक सन्दर्भों

में संस्कृत का राजकीयस्तर पर प्रयोग किया जाना चाहिए। इस प्रसंग में आयोग इस तथ्य पर बल देना चाहता है कि संस्कृत को समस्त भारत में जो गौरव तथा प्रतिष्ठा प्राप्त है उस दृष्टि से इन अवसरों पर संस्कृत का प्रयोग निश्चय ही उनकी शोभा तथा गम्भीरता का संवर्धन करेगा।

आयोग की संस्तुति है कि संस्कृत साहित्य का असीम साधन विशेषतः कहावतों एवं प्रभावशाली लोकोक्तियों के भण्डार का प्रयोग स्कूलों तथा कालेजों में दी जाने वाली धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के लिए किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस आयोग की यह भी संस्तुति है कि संस्कृत सुभाषित जो हमारे राष्ट्रिय लोकप्रिय बुद्धिसाहित्य के एक विशेष अंग हैं, उनकी विशिष्टता है कि वे स्मृति में शीघ्र ही अपना घर बना लिया करते हैं; अतः विद्यालयीय शिक्षा के प्रारम्भकाल से ही बालकों को इन सुभाषितों की शिक्षा दी जानी चाहिए।

आयोग की यह भी संस्तुति है कि यथासम्भव देश के सभी भागों में समान अनुकरणीय उच्चारण की शिक्षा देने के सन्दर्भ में चेष्टा की जानी चाहिए तथा इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए देश के जिन भागों में उच्चारण अपेक्षाकृत शुद्ध है, उस क्षेत्र के सुयोग्य पाठकों तथा अध्यापकों को जहाँ का उच्चारण सदोष है; उन क्षेत्रों में नियुक्त करना चाहिए और इस कार्य के लिए टेपरेकर्ड, ग्रामोफोन तथा आकाशवाणी का भी प्रयोग किया जाना चाहिए।

आयोग की संस्तुति है कि भारतव्यापी प्रयोग के लिए देवनागरी को सामान्य व्यवहार की लिपि के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए तथा संस्कृत के समस्त बालकों को उसकी शिक्षा दी जानी चाहिए। साथ ही साथ क्षेत्रीय भाषाओं का संस्कृत से आवश्यक घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखने के हेतु तथा विभिन्न क्षेत्रों में संस्कृत का संवर्धन समुन्नत करने के एक प्रमुख साधन के रूप में उसके लिए स्थानीय लिपियों के प्रयोग की परम्परा को भी प्रचलित रखना चाहिए और रोमन लिपि जिसमें पाश्चात्य देशों में संस्कृत के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, पण्डितवर्ग को उसका भी अभ्यास कराया जाना चाहिए, जिससे इस लिपि में मुद्रित सामग्री का वे भी प्रयोग कर सकें।

आयोग की संस्तुति है कि अखिल भारतीय वैज्ञानिक तथा प्राविधिक पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण के सन्दर्भ में संस्कृतवाङ्मय में उपलब्ध प्राविधिक तथा वैज्ञानिक साहित्य का पूरा-पूरा उपयोग किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त आयोग की यह भी संस्तुति है कि संविधान द्वारा निर्धारित एवं राजभाषा-आयोग द्वारा अनुमोदित सिद्धान्त को समस्त भारत के उपयोग के लिए तैयार की जाने वाली वैज्ञानिक तथा प्राविधिक पारिभाषिक शब्दावली के निर्माणकार्य में पूर्णतः कार्यान्वित किया जाना चाहिए। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए आयोग की संस्तुति है कि विभिन्न अध्ययन शाखाओं के वैज्ञानिकों तथा विशेषज्ञों का कोई एक ऐसा संघ संघटित किया जाना चाहिए जो आज के उपयोग के योग्य संस्कृतवाङ्मय की विभिन्न शाखाओं से ठीक-

ठीक पारिभाषिक शब्दों का चयन करेगा तथा आयोग की यह भी संस्तुति है कि वैज्ञानिक तथा प्राविधिक शब्दावली के एक बृहत् अंगरेजी-संस्कृत शब्दकोश का निर्माण किया जाय।

आयोग की संस्तुति है कि भारतवर्ष की संस्कृति तथा उसकी राष्ट्रिय प्रतिभा को ठीक-ठीक समझने के लिए विशेष व्याख्यानमालाओं के माध्यम से भारतीय प्राशासनिक विदेशी सेवाओं के लिए चुने गए अभ्यर्थियों को संस्कृत-चिन्तन तथा भारतीय संस्कृति का यथोचित ज्ञान प्राप्त करने के अवसर दिये जायँ। इसके अतिरिक्त आयोग की यह भी संस्तुति है कि विदेश जाने वाले छात्रों को संस्कृत-चिन्तन तथा भारतीय संस्कृति का मौलिक ज्ञान कराया जाना चाहिए, जिससे वे अपने देश का वास्तविक प्रतिनिधि होने की भूमिका निभा सकें, जब कि वे ऐसे विदेशियों के बीच रहने जा रहे हैं जो पूर्वापेक्षया इस समय भारत को समझने के सन्दर्भ में विशेष अधिक उत्सुक हैं।

आयोग की संस्तुति है कि शासन को विदेशों के भारतीय दूतावासों में ऐसे सांस्कृतिक कार्यकर्त्ताओं की शीघ्र नियुक्ति करनी चाहिए जो संस्कृत भाषा, साहित्य तथा संस्कृति के विशेषज्ञ हों, जिससे विदेशों के भारतीय अध्ययन केन्द्र तथा भारतीय साहित्य में रुचि रखनेवाला जनसमूह भी उनसे आवश्यक सहायता प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त आयोग की यह भी संस्तुति है कि विदेशों के भारतीय दूतावासों को चाहिए कि वे कभी-कभी भारतीय साहित्य तथा अन्य सांस्कृतिक सामाग्रियों की प्रदर्शिनियों का भी आयोजन किया करें तथा भारतीय ज्ञान साहित्य के एक सुन्दर प्रतिनिधि पुस्तकालय की भी व्यवस्था करें। इस सन्दर्भ में आयोग इस तथ्य की ओर दृष्टि आकर्षित करना चाहेगा कि इन सांस्कृतिक अधिकारियों की नियुक्ति से ऐसे बहुसंख्यक भारतीयों में अपनी मातृभूमि की संस्कृति के प्रति जागृति उत्पन्न की जा सकेगी, जो भारत से बाहर के देशों में निवास करते हैं या वहाँ के स्थायी निवासी बन चुके हैं।

संस्कृत की प्रतिष्ठा समुन्नत करने की दृष्टि से आयोग की संस्तुति है कि प्रतिष्ठा प्राप्त श्रेष्ठ तथा प्रमुख विद्वानों को मान्यता दी जाय तथा उन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित करने की प्रथा पुनः प्रचलित की जाय। ऐसे सम्मानित विद्वानों को इस उपाधि के साथ दो सौ रुपये मासिक आजीवन वृत्ति भी दी जाय और प्रादेशिक सरकारों के सहयोग द्वारा केन्द्रीय-शासन ऐसे विद्वानों के लिये आजीवन वृत्ति का प्राविधान करे जो आपन्न स्थिति में हों तथा देश के विभिन्न भागों में अपने पाण्डित्य तथ चरित्र के कारण सम्मानित हों तथा प्रमुख पण्डितों में से कुछ ऐसे पण्डितों को केन्द्रीय तथा प्रादेशिक विधानमण्डलों के लिए मनोनीत किया जाना चाहिए, जो वर्तमान सामाजिक प्रश्नों के सन्दर्भ में सक्रिय रुचि लेते हों एवं विख्यात साहित्यकार भी हों तथा भारत के राष्ट्रपति और राज्यपालों को चाहिए कि वे प्रख्यात पण्डितों को सम्मानित करने के लिए प्रतिवर्ष एक सभा का आयोजन किया करें।

आयोग की संस्तुति है कि संस्कृत साहित्य, भारतीय चिन्तन तथा दर्शन के उत्तरकालिक विकास के परिप्रेक्ष्य में वेदों के मौलिक महत्त्व पर विचार करते हुए उनकी मौखिक परम्परा के संरक्षण पर तथा देश के विभिन्न भागों में प्रचलित उनके विभिन्न पाठभेदों के संशोधन की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाना चहिए। भाषा वैज्ञानिक तथा साहित्यिक शोधकार्य की दृष्टि से भी मौखिक परम्परा महत्त्वपूर्ण है और मन्दिरों तथा धार्मिक संस्थाओं में वेदपाठ की व्यवस्था की जानी चाहिए तथा जहाँ कहीं यह परम्परा चल रही हो वहाँ उसे प्रचलित रखना चाहिए।

आयोग की यह भी संस्तुति है कि मन्दिरों की निधि के वचत धन को वेदों के कण्ठ-पाठ तथा पाठशालाओं के पोषण में लगाना चाहिए और शिक्षा तथा धार्मिक संस्थाओं के अधिकारियों को चाहिए कि भारतवर्ष में जहाँ कहीं वेदों की मौखिक परम्परा समाप्त हो चुकी है वहाँ उसे पुनरुज्जीवित करने की दिशा में वे क्रियाशील हों तथा वेदों के क्षेत्र में शोधकार्य करने वाले शोधसंस्थानों को चाहिए कि जहाँ कहीं सम्भव हो वहाँ वे उन पण्डितों की सहायता से लाभ उठावें, जिन्होंने वेदों की मौखिक परम्परा संरक्षित रखी है।

आयोग का सुझाव है कि सामवेद की परम्परा पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए, क्योंकि भारतीय संगीत के क्षेत्र में यह वेद विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार अथर्ववेद पर भी ध्यान देना अपेक्षित है, क्योंकि इस वेद की परम्परा प्रायः समाप्त हो चुकी है। गुजरात के कुछ थोड़े से नागर परिवारों तक ही आज यह सीमित है। इस सम्बन्ध में दक्षिण भारत एवं अन्यत्र भी वेदों के जो न्यास (ट्रस्ट) अपनी कार्यविधि में कठिनाई का अनुभव कर रहे हैं, उन्हें अपनी वार्षिक आय की वसूली तथा उसे उपयोग में लाने के सन्दर्भ में शासन द्वारा सहायता दी जानी चाहिए।

इसके अतिरिक्त इस आयोग की यह भी संस्तुति है कि जिस विधि से वेदों की मौखिक परम्परा को संरक्षित करने का सुझाव ऊपर दिया जा चुका है, उसके साथ साथ आकाशवाणी अथवा किसी और राजकीय या अराजकीय माध्यम से शासन द्वारा वेदों का सम्पूर्ण टेपरेकर्ड करने की व्यवस्था शीघ्र की जानी चाहिए तथा एक ऐसे पृथक् पुस्तकालय का निर्माण किया जाना चाहिए जिसमें ये टेप सुरक्षित ढंग से सञ्चित किये जा सकें।

भारतीय जनता के लोकप्रिय उपदेष्टा के रूप में रामायण, महाभारत तथा पुराणों ने प्राचीन काल में जिस निपुणता से अपनी भूमिका का निर्वाह किया है, उसे दृष्टि में रखते हुए समाज में शिक्षा तथा नैतिक आदर्शों को प्रसारित करने के लिए इस समय शासन द्वारा जो चेष्टाएँ की जा रही हैं, उन पर भी विचार करते हुए यह आयोग अनुरोध करता है कि शासन द्वारा इतिहास, पुराण की व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षणार्थं यथोचित व्यवस्था की जानी चाहिए। पाठशालाओं को भी चाहिए कि वे अपने नियमित पाठ्यक्रम में इतिहास, पुराण की व्याख्या करने का प्रशिक्षण सम्मिलित करें।

आयोग की संस्तुति है कि सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रिय सेवा प्रसार योजनाओं में रामायण, महाभारत, गीता, पुराण आदि के प्रतिभाशाली व्याख्याताओं की नियुक्ति की जानी चाहिए, जिससे समाज को आचार, व्यवहार तथा चरित्र सम्बन्धी यथोचित आदर्शों की शिक्षा दी जा सके। कुछ प्रदेशों में कार्य करने वाले धार्मिक प्राभूत-समितियों तथा मन्दिर-विभागों को भी चाहिए कि वे नियमित रूप से या समय-समय पर रामायण, महाभारत तथा पुराणों के कथावाचकों की नियुक्ति किया करें।

आयोग की संस्तुति है कि जहाँ कहीं भी सम्भव या आवश्यक हो, पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में पौरोहित्य तथा कर्मकाण्ड का भी समावेश किया जाना जाहिए। आयोग का यह विचार है कि वैदिकों तथा पुरोहितों की वेद, संस्कृत तथा उससे सम्बद्ध शिक्षा की नींव पुष्ट की जानी चाहिए।

आयोग की संस्तुति है कि विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम के विभिन्न वैज्ञानिक तथा प्राविधिक विषयों के शिक्षण में उन विषयों से सम्बद्ध प्राचीन भारतीय साहित्य में संरक्षित भारतीय अंशदान का भी ज्ञान कराया जाना चाहिए तथा विज्ञान के क्षेत्र में भारतीय अंशदान के विषय पर भी शोधकार्य किया जाना चाहिए, जिससे प्राचीन भारत के वैज्ञानिक-ज्ञान का ठीक-ठीक मूल्याङ्कन किया जा सके।

आयोग की संस्तुति है कि आधुनिक चिकित्सा का ज्ञान तथा उसके प्रशिक्षण की कुछ मात्रा आयुर्वेद के अध्ययन के लिए निर्धारित करना आवश्यक है। पर आयुर्वेद के पाठ्यक्रम में आधुनिक चिकित्साशास्त्र का परिमाण यदि हो गया तो आयुर्वेद की विशिष्टता जाती रहेगी।

आयोग का सुझाव है कि आयुर्वेद के प्रमाणपत्रीय पाठ्यक्रम को उपाधि-पाठ्यक्रम में परिवर्तित किया जाना चाहिए तथा विश्वविद्यालयों में आयुर्वेद से संबन्धित शोध-विभागों की भी स्थापना की जानी चाहिए और छात्रों के लिए समस्त भारत में प्रयोग करने योग्य पाठ्यग्रन्थ संस्कृत में तैयार किये जाने चाहिए तथा आयुर्वेद में प्रवेश पानेवाले छात्रों के लिए संस्कृत का पूर्वज्ञान आवश्यक माना जाना चाहिए।

आयोग का यह विचार है कि केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासनों को संस्कृत के विषय में अपने भावों में संशोधन करना चाहिए और आयुर्वेदपद्धति से चिकित्सा को अपनाने के लिए जनता को प्रोत्साहित करना चाहिए तथा आयुर्वेद के कर्त्ताओं को अधिक से अधिक संख्या में प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

आयोग का यह सुझाव है कि एक अखिल भारतीय चिकित्सा-परिषद् की भी स्थापना की जानी चाहिए जिसके कार्यक्रम में पशुचिकित्सा को भी सम्मिलित किया जाय।

खगोलशास्त्र (नक्षत्र ज्योतिष), गणित आदि के सन्दर्भ में इस आयोग का यह विचार है कि इन शाखाओं में शोध का एक विस्तृत क्षेत्र पड़ा हुआ है। अतः आयोग की यह संस्तुति है कि विश्वविद्यालयों के गणित तथा खगोलशास्त्र के छात्रों को ज्योतिष आदि के सन्दर्भ में एतत्सम्बन्धी संस्कृतवाङ्मय में निहित सामग्री का भी समुचित ज्ञान कराया जाय, जिससे कि इन विषयों के छात्रों में अपने अध्ययन-सम्बन्धी संस्कृत के क्षेत्र में शोधकार्य करने की प्रवृत्ति जागृत हो।

आयोग की संस्तुति है कि कला तथा शिल्प के विद्यालयों द्वारा निर्धारित इन विषयों के पाठ्यक्रम में संस्कृतवाङ्मय के शिल्पशास्त्र-विषयक ग्रन्थों का अध्ययन भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। साथ ही साथ भारतीय शिल्पशास्त्र के प्रयोग तथा उनकी परम्परा को पुनरुज्जीवित करने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

आयोग संस्कृत के एक सरलस्वरूप का समर्थक है, किन्तु सरलीकृत संस्कृत या वेसिक संस्कृत का समर्थन नहीं करता, क्योंकि इन व्यवस्थाओं में काट-छाँट की जाती है। इसलिए आयोग का यह सुझाव है कि बच्चों तथा प्रौढ़ों की संस्कृत-शिक्षा के प्रारम्भिकस्तर पर सरल संस्कृत का क्रमिक रूप प्रयोग में लाया जाय।

आयोग की यह भी संस्तुति है कि अधिकारियों तथा जनता को संस्कृत के पत्र-पत्रिकाओं का समर्थन करना चाहिए, क्योंकि आधुनिक विचारों तथा वर्तमान घटनाओं को संस्कृत में प्रकाशन द्वारा उसे समुन्नत करने के सन्दर्भ में ये पत्र-पत्रिकाएँ एक प्रभावशाली माध्यम का कार्य कर रही हैं

आयोग का यह सुझाव है कि संस्कृत को जनप्रिय बनाने के लिए निम्नाङ्कित मार्गों का अनुसरण करना चाहिए :—

(१) व्यक्तिगत कक्षाओं का आयोजन, (२) अध्ययन समूह, (३) व्यक्तिगत परीक्षाएँ, (४) अनुवाद सहित जनप्रिय संस्कृत पुस्तिकाएँ तथा संकलन, (५) संस्कृत संघ, सम्मेलन तथा सभा आदि, (६) प्रमुख संस्कृत साहित्यकार तथा ग्रन्थकारों की जयन्तियाँ मनाना, (७) जनप्रिय प्रकाशन, (८) संस्कृत-शिक्षणविधियों का सरलीकरण, (९) संस्कृत के साहित्य समारोह, (१०) संस्कृत के मौलिक ग्रन्थों का प्रोत्साहन, (११) संस्कृत वाद-विवाद, (१२) संस्कृत-गल्प, नाटक आदि की प्रतियोगिताएँ, (१३) संस्कृत साहित्य का संगीतात्मक पाठ, (१४) संस्कृत नाट्याभिनय तथा ऐसे अन्य उपाय।

आयोग की संस्तुति है कि संस्कृत के प्रति जनता की अभिरुचि बढ़ाने के उद्देश्य से उसके सौन्दर्यात्मक तथा कर्णमधुर गुणों का भरपूर उपयोग किये जाने के सम्बन्ध में शासन को चाहिए कि वह संस्कृत-नाटक, संगीतनाटक एवं नृत्य, संगीतात्मक पाठ आदि का आयोजन करे तथा कालिदास नाट्य-समारोह जैसे उत्सवों की भी व्यवस्था करे।

आयोग की यह भी संस्तुति है कि अधिकारियों को चाहिए कि वे ऐसे महत्त्वपूर्ण तथा उत्साही व्यक्तिगत संस्थानों एवं संघटनों को यथासाध्य सहायता तथा आश्रय प्रदान करें, जो अपने-अपने क्षेत्रों में संस्कृत के प्रचार-प्रसार के कार्य में लगे हुए हैं।

आयोग की यह भी संस्तुति है कि आकाशवाणी तथा भारतीय चलचित्र विभाग को भी चाहिए कि वे संस्कृत को जनप्रिय बनाने की दिशा में सभी साध्य मार्गों का अनुसरण करें।

आयोग की संस्तुति है कि भारतीय प्रेस को भी चाहिए कि वह दशम अध्याय के अनुच्छेद ८४ में बताये गये उपायों से अपने समाचार-पत्रों के स्तम्भों में संस्कृत को जनप्रिय बनाने की सभी साध्य सुविधाएँ प्रदान करें।

आयोग की संस्तुति है कि केन्द्रीय शासन, साहित्य-संस्थान (Akademi), प्रादेशिक शासन तथा संस्थान की क्षेत्रीय शाखाओं को चाहिए कि वे आधुनिक भारतीय भाषाओं में तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित संस्कृतवाङ्मय के तथा भारतीय चिन्तन तथा संस्कृति सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों के सस्ते तथा एक समान आकार-प्रकार के ग्रन्थमाला के प्रकाशन में सक्रिय सहायता करें।

आयोग की संस्तुति है कि संस्कृत संस्थान एवं अन्य संघटनों को चाहिए कि वे अप्राप्य संस्कृत-ग्रन्थों के नवीन संस्करण प्रकाशित करें तथा क्षेत्रीय भाषाओं में प्रचलित संस्कृत शब्दकोष,प्रख्यात संस्कृत साहित्यकारों के काव्यों तथा नाटकों के सुविधापूर्वक प्रयोग करने योग्य संस्करण, संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थकारों की साहित्यकार ग्रन्थमाला, भारतीय दर्शनों तथा दार्शनिक-सम्प्रदायों पर अध्ययन-ग्रन्थमाला तथा संस्कृत की आकर्षक कथामाला—इस प्रकार के ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य प्रारम्भ किया जाना चाहिए तथा भारतीय ग्रन्थन्यास एवं साहित्य-संस्थान को चाहिए कि वे इस सन्दर्भ में प्रयत्नशील हों तथा साहित्यिक अभिव्यक्तियों के नवीन एवं अविकसित स्वरूपों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए तथा साहित्य-संस्थान और प्रादेशिक संस्थाओं को चाहिए कि वे इस कार्य के लिए पारितोषिक प्रदान करे।

प्रकाशन तथा संघटन

यह आयोग सरकार का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाहता है कि हमारे देश में वेद तथा साधारण संस्कृत के लिए विशेषरूप से संस्थापित अनेक ऐसे प्राभूत विद्यमान हैं तथा धार्मिक न्यासों-मन्दिरों तथा इस प्रकार की अन्य समर्पित निधियाँ भी पायी जाती हैं, जिनके पास अनेक नियमित व्यय किये जाने के अनन्तर धन बच जाता है, यदि इस धन की ठीक-ठीक व्यवस्था की जाय तो इस प्रतिवेदन में संस्कृत-अध्ययन के पुनः संघटन, उन्नयन एवं संवर्धन के सम्बन्ध में जो-जो सुझाव दिये गये हैं, उनके कर्यान्वियन में इस धन का प्रयोग किया जा सकता है। ऐसे प्राभूतों में से अनेक मरणासन्न, निष्क्रिय तथा अव्यवस्थित स्थिति में देखे जाते हैं। अनेक ऐसे भी हैं जो अपने मूल उद्देश्य के विपरीत अपना धन अन्य मार्गों

में लगा रहे हैं। इन धार्मिक न्यासों की बचत की धनराशि या तो यों ही पड़ी हुई है या अन्य असाम्प्रदायिक कार्यों में व्यय की जा रही है। अतः यह आयोग शासन से आग्रहपूर्वक यह अनुरोध करता है कि वह केन्द्रीय संस्कृतपरिषद् अथवा किसी अन्य सक्षम माध्यम द्वारा इन न्यासों की पूरी-पूरी जाँच कराये, उनके प्रशासन को ठीक रास्ते पर लाये, उन्हें सक्रिय करे तथा आय की वसूली में उनकी सहायता करे। साथ ही साथ शासन को यह भी चाहिए कि वह इन मठों, मन्दिरों आदि के मार्गान्तरित कोष को वेद, इतिहास, पुराण, आगम, धर्म तथा प्राभूतों के मूल उद्देश्यों से सम्बद्ध संस्कृत के अन्य अध्ययनों के लिए पुनः व्यय किये जाने की व्यवस्था करे।

आयोग का यह अनुरोध है कि संस्कृत के अध्ययन एवं अन्य दातव्य उद्देश्यों के लिए जो धन या सम्पत्ति दाता द्वारा निर्धारित की जा चुकी है, उसे अन्य मार्गों में लगाये जाने के लिए प्राभूत व्यवस्थापकों को यदि सहमति प्राप्त हो चुकी हो अथवा न्यायालय के भी आदेश प्राप्त हों, तथापि उसे अन्य मार्गों में व्यय न करने दिया जाय। इस सम्बन्ध में शासन को आवश्यक कानून बनाना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस कानून के द्वारा मठों, मन्दिरों तथा धार्मिक संस्थाओं की बचत के धन को असाम्प्रदायिक मार्गों में स्थानान्तरित करने की प्रणाली पर भी रोक लगाया जाना चाहिए। साथ ही साथ संस्कृत का अध्ययन जो स्पष्टतः धार्मिक उद्देश्यों के अन्तर्गत है, के लिये इस धन के उपयोग पर दबाव डालना चाहिए।

आयोग का यह अनुरोध है कि जहाँ कहीं रियासतों, जमींदारियों तथा भूतपूर्व नरेशों तथा राज्यों के उन्मूलन या विलयन के परिणामस्वरूप पूर्वव्यवस्था में प्रचलित संस्कृत के पोषण पर विपरीत प्रभाव पड़ा हो, वहाँ केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासनों को चाहिए कि वे उस आश्रय को सुनिश्चित करें, जो संस्कृत को अपने पूर्व आश्रय-दाताओं से प्राप्त हुआ करता था। इस सन्दर्भ में आयोग की यह संस्तुति है कि शासन वेदों तथा संस्कृत के अध्ययन की दिशा में भूतपूर्व नरेशों तथा जमींदारों की वचनबद्धता का भी पूर्णतः पालन करे।

अनेक संस्कृत संस्थाएँ भूमि प्राभूतों पर आश्रित हैं और संस्कृतविद्यालयों पर कुछ प्रदेशों द्वारा स्वीकृत साम्प्रतिक कृषि-नीति का विपरीत प्रभाव पड़ा है। इस विषय पर शासन द्वारा गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि संस्कृत समस्त भारत की महत्त्वपूर्ण भाषा है किन्तु प्रादेशिक शासनों का इस ओर ध्यान नहीं गया है, जिससे क्षेत्रीयभाषाओं का विकास हुआ है और संस्कृत के लिए समस्त देश में एक ही नीति वाञ्छनीय है, यह आयोग अनुरोध करता है कि संस्कृत को संविधान की सहमत विषयसूची में सम्मिलित करते हुए उसकी देख-भाल विशेषतः केन्द्र द्वारा की जानी चाहिए। यद्यपि शिक्षाव्यवस्था में प्रादेशिक शासन संस्कृत की सामान्य देख-भाल करता है, तथापि जब कभी आवश्यकता आ पड़े तो केन्द्रीय शासन को चाहिए कि वह संस्कृतसम्बन्धी उनके कर्त्तव्यपालन में प्रदेशों को आर्थिक सहायता प्रदान करे और संस्कृत के क्षेत्र

में उन क्रिया-कलापों का समुन्नयन भी करे, जिनकी ओर प्रादेशिक शासनों का यथोचित ध्यान नहीं जा पाता।

केन्द्रिय संस्कृत-परिषद्

इस तथ्य पर ध्यान देते हुए कि संस्कृत के पोषण तथा समुन्नयन के लिए इस आयोग के द्वारा जो अनेक प्रकार के प्रस्ताव किये गये हैं, उनसे यह पूर्वानुमान प्रायः सुनिश्चित है कि केन्द्र द्वारा एतत्सम्बन्धी निरन्तर ध्यान, समन्वयन तथा निदेशन की प्रक्रिया अपनायी जायगी। अतः आयोग का अनुरोध है कि केन्द्रीय शासन को शीघ्र ही एक केन्द्रीय संस्कृत-परिषद् की स्थापना करनी चाहिए और इस केन्द्रीय संस्कृत-परिषद् को केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा-परिषद् या पुरातत्त्व परिषद् के समान केवल समन्वयकर्त्री अथवा परामर्शदात्री परिषद् के रूप में ही कार्य नहीं करना चाहिए। विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग की विधि से इस परिषद् की स्थापना की जानी चाहिए तथा इस आयोग के समान केन्द्रीय संस्कृत-परिषद् को भी कानूनी अधिकार प्राप्त होना चाहिए और देश में संस्कृत-अध्ययन तथा शोधकार्य की सहायता के लिए आर्थिक प्राविधान किया जाना चाहिए। इस परिषद् के सदस्य ऐसे होने चाहिएँ जो संस्कृत शिक्षा तथा उच्च-अध्ययन के सभी पहलुओं—आधुनिक तथा पारम्परिक, शैक्षिक तथा प्राशासनिक एवं देश के समस्त भागों के प्रतिनिधि विद्वान् हों तथा देश के विभिन्न भागों में स्थित संस्कृत के विभिन्न संघटनों एवं शोध-संस्थानों का भी प्रतिनिधित्व करते हों।

यद्यपि केन्द्रीय संस्कृत-परिषद् विश्वविद्यालयों के संस्कृत विभागों के सम्बन्ध में केवल परामर्शदात्री परिषद् के रूप में कार्य करेगी, तथापि इन पर इस परिषद् का कोई कानूनी अधिकार नहीं रहेगा। इस केन्द्रीय संस्कृत-परिषद् का सम्बन्ध संस्कृत-सम्बन्धी कार्यक्षेत्र के प्रधानतः दो अंगों से रहेगा :—(i) पाठशाला-शिक्षा और (*ii*) देश के व्यक्तिगत शोध-संस्थान और अन्य सन्दर्भों के साथ-साथ केन्द्रीय संस्कृत-परिषद के कर्त्तव्यों में विभिन्न स्तरों पर संस्कृतशिक्षा के स्वरूपों का निर्धारण, पाठ्यक्रमों का समन्वयीकरण, अध्यापन, प्रकाशन तथा इस प्रकार के अन्य कार्यकलाप सम्मिलित होंगे। इसके अतिरिक्त यह परिषद् पाठ्यक्रमों, परीक्षाओं तथा उपाधियों की यथोचित मान्यता के सिद्धान्तों का भी निरूपण करेगी। साथ ही विभिन्न श्रेणियों के अध्यापकों तथा शोध-निदेशनकार्य करनेवालों की ठीक-ठीक सर्वमान्य योग्यताओं को भी निश्चित करेगी।

आयोग की संस्तुति है कि केन्द्रीय परिषद् केन्द्रीय-शासन द्वारा माध्यमिक विद्यालयों के संस्कृत अध्यापकों को दिए जाने वाले वेतन की पूर्ति के लिए प्रादेशिक शासनों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता के सन्दर्भ में भी एक माध्यम का कार्य करेगी।

आयोग का सुझाव है कि स्वीकृत संस्कृत पाठशालाओं तथा महाविद्यालयों के अध्यापकों के वेतन को समानान्तर स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों के अध्यापकों

के वेतन के समान करने के सन्दर्भ में प्रादेशिक शासनों को केन्द्रीय शासन जो पूरक अनुदान देगा उस सन्दर्भ में भी केन्द्रीय संस्कृत-परिषद् एक माध्यम का कार्य करेगी।

आयोग का यह भी सुझाव है कि केन्द्रीय संस्कृत-परिषद् संस्कृत-पाठशालाओं को भवन, पुस्तकालय तथा साज-सज्जा के लिए भी आर्थिक सहायता देगी।

आयोग यह भी चाहता है कि केन्द्रीय संस्कृत-परिषद् का सम्बन्ध उच्चस्तर के संस्कृत महाविद्यालयों में शोधविभाग स्थापित करने तथा इन संस्थाओं के छात्रों को शोधछात्रवृत्ति एवं अन्य वृत्ति देने से भी होगा और अन्यत्र संस्तुत संस्कृत-पण्डितों को सम्मानित करने तथा उन्हें उपाधियाँ प्रदान करने के कार्य में भी यह केन्द्रीय परिषद् केन्द्रीय शासन को परामर्श देगी।

आयोग का विचार है कि केन्द्रीय परिषद् को संस्कृत विश्वविद्यालयों की स्थापना स्वीकृत करने का, उन्हें विधिसम्मत संघटन के रूप में मान्यता प्रदान करने का, उन्हें आवश्यक अनुदान देने का तथा उनकी कार्यविधि का सामान्यतः नियन्त्रण करने का अधिकार भी प्राप्त होगा।

आयोग चाहता है कि केन्द्रीय परिषद् देश के व्यक्तिगत संघटनों द्वारा व्यवस्थापित संस्कृत के शोध-संस्थानों तथा पाण्डुलिपि-पुस्तकालयों को समन्वित करे तथा उनके विभिन्न कार्यकलापों के लिए उन्हें अनुदान भी दे और सामान्यतः भारतीय ज्ञान-संस्थान तथा केन्द्रीय पाण्डुलिपि-सर्वेक्षण विभाग के सहयोग से कार्य करे।

आयोग की संस्तुति है कि इस समय शिक्षा के विभिन्न क्रिया-कलापों का अत्यधिक विस्तार हो जाने के विचार से एक ही निदेशालय द्वारा विभिन्न शाखाओं की देख-भाल साध्य न होने के आधार पर प्रदेशों के शिक्षानिदेशालयों का विस्तार किया जाना चाहिए तथा विशेष-विशेष शाखाओं, जैसे विश्वविद्यालयीय शिक्षा, प्राविधिक शिक्षा आदि का कार्यभार पृथक्-पृथक् निदेशालयों को दिया जाना चाहिए। इस प्रकार के पुनः संघटन में संस्कृत को एक विशेष निदेशक के अधीन रखा जाना चाहिए।

आयोग की संस्तुति है कि प्रदेशों में संस्कृत-निरीक्षकों की संख्या पर्याप्त होनी चाहिए तथा विभिन्न प्रदेशों में उनके नियमित निरीक्षण का कार्य सुनिश्चित किया जाना चाहिए। विशेषतः पुनः संघटन के प्राविधानों की पूर्ति हो रही है या नहीं।

आयोग की संस्तुति है कि विश्वविद्यालयों में नियुक्त प्राध्यापकों तथा पण्डितों की प्रतिष्ठा, उनके स्वाधिकार तथा वेतन में समानता होनी चाहिए और प्रमाण-पत्रीय तथा उपाधि-पाठ्यक्रमों का भेद समाप्त किया जाना चाहिए।

आयोग का यह विचार है कि आज-कल अनेक पाठशालाओं में सुलभ निःशुल्क अध्यापन, आवास तथा भोजन की सुविधाओं में किसी प्रकार का कठोर संशोधन

करना अभीष्ट नहीं है। इस तथ्य पर दृष्टि रहते हुए कि संस्कृत-क्षेत्र के विभिन्न पदों पर नियुक्त किये जाने वाले कर्मचारियों की योग्यता के विषय में उपेक्षा के कारण संस्कृत के अध्ययन का महत्त्व तथा उसका स्तर बाधित हो रहा है, आयोग की संस्तुति है कि ग्यारहवें अध्याय के अनुच्छेद-३२-३९ में दिये गये सुझाव के अनुसार इन पदों पर उपयुक्त योग्यतासम्पन्न व्यक्ति ही नियुक्त किये जायँ।

आयोग की संस्तुति है कि एक से अधिक मंत्रालयों में बिखरे हुए सांस्कृतिक सन्दर्भों के एकत्रीकरण की दृष्टि से, कार्य की आवृत्ति की क्रिया को रोकने की दृष्टि से, एक सुदृढ़ नीति चलाने की दृष्टि से तथा इस लक्ष्य से भी कि देश के सांस्कृतिक विकास से सन्दर्भित समस्त चेष्टाएँ एक केन्द्र में सञ्चित हो जायँ, इस आयोग की संस्तुति है कि केन्द्रीय शासन द्वारा एक पृथक् संस्कृति-मंत्रालय की स्थापना करनी चाहिए तथा समस्त सांस्कृतिक सन्दर्भों को इस मन्त्रालय के अधीन रख देना चाहिए। आयोग का यह विश्वास है कि इस मंत्रालय की स्थापना से संस्कृत-क्षेत्र के विभिन्न क्रिया-कलापों को अधिकाधिक बल प्राप्त होगा।

आयोग की यह संस्तुति है कि वैज्ञानिक अध्ययन तथा शोधकार्य के समान ही केन्द्र को मानवीय अध्ययन एवं शोधकार्य (विशेषतः संस्कृत तथा भारतीय ज्ञान सम्बन्धी) के सन्दर्भ में भी चिन्ता रखनी चाहिए। आयोग यथार्थ में यह अनुभव करता है कि संस्कृत की विशिष्ट तथा असाधारण स्थिति एवं उसके महत्त्व की दृष्टि से केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासनों को चाहिए कि वे उसके प्रति वरीयता के भाव अपनावें।

आयोग की यह भी संस्तुति है कि शासन द्वारा कार्यान्वित की जाने वाली समस्त योजनाओं में इस प्रतिवेदन के विभिन्न अध्यायों में निर्दिष्ट मार्गों के अनुसार संस्कृत को समुन्नत करने के लिए एक अच्छी धनराशि निर्धारित की जानी चाहिए।

अयोग कि यह भी संस्तुति है कि प्रमुख-प्रमुख सन्दर्भों पर प्रस्तुत किये गये उसके उपर्युक्त अनुरोधों के अतिरिक्त इस प्रतिवेदन के विभिन्न अध्यायों में निर्दिष्ट अन्य सन्दर्भों पर भी केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासनों द्वारा ध्यान दिया जाना चाहिए, क्योंकि ये सन्दर्भ भी संस्कृत के किसी न किसी पहलू को समुन्नत करने की दृष्टि से ही प्रस्तुत किये गये हैं।

—: ० :—

समापन के शब्द

(१) संस्कृत-आयोग के इस प्रतिवेदन को शासन के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। अपनी यात्रा की समाप्ति तथा अपनी प्रश्नावली के उत्तरों तथा मौखिक साक्ष्यों से प्राप्त और एकत्रित की गयी सामग्री को ठीक-ठीक क्रमबद्ध करने के अनन्तर ही यह प्रतिवेदन तैयार हो सका है। आयोग की घोषणा १ अक्टूबर १९५६ को की गयी तथा ७ एवं ८ अक्टूबर को नयी दिल्ली में इसकी प्रथम बैठक हुई। १ नवम्बर १९५६ को पूना में अपना सचिवालय स्थापित करके इस आयोग का वास्तविक कार्यारम्भ किया गया तथा अक्टूबर १९५७ के अन्त में हम इस प्रतिवेदन को तैयार कर सके हैं।

(२) हमें प्रसन्नता है कि हम एक सर्वसम्मत प्रतिवेदन प्रस्तुत कर रहे हैं। संस्कृत आयोग के नाते हम सभी इस भावना से उत्प्रेरित रहे हैं कि एक राष्ट्र के रूप में भारतवर्ष के बौद्धिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण के लिए क्या किया जाना चाहिए तथा इस सन्दर्भ में संस्कृत कहाँ तक सहायक सिद्ध हो सकती है। यह अत्यन्त सन्तोष का विषय है कि इस सन्दर्भ में हम सभी के विचार एक से रहे हैं। हमें हर्ष है कि संस्कृतशिक्षा तथा शोधकार्य के विभिन्न पहलुओं के सन्दर्भ में यह प्रतिवेदन भारतीय जनता के विचारों को प्रतिबिम्बित करता है। इस प्रतिवेदन में प्रस्तुत किए गये विचार तथा संस्तुतियाँ वास्तव में समस्त भारतीय जनसमुदाय के ही विचार तथा संस्तुतियाँ हैं।

(३) हमारी संस्तुतियाँ, जो कि विस्तृत हैं, उनमें आदर्श आवश्यकताओं के अनुरूप ही उपायों का निर्देश किया गया है। ये उपाय वर्तमान स्थिति में व्यावहारिक हैं तथा जो कुछ कम से कम किया जा सकता है वही इन उपायों द्वारा प्रस्तावित किया गया है। इसलिए संस्कृत के हित में इनका निषेध नहीं किया जाना चाहिए। इस आयोग की नियुक्ति एक ऐसा सन्दर्भ है, जिसे समस्त भारतीय जनता का पूरा-पूरा तथा अधिक उल्लासपूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ है। हमारी धारणा है कि यही एक उपयुक्त मनोवैज्ञानिक अवसर है जब शासन संस्कृत को पूर्ण सफलतापूर्वक अपनी प्रतिष्ठा तथा अपने उपयोगी स्थान पर पुनः प्रतिष्ठापित करने के सन्दर्भ में आवश्यक पदन्यास कर सकता है। हमारी राष्ट्रिय संस्कृति तथा एकता के मूल आधार के रूप में संस्कृत के पोषण के सम्बन्ध में आज का वातावरण सर्वथा अनुकूल है। हम यह भी अनुभव करते हैं कि पूर्व तथा पश्चिम की अन्ताराष्ट्रिय सहानुभूति जागृत करने के प्रसङ्ग में संस्कृत एक आधार बन सकती है।

(४) हमने यह अनुभव किया है कि भारत के समस्त भागों में सर्वत्र ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं जो संस्कृत की समुन्नति के लिए अपना सभी सम्भव योगदान देने को समुत्सुक हैं। हमारे देश में ऐसे प्राभूत तथा अन्य साधन सुलभ हैं जो शासन के

साहाय्य तथा निदेशन से, जिन कार्यों का हमने निर्देश किया है, उनमें यथोचित ढंग से लगाये जा सकते हैं। जहाँ कहीं यह आयोग पहुँचा वहाँ सर्वत्र ही दिये गये आदर संस्कृत के प्रति आदर तथा स्नेह की सार्वभौम भावना के प्रतीक हैं। भारतभूमि पर संस्कृत के पुनः प्रतिष्ठापन एवं संवर्धन की दिशा में शासन का यथेष्ट नेतृत्व अपेक्षित है तथा जनता के अत्यन्त अनुरागपूर्ण सहयोग से ही यह सम्भव हो सकता है।

(५) आयोग शासन से निवेदन करता है कि वह हमारी संस्तुतियों में से मुख्य-मुख्य संस्तुतियों पर विचार करके तत्सम्बन्धी कार्रवाई शीघ्र प्रारम्भ करे। जनता के मस्तिष्क पर इसका अतिगम्भीर प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि इससे लोग समझ जायेंगे कि शासन संस्कृत के लिए वास्तव में कुछ ठोस कदम उठाने को हृदय से इच्छुक है।

(६) इस आयोग के माध्यम से अपने देशवासियों की जो सेवा करने का हमें अवसर दिया गया उसके लिए हम आभार प्रकट करते हैं। हमें जो सहायता निरन्तर प्राप्त होती रही है उसके लिए हम शासन तथा अधिकारियों के भी कृतज्ञ हैं। हम उन सभी प्रादेशिक सरकारों, उन सभी व्यक्तियों तथा अधिकारियों, संस्थाओं तथा समाज के सदस्यों के प्रति भी आभार प्रदर्शित करना चाहते हैं, जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में हमें अपने कार्य में सहायता प्रदान की है। आयोग के सदस्य के रूप में सभी स्थानों पर जिस हार्दिक सम्मान तथा असीम सहयोग से हमें गौरवान्वित किया गया है, उसके लिए हम आजीवन आभारी रहेंगे।

(७) अन्त में हमारे समस्त कार्य में निष्ठापूर्ण सेवा के लिए आयोग-सचिवालय के सदस्यों के प्रति हम अपनी शुभकामना प्रकट करते हैं।

सुनीति कुमार चटर्जी, (अध्यक्ष)
जयन्तकृष्ण हरिकृष्ण दवे
सुशील कुमार दे
टी० आर० वी० मूर्ति
वी० वी० राघवन्
वी० एस्० रामचन्द्र शास्त्री
विश्वबन्धु शास्त्री
रामचन्द्र नारायण दाण्डेकर (सदस्य सचिव)

—: ० :—

परिशिष्ट

संस्कृत-आयोग की प्रश्नावली

प्रश्नावली

आपको ज्ञात है कि भारतवर्ष में इस समय प्रचलित संस्कृत-अध्ययन के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के लिए भारत सरकार ने अक्टूबर सन् १९५६ में संस्कृत-आयोग की नियुक्ति की है। इस आयोग के निम्नाङ्कित सदस्य हैं :—

१. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, अध्यक्ष—पश्चिम बंगाल विधान परिषद् (अध्यक्ष)।

२. श्री जयन्तकृष्ण हरिकृष्ण दवे, निदेशक, भारतीय विद्याभवन, बम्बई।

३. डा० सुशीलकुमार डे, आचार्य, संस्कृत भाषा एवं साहित्य, स्नातकोत्तर शोधविभाग, संस्कृत महाविद्यालय, कलकत्ता।

४. डा० ति० रा० वेङ्कटाचल मूर्ति, सायाजीराव गायकवाड़ भारतीय सभ्यता-संस्कृति-प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

५. डा० वे० राघवन्, आचार्य, संस्कृत-विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय।

६. आस्थान विद्वान् पण्डितराज वे० सु० रामचन्द्रशास्त्री, शङ्करमठ, बंगलोर।

७. प्राध्यापक विश्वबन्धु शास्त्री, सञ्चालक, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर।

८. डा० रामचन्द्र नारायण दाण्डेकर, प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग, पूना (सदस्य, सचिव)।

यह आयोग अन्य विषयों के साथ विश्वविद्यालयों तथा इतर संस्थाओं में संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र में आज-कल प्राप्त सुविधाओं का सर्वेक्षण करेगा तथा संस्कृत एवं उससे सम्बद्ध शोधकार्य के प्रोन्नयन के सन्दर्भ में अपने प्रस्ताव प्रस्तुत करेगा। साथ ही साथ यह जानने के लिए कि पारम्परिक संस्कृत-शिक्षा-प्रणाली के किन-किन स्वरूपों को आधुनिक प्रणाली में सफलतापूर्वक सम्मिलित किया जा सकता है, यह आयोग संस्कृतशिक्षा की पारम्परिक प्रणाली का भी मूल्याङ्कन करेगा।

इस विषय पर विज्ञजनों की सम्मति प्रकाश में लाने की दृष्टि से आयोग द्वारा यह प्रश्नावली निर्गत की जा रही है। इस प्रश्नावली का अनुसन्धान-क्षेत्र व्यापक होने के कारण यह आवश्यक नहीं है कि जो महानुभाव कृपापूर्वक इसका उत्तर दे रहे हों वे आद्योपान्त इन सभी प्रश्नों का उत्तर दें। इसमें दिये गये विषयों में जिस किसी भी विशेष सन्दर्भ में उनकी विशेष रुचि हो अथवा जिससे उनका सम्बन्ध हो या जिसका उन्हें विशेष ज्ञान हो उनके प्रसङ्ग में ही वे अपने विचारों तथा सुझावों से इस आयोग को अनुगृहीत करें। जो कुछ भी विचार वे कृपापूर्वक प्रकट करें, वे संक्षिप्त तथा युक्तिसंगत हों। इस प्रश्नावली के

जिस प्रश्न के सम्बन्ध में वे अपना उत्तर या ज्ञापन प्रस्तुत करते हों उस प्रश्न की संख्या का भी स्पष्ट उल्लेख यथास्थान किया जाना चाहिए। उत्तरों को सदस्य सचिव, संस्कृत आयोग, पूना-४ के पते पर अंगरेजी या संस्कृत भाषा में भेजने की कृपा की जाय। पत्राचार करने वाले महानुभावों से निवेदन है कि वे अपने उत्तर के अन्त में अपना पूरा नाम, पद तथा पता अवश्य अंकित करने की कृपा करें।

(अ) सामान्य सन्दर्भ—कुछ मौलिक प्रश्न

१. आज के भारतीय जीवन में संस्कृत के विद्वान् कौन सी विशेष भूमिका निभा सकते हैं ?

२. (अ) आप के प्रदेश में संस्कृत के प्रति लोगों की धारणा तथा मनोवृत्ति कैसी है ?

(ब) पाठशालाओं में, महाविद्यालयों में तथा विश्वविद्यालयों में प्रचलित संस्कृत अध्यापन के अतिरिक्त किन-किन अन्य उपायों के द्वारा आपके संस्कृत विद्या की अभिवृद्धि की जा सकती है तथा उसके साहित्य एवं संस्कृति के प्रति रुचि उत्पन्न की जा सकती है ? इस अभिरुचि तथा अभ्युन्नति को संवर्धित करने के लिए आप के क्या सुझाव हैं ?

३. (अ) संस्कृत के मानवीय तथा सांस्कृतिक मूल्य की दृष्टि से भारतीय गणतंत्र के नागरिकों में संस्कृत के प्रति अधिक से अधिक उद्बोधन एवं रुचि उत्पन्न करने के लिए आप किन-किन उपायों का सुझाव देना चाहेंगे ?

(ब) संस्कृत साहित्य के अध्ययन को जनप्रिय बनाने की दिशा में तथा उसके प्रति अभिरुचि वढ़ाने के लिए साहित्य अकादमी किस प्रकार सहायक सिद्ध हो सकती है ? क्या आपकी सम्मति में साहित्य अकादमी को संस्कृतवाङ्मय की विभिन्न शाखाओं के प्रतिनिधि ग्रन्थों को, **लो एव क्लासिकल लाइब्रेरी** द्वारा प्रकाशित ग्रीक तथा लैटिन ग्रन्थों के अंगरेजी संस्करणों के समान उनके (i) अंगरेजी तथा (ii) क्षेत्रीय भाषाओं के अनुवाद सहित सस्ते संस्करणों का स्वयं प्रकाशन करना चाहिए तथा प्रादेशिक और केन्द्रीय शासनों के माध्यम से ऐसे प्रकाशनों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ?

(स) द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में आपकी सम्मति में संस्कृत के अभ्युत्थान के सन्दर्भ में क्या-क्या प्राविधान किये जाने चाहिएँ ?

४. (क) क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि किसी भी भारतीय शिक्षा-संस्था से निकले हुए युवक के लिए संस्कृत और संस्कृति के बीजभूत तत्त्वों से परिचित होना आवश्यक है ?

(ख) आपकी सम्मति में ऐसे कौन-कौन से उपाय हैं, जिनके समाश्रयण से विदेश जाने वाले बहुसंख्यक छात्र, अधिकारी तथा भारतराष्ट्र के कर्मचारी इस देश की संस्कृति के वास्तविक प्रतिनिधि सिद्ध हो सकेंगे ?

(ग) क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि विदेशों के भारतीय दूतावासों में संस्कृत के विद्वानों की नियुक्ति से उन दूतावासों के सांस्कृतिक कार्यकलापों में सुविधा प्राप्त हो सकेगी ?

५. क्या कतिपय निखिल भारतीय ढंग के शासकीय व्यवहारों में, जैसे सामान्य विषयों पर अन्तर-प्रदेशीय पत्राचारों में, प्रशासकीय तथा औपचारिक अवसरों पर, विश्व-विद्यालयों के दीक्षान्तसमारोहों के समय, शपथग्रहण के समय तथा भारतीय गणतन्त्र की ओर से वैदेशिक शासनों के सन्देशों में संस्कृत का प्रयोग किया जा सकता है ?

६. 'धर्मशिक्षा' के सन्दर्भ में विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग की संस्तुतियों के कार्यान्वियन में संस्कृत का अध्ययन किस प्रकार सहायक सिद्ध हो सकता है ?

७. (क) समस्त भारत में संस्कृत के उच्चारण में एकरूपता स्थापित करने में आपकी सम्मति में किन-किन उपायों का प्रयोग किया जाना चाहिए ?

(ख) संस्कृत के मुद्रण तथा लेखन में एक ही लिपि (जैसे देवनागरी) को स्वीकार किया जाना—(i) अखिल-भारतीय व्यवहारों में (ii) स्थानीय लिपियों का प्रयोग करने वाले प्रदेशों में क्या किसी प्रकार संस्कृत अध्ययन समुन्नति का साधन बन सकता है ? संस्कृत तथा क्षेत्रीय-भाषाओं के घनिष्ठ सम्बन्ध को शक्तिशाली बनाने की दिशा में तथा उनका प्रयोग जनसमूह को संस्कृत के अधिक से अधिक समीप लाने के लिए ये क्षेत्रीय लिपियाँ, जैसे बंगला, तेलगू, कन्नड़ आदि कहाँ तक सहायक सिद्ध हो सकती हैं ?

(ग) क्या आप सोचते हैं कि सरलीकृत अथवा बेसिक संस्कृत को विकसित करना ठीक होगा ? यदि यह ठीक है तो इस सन्दर्भ में आपके क्या सुझाव हैं ?

८. (क) शिक्षा तथा लोकसेवा के क्षेत्र में क्षेत्रीय भाषाओं के प्रयोग पर सम्प्रति आग्रह करना संस्कृत के अध्ययन को किस प्रकार प्रभावित करेगा ?

(ख) संस्कृत का अध्ययन संस्कृतभाषा तथा साहित्य के संवर्धन में कहाँ तक सहायक सिद्ध हो सकेगा ?

(ग) अखिल भारतीय मानविक, वैज्ञानिक तथा यांत्रिक पारिभाषिक शब्दों के प्रणयन में तथा अखिल भारतीय उपयोग के लिए पाठ्य-पुस्तकों की रचना के लिए संस्कृत कहाँ तक सहायक सिद्ध हो सकती है ?

(घ) क्या आप इस सुझाव से सहमत हैं कि आधुनिक भारतीय भाषाओं की उच्चशिक्षा के क्षेत्र में संस्कृत को एक अनिवार्य विषय बना दिया जाना चाहिए ?

९. संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना के विषय में आपके क्या विचार हैं ? अन्य विश्वविद्यालयों के कार्यक्षेत्र की अपेक्षा इस विश्वविद्यालय के कार्यक्षेत्र की क्या विशिष्टता होनी चाहिए ? भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति के अनुसार यह विश्वविद्यालय कहाँ तक आगे बढ़ सकता है ?

(ब) संस्कृत-शिक्षा

आधुनिक तथा पारम्परिक प्रणालियाँ

१०. (क) भारत राष्ट्र की शिक्षायोजना में आपकी सम्मति में संस्कृत के अध्ययन का क्या स्थान होना चाहिए ?

(ख) इस अध्ययन से किस विशेष उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है ?

(ग) क्या आप इस बात से सहमत हैं कि शिक्षा-व्यवस्था की किसी न किसी श्रेणी तक संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य रखा जाय ? यदि ऐसा किया जाय तो क्या आप चाहेंगे कि इसे (i) सभी छात्रों के लिए या (ii) विशेषवर्ग के छात्रों के लिए अनिवार्य किया जाय ? यदि आप इन दोनों विकल्पों में दूसरे विकल्प का समर्थन करते हैं तो यह बताइए कि किस वर्ग के छात्रों के लिए इसे किस स्तर पर अनिवार्य किया जाय ?

(घ) भारतीय-शिक्षा-योजना में संस्कृत के अध्ययन की तुलना पाश्चात्त्य-शिक्षा-विधान में ग्रीक तथा लैटिन से कहाँ तक की जा सकती है ?

११. (क) एकीकृत संस्कृत-शिक्षायोजना के विभिन्न स्तर क्या होंगे ?

(ख) प्रत्येक स्तर कितने-कितने समय के होंगे ?

(ग) विभिन्न श्रेणियों में पाठ्यक्रम के नैरन्तर्य तथा उसके उद्देश्यों की एकरूपता बनाये रखने के लिए क्या उपाय आवश्यक हैं ?

(घ) प्रत्येक स्तर पर साधारणतया विषय पाठ्यक्रम का क्या स्वरूप होना चाहिए ?

(ङ) भारत में आज-कल संस्कृत-शिक्षण की कौन-कौन सी विधियाँ प्रचलित हैं ? आपकी सम्मति में प्रत्येक स्तर पर अध्यापन की सबसे उत्तम विधि क्या होगी ? संस्कृत-शिक्षण का माध्यम क्या होना चाहिए ?

१२. (क) आपके विचार से क्या आपके प्रदेश में (i) विश्वविद्यालयों में तथा (ii) माध्यमिक विद्यालयों में आज संस्कृत के अध्ययन के लिए उपयुक्त सुविधाएँ प्राप्त हैं ?

(ख) क्या आप सोचते हैं कि विश्वविद्यालयों के संस्कृत-पाठ्यक्रम में शास्त्रीय ग्रन्थों का जो प्राविधान किया गया है क्या वह उपयुक्त है ?

(ग) महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में इन ग्रन्थों का सफल अध्यापन सम्पन्न करने के लिए आप किन उपायों का सुझाव देना चाहेंगे ?

१३. (क) माध्यमिक विद्यालयों में आज-कल प्रचलित संस्कृत-अध्ययन के स्वरूप तथा उसके विस्तार और परिमाण का महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में संस्कृत के संवर्धन की दिशा में क्या प्रभाव पड़ रहा है ?

(ख) माध्यमिकस्तर पर अध्ययन की जाने वाली भाषाओं में आपकी सम्मति में संस्कृत का क्या स्थान निर्धारित किया जाना चाहिए ?

(ग) मातृभाषा, अंगरेजी, संस्कृत तथा हिन्दी (या हिन्दी भाषी छात्रों के लिए कोई प्रादेशिक भाषा) इन चार भाषाओं का शिक्षण माध्यमिक विद्यालयों में शक्य तथा प्रशस्त है—इस विषय में आपकी क्या सम्मति है ?

(घ) जहाँ तक माध्यमिक विद्यालयों में इन भाषाओं के अध्ययन का प्रश्न है, आपकी सम्मति में इनमें से किस प्राथमिकता तथा वरीयताक्रम का अनुसरण किया जाना चाहिए?

(ङ) इन भाषाओं के अध्ययनार्थ माध्यमिक विद्यालयों की समय-सारिणी में जो घण्टे प्राप्त होते हैं, उनकी आप किस प्रकार व्याख्या करेंगे ?

(च) आपके प्रदेश के माध्यमिक विद्यालयों में प्रयुक्त संस्कृत की पाठ्य-पुस्तकों के गुण-दोष के सन्दर्भ में आपके क्या विचार हैं ?

१४. (क) किन-किन अध्ययन शाखाओं में संस्कृतभाषा का यथोचित परिचय अपेक्षित है ? क्या आप अनुभव करते हैं कि उन विषयों के पाठ्यक्रम में संस्कृत का समावेश किया जाय ?

(ख) विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाने वाले विभिन्न संस्कृतेतर विषयों के पाठ्यक्रम में उन विशेष क्षेत्रों में संस्कृत के अंशदान का कुछ अनिवार्य अध्ययन सम्मिलित किया जाय, जैसे—अंगरेजी भाषा के अध्ययन में संस्कृत-काव्य, नाटक, अलंकार, समालोचनाशास्त्र तथा भारतीय गणित, आयुर्वेद, दर्शन एवं धर्मशास्त्र आदि के इतिहास का इन विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रम में—इस सुझाव के सन्दर्भ में आपको क्या कहना है ?

१५. पालिभाषा या प्राकृतभाषाओं का अध्ययन संस्कृत-अध्ययन का पूरक हो सकता है या इन्हें संस्कृत के विकल्प के रूप में पढ़ाया जाना चाहिए ? इस सन्दर्भ में आपकी क्या सम्मति है ? आपकी सम्मति में इन दोनों को (i) माध्यमिक विद्यालयों में तथा (ii) विश्वविद्यालयों में सफलतापूर्वक कैसे सम्मिलित किया जा सकता है ?

१६. आपके विचार से, (i) पाठशालाओं तथा संस्कृत महाविद्यालयों, (ii) माध्यमिक विद्यालयों, (iii) महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में संस्कृत पढ़नेवाले छात्रों की संख्या में उत्तरोत्तर गिरावट के प्रमुख कारण क्या हैं ?

१७. (क) आपके प्रदेश की संस्कृतपाठशालाओं तथा संस्कृतमहाविद्यालयों में विभिन्न शास्त्रों के पठन-पाठन का स्वरूप तथा विस्तार क्या है ? विशेषतः इन विषयों से सम्बद्ध—(i) वेद (श्रौतसंहिता) (ii) शब्दशास्त्र (निरुक्त, शिक्षा तथा व्याकरण के विविध स्वरूप-सम्प्रदाय सहित) (iii) अलङ्कार (iv) दर्शन-न्याय (प्राचीन तथा नव्य) वैशेषिक, सांख्य तथा योग, मीमांसा, वेदान्त, तन्त्र, जैन तथा बौद्धधर्म तथा (v) धर्मशास्त्र, इतिहास-पुराण, शिल्पशास्त्र, ज्यौतिष तथा आयुर्वेद ?

(ख) शास्त्रों के स्वतंत्र तथा नूतन ग्रन्थप्रणयन के गुण तथा परिमाण में यदि कुछ अवनति हो रही है तो आपकी सम्मति में उसके मूल में कौन कौन से तत्त्व विद्यमान हैं ?

(ग) क्या आप सोचते हैं कि शास्त्रों के पठन-पाठन की पारम्परिक पद्धति को और अधिक सजीव तथा सुदृढ़ बनाने के लिए उसमें संशोधन आवश्यक है ?

(घ) आपके विचार से संस्कृत महाविद्यालयों तथा पाठशालाओं की वर्तमान शिक्षण पद्धति तथा उसके पाठ्यक्रम के गुण तथा दोष क्या हैं ? गुणों को यथावत् बनाये रखे जाने पर दोषों का निराकरण किन उपायों से किया जा सकता है ?

१८. (क) आपकी सम्मति में संस्कृत विद्यालयों तथा महाविद्यालयों से निकले हुए छात्रों के लिए जीविका के कौन-कौन से मार्ग उपयुक्त होंगे ?

(ख) आपके प्रदेश में ये कहाँ तक उपलब्ध हैं ?

(ग) आपके प्रदेश में पारम्परिक संस्कृत के विद्वानों की आर्थिक स्थिति में क्या कोई गम्भीर चिन्ता का प्रश्न दृष्टि में आता है? यदि ऐसा है तो वह किस प्रकार का है? इस आर्थिक कठिनाई को किस प्रकार दूर किया जा सकता है? प्राचीन साधनों के स्थान पर किन-किन अन्य साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए? आप कौन से ऐसे आर्थिक साधनों का सुझाव देना चाहेंगे जिनका यदि प्रयोग किया जाय तो परम्परागत संस्कृत के विद्वान् पूर्ववत् अपना पठन-पाठन तथा स्वाध्याय कार्य निरन्तर करते रहेंगे?

(घ) संस्कृत महाविद्यालयों तथा विद्यालयों के पाठ्यक्रम पुनःसंघटित किए जायँ तो क्या आप समझते हैं कि इन संस्थाओं से निकले हुए छात्र माध्यमिक विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों से निकले हुए समकोटिक योग्यता सम्पन्न छात्रों से जीवन के विभिन्न अवसरों पर प्रतियोगिता करने में समर्थ हो सकेंगे? यदि यह सम्भव है तो इस पुनःसंघटन के क्या मार्ग होंगे?

(ङ) आपके विचार से हिन्दुधर्मदाय तथा देवस्व के राजकीय विभागों में संस्कृत परीक्षोत्तीर्ण छात्रों की नियुक्ति की क्या सम्भावनाएँ हैं?

१९. (क) आपके प्रदेश में वेद की विभिन्न शाखाओं के कण्ठपाठ की क्या स्थिति है? विशेषतः सामगान विद्या की क्या स्थिति है? इन परम्पराओं के प्रशिक्षण के लिए आपकी सम्मति में किन किन उपायों का प्रयोग किया जाना चाहिए?

(ख) आपके प्रदेश में इतिहास तथा पुराणों की कथा-वार्ता तथा धर्म एवं दर्शन के धार्मिक प्रवचनों की वर्तमान स्थिति क्या है? क्या इन क्रिया-कलापों में जनता पर्याप्त रुचि ले रही है? इन प्रवचनों तथा व्याख्यानों को देनेवाले व्यक्ति क्या यथोचित रूप में योग्यता सम्पन्न हैं? संस्कृत महाविद्यालयों तथा पाठशालाओं से निकले हुए छात्रों के लिए इन क्रिया-कलापों को यदि जीविका का साधन बनाया जाय तो इन प्रवचनों का स्वरूप और अधिक सुसंघटित हो सकेगा?

(ग) आपकी सम्मति में संस्कृतवाङ्मय में उपवर्णित कला, कौशल, शिल्प, यन्त्र-विज्ञान तथा अन्य प्राविधिक प्रशिक्षण की प्राचीन भारतीय परम्पराओं के परिपोषण तथा समुन्नयन की इस युग में क्या सम्भावनाएँ हैं?

(घ) आयुर्वेद के ग्रन्थों में संरक्षित भारतीय चिकित्सा-शास्त्र को आज अधिक सजीव तथा उपयोगी बनाने के लिए किन-किन उपायों का प्रयोग किया जाना चाहिए?

(ङ) आधुनिक विज्ञानविद्या के क्षेत्र में गणित, ज्योतिष आदि संस्कृतविद्या की शाखाएँ अपना समुचित स्थान प्राप्त करें, इस सन्दर्भ में आप किन उपायों का सुझाव देना चाहेंगे?

२०. (क) आपकी सम्मति में तुलनात्मक दृष्टि से संस्कृत के अध्ययन की पारम्परिक तथा आधुनिक पद्धतियों में कौन से गुण-दोष हैं?

(ख) पारम्परिक तथा नवीन दोनों पद्धतियों के गुणों से समन्वित संस्कृतशिक्षा के नवीन मार्ग का स्वरूप निर्धारित करना कहाँ तक सम्भव है? इस सन्दर्भ में आप किन उपायों का सुझाव देना चाहेंगे?

२१. (क) पारम्परिक तथा आधुनिक दोनों ही कोटि के विद्वानों के लिए भारतीय-पुरातत्त्व तथा प्राचीन-भारतीय लिपि का प्रायोगिक ज्ञान प्राप्त करना कहाँ तक आवश्यक होगा ?

(ख) महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों तथा पाठशालाओं की उच्च-श्रेणियों में अध्ययन करनेवाले छात्रों का संस्कृत का भाषा के रूप में अध्ययन क्षेत्र में आधुनिक ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक प्रणाली का भी निर्धारण किया जाय। क्या आप इस मत के समर्थक हैं ?

२२. (क) क्या आप यह उचित समझते हैं कि छात्रों द्वारा संस्कृत में भावाभिव्यक्ति की क्षमता भी संस्कृत-शिक्षण का एक लक्ष्य होना चाहिए ? यदि यह ठीक है तो संस्कृत में छात्रों की भाषण तथा लेखन की पटुता उत्पन्न करने के लिए आप किन उपायों का सुझाव देना चाहेंगे ?

(ख) क्या आप इसे समुचित समझते हैं कि सुकुमार वय के बालक-बालिकाओं को संस्कृतभाषा तथा संस्कृति के किसी न किसी रूप से परिचय कराया जाय ? यदि यह ठीक है तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आप किन उपायों का सुझाव देना चाहेंगे ?

(ग) क्या आप यह ठीक समझते हैं कि प्रारम्भिक अवस्था में संस्कृत की शिक्षण-विधियों का सरलीकरण अथवा संशोधन लाभकारी होगा ? यदि ऐसा है तो इस सन्दर्भ में आपके क्या सुझाव हैं ?

(स) संस्कृत-शोधकार्य

२३. (क) क्या आप समझते हैं कि आपके प्रदेश में—(१) विश्वविद्यालयों में (२) विभिन्न तथा (३) संस्कृत-पीठों में शोधकार्य के लिए जो साधन सामग्री उपलब्ध हैं, क्या वे समुपयुक्त हैं ? इस सन्दर्भ में आपके यहाँ आज जो स्थिति दिखायी पड़ रही है, उसके विषय में क्या आप कुछ विशेष वक्तव्य देना चाहते हैं ?

(ख) क्या आपके प्रदेश में व्यक्तिगत रूप से सुसंघटित शोधसंस्थान भी स्थित हैं ? उनके अर्थ उपार्जन के क्या साधन हैं ? उनके समुचित प्रवर्तन, समुचित कार्यफल निष्पादन तथा उनकी शोधक्रियाओं का स्तर उपयुक्त बनाये रखने के लिए आप किन उपायों का सुझाव देना चाहेंगे ?

(ग) क्या आपकी यह सम्मति है कि प्रत्येक प्रदेश में संस्कृत तथा उससे सम्बद्ध विषयों के लिए एक शोधसंस्थान होना चाहिए ? इन शोधसंस्थानों का संविधान उनकी योजना तथा क्रिया-कलाप क्या होना चाहिए ? इन शोधसंस्थानों का पोषण किन स्रोतों से होना चाहिए ? क्या आप शासकीय नियंत्रण के पोषक हैं ?

(घ) आपकी सम्मति में संस्कृत शोध-क्षेत्र की ऐसी कौन-कौनसी प्रधान तथा उपेक्षित सारणियाँ हैं, जिनमें विशेषतः परिवर्तन लाया जाना चाहिए ?

(ङ) सामान्यतः समस्त भारत में तथा विशेषतः आपके प्रदेश में संस्कृत-शोधकार्य की सारणियाँ प्रचलित हैं, आपकी की सम्मति में उनमें क्या-क्या त्रुटियाँ ?

(च) संस्कृत-शोधकार्य के संशोधन फल को प्रगतिशील तथा सफल बनाने के सन्सर्भ में आप किन-किन मार्गों का सुझाव देना चाहेंगे ?

(छ) संस्कृत के शोधक्षेत्र में प्रचलित विभिन्न क्रिया-कलापों को समन्वित करने के लिए आप किस शासनतंत्र का प्रस्ताव करना चाहेंगे ?

(ज) क्या आपके प्रदेश में स्थित संस्कृत महाविद्यालयों तथा पाठशालाओं में संस्कृत-शोधक्रिया के लिए किसी क्षेत्र अथवा साधनसामग्री का प्राविधान उपलब्ध है ? यदि यह उपयुक्त नहीं है तो आप इस सन्दर्भ में किन-किन उपायों का निर्देश करना चाहेंगे ?

२४. (क) आपके प्रदेश में अप्रकाशित ग्रन्थों के समालोचनात्मक संस्करणों, प्रकाशित ग्रन्थों, मौलिक ग्रन्थों, व्याख्याग्रन्थों इत्यादि के संस्कृतशोधकार्यों के प्रकाशन को क्या-क्या सुविधाएँ प्राप्त हैं ? क्या उन्हें आप पर्याप्त समझते हैं ?

(ख) केन्द्रीय तथा प्रादेशिक शासन ऐसे ग्रन्थों के प्रकाशन में किस प्रकार कहाँ तक सहायक सिद्ध हो सकते हैं ?

(ग) प्रमुख अप्रकाशित ग्रन्थों के प्रकाशनकार्य में किस प्रकार प्रगति लायी जा सकती है ?

(घ) क्या आपके क्षेत्र में कुछ ऐसे भी शोधकार्य पड़े हुए हैं, जिनका पूर्ण अथवा आंशिक प्रकाशन अब तक नहीं हुआ है ? क्या आपकी दृष्टि में उच्च-शोध मूल्य के कुछ ऐसे भी उपक्रम हैं जो सुव्यवस्थित नहीं चल रहे हैं तथा जिन्हें पर्याप्त पोषण नहीं प्राप्त है ?

२५. (क) क्या आपके क्षेत्र की व्यक्तिगतरूप से सञ्चित पाण्डुलिपियाँ यथोचित ढंग से परिरक्षित हैं ? ऐसे संग्रहों के स्वामी तथा साधारण जन इनका महत्त्व जान जायँ, इसके लिए आप किन-किन उपायों का सुझाव देना चाहेंगे ?

(ख) क्या आपके क्षेत्र में इन पाण्डुलिपियों का संग्रहकार्य समुचित रीति से सुसंघटित है ?

(ग) क्या आपके क्षेत्र के पाण्डुलिपि-संग्रहों में संस्कृत की पाण्डुलिपियों के संरक्षण तथा उनके सूचीनिर्माण की व्यवस्था सन्तोषप्रद है ?

(घ) क्या इन पाण्डुलिपि-संग्रहों में पाण्डुलिपियों के उधार देने, उनकी प्रतिलिपि तैयार करने, उनके छायालेख (फोटोस्टैट), अणुछाया (माइक्रोफिल्म) तथा अणुछाया वाचन (माइक्रो फिल्मों का पढ़ना) की सुविधाएँ हैं ?

२६. आपके प्रदेश के ग्रन्थालयों में संस्कृत की पुस्तकों तथा पाण्डुलिपियों के परिशीलन के तथा उन्हें उधार देने की सुविधाओं का स्वरूप तथा उनका परिमाण क्या है ?

२७. भारतवर्ष के तथा बाहर के आधुनिक विद्वानों द्वारा किये गये शोधकार्यों के परिणामों को (१) पारम्परिक पण्डितों तथा (२) साधारण जनता तक पहुँचाने के लिए आपके विचार से किन-किन उपायों का प्रयोग किया जाना चाहिए ?

२८. विदेशों के वस्तुसंग्रहों तथा पुस्तकालयों (जनसाधारण तथा व्यक्तिगत) में संरक्षित अप्रकाशित पाण्डुलिपियों तथा भारतीय विद्या-सम्बन्धी सामग्रियों के अविलम्ब प्रकाशन को राष्ट्रियस्तर पर सहायता पहुँचाने की दिशा में आप किन-किन उपायों का सुझाव देना चाहेंगे ?

संस्कृत-अध्ययन तथा शिक्षा का संघटन और प्रशासन

२९. क्या आप सोचते हैं कि केन्द्र में एक अखिल-भारतीय संस्कृत-परिषद् या संस्कृत-निदेशालय की स्थापना आवश्यक है? यदि ऐसा है तो आपकी सम्मति में इस परिषद् या निदेशालय का संविधान, उनके कार्य-कलाप तथा उनके अधिकार क्या होने चाहिएँ? क्या विभिन्न प्रदेशों में भी इस प्रकार के परिषदों अथवा निदेशालयों की स्थापना का आप समर्थन करते हैं?

३०. (क) माध्यमिक विद्यालयों (ii) महाविद्यालयों (iii) विश्वविद्यालयों एवं पाठशालाओं में तथा (iv) संस्कृत-महाविद्यालयों तथा पाठशालाओं में नियुक्त किये जाने वाले अध्यापकों की न्यूनतम योग्यताएँ क्या होनी चाहिएँ?

(ख) क्या संस्कृत-अध्यापकों के लिए शिक्षण-विधियों का प्रशिक्षण आवश्यक है? यदि आवश्यक है तो ऊपर दिये गये विभिन्न श्रेणियों के अध्यापकों में से किन-किन श्रेणियों के अध्यापकों को यह प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए? इस प्रशिक्षण में क्या-क्या विषय रखे जाने चाहिए तथा उसकी अवधि क्या होनी चाहिए? यह प्रशिक्षण नियुक्ति के पूर्व सम्पन्न हो या नियुक्ति के पश्चात्?

(ग) क्या आपके क्षेत्र में विभिन्न श्रेणियों के सुयोग्य शिक्षक पर्याप्त संख्या में सुलभ हैं?

(घ) विभिन्न श्रेणियों के संस्कृत अध्यापकों तथा संस्कृतसंस्थाओं के प्रधानाचार्यों की सेवाशर्तों तथा सेवा-संविधानों के विषय में आपको क्या कहना है? क्या इन्हें विद्यालयों तथा महाविद्यालयों के अन्य विषयों के अध्यापकों के समकक्ष मान लिया जाना उचित होगा?

३१. (क) आपके क्षेत्र में संस्कृतशिक्षा के संवर्धन के लिए उपलब्ध प्राभूतों एवं समर्पित निधियों का स्वरूप तथा विस्तार क्या है? क्या इन प्राभूतों में से कुछ ऐसे भी हैं जिनका धन मूल उद्देश्यों के विपरीत अन्य मार्गों में भी लगाया जा रहा है? क्या आप इस मार्गान्तरीकरण को वाञ्छनीय समझते हैं?

(ख) शासन द्वारा जमींदारी उन्मूलन तथा राज्यविलयन किये जाने के उपरान्त आपके प्रदेश में संस्कृत संस्थाओं तथा विद्वानों को प्रशासन द्वारा निरन्तर वही सहायता दी जाने की समुचित योजना बनायी जा चुकी है, जिसे वे भूतपूर्व नरेशों तथा जमींदारों से प्राप्त किया करते थे?

३२. (क) संस्कृत शोध-संस्थानों को केन्द्रीय तथा प्रादेशिक प्रशासनों द्वारा दी जाने-वाली राज्यसहायता के विषय में आप किन सिद्धान्तों का सुझाव देना चाहेंगे?

(ख) नियमित संस्कृत विद्यालयों, पाठशालाओं, चतुष्पाठियों तथा टोलों को केन्द्रीय प्रादेशिक शासनों तथा स्थानीय निकायों द्वारा दी जाने वाली सहायता का क्या आधार होना चाहिए?

(ग) संस्कृतशिक्षा की वित्तीय व्यवस्था में साधारण जनता किस प्रकार सहायक सिद्ध हो सकती है ?

(घ) संस्कृत-अध्ययन के प्रति छात्रों को आकर्षित करने के लिए छात्रवृत्तियाँ, निःशुल्क अध्ययन, निःशुल्क भोजन तथा आवास व्यवस्था इत्यादि के समान अन्य किन उपायों का प्रयोग किया जाना चाहिए ?

(ङ) क्या आप समझते हैं कि आपके प्रदेश में छात्रवृत्तियाँ, निःशुल्क अध्ययन आदि की सुविधाएँ पर्याप्त हैं ?

३३. (क) विभिन्न परीक्षाओं के पाठ्यक्रम तथा उनके स्तरों में एकरूपता स्थापित करना किस प्रकार सम्भव है ?

(ख) क्या आप समझते हैं कि विभिन्न विश्वविद्यालयों, संस्थाओं, प्रदेशों तथा परिषदों द्वारा दिये जानेवाले शास्त्रीय विषयों के प्रमाणपत्रों तथा दी जानेवाली उपाधियों के नामों में अखिल-भारतीय एकरूपता लानी चाहिए ? यदि यह ठीक है तो इस सन्दर्भ में आप कोई सुझाव देना चाहेंगे ?

(द) विशेष

यदि इस प्रश्नावली में कुछ ऐसे विषय सम्मिलित नहीं हैं, जिनके सन्दर्भ में आप इस आयोग के समक्ष अपने प्रस्ताव प्रस्तुत करना चाहते हों, तो आपके इन विचारों को पूरक के रूप में यह आयोग आदरपूर्वक स्वीकार कर सकेगा तथा अनुगृहीत होगा ।

—: ० :—